दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

अक्टूबर-दिसम्बर 2015
अंक 3 100 रुपये

जीवन का तकाज़ा पूरा होकर रहेगा। बुर्जुआ वर्ग को भागदौड़ करने दो, पागलपन की हद तक क्रुद्ध होने दो, हद पार करने दो, मूर्खताएँ करने दो, कम्युनिस्टों से पेशगी में ही प्रतिशोध लेने दो, गुज़रे कल के और आने वाले कल के सैकड़ों, हज़ारों, लाखों कम्युनिस्टों को (हिन्दुस्तान में, हंगरी में, जर्मनी में, आदि) क़त्ल करने का प्रयत्न करने दो। ऐसा करके, बुर्जुआ वर्ग उन्हीं वर्गों की तरह पेश आ रहा है जिनके लिए इतिहास मौत का हुक्म सुना चुका है। कम्युनिस्टों को जानना चाहिए कि भविष्य हर हाल में उनका है, इसलिए हम महान क्रान्तिकारी संघर्ष में उग्रतम उत्साह के साथ-साथ बहुत शान्ति और बहुत धीरज से बुर्जुआ वर्ग की पागलपनभरी भागदौड़ का मूल्यांकन कर सकते हैं, और हमें करना ही चाहिए।

– लेनिन

("वामपन्थी" कम्युनिज़्म : एक बचकाना मर्ज़)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

3

अक्टूबर–दिसम्बर 2015

3

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

अक्टूबर-दिसम्बर 2015

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यता: 400 रुपये (डाकखर्च 160 रुपये)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 0762002109003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफ़एससी कोडः PUNB0076200

●

संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज में **5**

आपकी बात **11**

विशेष लेख

सोवियत समाजवाद के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (तीसरी किस्त) — *अभिनव सिन्हा* **13**

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशकः एक सिंहावलोकन (दूसरी किस्त) — *दीपायन बोस* **203**

महान बहस के 50 वर्ष — *राजकुमार* **261**

प्रतिवाद

उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं — *अभिनव सिन्हा* ***216***

पुस्तक समीक्षा

वामपंथी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न — *सुखविन्दर* **285**

सामयिक

भावुकतावादी क्रान्तिवाद बनाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी अप्रोच एवं पद्धति — *कात्यायनी* **318**

समकालीन

मोदी सरकार के कार्यकाल का एक सालः विकास का विद्रूप प्रहसन — *मीनाक्षी* **327**

इस्लामिक स्टेट का उभार और मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का नया दौर
— *आनन्द* **337**

यूनानी त्रासदी के भरतवाक्य के लेखन की तैयारी
— *शिशिर* **345**

भूमण्डलीकरण के दौर में तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा
— *आनन्द सिंह* **357**

कश्मीर में बाढ़, भारत में अन्धराष्ट्रवाद की आँधी और कश्मीरी जनता का बढ़ता अलगाव
— *पुरुषोत्तम* **363**

सम्पादकीय की एवज में

माओ त्से-तुङ ने एक बार कहा था, "आकाश के नीचे सबकुछ भयंकर अराजकता में है। एक शानदार स्थिति!" पिछले करीब 8 वर्षों से अभूतपूर्व आर्थिक मन्दी की मार से कराहता पूँजीवाद हर रोज़ अपनी मरणासन्नता और खोखलेपन के नये लक्षण प्रदर्शित कर रहा है। जब 'दिशा सन्धान' के तीसरे अंक के साथ हम आपसे मुख़ातिब हो रहे हैं, तो दुनिया एक नये संक्रान्तिकाल में प्रवेश करती प्रतीत हो रही है। यह संक्रान्तिकाल तत्काल ही किसी क्रान्तिकारी स्थिति की ओर ले जाये, यह ज़रूरी नहीं है। लेकिन यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि जो परिवर्तन आज दुनिया के पैमाने पर हमारे सामने घटित हो रहे हैं, वे साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को और भी ज़्यादा कमज़ोर और खोखला बना रहे हैं। वैसे तो दुनिया भर में इस नये संक्रान्तिकाल के कई प्रातिनिधिक लक्षण हमारे सामने हैं, लेकिन हम दो सबसे प्रमुख लक्षणों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जो सम्भवत: सबसे महत्वपूर्ण हैं।

पहला अहम परिवर्तन है फ़िलिस्तीन में तीसरे इन्तिफ़ादा की शुरुआत के संकेत। वैसे तो फ़िलस्तीन की जनता हत्यारे इज़रायली ज़ायनवादी कब्ज़े, नस्लवादी 'अपार्थाइड' और बार-बार किये जाने वाले बर्बर हत्याकाण्डों के ख़िलाफ़ लगातार ही सुलगती और उबलती रहती है। लेकिन जब हम ये शब्द लिख रहे हैं, ठीक उसी समय यह उबाल एक विस्फोट की शक्ल लेता नज़र आ रहा है। फ़िलिस्तीन की जनता ने न सिर्फ़ गाज़ा में बल्कि पश्चिमी तट में एक ज़बर्दस्त विद्रोह की शुरुआत की है। पिछले एक सप्ताह में करीब 8 इज़रायली मारे जा चुके हैं और साथ ही इज़रायली ज़ायनवादी पुलिस व सेटलरों ने करीब 50 फ़िलस्तीनियों की हत्या की है। मगर दमनकारियों की मौतें हमेशा ज़्यादा भारी होती हैं। यह समझने की ज़रूरत है कि एक औपनिवेशिक दमनकारी सत्ता के लोगों के मारे जाने और एक दमित जनता के लोगों के मारे जाने के अलग निहितार्थ होते हैं।

फ़िलिस्तीन की जनता पिछले सात दशकों से लगातार कुर्बानियाँ और शहादतें देती आ रही है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के बल पर मध्य-पूर्व में लठैती करने वाली ज़ायनवादी नात्सी सत्ता तमाम हथियारों के ज़खीरों, तमाम हत्याकाण्डों और निरन्तर दमन और अपमान थोपने के बावजूद फ़िलिस्तीन की जनता को झुका पाने में नाकामयाब रही है। अनगिनत कुर्बानियाँ, असीम दुख और तकलीफ़ें झेलने वाले फ़िलिस्तीनी लोगों का साहस और सहनशक्ति चट्टान के समान मज़बूत हो चुका है। लेकिन वहीं ज़ायनवादी फासीवादी इज़रायल की सत्ता अपनी हिफ़ाज़त के दुनिया भर के साजो-सामान के बावजूद बुरी तरह कायर और डरपोक हो चुकी है। इसलिए आठ इज़रायलियों का मारा जाना पूरे इज़रायली समाज में एक भयंकर डर का माहौल पैदा कर रहा है, एक किस्म की स्थायी भयाक्रान्तता। वैसे तो साम्राज्यवादी और फासीवादी फ़ितरत से ही कायर होते हैं, लेकिन जब दबाये गये, कुचले गये लोग बग़ावत करते हैं और हिंस्र तरीके से लड़ने लगते हैं तो उनकी भयाक्रान्तता सारी हदें पार कर जाती है। 13 अक्टूबर को यरुशलम में हुई एक घटना इसी का प्रतीक है। एक ज़ायनवादी ने एक दूसरे ज़ायनवादी को फ़िलिस्तीनी अरब समझकर मार डाला। उसके अगले दिन ही ठीक ऐसी ही एक और घटना घटी। यह ज़ायनवादियों में व्याप्त भय का माहौल ही है जो ऐसी घटनाओं की तरफ़ ले जा रहा है। नेतन्याहू से लेकर तमाम ज़ायनवादी राजनीतिज्ञ व नेता इज़रायलियों को हमेशा साथ में बन्दूक रखने और शक़ होने पर ही गोली मार देने की सलाहें दे रहे हैं। नतीजा यह है कि सारे साम्राज्यवादी हरबे-हथियारों और सुरक्षा के बावजूद इज़रायली समाज के लोग शान्ति के साथ जीने का केवल सपना ही देख सकते हैं। उनका 'आयरन डोम' मिसाइल सुरक्षा तन्त्र गाज़ा से आने वाले रॉकेटों को एक हद तक रोक सकता है (हालाँकि एक रॉकेट का भी इज़रायल के भीतर गिरना ज़ायनवादियों की रीढ़ की हड्डी तक कँपकँपी पैदा कर जाता है) लेकिन वे लोगों को कैसे रोक सकते हैं? इज़रायल की बसों, दुकानों, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों पर हमले हो रहे हैं। आप सम्भावित हमलावरों को पहचान नहीं सकते। कब किस ओर से हमला हो सकता है, कोई नहीं जानता। इस नये फ़िलिस्तीनी विद्रोह ने, जिसे शायद भविष्य में तीसरे इन्तिफ़ादा का नाम दिया जाने लगे, इज़रायली औपनिवेशिक सेटलर समाज की कमज़ोर नस पर हाथ रख दिया है। यही कारण है कि अक्टूबर के दूसरे सप्ताह में नेतन्याहू की नीतियों के ख़िलाफ़ यरुशलम में एक बड़ा प्रदर्शन हुआ।

इसके विपरीत इज़रायल में ही एक धुर नात्सी ज़ायनवादी प्रतिक्रिया भी मौजूद है, जो कि फ़िलिस्तीनी कौम का जातीय सफ़ाया कर 'अन्तिम समाधान' कर देने के सपने देखती है। ज़ाहिर है, यह सम्भव नहीं है। इज़रायल, गाज़ा और पश्चिमी तट की कुल आबादी को मिला दिया जाय तो उसमें इस समय करीब 63 लाख यहूदी आबादी है और अरब फ़िलिस्तीनी आबादी करीब 61 लाख है। इसके अलावा जॉर्डन में करीब 20 लाख फ़िलिस्तीनी शरणार्थी हैं, और लेबनॉन में 4.5 लाख, सीरिया में 4.7 लाख फ़िलिस्तीनी शरणार्थी हैं। इसके अलावा, पूरे अरब विश्व में लाखों फ़िलिस्तीनी शरणार्थी मौजूद हैं जिनमें से एक अच्छी-ख़ासी आबादी मज़दूरों की और छोटे-मोटे काम करने वाले लोगों की है। सिर्फ़ ऐतिहासिक फ़िलिस्तीन, यानी इज़रायल, पश्चिमी तट और गाज़ा, के भीतर इज़रायली सर्वेक्षण के ही अनुसार फ़िलिस्तीनी आबादी 2016 तक यहूदियों से ज़्यादा हो जायेगी। ऐसे में, पूर्ण जातीय सफ़ाये के सपने किसी सूरत में सफल होने वाले नहीं हैं और ऐसा करने का कोई प्रयास पूरे अरब जगत में भयंकर विस्फोटक स्थिति पैदा करेगा क्योंकि बहुसंख्यक अरब जनता भावनात्मक तौर पर फ़िलिस्तीन

के साथ जुड़ी हुई है और उसके साथ गहरी हमदर्दी रखती है। फ़िलिस्तीन के साथ हुई नाइंसाफ़ी अरब विश्व में इज़रायल और अमेरिका के ख़िलाफ़ बेपनाह नफ़रत का एक प्रमुख कारण है और एक अच्छी-ख़ासी आबादी अरब जनता की मुक्ति में फ़िलिस्तीन के प्रश्न को केन्द्रीय प्रश्न मानती है।

इन तमाम कारणों से इज़रायल में भी जिनका दिमाग़ सही जगह पर है वे मौजूद फ़िलिस्तीनी विद्रोह से चिन्तित हैं और नेतन्याहू की नीतियों की एक उदार ज़ायनवादी आलोचना कर रहे हैं। ज़ाहिर है, उदार ज़ायनवादी भी अगर सत्ता में होंगे तो फ़िलिस्तीनी जनता का वैसा ही दमन करेंगे, जैसा कि नेतन्याहू कर रहा है और इसका कारण यह है कि इज़रायली राज्य मध्य-पूर्व में साम्राज्यवाद द्वारा आयातित एक कृत्रिम वस्तु है और फ़िलिस्तीनी जनता का लगातार दमन और उत्पीड़न इसके अस्तित्व की एक शर्त है। यह मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हितों की रखवाली के लिए और एक दौर में साम्राज्यवादी अरब जनउभार को प्रतिसन्तुलित करने के लिए पैदा किया गया एक उपकरण था। आज भी इज़रायल और ज़ायनवाद का औचित्य-प्रतिपादन केवल और केवल इसी तर्क से किया जा सकता है। मौजूद फ़िलिस्तीनी बग़ावत इज़रायली कब्ज़े को ख़त्म करने के लिए लड़ रही है और यह दिखला रही है कि फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष दमन की लाख बर्बर हरकतों के बाद भी ख़त्म नहीं होने वाला है और इज़रायली ज़ायनवादी चैन से बैठने का कभी सपना भी नहीं देख सकते हैं। इतिहास में पहले भी इज़रायल अमेरिकी साम्राज्यवादी मदद और समर्थन के बिना एक सप्ताह भी नहीं कायम रह सकता था और अब भी यह बात उतनी ही सच है। मध्य-पूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रभुत्व और इज़रायली ज़ायनवादी सत्ता एक-दूसरे के अस्तित्व को बचाये रखने का काम करते हैं।

लेकिन चिन्ता की बात यह है कि आर्थिक मन्दी के कारण तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप मध्य-पूर्व में जो नये साम्राज्यवादी समीकरण उपस्थित हो रहे हैं, वे मध्य-पूर्व में साम्राज्यवाद की पूरी संरचना में कुछ बुनियादी बदलाव लाने की दिशा में विकसित होने की सम्भावना रखते हैं। यहीं से हम आज की वैश्विक परिस्थिति में एक संक्रान्ति-काल के आरम्भ होने के दूसरे प्रमुख लक्षण पर आ सकते हैं। यह दूसरा लक्षण सीरिया में जारी युद्ध में प्रकट हो रहा है। अब यह सारी दुनिया के सामने साफ़ हो चुका है कि ओबामा सरकार ने बशर अल-असद की सरकार को गिराने और सीरिया में अपने लिए अनुकूल कोई सरकार बिठाने के लिए आईएस (इस्लामिक स्टेट) को खड़ा किया है। आईएस के सरगना बग़दादी की अमेरिकी प्रशासन और इज़रायली एजेंसी मोसाद के अधिकारियों के साथ तस्वीरें अब सोशल मीडिया पर सार्वजनिक हो चुकी हैं; आईएस के पास भारी मात्रा में अमेरिकी हथियारों और टोयोटा ट्रकों की मौजूदगी भी यह बात साफ़ कर चुकी है। अमेरिका का मंसूबा था कि रूस और ईरान के साथ करीबी रखने वाले असद का तख़्तापलट करवाया जाये लेकिन यह खेल रूस ने सैनिक हस्तक्षेप करके फिलहाल तो बुरी तरह से बिगाड़ दिया है। सीरिया में असद शासन को पलटना अमेरिका के लिए इसलिए भी ज़रूरी हो गया था क्योंकि इराक़ को लेकर उसके सारे मंसूबे धरे के धरे रह गये थे। 2003 में इराक़ पर हमला इस उद्देश्य से किया गया था कि इराक़ में अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रति अनुकूल रवैया रखने वाले किसी शासन को स्थापित किया जाय। मगर इराक़ी प्रतिरोध युद्ध के कारण पहले तो अमेरिकी सेना को इराक़ छोड़कर भागना पड़ा और उसके जाने के बाद जो सरकार वहाँ सत्ता

में आयी उसने ईरान से करीबी बढ़ा ली और असद के प्रश्न पर भी वह ईरान के साथ है। नतीजतन, अमेरिका के पास मध्य-पूर्व में अब दो ही समर्थक रह गये हैं–सऊदी अरब और इज़रायल और इन दोनों के ही समर्थन पर अति-निर्भरता अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए मध्य-पूर्व में भारी दिक़्क़तें पैदा कर रही है। सीरिया में हस्तक्षेप, इराक़ में ही हस्तक्षेप के ही समान, इस कमी को दूर करने के लिए शुरू किया गया था। लेकिन रूस ने अपनी वायुसेना और नौसेना के ज़रिये प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर वाशिंगटन का 'गेम प्लान' ही बिगाड़ दिया है। इस हस्तक्षेप के कारण असद की सेनाओं ने आईएस को तमाम इलाकों से पीछे धकेल दिया है और आईएस तमाम अन्य इलाकों से भी भाग रहा है। वहीं उत्तर-पश्चिम में कुर्द लड़ाकों ने 'कुर्दिश वर्कर्स पार्टी' और वाई.पी.जी. के नेतृत्व में अपनी लड़ाई जारी रखी है और आईएस से मुक्त किये गये अपने क्षेत्र में उसे वापस घुसने नहीं दिया है। इसके अलावा, अमेरिका के लिए चिन्ता के और भी कई कारण हैं। चीन ने भी सीरिया में रूस की सहायता के लिए अपने सैन्य विशेषज्ञों को भेजा है और आने वाले समय में उसके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से भी इंकार नहीं किया जा सकता है। सीरिया के आकाश से इज़रायली जेट ग़ायब हो गये हैं क्योंकि रूस ने स्पष्ट चेतावनी दी थी कि अगर इज़रायली जेट दिखायी पड़ेंगे तो उन्हें गिरा दिया जायेगा। ग़ौरतलब है कि इज़रायल हर रोज़ बार-बार दूसरे देशों के हवाई क्षेत्र में घुसपैठ कर अन्तरराष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करता है। इसके अलावा, जो सबसे अहम बात है वह यह है कि रूस, इराक़, ईरान और सीरिया ने आईएस के विरुद्ध सूचना साझा करने व अन्य कार्रवाइयों के लिए एक आधिकारिक मोर्चा बना लिया है।

यूरोपीय संघ भी इस मसले पर खुलकर अमेरिका के साथ नहीं आ रहा है। सिवाय ब्रिटेन के, जो कि रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध आक्रामक भाषा में बात कर रहा है, कोई भी रूसी सैन्य अभियान पर ज़्यादा खुलकर नहीं बोल रहा है। यूरोपीय आयोग के अध्यक्ष ज्याँ-क्लोद युंकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यूरोपीय संघ के पास रूसी सैन्य अभियान का विरोध करने की कोई ज़मीन नहीं है और यूरोपीय संघ को रूस के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाने से पहले सोचना चाहिए। इसका कारण यह भी है यूरोपीय संघ को प्राकृतिक गैस की आपूर्ति प्रमुख तौर पर रूस से होती है और अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं के लिए अधिकांश देश रूस पर निर्भर हैं। नतीजतन, फ्रांस द्वारा सीरिया में कुछ हवाई हमलों को छोड़ दें तो कोई भी यूरोपीय देश सीरिया में सीधे कोई भी कार्रवाई करने से बच रहा है और फ्रांस के हवाई हमलों का निशाना भी असद के सैन्य बल नहीं थे, बल्कि आईएस के ठिकाने थे।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मध्य-पूर्व में अमेरिका के विकल्प लगातार कम होते गये हैं और अब उसके पास दो ऐसी शक्तियों के अलावा मध्य-पूर्व में कोई भी मित्र नहीं बचा है जिनमें से एक फ़िलिस्तीनी जनता के नात्सियों से भी गये-गुज़रे दमन के लिए कुख्यात है और जिसका दुनिया के कई देश बहिष्कार कर चुके हैं और दूसरा एक राजतन्त्र है जो कि अपनी मध्ययुगीन बर्बरता, मेहनतकशों की गुलामी और अश्लील पूँजीवादी आधुनिकता के लिए कुख्यात है। ऐसे में, दुनिया भर में लोकतन्त्र का निर्यात करने का दावा करने वाले अमेरिका के लिए तमाम राजनीतिक दिक्कतें पैदा होती हैं, विदेशों में भी और अपने घर में भी। अमेरिका के विकल्पों के कम होते जाने के साथ जो कहानी जारी है वह यह है कि रूसी-चीनी साम्राज्यवादी धुरी अपनी आर्थिक और सैन्य शक्तिमत्ता में बढ़ोत्तरी के साथ मध्य-पूर्व में अभी तक एक प्रकार से प्रश्नेतर रहे अमेरिकी प्रभुत्व को चुनौती दे रही है और

वहाँ पर अपने हिस्से को विस्तारित करने के लिए पहले से ज़्यादा खुले तौर पर हस्तक्षेप कर रही है। अमेरिका इस चुनौती के समक्ष इस समय ज़्यादा कुछ कर भी नहीं पा रहा है और जो कुछ कर रहा है वह उसके साम्राज्यवादी मंसूबों को दुनिया के सामने और ज़्यादा नंगा कर रहा है। मिसाल के तौर पर, 12 अक्टूबर को अमेरिका सेना ने उत्तरी सीरिया में 50 टन हथियार गिराये जो कि कहने के लिए "नरम विद्रोहियों" (गैर-आईएस असद-विरोधी विद्रोहियों के लिए ईजाद किया गया शब्द) के लिए थे, मगर कुछ ही घण्टों में यह स्पष्ट हो गया कि यह दुम दबाकर भाग रहे आईएस आतंकवादियों को पहुँचायी जा रही मदद है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मध्य-पूर्व में अमेरिकी प्रभुत्व एक गम्भीर चुनौती झेल रहा है और सीरिया युद्ध में उसका 'बैकफुट' पर जाना बदलती परिस्थितियों का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। निश्चित तौर पर, यह कहना अभी जल्दबाज़ी होगा कि अमेरिकी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के दिन मध्य-पूर्व में अब गिने हुए हैं क्योंकि पूरी दुनिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चौधराहट का एक अहम आधार मध्य-पूर्व पर उसका भू-राजनीतिक प्रभुत्व है। यही कारण है कि मित्र शक्तियों के नये विकल्प न खड़े होने की सूरत में अमेरिकी साम्राज्यवाद सऊदी राजतन्त्र और इज़रायली ज़ायनवादियों के ज़रिये ही अपने प्रभुत्व को बनाये रखने का प्रयास करेगा। लेकिन इससे अमेरिकी साम्राज्यवाद की अरब विश्व में मौजूदगी को वैचारिक आधार देना और भी कठिन हो जायेगा और पूरे अरब विश्व में इस अमेरिकी धुरी के लिए तमाम मुश्किलें पैदा होंगी। इराक़ अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र से बाहर जा रहा है (ग़ौरतलब है कि इराक़ी सेना ने 13 अक्टूबर को दावा किया कि उसने आईएस की मदद के लिए जा रही अमेरिकी हथियारों की खेप को ज़ब्त किया है और इस विषय में उसने अमेरिकी विदेश विभाग से स्पष्टीकरण माँगा है), ईरान पहले ही अमेरिकी गुट के बाहर था, सीरिया अमेरिका के ख़िलाफ़ है। लेबनान में हिज़बुल्ला की सशक्त मौजूदगी (यह भी ग़ौरतलब है कि 13 अक्टूबर को हिज़बुल्ला के सैन्य दस्ते आईएस के विरुद्ध लड़ने के लिए अलेप्पो समेत सीरिया के दो शहरों में पहुँचे हैं) लेबनान की किसी भी सरकार के लिए अमेरिका के मुखर समर्थन को असम्भव बना देती है और साथ ही लेबनानी जनता में इज़रायल-विरोधी सशक्त भावना के कारण भी यह असम्भव है। जॉर्डन अगर मुखर अमेरिका-विरोध के खेमे में नहीं जाता है तो यह भी साफ़ है कि इज़रायली ज़ायनवाद के प्रति वहाँ के लोगों में ज़बर्दस्त नफ़रत के कारण वह अमेरिकी-धुरी के किसी मुखर समर्थन के छोर की ओर कतई नहीं जा सकता है।

मौजूदा स्थिति यह है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद रूस, बल्कि कहना चाहिए कि रूसी-चीनी साम्राज्यवादी धुरी के मध्य-पूर्व में खुले हस्तक्षेप और ताज़ा फ़िलिस्तीनी बग़ावत के कारण एक मुश्किल हालत में है। इसका यह अर्थ कतई नहीं लगाया जा सकता है कि मध्य-पूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद और ज़ायनवाद के दिन पूरे हो गये हैं। यह भी ग़ौर करने लायक बात है कि रूस ने इज़रायल के विरुद्ध कोई खुला आक्रामक रुख़ नहीं अपनाया है और इज़रायल ने हाल ही में रूस के साथ आईएस के विषय में सूचना साझा करने की पेशकश भी की थी, हालाँकि इस पर रूस ने ज़्यादा गर्मजोशी नहीं दिखलायी। लेकिन रूस ने साथ ही यह भी कहा है कि वह एक फ़िलिस्तीनी राज्य के प्रति प्रतिबद्ध है। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि मौजूदा सीरियाई युद्ध के ख़त्म होने के बाद मध्य-पूर्व में कोई नया साम्राज्यवादी समीकरण उभर सकता है जिसमें कि रूस-चीन धुरी अपने प्रभाव-क्षेत्र और हिस्सेदारी को विस्तारित करे। यूरोपीय संघ अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह खुले तौर पर

कोई ऐसी आक्रामक अवस्थिति अपनाये जो कि रूस-चीन धुरी के विरुद्ध हो। ऐसे में, अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रभुत्व का मध्य-पूर्व में कमज़ोर होना तय है।

पिछले कुछ वर्षों में, विशेष तौर पर दूसरे इराक़ युद्ध के बाद से अमेरिकी साम्राज्यवाद मध्य-पूर्व में सतही तौर पर ज़्यादा आक्रामक, हस्तक्षेपकारी और हत्यारा हुआ है लेकिन अगर सतह से नीचे देखें तो यह मध्य-पूर्व में कमज़ोर हुआ है। इसके विकल्प कम होते गये हैं और इज़रायल और सऊदी अरब को छोड़ इसके अन्य मित्र इसका साथ छोड़कर या तो इसके विरोध में खड़े हो चुके हैं या फिर एक प्रतिकूल तटस्थता अपना चुके हैं। दूसरी ओर रूस-चीन धुरी ने अपने आपको मध्य-पूर्व में मज़बूत किया है। अगर मध्य-पूर्व में आने वाले कुछेक वर्षों में अमेरिकी साम्राज्यवाद और कमज़ोर होता है और निर्णायक और एकतरफ़ा प्रभुत्व ख़त्म होता है तो इसके प्रभाव मध्य-पूर्व ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में महसूस किये जायेंगे। निश्चित तौर पर, जनपक्षधर और प्रगतिशील परिप्रेक्ष्य से हम एक साम्राज्यवादी धुरी की जगह दूसरी साम्राज्यवादी धुरी का प्रभुत्व नहीं चाहेंगे। मगर यह भी स्पष्ट है कि संकट के फलस्वरूप दुनिया में तीख़ी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ जनता के संघर्षों और क्रान्तिकारी आन्दोलनों को मिलेगा।

मिसाल के तौर पर मध्य-पूर्व में अमेरिकी प्रभुत्व के कमज़ोर होने का एक महत्वपूर्ण उपोत्पाद होगा ज़ायनवादी इज़रायल का कमज़ोर होना। ज़ायनवादी इज़रायल के कमज़ोर होने का अर्थ होगा फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष का मज़बूत होना। निकट भविष्य में फ़िलिस्तीन के प्रश्न का कोई समाधान हो जायेगा (जो कि हमारे विचार में केवल एक ही हो सकता है–एक समाजवादी फ़िलिस्तीनी गणराज्य जिसमें कि मुसलमान, ईसाई और यहूदी साथ रह सकें) ऐसा उम्मीद करने की अभी कोई ठोस वजह हमारे पास नहीं है। लेकिन इतना तय है कि साम्राज्यवाद आम तौर पर मध्य-पूर्व में कमज़ोर होगा और यह जनसंघर्षों के लिए मिस्र और लीबिया से लेकर फ़िलिस्तीन और सीरिया तक नयी सम्भावनाएँ पैदा करेगा। हम अभी यह पूर्वानुमान नहीं लगा सकते हैं कि आने वाले समय में पैदा होने वाला राजनीतिक समीकरण ठीक-ठीक किस प्रकार का होगा। लेकिन साम्राज्यवाद जिस स्थिति में है और जिस नाज़ुक सन्तुलन पर टिका हुआ है, उसके मद्देनज़र इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि किसी भी किस्म का बड़ा बदलाव उसके लिए गम्भीर दिक्कतें पैदा करेगा, न सिर्फ़ मध्य-पूर्व में बल्कि पूरी दुनिया में। इन अर्थों में हम कह सकते हैं कि दुनिया एक संक्रमणकाल में प्रवेश करती दिख रही है। चाहे यह संक्रमणकाल जनक्रान्तियों के किसी नये चक्र का तत्काल उद्घाटन न भी करे तो यह दुनिया भर में साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी संघर्षों के लिए बेहतर सिद्ध होगा। साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने के साथ विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तरविरोध निश्चय ही और ज़्यादा गहराएँगे और नयी प्रगतिशील सम्भावनाओं को जन्म देंगे।

(15 अक्टूबर, 2015)

आपकी बात

दिशा सन्धान के दोनों अंक मैंने पढ़े। अभिनव सिन्हा का धारावाही लेख 'सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ' बेहद महत्वपूर्ण है। आज विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के सामने जो गम्भीर राजनीतिक सवाल मौजूद हैं, उनके हल के लिए ज़रूरी है कि इतिहास का गहराई और गम्भीरता के साथ और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अध्ययन किया जाये। ख़ास तौर पर समाजवादी निर्माण के महान प्रयोगों के सकारात्मक और नकारात्मक अनुभवों को नये सिरे से जानने-समझने की ज़रूरत है। हमारे यहाँ यह काम प्रायः बहुत सतही ढंग से होता रहा है। आधे-अधूरे ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर मनचाहे नतीजे भी निकाले जाते रहे हैं। आपने जिस विस्तार में जाकर चीज़ों को उठाया है और जितने ब्यौरेवार तथ्यों के साथ विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह बहुत ज़रूरी है। बहुत से तथ्यों से भी कम से कम भारत में ज़्यादातर लोग वाकिफ़ नहीं हैं। रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन के भीतर दो कार्यदिशाओं के संघर्ष का विस्तृत ब्यौरा बहुत उपयोगी है। "कानूनी" मार्क्सवादियों और अर्थवाद, अराजकतावाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के साथ चले वैचारिक संघर्ष को जानने की महत्ता आज इसलिए भी बढ़ गयी है क्योंकि ये पिटी हुई प्रवृत्तियाँ आज कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर फिर से सिर उठाने लगी हैं। त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के नेतृत्व में चले बोल्शेविकों के संघर्ष का ब्यौरा और उनके बारे में लेखक की 'इनसाइट्स' भी बहुत शिक्षाप्रद हैं। आगामी अंक में चार्ल्स बेतेलहाइम के विचारों की आलोचना के प्रति उत्सुकता बनी हुई है क्योंकि इस विषय पर हिन्दी में तो मेरी जानकारी में नगण्य सामग्री है।

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद पर लम्बा आलेख मैं अन्यत्र पढ़ चुका था लेकिन एलेन बेज्यू की पुस्तक की समीक्षा, फासीवाद, नेपाल की राजनीतिक स्थिति और आम आदमी पार्टी की चुनावी जीत पर टिप्पणियाँ भी काफी विचारोत्तेजक लगीं। आशा है,

पत्रिका की वैचारिक गहराई और तीक्ष्णता का स्तर ऐसा ही बना रहेगा।

– शरदेन्दु चौधरी, नई दिल्ली

'दिशा सन्धान' का दूसरा अंक प्रवेशांक द्वारा जगायी उम्मीदों पर खरा उतरा है। सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों पर लेख की दूसरी किस्त उस दौर के अहम सवालों और घटनाओं का जैसा प्रखर विश्लेषण तथ्यों के साथ करती है वैसा मैंने पहले कहीं नहीं पढ़ा है। इसमें सोचने के लिए काफी मसाला है और बहुत से मुद्दे बहसतलब भी हैं, इन पर बहस चले तो अच्छा होगा। मुश्किल सवालों पर चुप रहने या कन्नी काटने से काम नहीं चलेगा। दाग़िस्तानी कवि अबू तालिब कह गये हैं कि अगर तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली दागोगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा। लेकिन अगर हम अतीत के सवालों से आँख चुरायेंगे तो भी हमारा हश्र कोई बेहतर नहीं होने वाला! नक्सलबाड़ी पर आलोकरंजन के लेख की दूसरी किस्त नहीं मिल पाना दुर्भाग्यपूर्ण रहा। उस लेख की विशेषता भी मुझे यही लगी कि विस्तृत तथ्यों के साथ ही भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का विश्लेषण भी दिया गया है। आगामी अंक में इसकी अगली कड़ी की प्रतीक्षा रहेगी।

– संजय कुमार, लखनऊ

हम लोग कई वर्षों से आपकी पत्रिका 'दायित्वबोध' के पाठक रहे हैं। नेपाल के कम्युनिस्ट आन्दोलन से जुड़े बहुत से लोगों के लिए यह वैचारिक सामग्री का महत्वपूर्ण स्रोत रही है। साथी अरविन्द जी के निधन के बाद से इसका प्रकाशन बन्द रहा लेकिन 'दिशा सन्धान' के द्वारा आप लोगों ने इस सिलसिले को आगे बढ़ाया है। यह नयी पत्रिका ज़्यादा गम्भीर है और कुछ लोगों के लिए गरिष्ठ भी हो सकती है। मगर मुझे लगता है कि आज हमारे देश में और आपके भी मुल्क में कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो हालत हुई है उसके लिए वैचारिक कमज़ोरी सबसे बड़ा कारण है। इसे दूर करने के लिए पढ़ाई-लिखाई, बहस-मुबाहसे और गहराई में उतरकर चिन्तन की संस्कृति फिर से बहाल करनी होगी।

– आपका एक पाठक, नेपाल

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(तीसरी किस्त)

अध्याय IV.
परिशिष्ट

चार्ल्स बेतेलहाइम का "मार्क्सवाद" : माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को तिलांजलि

सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अध्येताओं में चार्ल्स बेतेलहाइम का नाम काफ़ी चर्चित है। बेतेलहाइम ने सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर कई पुस्तकें लिखी हैं और साथ ही चे गुएवारा, पॉल स्वीज़ी आदि समेत कई अन्य चिन्तकों के साथ बहसों में भी हिस्सा लिया है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि सोवियत समाजवाद के अध्ययन में चार्ल्स बेतेलहाइम का अहम योगदान है। लेकिन उनका योगदान आम तौर पर कुछ अहम प्रश्नों को उठाने तक ही सीमित रहता है। अलग-अलग दौरों में बेतेलहाइम ने सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोग पर जो रचनाएँ लिखी हैं, उन पर अलग-अलग किस्म के विजातीय प्रभाव स्पष्ट तौर पर देखे जा सकते हैं। त्रात्स्कीपन्थ, खुश्चेवी संशोधनवाद, अल्थूसरवादी उत्तर-संरचनावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद,

कीन्सीय "मार्क्सवाद", बुखारिनपन्थ और साथ ही उनके उत्तरवर्ती दौर की रचनाओं पर एक प्रकार के छद्म-माओवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। **लेकिन अगर चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे अप्रोच और उनकी पद्धति पर सम्पूर्णता में किसी चीज़ का असर है तो वह है हेगेलीय भाववाद, अधिभूतवाद, यान्त्रिकतावाद और मनोगतवाद का।** दार्शनिक धरातल पर बेतेलहाइम पर भाववाद और अधिभूतवाद के असर के कारण ही उन्हें 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध से लेकर 1980 के दशक तक कभी हम त्रात्स्कीपन्थ, खुश्चेवी संशोधनवाद और कीन्सीय "मार्क्सवाद" के छोर पर खड़ा देख सकते हैं तो कभी बुखारिनपन्थ और छद्म-माओवाद के छोर पर।

चार्ल्स बेतेलहाइम के "मार्क्सवाद" के विश्लेषण को हम विशेष तौर पर आवश्यक मानते हैं। इसका **पहला कारण** यह है कि सोवियत समाजवाद पर चार्ल्स बेतेलहाइम का उत्तरवर्ती लेखन माओवादी और चीनी समाजवादी प्रयोगों से प्रभावित माना गया है। कई टिप्पणीकारों और समीक्षकों ने बेतेलहाइम की रचना **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर'** को सोवियत संघ के इतिहास की माओवादी व्याख्या क़रार दिया है, विशेष तौर पर पहले और एक हद तक दूसरे खण्ड को। हमारे विचार में यह एक नुक़सानदेह भ्रम है, जो कई मायनों में माओ के अवदानों और माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी तत्वों के लिए ख़तरनाक है। निश्चित तौर पर, माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों और विशेष तौर पर समाजवादी संक्रमण की माओवादी समझदारी का अलग से आलोचनात्मक विवेचन किया जा सकता है और किसी भी संजीदा मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी के लिए यह एक ज़रूरी कार्यभार है। लेकिन हमारे विचार में इतना स्पष्ट है कि माओ के सिद्धान्तों के अध्ययन और समझदारी के लिए अगर कोई बेतेलहाइम की पुस्तकों (सोवियत रूस पर भी और साथ ही चीन पर भी) को अपनी बुनियादी सन्दर्भ में रखता है, तो निश्चित तौर पर वह बाद में अपने आपको भयंकर विचारधारात्मक और राजनीतिक गड़बड़झाले में पायेगा। माओ के मौलिक सिद्धान्तों की एक आलोचनात्मक समझदारी के लिए किसी भी गम्भीर मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति या संगठन के लिए माओ और चीनी पार्टी का मौलिक लेखन और साथ ही चीन में समाजवादी प्रयोगों का इतिहास ही सर्वश्रेष्ठ स्रोत है। कारण यह है कि चीनी समाजवादी प्रयोग के विवरण विशेष तौर पर सबसे ज़्यादा विकृतिकरणों, अज्ञानता और मूर्खतापूर्ण सूत्रीकरणों से भरे पड़े हैं, चाहे वह **एलेन बेदियू** जैसे लोगों द्वारा माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोग की उत्तर-मार्क्सवादी व्याख्या हो, या फिर चार्ल्स बेतेलहाइम और उनके शिष्यों, मसलन, **कोस्तास मावराकिस** जैसे लोगों द्वारा माओवाद की हेगेलीय भाववादी और मनोगतवादी व्याख्या हो। यहाँ हम माओ और उनके अवदानों के आलोचनात्मक विवेचन को अपने कार्यभार के तौर पर नहीं लेंगे, लेकिन बेतेलहाइम द्वारा माओ की शिक्षाओं के विकृतिकरणों का खण्डन करते हुए हम प्रसंगवश माओवाद के मूल सिद्धान्तों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। हमारा मूल उद्देश्य यहाँ बेतेलहाइम के "मार्क्सवाद" की आलोचना पेश करना है।

दूसरा कारण जिसके चलते हम बेतेलहाइम के लेखन की आलोचनात्मक पड़ताल ज़रूरी समझते हैं, वह यह है कि बेतेलहाइम द्वारा माओवाद के हेगेलीय विनियोजन का लाभ उठाते हुए कई होज़ापन्थी और कठमुल्लावादी मार्क्सवादी-लेनिनवादी माओवाद को निशाना बनाते हैं। वे बेतेलहाइम के इस दावे को सीधे स्वीकार करते हैं कि सोवियत समाजवादी प्रयोगों की उनकी आलोचना माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोगों की रोशनी में की गयी है और इसके बाद बेतेलहाइम को सामने खड़ा करके वे माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोगों की एक

ग़लत व्याख्या करते हैं और फिर उन्हें निशाना बनाते हैं। हम समझते हैं कि माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र और चीनी समाजवादी प्रयोगों की आलोचना की वांछनीयता के बावजूद ये कठमुल्लावादी आलोचनाएँ वास्तव में माओवाद को विकृत करती हैं। वे माओवाद का एक छद्म संस्करण निर्मित करती हैं (जिसमें बेतेलहाइम और मावराकिस जैसे अध्येताओं से उन्हें पर्याप्त मदद मिलती है) और फिर उस छद्म संस्करण के बहाने माओ और चीनी समाजवादी प्रयोगों पर बाण-वर्षा करती हैं। इससे न तो समाजवादी संक्रमण की मार्क्सवादी समझदारी को उन्नत करने में कोई सहायता मिलती है और न ही चीनी और साथ ही सोवियत समाजवादी प्रयोगों के बारे में कोई सन्तुलित नज़रिया निर्मित हो पाता है। बेतेलहाइम के हेगेलीय भाववाद और अधिभूतवाद की आलोचना कठमुल्लावादी और यान्त्रिक मार्क्सवाद के ज़रिये नहीं की जा सकती है। इसलिए भी बेतेलहाइम की एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी आलोचना को हम वांछनीय मानते हैं।

तीसरा कारण जिसके चलते हमें बेतेलहाइम के रचना-कर्म की आलोचना की ज़रूरत महसूस करते हैं वह यह है कि बेतेलहाइम अपनी तमाम रचनाओं में न सिर्फ़ माओवाद के विशिष्ट योगदानों को विकृत करने का काम करते हैं बल्कि वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर भी हमला बोलते हैं, हालाँकि इन तमाम हमलों को वे अपनी रचनाओं में माओ द्वारा करवाते हैं। मिसाल के तौर पर, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को विकसित करने और समाजवादी संक्रमण के वस्तुगत नियमों की खोज करने के नाम पर बेतेलहाइम मार्क्सवादी दर्शन और अर्थशास्त्र की बुनियाद पर हमला करते हैं। **इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का बेतेलहाइम भाववादी विनियोजन करते हैं और मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों की बेतेलहाइम संशोधनवादी व्याख्या करते हैं।** और हमेशा की तरह इन ग़लत व्याख्याओं के लिए बेतेलहाइम माओ और चीनी पार्टी से वैधता लेने का प्रयास करते हैं।

बेतेलहाइम की रचनाओं का आज भी विशेष तौर पर दुनिया भर के माओवादी आन्दोलन पर विशेष प्रभाव है। ऐसा नहीं है कि बेतेलहाइम की आलोचनाएँ नहीं की गयी हैं। मार्क्सवादी-लेनिनवाद-माओवादी संगठनों और बुद्धिजीवियों ने और साथ ही तमाम मार्क्सवादी अकादमिकों ने बेतेलहाइम की आलोचनाएँ पेश की हैं। इन आलोचनाओं में कई सही नुक़्तों को भी पकड़ा गया है। लेकिन कुल मिलाकर ये आलोचनाएँ या तो बेतेलहाइम की एकतरफ़ा कठमुल्लावादी, होज़ापन्थी निन्दा पर ख़त्म होती हैं और तमाम प्रश्न अनुत्तरित छोड़ देती हैं, या फिर ये आलोचनाएँ इस नतीजे पर पहुँचती हैं कि बेतेलहाइम का दृष्टिकोण अपने ऐतिहासिक विवरणों और कई अलग-अलग मुद्दों पर ग़लत है और त्रात्स्कीपन्थ और बुखारिनपन्थ का असर लिए हुए हैं, लेकिन अप्रोच और पद्धति के मामले में कुल मिलाकर बेतेलहाइम को माओवादी माना जाना चाहिए और कुल मिलाकर यह माना जाना चाहिए कि सोवियत समाजवाद के अध्ययन में बेतेलहाइम का योगदान उनकी ग़लतियों से ज़्यादा महत्वपूर्ण है। हमारा मानना है कि बेतेलहाइम ने निश्चित तौर पर बेहद महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न उठाये हैं और समाजवादी संक्रमण पर गम्भीर चिन्तन को प्रेरित किया है, लेकिन **सोवियत संघ के स्वयं उनके इतिहास-लेखन को न तो मौलिक माना जा सकता है और न ही सटीक।** विशेष तौर पर, उनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' को अधिकतम सम्भव उदारता के साथ एक **बुरा इतिहास-लेखन** कहा जा सकता है। इसके कई कारण हैं। बेतेलहाइम अपने इतिहास-लेखन के लिए जो स्रोत चुनते हैं और जिन स्रोतों के तथ्यों को वे

अनालोचनात्मक तरीके से अपनाते हैं वे आम तौर पर बुर्जुआ अकादमिक, स्तालिन-विरोधी और त्रात्स्कीपन्थी और कई बार मार्क्सवाद-विरोधी स्रोत हैं और सोवियत इतिहास का न सिर्फ़ विकृतिकरण करते हैं बल्कि उसमें कई ऐसी घटनाएँ या तथ्य जोड़ देते हैं, जो वास्तव में हुए ही नहीं थे और केवल उनके दिमाग़ों के आविष्कार हैं। दूसरा कारण यह है कि इन स्रोतों से भी बेतेलहाइम तथ्यों का बेहद मनमाने ढंग से चयन करते हैं, सन्दर्भों से काटकर उन्हें पेश करते हैं और अक्सर उनकी एकदम ग़लत व्याख्या करते हैं। तीसरा कारण यह है कि बेतेलहाइम अपने अध्ययन के नतीजों को कई जगहों पर पहले से तय किये हुए हैं और इसी वजह से तथ्यों और उद्धरणों का उनका चुनाव बेहद मनोगतवादी है और अपनी पूर्वनिर्मित व्याख्या को पुष्ट करने के लिए किया गया है। चौथा कारण यह है कि बेतेलहाइम कई जगहों पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, माओ और यहाँ तक कि त्रात्स्की, बुखारिन और ज़िनोवियेव आदि तक के उद्धरणों की ग़लत और मनमानी व्याख्या करते हैं। इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम भले ही कई सही प्रश्न उठायें और स्तालिन के दौर की कई ग़लतियों की ओर इंगित करें, लेकिन उनके जवाब न सिर्फ़ ग़लत होते हैं बल्कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों और समाजवादी प्रयोगों के इतिहास का विकृतिकरण करते हैं। आगे हम इन बातों को तथ्यों व उद्धरणों के साथ पुष्ट करेंगे।

चार्ल्स बेतेलहाइम के रचना-कर्म का हम कोई कालानुक्रमीय ब्यौरा नहीं पेश करेंगे। हम बेतेलहाइम की सबसे बाद की रचनाओं में से एक और सबसे अहम मानी जाने वाली रचना 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड से शुरुआत करेंगे और बीच-बीच में सन्दर्भ आने पर उनकी पुरानी रचनाओं में पेश किये गये कुछ सूत्रीकरणों व सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवेचन पेश करेंगे और प्रदर्शित करेंगे कि "अति-माओवाद" के चोंगे में छिपे बेतेलहाइम के ग़ैर-मार्क्सवादी विचारों के स्रोतों को एक हद तक उनकी पुरानी रचनाओं में देखा जा सकता है। इसलिए हम यहाँ पर ज़्यादातर जगहों पर उनकी उपरोक्त रचना के आलोचनात्मक विवेचन को ही पेश करेंगे। पहले हम 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड की आलोचना पेश करेंगे क्योंकि कई मायनों में यह खण्ड, (जिसमें कहने को बेतेलहाइम का "माओवाद" सबसे प्रखर तौर पर प्रकट होता है!) सोवियत समाजवाद और स्तालिन पर बेतेलहाइम के मार्क्सवाद-विरोधी हमलों की ज़मीन तैयार करता है। आगे के अध्यायों के परिशिष्ट में हम बेतेलहाइम की इस रचना के बाद के दोनों खण्डों की आलोचना भी पेश करेंगे। पहले खण्ड की एक विस्तृत आलोचना की आवश्यकता इसलिए भी है क्योंकि इसके प्रतीतिगत "माओवाद" ने कई ईमानदार मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को भी प्रभावित किया है और साथ ही कठमुल्लावादी मार्क्सवादियों को माओ और माओवाद की असन्तुलित और अक्सर ग़लत आलोचना करने का अवसर दिया है। सबसे पहले हम बेतेलहाइम की पहुँच और पद्धति से जुड़े हुए कुछ प्रश्नों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

चार्ल्स बेतेलहाइम का "मार्क्सवाद": पहुँच और पद्धति से जुड़े बुनियादी प्रश्न

'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड की 'प्राक्कथन' और 'प्रस्तावना' में चार्ल्स बेतेलहाइम पहुँच और पद्धति के बारे में अपने विचारों को स्पष्ट करते हैं। इसमें बतायी गयी पहुँच और पद्धति स्वयं भयंकर विचलनों का शिकार है, मगर यह टुकड़ों-टुकड़ों में कुछ

अहम प्रश्न भी उठाती है और कुछ स्थानों पर कुछ सही नुक्तों को पकड़ती है। लेकिन रचना के बाकी हिस्से में वह इस पहुँच और पद्धति पर भी पूरी तरह अमल नहीं करते और मार्क्सवाद-लेनिनवाद से और भी ज़्यादा दूर जाकर खड़े हो जाते हैं। वह समाजवादी संक्रमण के मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अपनी समझदारी को अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन और सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी में (विशेष तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद) हावी ग़लत अवधारणाओं का खण्डन करते हुए स्पष्ट करते हैं। बेतेलहाइम सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों में अपनी रुचि और अध्ययन की शुरुआत का इतिहास बताने के साथ शुरुआत करते हैं।

चार्ल्स बेतेलहाइम कहते हैं कि 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध और उसके बाद के दौर में सोवियत संघ के सामाजिक-साम्राज्यवादी विस्तारवाद ने उन्हें यह सोचने के लिए मजबूर किया कि सोवियत संघ का चरित्र अब क्या हो चुका है। लेकिन सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण के बारे में उनके अध्ययन की शुरुआत 1930 के दशक में हुई थी। 1936 में बेतेलहाइम पहली बार सोवियत संघ के दौरे पर गये और 1946 में सोवियत आर्थिक नियोजन पर उनकी पहली पुस्तक ('ला प्लानिफिकेशन सोवियेतीक') आयी। इसके बाद, 1950 में सोवियत अर्थव्यवस्था पर ही उनकी दूसरी पुस्तक ('दि सोवियत इकोनॉमी') का भी प्रकाशन हुआ। 1950 के बाद चार्ल्स बेतेलहाइम ने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर दो अहम पुस्तकें लिखीं जिनमें कि, उनके ही अनुसार, क्यूबा की क्रान्ति के बाद समाजवादी निर्माण पर चे गुएवारा के साथ चली उनकी बहस, माओ के विचारों और **लुई अल्थूसर** के विचारों के प्रभाव को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। यहीं से बेतेलहाइम के अनुसार मार्क्सवाद की "अर्थवादी" व्याख्या के साथ उनका विच्छेद शुरू हुआ। बेतेलहाइम बताते हैं कि चूँकि वह 1936 के प्रसिद्ध मुकदमों के दौरान मॉस्को में थे, इसलिए उनके दिमाग़ में कुछ प्रश्न आये थे लेकिन फिर भी वह ***"अभी भी"*** मानते थे कि अक्टूबर क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक नये दौर की शुरुआत की है। उनके अनुसार, सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों का ही वह अध्ययन कर रहे थे। एक ओर हिटलर पर विजय, लोगों के जीवन स्तर में सुधार, आदि था तो दूसरी ओर बढ़ते वेतन-अन्तर, दमन आदि था। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार उनकी समझदारी "अर्थवाद" के प्रभाव के कारण स्पष्ट नहीं थी।

1956 की बीसवीं कांग्रेस के बारे में बेतेलहाइम लिखते हैं कि शुरुआत में उन्होंने इसे एक सकारात्मक परिवर्तन के तौर पर देखा जो उनके लिए इस बात का सबूत थी कि बोल्शेविक पार्टी में अभी भी आत्मालोचना करने की क्षमता बरक़रार है, और बेतेलहाइम इस बात का ज़िक्र करते हैं कि खुद चीनी पार्टी और माओ ने शुरुआत में (अप्रैल और दिसम्बर 1956 के दो लेखों में) बीसवीं कांग्रेस का स्वागत किया था और कहा था कि स्तालिन सर्वहारा अधिनायकत्व और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को दूसरे छोर पर और आवश्यकता से आगे लेते गये थे। बाद में चीनी पार्टी और माओ ने अपनी अवस्थिति में परिवर्तन किया और ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष की शुरुआत की। बेतेलहाइम बताते हैं कि बाद में उन्हें भी यह समझ में आया कि बीसवीं कांग्रेस ने सोवियत संघ में हुई तमाम गड़बड़ियों के लिए स्तालिन के "कल्ट" के सिद्धान्त का सहारा लिया और सारा दोष स्तालिन पर ही मढ़ दिया। बेतेलहाइम के अनुसार, यह बोल्शेविक पार्टी द्वारा मार्क्सवादी विश्लेषण से प्रस्थान था क्योंकि किसी भी व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिघटना के

कारणों की पड़ताल मार्क्सवाद व्यक्तियों में नहीं करता बल्कि ढाँचागत सामाजिक-आर्थिक कारकों (बेतेलहाइम के लिए वर्ग संघर्ष) में करता है। इस ग़लत विश्लेषण के कारण बोल्शेविक पार्टी के भीतर बुर्जुआ कुलीन और नौकरशाह तत्व और मज़बूत हो गये और अन्ततः सोवियत संघ के खुले तौर पर बुर्जुआ देश बनने और "जनवादी किस्म के नहीं" बल्कि एक सामाजिक-फासीवादी बुर्जुआ देश बनने की ओर ले गये। नये संशोधनवादी और सामाजिक-फासीवादी शासन ने देश के भीतर मज़दूरों पर तानाशाहाना नियन्त्रण, दमन, सर्वसत्तावाद को बढ़ावा दिया तो देश के बाहर महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा, सामाजिक साम्राज्यवादी विस्तारवाद आदि को जन्म दिया। बेतेलहाइम के अनुसार इन सारे परिवर्तनों से सोवियत समाज के भीतर के अन्तरविरोध तीखे होते गये, आर्थिक संकट बढ़ता गया जिसने कि सोवियत व्यवस्था के भीतर और तेज़ी से बुर्जुआ रूपान्तरण को बढ़ाया और उसे और अधिक सर्वसत्तावादी, दमनकारी और शोषक चरित्र का बनाया।

बेतेलहाइम "अर्थवाद" की सारी आलोचना पेश करते हुए स्वयं अर्थवाद के शिकार हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि 1956 के बाद सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों में बुर्जुआ आर्थिक सुधारों को सत्तारूढ़ पार्टियों ने इसलिए लागू किया क्योंकि इन देशों में आर्थिक संकट था! **बार-बार नेतृत्वकारी विचारधारा और पार्टी के चरित्र की अहमियत की बात करने वाले बेतेलहाइम यहाँ पूँजीवादी आर्थिक सुधारों के लागू होने के पीछे सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों में सत्तारूढ़ संशोधनवादी पार्टियों के विचारधारात्मक चरित्र को नहीं देखते हैं, बल्कि इन देशों के आर्थिक संकट को देखते हैं।** जबकि सोवियत संघ के इतिहास को देखें तो हम पाते हैं कि वह क्रान्ति के बाद के लगभग एक दशक में सबसे ज़्यादा आर्थिक संकट का शिकार था। अगर आर्थिक संकट ही बुर्जुआ आर्थिक सुधारों का प्रमुख कारण होता तो इस सवाल का जवाब देना होगा कि 1950 के दशक के मध्य से कहीं ज़्यादा गम्भीर आर्थिक संकट के दौर में ये बुर्जुआ आर्थिक सुधार क्यों नहीं हुए? उस समय पार्टी और राज्यसत्ता का चरित्र बुर्जुआ क्यों नहीं हुआ? लेकिन बेतेलहाइम की इस व्याख्या के पीछे उनकी मंशा जल्द ही साफ़ हो जाती है। **आगे हम देखते हैं कि बेतेलहाइम हर स्थान पर राज्यसत्ता और पार्टी के चरित्र के बारे में चर्चा करते हुए किसी पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ज़िक्र करने या उसका काल-निर्धारण करने से बच निकलते हैं।** और यह सबकुछ विचारधारा की अहमियत के नाम पर किया जाता है!

अपने 'प्राक्कथन' में बेतेलहाइम आगे लिखते हैं कि मौजूदा रचना (यानी कि 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष') के पहले की उनकी रचनाओं में तमाम कमियाँ थीं, लेकिन इनमें से प्रमुख कमी थी "अर्थवाद" का असर। पहले की रचनाओं जैसे कि 'इकोनॉमिक कैल्कुलस' और 'ट्रांज़िशन टू सोशलिस्ट इकोनॉमी' में, बेतेलहाइम मानते थे कि समाजवादी समाज में से मुद्रा सम्बन्ध और माल सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ समाप्त हो जाएँगे। बाद में, बेतेलहाइम के अनुसार, 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के प्रभाव में उन्होंने इस "अर्थवादी" समझदारी से अपना नाता तोड़ा, जिसने यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन को लम्बे समय से प्रभावित कर रखा था। उनके इस रूपान्तरण की प्रक्रिया में पॉल स्वीज़ी से सोवियत संघ के चरित्र पर चली उनकी बहस ने भी एक अहम भूमिका निभायी। लेकिन इसके बावजूद बेतेलहाइम को सोवियत संघ के पूँजीवादी रूपान्तरण के ऐतिहासिक सन्दर्भ के अध्ययन की ज़रूरत महसूस हुई और इसीलिए उन्होंने इस पुस्तक को लिखने का निर्णय लिया। इसका मक़सद था 1917 से सोवियत समाज में वर्ग संघर्ष का अध्ययन करना और यह दिखलाना कि

किस प्रकार यह वर्ग संघर्ष पूँजीवादी रूपान्तरण की ओर ले गया।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, पहले 'प्राक्कथन' के इस शुरुआती हिस्से में प्रकट विचारों की एक आलोचनात्मक समीक्षा कर लें।

बेतेलहाइम आगे जो करने वाले हैं, उसके संकेत वह काफ़ी पहले से देते हैं। 'प्राक्कथन' के इस पहले हिस्से में कई बातें विशेष तौर पर ग़ौर करने वाली हैं। **पहली बात तो यह है कि चार्ल्स बेतेलहाइम ने सोवियत समाजवाद के बारे में अपनी समझदारी के विकास के इतिहास का एक सही ब्यौरा नहीं दिया है।** मिसाल के तौर पर, शुरुआती दौर में बेतेलहाइम का पूरा नज़रिया क्या था और अलग-अलग दौरों में उनमें क्या परिवर्तन आये, इसे बेतेलहाइम ने सिर्फ़ एक ही कसौटी पर परखा है: वह पहले कितने "अर्थवादी" थे और बाद में वह कैसे कदम-दर-कदम "अर्थवाद" से मुक्त होते गये! **लेकिन बेतेलहाइम की विचारधारात्मक यात्रा इस प्रकार की थी ही नहीं, जैसा कि वह दावा कर रहे हैं।** हम यह नहीं कह सकते कि चार्ल्स बेतेलहाइम के अतीत के पुरातत्वान्वेषण से ही उनकी मौजूदा रचना के बारे में कोई फैसला दिया जा सकता है, क्योंकि कई होज़ापंथियों की आलोचना में और यहाँ तक कि *'रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, यूएसए'* द्वारा पेश आलोचना में भी, बेतेलहाइम के त्रात्स्कीपन्थी अतीत पर काफ़ी बल दिया गया है। हमारा मानना है कि इस अतीत के आधार पर ही बेतेलहाइम की इस पुस्तक का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। सवाल यहाँ यह है ही नहीं कि बेतेलहाइम कभी त्रात्स्की के प्रभाव में थे या नहीं। ऐसा हो सकता है कि बेतेलहाइम उस प्रभाव को छोड़कर एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवस्थिति पर आ गये हों! **मुद्दे की बात यहाँ यह है कि बेतेलहाइम खुद ही अपने अतीत की पुरातात्विक छानबीन आपके सामने रखते हैं और वह अपूर्ण और भ्रामक है। वे अगर अपने अतीत का ब्यौरा न रखते तो ज़्यादा बेहतर होता क्योंकि पाठक उनसे ऐसी माँग नहीं कर रहे थे! ऐसा करके उन्होंने अपने आपको विरोधाभासों के गड़बड़झाले में डाल दिया।** इस पर थोड़ा ग़ौर करने की आवश्यकता है।

बेतेलहाइम सोवियत संघ के बारे में अपने अध्ययन और नतीजों के अलग-अलग दौरों में त्रात्स्की, पॉल स्वीज़ी व पॉल बरान के कीन्सीय मार्क्सवाद, आदि से प्रभावित होने की बात को पूरी तरह गोल कर गये हैं! हमें उस अतीत पर एक निगाह डालने की ज़रूरत है, इसलिए नहीं कि इस अतीत के आधार पर ही उनकी मौजूदा रचना को ख़ारिज कर दिया जाय, बल्कि इसलिए कि यह जाँच की जा सके कि 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' में उनके ग़लत सूत्रीकरणों पर उनके विचारधारात्मक अतीत का असर मौजूद है या नहीं, या अगर है तो कितना है।

1939 में चार्ल्स बेतेलहाइम ने सोवियत आर्थिक नियोजन पर जो पुस्तक लिखी (*'ऑन सोवियत प्लानिंग'*) उसमें उनके विचारों पर त्रात्स्कीपन्थ का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इसमें बेतेलहाइम ने यह दावा किया है कि 1939 तक सोवियत राज्यसत्ता के बारे में यह बात कही जा सकती थी कि उस पर विशेषाधिकार प्राप्त नौकरशाहों-तकनोशाहों का कब्ज़ा था और वही उसे चला रहे थे। यह पूरा संस्तर एक नौकरशाहाना 'जाति' (bureaucratic caste) का निर्माण करता था। इसके साथ, त्रात्स्की को 1929 तक सोवियत पार्टी में "वामपन्थी" विरोध-पक्ष का नेता क़रार दिया गया है। इस पुस्तक के बाद के दौर में 1945-46 में बेतेलहाइम **डेविड रूसे** द्वारा शुरू किये गये जर्नल *'रेव्यू इण्टरनेशनाले'* से जुड़े। इसके सम्पादक मण्डल में **पॉल स्वीज़ी** व **पॉल बरान** भी थे। रूसे स्वयं एक त्रात्स्कीपन्थी थे

जिनका नारा था कि मार्क्सवादियों को "स्तालिनवाद के शव" को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहिए! कहने के लिए इस पत्रिका के प्रमुख नारों में कठमुल्लावाद का विरोध करने और "आलोचना की स्वतन्त्रता" की भी बात की गयी थी। इस पत्रिका के चरित्र को कुल मिलाकर और व्यापक अर्थों में त्रात्स्कीपन्थ के दायरे में माना जा सकता है। इस पत्रिका में त्रात्स्कीपन्थी, कीन्सीय मार्क्सवादियों से लेकर बुर्जुआ अकादमिक तक लिखते थे और आम तौर पर इसकी विषय-वस्तु सोवियत संघ में हो रहे परिवर्तन होते थे। इस पत्रिका में लिखे लेखों में भी बेतेलहाइम ने 1930 के दशक के सोवियत राज्यसत्ता को एक विशेषाधिकार-प्राप्त नौकरशाह वर्ग के अधीन बताया था। लेकिन साथ ही बेतेलहाइम ने कुछ लेखों में इस समस्या पर भी विचार किया था कि पूँजीवादी समाज से समाजवादी समाज को मानसिक और शारीरिक श्रम का जो बँटवारा विरासत के तौर पर मिलता है, वह उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ किस प्रकार समाप्त हो सकता है। इस थीसिस पर भी त्रात्स्की के प्रभाव को देखा जा सकता है, जिनका मानना था कि सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण की असम्भाव्यता इस बात पर निर्भर करती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास अपर्याप्त है, जिसके कारण अन्ततः राज्यसत्ता में नौकरशाहाना तत्वों का पैदा होना अनिवार्य है। त्रात्स्की के अनुसार जब उत्पादक शक्तियों का विकास कम होता है तो अभाव की स्थिति होती है; जब अभाव की स्थिति होती है तो वितरण के लिए पंक्तियों की व्यवस्था करनी पड़ती है और जब पंक्तियों की व्यवस्था होती है, तो उसे व्यवस्थित रखने के लिए एक पुलिसवाले की आवश्यकता वस्तुगत यथार्थ या बाध्यता बन जाती है। इस रूपक के ज़रिये त्रात्स्की नौकरशाही को उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर का उपोत्पाद बताते हैं।

इसी दौर में, चार्ल्स बेतेलहाइम ने अपने बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों को भी उजागर किया। बेतेलहाइम का मानना था कि चूँकि समाजवादी समाज में असमानताएँ होती हैं, माल उत्पादन और मुद्रा सम्बन्ध विद्यमान रहते हैं, इसलिए सर्वहारा वर्ग के भीतर भी विभिन्न संस्तर मौजूद होते हैं। ये संस्तर अपने अन्तरविरोधों को एक ही प्रकार से हल कर सकते हैं: "जनवाद"। कहने की ज़रूरत नहीं है कि बेतेलहाइम यहाँ पर औपचारिक जनवादी संस्थाओं की बात कर रहे थे और बुर्जुआ जनवाद के प्रति अपने *'फेटिश'* को अनावृत्त कर रहे थे। इस विचार का प्रभाव बेतेलहाइम में बाद के दौर तक शक्तिशाली रूपों में मौजूद रहा, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

'रेव्यू इण्टरनेशनाले' के बन्द होने के बाद चार्ल्स बेतेलहाइम पर कुछ समय के लिए पॉल स्वीज़ी और पॉल बरान के **कीन्सीय मार्क्सवाद** का भी गहरा असर रहा। स्वीज़ी व बरान के कीन्सीय मार्क्सवाद का ज़ोर उत्पादन सम्बन्धों की बजाय विनिमय सम्बन्धों पर रहा है। इस मामले में *'मन्थली रिव्यू'* स्कूल के मार्क्सवाद की समझदारी निरन्तरतापूर्ण रही है। चाहे **मॉरिस डॉब** के साथ सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण पर चली प्रसिद्ध बहस हो (जिसमें स्वीज़ी का तर्क यह था कि इस संक्रमण में बाज़ार सम्बन्धों, वाणिज्य व व्यापार की भूमिका प्रमुख थी न कि समाज के आन्तरिक अन्तरविरोधों की। यानी कि उत्पादन सम्बन्धों व उत्पादक शक्तियों के बीच के अन्तरविरोध की, जो कि अपने आपको वर्ग संघर्ष में अभिव्यक्त कर रहा था, भूमिका गौण थी और यूरोप में 13वीं-14वीं सदी के बाद व्यापार, मुद्रा अर्थव्यवस्था और शहरी केन्द्रों के विकास की भूमिका इस संक्रमण में प्रधान थी) या फिर स्वयं बेतेलहाइम के साथ स्वीज़ी की समाजवादी संक्रमण पर चली बहस हो, जिसमें स्वीज़ी का मानना था कि समाजवादी संक्रमण में बुनियादी प्रश्न यह है कि बाज़ार की प्रणाली अर्थव्यवस्था का

विनियमन कर रही है या फिर राज्यसत्ता द्वारा नियोजन अर्थव्यवस्था का विनियमन कर रहा है। स्वीज़ी व पूरे 'मन्थली रिव्यू' स्कूल का कीन्सीय मार्क्सवाद (जिस पर त्रात्स्कीपन्थ के स्पष्ट प्रभाव से भी इंकार नहीं किया जा सकता है) इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों को अध्ययन की मुख्य विषय-वस्तु मानने की बजाय विनिमय सम्बन्धों, यानी कि मुद्रा सम्बन्धों व बाज़ार को अध्ययन की मुख्य विषय-वस्तु मानता है। यही थीसिस बरान व स्वीज़ी की विभिन्न रचनाओं में अलग-अलग तरीके से प्रकट हुई है। पॉल बरान की प्रसिद्ध पुस्तक **'पोलिटिकल इकोनॉमी ऑफ ग्रोथ'** की बेतेलहाइम ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और इसकी कुछ अवधारणाओं को अपनाया भी था। इस पुस्तक की थीसिस यह थी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अतार्किक और अनैतिहासिक होने का मूल कारण यह है कि उत्पादित अधिशेष का उपभोग तार्किक नहीं है। यानी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आलोचना का मूल कारण अधिशेष के उत्पादन में नहीं है, बल्कि उस अधिशेष के अतार्किक उपभोग अथवा वितरण में है। पूँजीवादी संकट का मूल कारण पूँजीवादी समाज में उत्पादन सम्बन्धों में नहीं बल्कि विनिमय सम्बन्धों में देखा गया है। यह पूरा तर्क एक नये किस्म का **कीन्सीय व हॉब्सनियन अल्प-उपभोगवाद** है, जिसे मार्क्सवाद के साथ मिश्रित करने का प्रयास किया गया है।

हम यहाँ स्वीज़ी-बरान थीसिस की आलोचना के विस्तार में नहीं जा सकते हैं। लेकिन इस संक्षिप्त विवरण के साथ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि बेतेलहाइम पर इस पूरी थीसिस का काफ़ी प्रभाव पड़ा। यह थीसिस अन्ततः **'नियोजन बनाम बाज़ार'** के अन्तरविरोध के अध्ययन पर ले जाती है, न कि उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध व वर्ग अन्तरविरोध के अध्ययन पर। यह इस बात को समझने में नाकाम रहती है कि नियोजन और बाज़ार दोनों ही समाजवादी या पूँजीवादी किस्म के हो सकते हैं और 'बाज़ार' अपने आपमें पूँजीवाद का और 'नियोजन' अपने आप में समाजवाद का लक्षण नहीं है। बहरहाल, इस दौर में बेतेलहाइम समाजवादी नियोजन के सिद्धान्त के मुरीद बन गये थे और नियोजन को वह पूँजीवादी बाज़ार की अराजकता का सही जवाब मानते थे। समाजवाद की मूल अन्तर्वस्तु इस पूरे दृष्टिकोण के अनुसार नियोजन बन जाती है और समाजवाद अपने आपमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और उसके तहत चलने वाले वर्ग संघर्ष, उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और क्रमिक प्रक्रिया में उत्पादन व श्रम प्रक्रिया में बुर्जुआ अधिकारों के विलोपन का नाम नहीं रह जाता, बल्कि महज़ एक बेहतर आर्थिक व्यवस्था और प्रबन्धन का पर्याय बन जाता है। **समाजवाद बस पूँजीवाद से अधिक तार्किक और वैज्ञानिक आर्थिक व्यवस्था बनकर रह जाता है, जिसका आधार नियोजन है न कि बाज़ार।** इस पूरे दृष्टिकोण से वर्ग विश्लेषण, उत्पादन सम्बन्धों का अध्ययन और ऐतिहासिक दृष्टि ग़ायब है, और इसमें जुमले को छोड़ दें, तो कुछ भी मार्क्सवादी नहीं है। लेकिन बेतेलहाइम अपने इस दौर के बारे में चुप हैं। **या तो अपनी 'प्रस्तावना' में उन्हें अपने इतिहास का मसला उठाना ही नहीं चाहिए था, या फिर उसका पूरा और ईमानदार विवरण देना चाहिए था।**

1960 के दशक के पूर्वार्द्ध में बेतेलहाइम ने समाजवादी समाज के बारे में एक नयी थीसिस दी जिसे **'संक्रमणशील समाज'** की थीसिस कहा जा सकता है। इस पर विशेष रूप से ग़ौर करने की ज़रूरत है क्योंकि बेतेलहाइम पर अन्त तक इस थीसिस का एक गहरा असर स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। **बेतेलहाइम ने समाजवाद की पहचान के पैमाने को अपनी इस थीसिस में धूमिल कर दिया है।** समाजवादी समाज को एक 'संक्रमणशील समाज' बताया गया है, जो कि 'समाजवाद' की ओर संक्रमणशील है। सर्वहारा वर्ग के

अधिनायकत्व के अन्तर्गत इस संक्रमणशील समाज को बेतेलहाइम समाजवाद की संज्ञा नहीं देते। यानी कि सर्वहारा अधिनायकत्व को समाजवादी समाज का बुनियादी पैमाना नहीं माना गया है; यह भी नहीं माना गया है कि समाजवादी समाज में सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत साम्यवाद की ओर संक्रमण होता है। **इस 'संक्रमणशील समाज' को न तो समाजवादी बताया गया है और न ही पूँजीवादी।** इस पूरी सोच में समाजवादी समाज की ही एक ग़लत समझदारी निहित है, जो कि समाजवादी सामाजिक संरचना को एक स्थायी सामाजिक संरचना के तौर पर देखती है, न कि कम्युनिस्ट समाज की ओर संक्रमणशील समाज के तौर पर। 'समाजवाद की ओर संक्रमण' की बात की गयी है। इसमें यह अन्तर्निहित है कि समाजवादी निर्माण के पूर्णता तक पहुँचने की कोई मंज़िल होगी! बहरहाल, बेतेलहाइम के मुताबिक उनके इस 'संक्रमणशील समाज' की पहचान उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच मौजूद 'असंगतता' (non-correspondence) है और यह अपने आपको विनियोजन के स्वरूप और सम्पत्ति के स्वरूप के बीच अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त करती है। यानी कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध तो स्थापित हो जाते हैं लेकिन विनियोजन में अभी भी असमानताएँ बनी रहती हैं क्योंकि मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच अन्तर मौजूद रहता है, जिससे कि बुर्जुआ अधिकार पैदा होते हैं। और इसीलिए इसे 'संक्रमणशील समाज' कहा जाना चाहिए, यानी कि तब तक जब तक कि यह 'असंगतता' बनी रहती है। यह एकदम बेतुकी बात है और थोड़ा करीबी से इसकी पड़ताल करने से इसका बेतुकापन ज़ाहिर हो जाता है।

पहली बात तो यह है कि ऐसे किसी समाजवादी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें यह 'असंगतता' पूरी तरह समाप्त हो जाये। सही मायनों में ऐसे किसी कम्युनिस्ट समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें यह 'असंगतता' पूरी तरह समाप्त हो जायेगी; बस कम्युनिस्ट समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच मौजूद 'असंगतता' या अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त नहीं करेगा। यह कहना भाववाद होगा कि कम्युनिस्ट समाज में यह 'असंगतता' पूरी तरह समाप्त हो जायेगी। अगर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को प्रमुख पैमाना न माना जाये तो समाजवादी सामाजिक संरचना की पहचान करना ही असम्भव हो जायेगा। इस विषय पर विस्तृत चर्चा के लिए तीसरे अध्याय में 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास की आलोचना को देखें। (**'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 20-113) दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम की यह थीसिस आगे उन्हें संशोधनवादी नतीजों तक ले जाती है जिसमें कि इस आधार पर बेतेलहाइम समाजवादी समाज में माल सम्बन्धों, मुद्रा और बुर्जुआ अधिकारों और साथ ही बाज़ार द्वारा अर्थव्यवस्था के विनियमन को *बचाये रखने* के उसी संशोधनवादी तर्क पर पहुँच जाते हैं जो 1956 से ख्रुश्चेवी संशोधनवादी दे रहे थे, कि 'संक्रमणशील समाज' की पूरी अवधि में माल उत्पादन, मुद्रा सम्बन्ध और बाज़ार बने रहते हैं और उत्पादक शक्तियों का विकास जारी रहता है।

'संक्रमणशील समाज' की अपनी थीसिस के आधार पर बेतेलहाइम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'समाजवाद की ओर संक्रमणशील समाज' में उत्पादक शक्तियों के विकास के सीमित होने के कारण माल उत्पादन, मुद्रा सम्बन्ध और बाज़ार बने रहेंगे; मूल्य के श्रम सिद्धान्त के विनियमन की भूमिका बनी रहेगी और इसीलिए तब तक उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के कार्यभार को निलम्बित किया जा सकता है, जब तक कि उत्पादक शक्तियों के विकास उपयुक्त स्तर तक न पहुँच जाये। **इस तरह से ख्रुश्चेवी संशोधनवाद**

द्वारा किये जाने वाले "सुधारों" को एक प्रकार से बेतेलहाइम ने उससे भी ज़्यादा मज़बूत सैद्धान्तिक आधार दिया जितना कि कोई भी सोवियत संशोधनवादी अर्थशास्त्री दे सकता था। 'ट्रांज़िशन टू सोशलिस्ट इकोनॉमी' में बेतेलहाइम अपनी इस थीसिस को विस्तार देते हैं। 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' में प्रस्तुत विचारों की समीक्षा करते हुए हम बीच-बीच में सन्दर्भ के अनुसार बेतेलहाइम की इस थीसिस और उसके बाद तक मौजूद प्रभाव पर बात रखेंगे, ताकि बेतेलहाइम के पूरे चिन्तन में निरन्तरता और विच्छेद दोनों के तत्वों की पहचान कर सकें। बहरहाल, बेतेलहाइम ने 'संक्रमणशील समाज' के सिद्धान्त और औपचारिक बुर्जुआ जनवाद के प्रति अपने अनुराग के चलते 20वीं कांग्रेस और बाद में ख्रुश्चेव व लीबरमान द्वारा किये गये पूँजीवादी "सुधारों" की हिमायत की, हालाँकि बाद में 'महान बहस' और चीनी पार्टी की अवस्थिति के प्रभाव में उन्होंने अपने इस समर्थन को वापस लिया और सोवियत संघ के पूँजीवादी रूपान्तरण की बात करने लगे। **लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि चीनी पार्टी और माओ के विश्लेषण से बिल्कुल अलग, बेतेलहाइम किसी पूँजीवादी पुनर्स्थापना की बात नहीं करते। यानी कि 1953 या 1956 बेतेलहाइम के लिए किसी गुणात्मक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। अपनी किसी भी रचना में ख्रुश्चेव के सत्ता में आने को बेतेलहाइम ने पूँजीवादी पुनर्स्थापना के रूप में चित्रित नहीं किया है।** इसका कारण भी बेतेलहाइम के 'संक्रमणशील समाज' के सिद्धान्त में मौजूद है जो किसी भी सामाजिक संरचना की पहचान में राज्यसत्ता के चरित्र और किसी भी राज्यसत्ता की पहचान में उस पर काबिज़ पार्टी के चरित्र पर पर्याप्त बल नहीं देते। इसलिए अन्त में, यानी कि अपनी आख़िरी प्रमुख रचना में पहले तो इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बीज 1929 में नयी आर्थिक नीति के परित्याग के साथ पड़ गये थे, फिर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के बाद ही शुरू हो गयी थी, और अपनी इस रचना के तीसरे खण्ड में इस नतीजे पर जा पहुँचते हैं कि सोवियत संघ के अन्ततः पूँजीवाद के रास्ते पर आने के पीछे जो 'मूल पाप' है, वह तो स्वयं अक्टूबर क्रान्ति है! इस पर हम बाद में आयेंगे। लेकिन पहले बेतेलहाइम की इस रचना के पहले खण्ड पर चर्चा को जारी रखते हैं।

'महान बहस' और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बाद माओ के सिद्धान्तों का प्रभाव दुनिया भर के मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारियों और अकादमिकों पर पड़ा। बेतेलहाइम भी ऐसे ही एक अकादमिक थे। लेकिन बेतेलहाइम पर यह प्रभाव बेहद कृत्रिम रूप में पड़ा था और उन्होंने माओवाद की मूल अन्तर्वस्तु को कभी पकड़ा ही नहीं। उनके लिए माओवाद का क्या अर्थ था, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा और साथ ही यह भी साफ़ किया जायेगा कि माओवाद के मूल सिद्धान्त वास्तव में बेतेलहाइम के चिन्तन से बिल्कुल अलग खड़े हैं। लेकिन माओवाद का यह प्रतीतिगत प्रभाव एकदम साफ़ तौर पर बेतेलहाइम की रचना **'इकोनॉमिक कैल्कुलेशंस एण्ड फॉर्म्स ऑफ प्रॉपर्टी'** के प्रकाशन के साथ दिखलायी पड़ने लगता है, जिसमें बेतेलहाइम अपनी विकासाधीन "माओवादी" समझदारी का प्रदर्शन करते हैं, जिसके अनुसार समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका प्रमुख बन जाती है और निम्न उत्पादक शक्तियों के बावजूद समाजवाद का विकास हो सकता है। लेकिन अभी भी बेतेलहाइम उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के प्रश्न को हल नहीं कर पाये थे और तथाकथित "अर्थवादी" समझदारी का असर अभी भी उन पर देखा जा सकता था। बेतेलहाइम अपने पूर्ण "माओवादी" रूप में अपनी रचना 'सोवियत संघ में वर्ग

संघर्ष' के पहले खण्ड में आते हैं जो कि 1974 में प्रकाशित हुई।

समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के बारे में अपनी समझदारी के विकास का एक मनोगतवादी ब्यौरा रखने के बाद इस रचना के प्राक्कथन के दूसरे हिस्से में चार्ल्स बेतेलहाइम पहुँच और पद्धति से जुड़े सवालों पर अपना नज़रिया रखते हैं। जैसा कि हमने पहले ही इंगित किया, बेतेलहाइम जिस तरीके से सोवियत संघ के इतिहास में अपनी दिलचस्पी का अतीत बताते हैं, उसमें कहीं भी वह सोवियत संघ में किसी पूँजीवादी प्रतिक्रान्ति या पुनर्स्थापना की बात नहीं करते हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि बेतेलहाइम यह कहते हैं कि 20वीं कांग्रेस ने सोवियत संघ में जो कुछ 1956 तक हुआ उसका कोई मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं किया, बल्कि उसे एक व्यक्ति, यानी कि स्तालिन पर मढ़ दिया। **इस प्रस्तुति में यह अन्तर्निहित है कि स्तालिन के दौर में सोवियत संघ में जो कुछ हुआ वह सब गड़बड़ था, बस इसके लिए स्तालिन को व्यक्ति के तौर पर ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है** (हालाँकि बाद में बेतेलहाइम का ही विश्लेषण हर सकारात्मक के लिए लेनिन और लगभग हर नकारात्मक के लिए स्तालिन को ज़िम्मेदार ठहराता है!)। यह वास्तव में दूसरे इण्टरनेशनल के तमाम संशोधनवादियों और सुधारवादियों की कार्यदिशा है, जो यह मानते थे कि 20वीं कांग्रेस का "विश्लेषण" *अपर्याप्त* है! यानी कि वे ख्रुश्चेव जैसे संशोधनवादियों से यह उम्मीद करते थे कि वे स्तालिन के दौर की "विपदा" (catastrophe) का मार्क्सवादी विश्लेषण करेंगे। आप देख सकते हैं कि बेतेलहाइम कितनी चतुराई के साथ बिना स्तालिन पर कोई व्यक्तिगत लांछन लगाये हुए उनकी पूरी विरासत को कचरा-पेटी के हवाले कर रहे हैं। बाद में जहाँ-तहाँ स्तालिन के बारे में कुछ प्रशंसा के शब्द भी कहे गये हैं, लेकिन अगर बेतेलहाइम उन शब्दों को न कहते तो स्तालिन की क्रान्तिकारी विरासत के साथ ज़्यादा न्याय हुआ होता! लेकिन बेतेलहाइम के 'प्राक्कथन' में इस बात को दिव्य रूप से प्रदत्त तथ्य या सहज ज्ञान (intuitive) मान लिया गया है कि स्तालिन का दौर एक "विपदा" था, बस उसके सही विश्लेषण की ज़रूरत है जो कि बीसवीं कांग्रेस नहीं पेश कर सकी! यह पूरा तर्क किस कदर ग़ैर-मार्क्सवादी है इसे देखा जा सकता है। **बेतेलहाइम के लिए सामूहिकीकरण, औद्योगिकीकरण, समाजवादी नियोजन और समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना के पहले कदम, यानी कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना में कुछ भी सकारात्मक नहीं है! वास्तव में, बाद में बेतेलहाइम (दूसरे खण्ड में) अपने सारे पत्ते खोलते हैं और बताते हैं कि वास्तव में 'नयी आर्थिक नीतियों' (नेप) को छोड़ना स्तालिन काल में हुई सबसे बड़ी भूल थी और 'नेप' को ही समाजवादी समाज (बेतेलहाइम के लिए 'संक्रमणशील समाज') की आम नीति के तौर पर नैसर्गिकीकृत कर दिया जाना चाहिए! बेतेलहाइम नहीं मानते कि 'नेप' रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाना था, जैसा कि लेनिन ने कहा था।** उनका मानना था कि यही समाजवादी संक्रमण की आम नीति है। बेतेलहाइम की यह सोच उन्हें सोवियत संशोधनवादियों और चीनी संशोधनवादियों के करीब लाकर खड़ा कर देती है, बल्कि कहना चाहिए कि सभी संशोधनवादियों के करीब लाकर खड़ा कर देती है, क्योंकि प्रभात पटनायक जैसे संशोधनवादी अर्थशास्त्री भी 'नेप' का हवाला देकर अपने संशोधनवादी बुर्जुआ अर्थशास्त्र को वैध ठहराने का प्रयास करते हैं। **बेतेलहाइम का तर्क है कि चूँकि समाजवादी संक्रमण के दौरान माल उत्पादन, मुद्रा सम्बन्ध और मूल्य के श्रम सिद्धान्त की विनियमनकारी भूमिका बनी रहती है, इसलिए इस दौर में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित करने की**

प्रक्रिया में कोई आमूलगामी कदम नहीं उठाना चाहिए, बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया में "जनवाद" के ज़रिये, राज्यसत्ता पर मज़दूर वर्ग के "जनवादी नियन्त्रण" के ज़रिये, और समूची किसान आबादी को समाजवाद पर राज़ी करके समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए! इस विषय पर हम विस्तार से आगे चर्चा करेंगे, लेकिन इतना स्पष्ट है कि बेतेलहाइम समाजवादी संक्रमण की एक सुधारवादी और उद्भववादी (evolutionary) समझदारी के शिकार हैं, जिसके अनुसार समाजवादी राज्य उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण में कभी किसी आक्रमण (offensive) पर नहीं जायेगा, और संक्रमण की पूरी प्रक्रिया क्रमिक, बेहद लम्बी, और एकरेखीय होगी। यह पूरी सोच लेनिन की समझदारी के विपरीत है, जिसके अनुसार समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कभी समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) संगठित करना होगा, तो कभी रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने होंगे। समाजवादी संक्रमण और समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया कभी भी एकरेखीय, उद्भववादी, या योगात्मक (aggregative) नहीं हो सकती, बल्कि यह सतत् अन्तरविरोधों से भरी होगी और सतत् निषेध का निषेध करते हुए आगे बढ़ेगी। बेतेलहाइम यहाँ अपने सुधारवाद और संशोधनवाद को पूरी तरह से अनावृत्त कर देते हैं। बहरहाल, इस नुक्ते पर आगे बात रखेंगे, अभी हम बेतेलहाइम द्वारा इस पुस्तक के 'प्राक्कथन' में प्रतिपादित पहुँच और पद्धति पर चर्चा को जारी रखेंगे।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि उन्होंने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और माओ की शिक्षाओं के आलोक में मार्क्सवाद की "अर्थवादी" समझदारी से निजात पायी। और उनके दावे के मुताबिक उनकी यह पुस्तक क्यूबाई क्रान्ति, अल्थूसर के विचारों के प्रभाव और विशेष तौर पर चीनी समाजवादी प्रयोग की शिक्षाओं के प्रभावों की परिणति है, जिसके बूते उन्होंने मार्क्सवाद की "अर्थवादी" व्याख्या को समझा और उसका खण्डन किया। बेतेलहाइम के अनुसार 1930 के दशक में तृतीय इण्टरनेशनल ही लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्तों से प्रस्थान करने लगा था और उसके भीतर उन तत्वों को बीज-रूप में देखा जा सकता है, जो कि आगे चलकर आधुनिक संशोधनवाद का रूप लेते हैं। पहली बात तो यह है कि यह पूरा दावा ही बेहद ग़ैर-द्वन्द्वात्मक है। यह सच है कि तीसरे इण्टरनेशनल में कुछ ग़ैर-लेनिनवादी और कुछ अर्थों में संशोधनवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं; लेकिन सच का दूसरा पहलू यह भी है कि इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्तालिन व अन्य मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों ने तमाम वस्तुगत सीमाओं, युद्ध के दबाव, आन्तरिक संकटों के बावजूद संघर्ष चलाया। यह एक अलग मुद्दा है कि संशोधनवादी और अर्थवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्तालिन के विचारधारात्मक संघर्ष की अपनी कमज़ोरियाँ हो सकती हैं और उन पर बहस भी की जा सकती है। लेकिन यह कहना कि तीसरा इण्टरनेशनल एकाश्मी तौर पर अर्थवादी, संशोधनवादी या ग़ैर-लेनिनवादी रुझानों का प्रतिनिधित्व कर रहा था, तथ्यतः ग़लत है और 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध से लेकर स्तालिन की मृत्यु तक चली तमाम बहसों का हवाला दिया जा सकता है, जो कि विचारधारात्मक तौर पर बेहद अहम थीं। इन बहसों में स्तालिन की पूरी चिन्तन-प्रक्रिया भी नज़र आती है। स्तालिन धीरे-धीरे समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की एक ज़्यादा सन्तुलित समझदारी की ओर अग्रसर थे। **माओ के पास सोवियत समाजवाद के प्रयोगों की सफलताओं और साथ ही असफलताओं की मिसाल मौजूद थी। स्तालिन के पास ऐसी कोई मिसाल नहीं मौजूद थी।** भयंकर बाह्य और आन्तरिक संकटों और दबावों ने स्तालिन को कभी ठहरकर सोचने का लम्बा मौका नहीं दिया। इसके बावजूद, स्तालिन ने समाजवादी समाज के गति के नियमों का

अन्वेषण जारी रखा और मृत्यु से पहले तक ज़्यादातर प्रश्नों पर उनकी समझदारी काफ़ी उन्नत हो चुकी थी। यह स्तालिन की अद्वितीय मेधा ही थी कि उन्होंने एक अभूतपूर्व रूप से कठिन और संकटग्रस्त दौर में (जिस दौर से चीनी पार्टी और माओ *एक हद तक* मुक्त रहे) उन्होंने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर अपना अध्ययन और अन्वेषण जारी रखा और अधिकांश मुद्दों पर राजनीतिक अर्थशास्त्र में उनकी अवस्थिति एकदम दुरुस्त है। यह सच है कि कुछ मुद्दों पर स्तालिन की अवस्थिति ग़लत या असन्तुलित है। माओ ने स्तालिन के चिन्तन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों को ही समझते हुए समाजवादी संक्रमण पर मार्क्सवादी चिन्तन को नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। माओ के राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर चिन्तन में भी कुछ गम्भीर कमियाँ हैं जिन पर हम यहाँ चर्चा नहीं कर सकते हैं और आगे कहीं इस विषय पर हम अलग से और विस्तार से अपने विचार रखेंगे। **लेकिन इतना तय है कि स्तालिन के प्रश्न पर बेतेलहाइम संशोधनवादियों के साथ खड़े हैं, क्योंकि वह स्तालिन पर बीसवीं कांग्रेस द्वारा किये गये हमले पर चुप हैं; वह स्तालिन के पूरे दौर को "विपदा" के तौर चित्रित किये जाने की प्रवृत्ति का कोई उत्तर नहीं देते, बल्कि उसे चुपके से स्वीकार करते हैं। इस मामले में बेतेलहाइम लगभग वहीं खड़े हैं जहाँ पामीरो तोग्लियाती खड़े थे।** इस तरह की तर्क-पटुता बेतेलहाइम कई जगहों पर दिखाते हैं और स्तालिन और उनके अन्तर्गत समाजवादी निर्माण के सकारात्मकों को या तो दिखाते ही नहीं हैं या उन्हें कोई विशेष महत्व नहीं देते हैं।

बहरहाल, बेतेलहाइम के अनुसार तीसरे इण्टरनेशनल द्वारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद से प्रस्थान का सबसे बुनियादी तत्व था "अर्थवाद" जो कि आगे चलकर आधुनिक संशोधनवाद में परिणत हुआ। इस "अर्थवाद" की उनके अनुसार तीन बुनियादी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ थीं। **पहला,** सम्पत्ति के कानूनी रूपों को वर्ग सम्बन्धों का आधार मानना; **दूसरा,** उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता (primacy of productive forces) का सिद्धान्त; और **तीसरा,** राज्यसत्ता के अस्तित्व और उसके विलोपन की पूर्वशर्तें। बेतेलहाइम के अनुसार 1936 में स्तालिन द्वारा समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के वैधिक तौर पर स्थापित हो जाने को वर्ग सम्बन्धों में बदलाव का आधार मानना पहली ग़लती की मिसाल है। इसके कारण सोवियत राज्यसत्ता और पार्टी की निगरानी कमज़ोर पड़ गयी और पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर मौजूद राजकीय पूँजीपति वर्ग को सुदृढ़ीकृत होने का मौका मिला। बेतेलहाइम का कहना है कि उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग सम्पत्ति के कानूनी रूपों पर नहीं निर्भर करते बल्कि विनियोजन की सामाजिक प्रक्रिया और श्रम के सामाजिक विभाजन पर निर्भर करते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार तीसरे इण्टरनेशनल और स्तालिन के तहत बोल्शेविक पार्टी के मार्क्सवाद की दूसरी सबसे बड़ी ख़ामी थी उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता का सिद्धान्त। बेतेलहाइम का कहना है कि इतिहास की चालक शक्ति मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादक शक्तियों का विकास नहीं बल्कि वर्ग संघर्ष है। समाजवादी संक्रमण के बारे में इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक शक्तियों का विकास सबसे अहम कारक नहीं है बल्कि उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण सबसे अहम कारक है। बेतेलहाइम के अनुसार यह "अर्थवादी" सिद्धान्त स्तालिन ने नहीं निर्मित किया था; यह यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में लम्बे समय से मौजूद रहा था; स्तालिन ने अपने ज़बरदस्त प्राधिकार के कारण इसे एक सशक्त वैधीकरण प्रदान कर दिया। यह कमज़ोरी बेतेलहाइम के अनुसार मार्क्स के एक ग़लत पाठ के कारण आन्दोलन के भीतर जड़ जमाने में सफल हुई थी। मार्क्सवाद मार्क्स और लेनिन के दौर में इससे संघर्ष करता रहा, मगर स्तालिन

के दौर में यह "अर्थवाद" बोल्शेविक पार्टी और तीसरे इण्टरनेशनल पर हावी हो गया। चलते-चलते बेतेलहाइम ने त्रात्स्की की भी आलोचना की है और कहा है कि त्रात्स्की का "अर्थवाद" स्तालिन के "अर्थवाद" से ज़्यादा भोंड़ा और कठमुल्लावादी है क्योंकि वह एक देश में समाजवाद के निर्माण के रास्ते में कम उत्पादकता को ही बाधक के तौर पर देखता है; चूँकि सम्पत्ति के कानूनी रूप ही त्रात्स्की के लिए समाजवाद या पूँजीवाद की पहचान का मानक है, इसलिए त्रात्स्की किसी पूँजीवादी प्रतिक्रान्ति की सम्भावना को भी नहीं देखते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार तीसरी "अर्थवादी" ग़लती राज्यसत्ता के अस्तित्व और विलोपन की शर्तों के प्रश्न पर सामने आयी। 1936 में स्तालिन ने दावा किया कि समाजवादी सम्पत्ति के पूर्ण रूप से स्थापित होने और एक वर्ग के रूप में पूँजीपति वर्ग के स्वत्वहरण के साथ ही सोवियत समाज में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं रह गये थे। यदि शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं थे, तो राज्यसत्ता की ज़रूरत क्यों थी, इसके जवाब में स्तालिन ने 1939 में कहा कि विश्व पैमाने पर पूँजीवादी-साम्राज्यवादी घेरेबन्दी और साम्राज्यवादी एजेण्टों की तोड़-फोड़ के कारण सोवियत संघ को एक बेहद मज़बूत राज्यसत्ता की ज़रूरत है। स्तालिन ने 1939 में पार्टी में पेश सचिव की रिपोर्ट में यह भी कहा कि समाजवादी संक्रमण का कोई मूर्त रूप सामने न होने की सूरत में राज्यसत्ता के बारे में मार्क्सवादी समझदारी पर्याप्त रूप से विकसित नहीं है और समाजवादी रूस के ठोस अनुभवों के आधार पर इसे विकसित किये जाने की ज़रूरत है। त्रात्स्की ने राज्यसत्ता की मौजूदगी के लिए भी उत्पादकता की कमी को ही ज़िम्मेदार बताया, और बताया कि अभाव की स्थिति हमेशा ही राज्यसत्ता और नौकरशाही को जन्म देती है। बेतेलहाइम इन दोनों छोरों को "अर्थवाद" के भटकाव के तौर पर देखते हैं और दावा करते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता की मौजूदगी को आन्तरिक वर्ग संघर्ष के अलावा किसी और कारण के ज़रिये व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है।

बेतेलहाइम की यह पूरी व्याख्या पहली नज़र किसी पाठक को वाकई सोवियत संघ में स्तालिन के दौर में आए "अर्थवादी" विचलन से विच्छेद करने का एक "माओवादी" प्रयास नज़र आ सकती है। लेकिन अगर करीबी से "अर्थवाद" पर बेतेलहाइम की पूरी थीसिस पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि "अर्थवाद" के विचलन की आलोचना करने की आड़ में वास्तव में बेतेलहाइम मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों से ही प्रस्थान कर रहे हैं और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के उसूलों का एक हेगेलीय प्रत्ययवादी विनियोजन कर रहे हैं।

बेतेलहाइम इस "अर्थवादी" विचलन की आलोचना की शुरुआत "अर्थवाद" को परिभाषित करने के साथ करते हैं और यहीं से सारी गड़बड़ी की शुरुआत होती है। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन ने अपने जीवित रहते हुए "अर्थवाद" के विरुद्ध संघर्ष चलाया लेकिन बोल्शेविक पार्टी में एक रुझान के तौर पर "अर्थवाद" मौजूद रहा। लेनिन की मृत्यु के बाद "अर्थवाद" के विरुद्ध संघर्ष बोल्शेविक पार्टी में रुक गया। बेतेलहाइम लिखते हैं:

"यह याद रखा जाना चाहिए कि लेनिन ने "अर्थवाद" शब्द का प्रयोग मार्क्सवाद की एक ऐसी अवधारणा के आलोचनात्मक चित्रण के लिए किया था जो कि मार्क्सवाद को महज़ एक "आर्थिक सिद्धान्त" में अपचयित कर देने का प्रयास करती थी जिसके ज़रिये सभी सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या की जा सकती थी। ऐसी अवधारणा कई प्रकार के रूप ग्रहण कर सकती है। जब व्यवस्थित न हो, तो यह एक सापेक्षिक तौर पर गौण भूमिका निभा सकती है, और तब हम "अर्थवाद की ओर रुझान" की बात कर

सकते हैं।

"चूँकि अर्थवाद उत्पादक शक्तियों के विकास को इतिहास की चालक शक्ति मानता है, इसलिए इसके प्रमुख प्रभावों में से एक है वर्गों के बीच के राजनीतिक संघर्ष को आर्थिक अन्तरविरोधों के प्रत्यक्ष और तात्कालिक नतीजे के तौर पर चित्रित करना। इस प्रकार यह माना जाता है कि ये आर्थिक अन्तरविरोध अपने आप में ही सामाजिक परिवर्तनों को "पैदा करने" और जब "वक़्त सही हो" तो क्रान्तिकारी संघर्षों को पैदा करने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार मज़दूर वर्ग स्वतःस्फूर्त रूप से क्रान्ति करने को प्रेरित होता दिखता है (इसलिए एक सर्वहारा पार्टी बनाने की आवश्यकता नहीं है)। यही *प्रॉब्लेमैटिक* सर्वहारा वर्ग के अलावा अन्य शोषित और दमित वर्गों को समाजवाद के लिए संघर्ष करने में सक्षम होने से इंकार करता है।

"विश्लेषण के एक अन्य स्तर पर, अर्थवाद की पहचान इस तथ्य से की जा सकती है कि यह उत्पादक शक्तियों को उत्पादन के भौतिक साधनों के समतुल्य मानने की प्रवृत्ति रखता है, और इस प्रकार इस बात से इंकार करता है कि प्रमुख उत्पादक शक्ति स्वयं उत्पादक हैं, और लिहाज़ा, अर्थवाद समाजवाद के निर्माण में मेहनतकश जनता की पहल की बजाय नये उत्पादन के साधनों और तकनीकी ज्ञान को प्रमुख भूमिका देता है।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976 **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 33-34, *अनुवाद हमारा*)

निश्चित तौर पर, इस पूरी व्याख्या में कई सही नुक़्तों को उठाया गया है और एक हद तक "अर्थवाद" के कुछ प्रमुख लक्षणों की पहचान भी की गयी है। लेकिन सम्पूर्णता में इस पूरी बात में बहुत-सी समस्याएँ हैं। **पहली बात तो यह है कि तीसरे इण्टरनेशनल और सोवियत संघ में स्तालिन के पूरे दौर में "अर्थवाद" की ऐसी सीमित व्याख्या स्तालिन की किसी रचना तो दूर किसी पाठ्यपुस्तक में भी नहीं मिलती है।** बाद में बेतेलहाइम बेहद चयनात्मक (selectively) ढंग से स्तालिन की कुछ रचनाओं और साथ ही मार्क्स की कुछ रचनाओं को उद्धृत करते हैं, जिसके आधार पर वह सिद्ध करना चाहते हैं कि "अर्थवाद" उपरोक्त रूप में उस समय चीनी पार्टी और माओ के अपवाद को छोड़कर विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन पर हावी हो गया था। लेकिन अगर उस दौर के स्तालिन के लेखन और बोल्शेविक पार्टी के दस्तावेज़ों को देखें तो इस रूप में "अर्थवाद" नहीं मिलता, जिसका कतई यह अर्थ नहीं है कि उस समय पार्टी के भीतर "अर्थवादी" भटकाव मौजूद नहीं था। **यहाँ मुद्दे की बात यह है कि बेतेलहाइम इरादतन "अर्थवाद" की एक बेहद प्रतिबन्धात्मक (restrictive) परिभाषा पेश करते हैं, जिसका प्रयोग बाद में सोवियत समाजवादी प्रयोगों पर एक सर्वसमावेशी और ग़ैर-लेनिनवादी हमला करने के लिए किया गया है।** बेतेलहाइम सोवियत समाजवाद की सभी समस्याओं के लिए "अर्थवाद" की अपनी "माओवादी" आलोचना को एक रामबाण नुस्खे के तौर पर पेश करते हैं। यह सोवियत समाजवाद और आम तौर पर समाजवाद की हरेक समस्या के विश्लेषण को "अर्थवाद" की आलोचना पर अपचयित (reduce) कर देता है। इस प्रक्रिया में एक बेहद जटिल ऐतिहासिक परिघटना की एक अतिसरलीकृत व्याख्या पेश की जाती है, जिसके लिए वास्तव में एक ज़्यादा संजीदा, गहरे और सूक्ष्म आलोचनात्मक विश्लेषण की माँग की जानी चाहिए।

दूसरी ग़लती बेतेलहाइम यह करते हैं कि वर्ग संघर्ष पर बल डालने के प्रयास में वह वर्ग संघर्ष को उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोधों से पृथक कर

देते हैं। यानी कि बुनियादी अन्तरविरोध के प्रधान अन्तरविरोध से सारे रिश्ते तोड़ दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम "आर्थिक कारकों" (हालाँकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के लिए कोई शुद्धतः आर्थिक कारक नहीं होता है!) की महत्ता को बेहद कम कर देते हैं और उनका एक बेहद हानिकारक न्यूनानुमान (under-estimation) करते हैं। इस प्रक्रिया में "अर्थवाद" के अपने अतिवादी संस्करण के पुतले पर हमला करने के चक्कर में बेतेलहाइम अन्त में हेगेलीय प्रत्ययवाद और *वॉलण्टरिज़्म* के छोर पर पहुँच जाते हैं। **बेतेलहाइम की इस गम्भीर रूप से असन्तुलित समझदारी के पीछे वास्तव में चीनी समाजवादी प्रयोग की एक अनालोचनात्मक और ग़लत समझदारी काम कर रही है।** चीनी समाजवादी प्रयोगों के प्रति अति-आशावादी नज़रिया उन्हें कई चीज़ों के प्रति अन्धा बना देता है और सबसे बड़ी विडम्बना की बात तो यह है कि बेतेलहाइम इस अतिआशावाद के चलते जिस चीज़ को सबसे ज़्यादा नुक़सान पहुँचाते हैं, वह है माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोगों का एक सही विश्लेषण। अगर हम चीनी समाजवादी प्रयोगों और चीनी पार्टी के रवैये का करीबी विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि सोवियत समाजवादी प्रयोगों के दौरान बोल्शेविक पार्टी के अर्थवादी विचलन की आलोचना करते हुए (जिसके हरेक नुक्ते से सहमत नहीं हुआ जा सकता है, लेकिन हम उस आलोचना की आलोचना के कार्यभार को यहाँ एजेण्डे पर नहीं रख सकते हैं, और उसे अलग से विश्लेषण के लिए आगे लिया जायेगा) **चीनी पार्टी ने कभी यह दावा नहीं किया था कि समाजवाद का उत्तरोत्तर विकास उत्पादक शक्तियों के निम्न स्तर के साथ किया जा सकता है।** वास्तव में माओ और चीनी पार्टी ने हमेशा उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास को एक सम्बद्ध कार्यभार के तौर पर देखा था। जब 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान यह नारा दिया गया कि 'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ावा दो' तो इसका यही अर्थ था। यही समझदारी थी जिसके आधार पर माओ का मानना था कि उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन क्रान्तिकारी रूपान्तरण को नज़रअन्दाज़ करके या उसकी क़ीमत पर उत्पादक शक्तियों व उत्पादन का विकास अपने आप में समाजवादी निर्माण को आगे नहीं बढ़ा सकता है। बेतेलहाइम दावा करते हैं:

"चीन में जो कुछ हो रहा है वह सिद्ध करता है कि उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर सामाजिक सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के रास्ते में कोई बाधा नहीं है, और इसके लिए आदिम संचय के रूपों से गुज़रना, और सामाजिक असमानताओं आदि को बढ़ाना अनिवार्य नहीं है।

"चीन का उदाहरण दिखलाता है कि *सबसे पहले* समाजवादी समाज की भौतिक बुनियाद का निर्माण करने की चाहत रखना ज़रूरी नहीं है (और, निश्चित तौर पर, यह ख़तरनाक है), और तब तक सामाजिक सम्बन्धों के रूपान्तरण को टाला जा सकता है, और बाद में उन्हें बेहद विकसित उत्पादक शक्तियों के अनुकूल बनाया जा सकता है।" (*वही*, पृ. 42)

बाद में बेतेलहाइम चलते-चलते यह बताते हैं कि चीन के उदाहरण ने यह दिखलाया कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ अधिरचना के रूपान्तरण के काम को जारी रहना चाहिए। लेकिन यह चलते-चलाते की गयी टिप्पणी चीनी प्रयोग के बारे में उनके ग़ैर-द्वन्द्वात्मक विश्लेषण को सन्तुलित नहीं कर पाती है। **चीनी प्रयोग ने जहाँ यह दिखलाया कि उत्पादक शक्तियों के स्तर का नीचा होना समाजवादी प्रयोगों में नवोन्मेष के रास्ते को बन्द नहीं कर देता, बस सीमित करता है, वहीं चीनी प्रयोग ने ऐतिहासिक तौर पर**

यह भी दिखलाया कि उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर निम्न होने से समाजवादी निर्माण के एक हद से आगे बढ़ने में क्या-क्या चुनौतियाँ सामने आती हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर को ऐतिहासिक तौर पर एक संरचनागत बाधा के रूप में देखना अपने आप में "अर्थवाद" नहीं है (जिसके लिए बेतेलहाइम के अनुसार मार्क्स और एंगेल्स भी दोषी हैं!)। **निश्चित तौर पर, अन्तिम विश्लेषण में उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर समाजवाद के निर्माण को एक स्तर से आगे ले जाने में एक वस्तुगत बाधा पैदा करेगा। अगर हम इस बुनियादी तथ्य को ही मानने से इंकार कर दें, तो समाजवाद का निर्माण पूरी तरह मनोगत इच्छाओं का मसला बन जायेगा; समाजवाद की ऐतिहासिकता का निर्धारण करना असम्भव हो जायेगा; इस सवाल का कोई जवाब नहीं होगा कि समाजवादी क्रान्ति जिस युग में हुई, उसी युग में क्यों हुई, किसी और युग में क्यों नहीं हुई?** बेतेलहाइम इसका एक उथला जवाब दे सकते हैं कि वर्ग संघर्ष की मंज़िल से समाजवादी क्रान्ति के दिक् और काल का निर्धारण होता है। लेकिन उसके बाद यह प्रश्न भी उठता है कि वर्ग संघर्ष को निर्धारित करने वाली शक्ति कौन-सी है? वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध के बीच के द्वन्द्वात्मक तौर पर *मीडियेटेड (mediated)* सम्बन्ध पर बेतेलहाइम के ग़ैर-मार्क्सवादी और हेगेलीय प्रत्ययवादी विचारों पर हम आगे आयेंगे। पहले इस बात पर एक संक्षिप्त चर्चा कि समाजवादी निर्माण के दौरान उत्पादक शक्तियों के विकास और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के विषय में वास्तव में माओ ने क्या कहा था। क्या उन्होंने कभी यह कहा था कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर के साथ समाजवाद का विकास किया जा सकता है? आइये देखें।

चीनी प्रयोग के दौरान चीनी पार्टी या माओ ने कभी भी यह नहीं कहा कि उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर समाजवाद के निर्माण में कोई बाधा नहीं है। **माओ ने महज़ चीनी पार्टी के भीतर मौजूद इस रुझान का विरोध किया जो मानती थी कि उत्पादक शक्तियों के निम्न स्तर के कारण समाजवादी निर्माण में किसी भी तौर पर कदम आगे बढ़ाने या नवोन्मेष की कोई गुंजाइश नहीं है।** वास्तव में, इस बहस का भी एक ऐतिहासिक सन्दर्भ था, जिसे बेतेलहाइम पाठकों को बताना ज़रूरी नहीं समझते, हालाँकि उन्हें इस बहस की निश्चित तौर पर जानकारी होगी क्योंकि उन्होंने चीनी समाजवादी प्रयोगों का भी अध्ययन किया है और वहाँ के औद्योगिक संगठन पर एक किताब भी लिखी है (जो माओ के विचारों का एक और विकृतिकरण है)। चीन में नवजनवादी क्रान्ति और 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध में समाजवादी क्रान्ति के आरम्भ के बाद औद्योगिक निर्माण और आर्थिक विकास की सम्पूर्ण परियोजना में सोवियत संघ ने पूँजी और तकनीकी कौशल प्रदान करने के रूप में भारी मदद दी थी। 1956-57 तक हज़ारों सोवियत इंजीनियर चीन में काम कर रहे थे और चीनी समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ने में मदद कर रहे थे। ख्रुश्चेव के सत्ता में आने के बाद कुछ ही समय के भीतर इस सारी सहायता को अचानक वापस ले लिया गया। चीनी समाजवादी निर्माण के लिए यह एक भारी झटका था, जिसके कारण एक संकट पैदा हो गया। इस संकट के बाद पार्टी के भीतर एक धड़े ने यह कहा कि सोवियत सहायता के अभाव में समाजवादी निर्माण के पथ पर आगे बढ़ने के कार्य को निलम्बित करके पहले जिस भी रास्ते से आर्थिक विकास हो, उस रास्ते को अपना लिया जाना चाहिए, चाहे वह पूँजीवादी हो या समाजवादी क्योंकि चीन में उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर इतना निम्न है कि समाजवादी निर्माण के कार्य को निलम्बित कर दिया जाना चाहिए; अभी भौतिक प्रोत्साहन और बाज़ार के रास्ते

विकास का मार्ग चुनना उचित है। माओ ने इस कार्यदिशा का पुरज़ोर विरोध करते हुए कहा कि निश्चित तौर पर सोवियत संघ द्वारा दी जा रही भारी सहायता के वापस लिये जाने से चीन बहुत-सी आर्थिक मुश्किलों से घिर गया है; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम समाजवादी पथ को और समाजवादी निर्माण के कार्य को निलम्बित कर दें। माओ का कहना था कि समाजवादी निर्माण का एक अलग रास्ता अख़्तियार करना होगा, जनता की पहलकदमी को उन्नत करना होगा, यदि तात्कालिक तौर पर बड़े और भारी उद्योग नहीं लगाये जा सकते तो छोटे पैमाने के उद्योगों को लगाया जाना चाहिए और जनता पर भरोसा करते हुए समाजवाद के दुर्ग को सुरक्षित रखा जाना चाहिए। **माओ के पूरे तर्क का सार यह था कि उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर एक ढाँचागत सीमा ज़रूर है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजवादी निर्माण में आगे बढ़ने और नवोन्मेष के सारे रास्ते बन्द हो चुके हैं; निश्चित तौर पर उत्पादक शक्तियों का विकास करना होगा लेकिन यह काम उत्पादन सम्बन्धों और अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के कार्य को निलम्बित या रद्द करके या उनकी क़ीमत पर नहीं किया जा सकता है; और दूसरी बात यह कि इस पूरे काम के लिए जनसमुदायों की पहलकदमी को जागृत किया जाना चाहिए और जनता पर भरोसा किया जाना चाहिए।** माओ के लिए यहाँ "अर्थवादी" भटकाव इस रूप में मौजूद था कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर की ऐतिहासिक और वस्तुगत बाधा को इतने संकीर्ण तौर पर पेश किया जा रहा था कि समाजवादी निर्माण और नवोन्मेष की कोई गुंजाइश ही नहीं बचती थी। लेकिन माओ की वह अवस्थिति कतई नहीं थी जो कि बेतेलहाइम बता रहे हैं, यानी कि आम तौर पर यह कहना कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर के साथ समाजवाद का निर्माण हो सकता है। **अगर ऐसा है तो समाजवाद का निर्माण किसी भी युग में हो सकता था, बस क्रान्तिकारी विचारधारा (क्योंकि बेतेलहाइम के लिए वर्ग संघर्ष *हमेशा* विचारधारात्मक संघर्ष के रूप में *ही* होता है!) और क्रान्तिकारी हिरावल की आवश्यकता है! यानी कि समाजवादी क्रान्ति इतिहास की गति के वस्तुगत नियमों से नहीं बल्कि क्रान्तिकारी विचारधारा और पार्टी की मौजूदगी की आकस्मिकता (contingency) से निर्धारित होती है!** आगे हम दिखलायेंगे कि बेतेलहाइम की इस विचार-पद्धति को उनके त्रात्स्कीपन्थी अतीत से अलग नहीं किया जा सकता है और किस प्रकार बेतेलहाइम के विचार अन्ततः त्रात्स्कीपन्थ, बुखारिनपन्थ और "अतिमाओवाद" की एक घालमेल खिचड़ी बन जाते हैं।

बेतेलहाइम की परिभाषा "अर्थवाद" के विचलन के सार को नहीं पकड़ती है। इस सार का एक अहम अंग है यह पूर्वाग्रह कि उत्पादक शक्तियों का विकास स्वतः ही नये उत्पादन सम्बन्ध को जन्म दे देता है। बेतेलहाइम के हेगेलीय प्रत्ययवाद और मनोगतवाद की ही तरह "अर्थवाद" भी वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध के बीच के रिश्ते को नहीं समझता। अर्थवादी विचलन वर्ग संघर्ष और राजनीति की भूमिका को नज़रअन्दाज़ करता है। इस रूप में अर्थवादी विचलन का असली निशाना सर्वहारा वर्ग की राजनीति, उसकी पार्टी (हालाँकि पार्टी स्वयं भी अर्थवाद की वाहक बन सकती है), सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और क्रान्ति करने के सचेतन और संगठित प्रयास है। यह हर प्रकार के अवसरवाद का आधार है, चाहे वह "वामपन्थी" हो या फिर दक्षिणपन्थी, और इस मुद्दे पर बेतेलहाइम एक सही प्रेक्षण रखते हुए 1920-21 के **ट्रेड यूनियन विवाद** का हवाला देते हैं, जिसमें अर्थवाद के "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी छोर, दोनों ही प्रकट रूप में सामने आये थे

और जिनकी लेनिन ने विस्तृत आलोचना की थी। बेतेलहाइम ऐसे सटीक प्रेक्षण अलग-अलग कई मुद्दों पर देते हैं, लेकिन उनकी स्वयं की थीसिस इन प्रेक्षणों से एकदम उल्टे-सीधे नतीजे निकालती नज़र आती है। वास्तव में, अर्थवाद मार्क्सवाद को महज़ एक आर्थिक सिद्धान्त में तब्दील नहीं करता है। अर्थवाद स्वयं एक विचारधारात्मक-राजनीतिक भटकाव है जो मार्क्सवाद को राजनीतिक तौर पर विकृत करता है। बहरहाल, अर्थवादी विचलन के दो बुनियादी तत्व यही हैं: एक यह कि उत्पादक शक्तियों द्वारा पेश की जाने वाली ऐतिहासिक वस्तुगत सीमा को बेहद संकीर्णतावादी तरीके से पेश करके किसी भी प्रकार समाजवादी नवोन्मेष की गुंजाइश से इंकार करना और दूसरा यह कि उत्पादक शक्तियों का विकास स्वत: ही नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना करता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के अनुसार अर्थवादी विचलन के मुख्यत: और मूलत: यही दो आधारभूत पैमाने हैं।

अर्थवादी विचलन और बेतेलहाइम का "माओवाद" (वास्तव में, हेगेलीय प्रत्ययवाद और युवा हेगेलपन्थी मनोगतवाद) उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच अन्तरविरोध की मार्क्सवादी समझदारी से दो विपरीत छोरों के भटकाव को दिखलाता है। एक छोर उत्पादक शक्तियों के विकास को इतिहास की चालक शक्ति के तौर पर ग़ैर-द्वन्द्वात्मक और यान्त्रिक रूप में पेश करता है जबकि दूसरा छोर यह दावा करता है कि इतिहास की चालक शक्ति अन्तिम तौर पर वर्ग संघर्ष होता है और उत्पादन सम्बन्ध इतिहास में आम तौर पर निर्धारक तत्व की भूमिका अदा करते हैं। इससे पहले कि हम उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्व के विषय में मार्क्सवादी समझदारी पर चर्चा करें, यह बताना ज़रूरी है कि चार्ल्स बेतेलहाइम स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी की आलोचना करते हुए यह दावा करते हैं कि उन्होंने कानूनी सम्पत्ति सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्ध समझने की भूल की थी और इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम यहाँ तक चले जाते हैं कि वे सम्पत्ति सम्बन्धों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच ही सम्बन्ध-विच्छेद कर देते हैं। निश्चित तौर पर, सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी रूप ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। लेकिन क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि स्वामित्व के कानूनी रूपों को बदले बिना, यानी कि निजी सम्पत्ति का कानूनी ख़ात्मा किये बिना उत्पादन सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण किया जा सकता है? बेतेलहाइम की थीसिस अन्त में यहीं तक जाती है। **सम्पत्ति सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण की शुरुआत की जा सकती है।** यदि सम्पत्ति सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण नहीं होता तो क्या अधिशेष के सामाजिक विनियोजन या वितरण सम्बन्धों का रूपान्तरण हो सकता है? क्या श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया में मौजूद पूँजीवादी तत्वों व बुर्जुआ अधिकारों का विलोपन समाजवादी सम्पत्ति की स्थापना के बग़ैर हो सकता है? बेतेलहाइम बोल्शेविक पार्टी और स्तालिन द्वारा की गयी ग़लती की ओर संकेत करते हैं (हालाँकि इस विचलन की प्रस्तुति में वह ईमानदार नहीं हैं और स्तालिन पर उन ग़लतियों को भी थोप देते हैं, जो स्तालिन ने नहीं की थीं), लेकिन इसे दुरुस्त करने के उनके प्रयास के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है। बेतेलहाइम पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का अवैयक्तिकीकरण (impersonalization) करते हैं। उत्पादन सम्बन्धों का सबसे अहम प्रश्न उत्पादन के साधनों के मालिकाने और उस तक पहुँच का प्रश्न है; उत्पाद तक पहुँच यानी विनियोजन और वितरण का प्रश्न उसके बाद ही आता है और काफ़ी हद तक उस पर निर्भर भी है। यदि इस प्रश्न को पहले उठाया जाय और स्वामित्व के कानूनी रूपों के समाजवादी रूपान्तरण के प्रश्न को गौण बना दिया जाय तो मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र

के बुनियादी सिद्धान्तों का इससे बुरा विकृतिकरण नहीं हो सकता है।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व और वर्ग संघर्ष से उसके रिश्ते के विषय में मार्क्सवादी समझदारी का प्रश्न बेतेलहाइम की इस भयंकर भूल को और अच्छी तरह स्पष्ट कर सकता है। मार्क्स और एंगेल्स के लेखन से बेतेलहाइम कई उद्धरण पेश करते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि इतिहास की चालक शक्ति वर्ग संघर्ष है न कि उत्पादक शक्तियों का विकास। आप इस दावे में पर ग़ौर करें तो देख सकते हैं कि बेतेलहाइम वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों के विकास (और इसीलिए उत्पादन सम्बन्धों से उसके द्वन्द्व) को दो अलग चीज़ें मानते हैं। यह इतिहास की अद्वैतवादी (monist) और अधिभूतवाद-विरोधी मार्क्सवादी समझदारी के विपरीत खड़ा दृष्टिकोण है। निश्चित तौर पर, वर्ग संघर्ष तात्कालिक तौर पर इतिहास की निर्धारक शक्ति होती है और समाज के विज्ञान के मुताबिक समाज का प्रधान अन्तरविरोध होता है। लेकिन यहाँ दो बातें ग़ौर करने वाली हैं। **पहली बात** यह कि यह वर्ग अन्तरविरोध (और अपने आप में वर्ग) आसमान से नहीं टपकता बल्कि यह उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध के एक ख़ास दौर में ही अस्तित्व में आता है और उसकी ही विचारधारात्मक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होता है। यदि हम यह नहीं मानते तो हम कभी भी वर्गविहीन समाज से वर्ग समाज में संक्रमण को नहीं समझा सकते हैं। **अगर वर्ग संघर्ष अन्तिम विश्लेषण में समूचे मानव इतिहास की चालक शक्ति है, तो फिर वर्गविहीन समाज के गति के नियमों के मूल में कौन-सा अन्तरविरोध था? हम वर्गों के उद्भव की व्याख्या कैसे करेंगे?** आदिम साम्यवादी समाज के विघटन और वर्गों के उद्भव के पीछे उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध काम करता है। आगे बढ़ते हैं।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के इस द्वन्द्व में *आम तौर पर* उत्पादक शक्तियों का पहलू अधिक *गतिमान* (हर-हमेशा निर्धारक नहीं!) पहलू होता है। क्या कम्युनिस्ट समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच पूर्ण सामंजस्य या 'पूर्ण संगति' स्थापित हो जायेगी? नहीं! लेकिन कम्युनिस्ट समाज में यह अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त नहीं करेगा। हम ऊपर भी दिखला आये हैं कि चार्ल्स बेतेलहाइम 'संक्रमणशील समाज' की अपनी थीसिस में किस प्रकार अप्रत्यक्षत: इस भ्रम का शिकार हैं कि कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जायेगा। **इसलिए आम तौर पर पूरे मानव इतिहास में निर्धारक तत्व उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का अन्तरविरोध होता है, जो कि वर्ग समाज में अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त करता है। दूसरी बात** यह है कि निश्चित तौर पर वर्ग अन्तरविरोध अपने आपको आर्थिक के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और विचारधारात्मक तौर पर भी अभिव्यक्त करते हैं और अधिरचनात्मक धरातल पर अभिव्यक्त होने वाले ये वर्ग अन्तरविरोध हर क्षण, तात्कालिक तौर पर और एकतरफ़ा तरीके से उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध द्वारा निर्धारित नहीं होते हैं, और ऐतिहासिक तौर पर कई अन्य कारकों से **अतिनिर्धारित (over-determine)** भी होते हैं। और यह भी स्पष्ट तौर पर समझा जाना चाहिए कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद का बुनियादी सिद्धान्त ही यही है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के असमाधेय हो चुके अन्तरविरोध वास्तविक (real) और सापेक्षिक (relative) तौर पर (आदर्श (ideal) और निरपेक्ष (absolute) रूप से नहीं!) वर्ग संघर्ष के ज़रिये, सर्वहारा वर्ग की राजनीति और

विचारधारा और उसके मूर्त रूप, यानी कि उसकी पार्टी, के सचेतन क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के ज़रिये ही हल हो सकते हैं। लेनिन के कथनों "राजनीति अर्थशास्त्र की सान्द्र अभिव्यक्ति है" और "राजनीति निर्धारक होती है" का यही अर्थ है। **माओ के शब्दों को उधार लें तो कह सकते हैं कि उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध मानव इतिहास में आम तौर पर बुनियादी अन्तरविरोध की भूमिका निभाता हैं, जबकि वर्ग संघर्ष प्रधान अन्तरविरोध की।**

बुनियादी अन्तरविरोध तो मानव समाज में लगातार ही मौजूद रहते हैं, इसलिए केवल बुनियादी अन्तरविरोध के आधार पर इतिहास के उन **सन्धि-बिन्दुओं (conjunctures)** की व्याख्या नहीं की जा सकती जिन्हें हम 'क्रान्ति' या 'क्रान्तिकारी रूपान्तरण' के नाम से जानते हैं। इतिहास के इन सन्धि-बिन्दुओं की व्याख्या प्रधान अन्तरविरोध, यानी कि वर्ग संघर्ष के द्वारा ही की जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का द्वन्द्व मानव इतिहास में अन्तिम तौर पर निर्धारक तत्व की भूमिका निभाते हैं जबकि वर्ग संघर्ष (वर्ग) समाज के इतिहास में तात्कालिक निर्धारक तत्वों की भूमिका निभाते हैं। इन दोनों के बीच के संगति (निश्चित तौर पर दोनों के बीच 'बराबर' का चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है) के रिश्ते को न समझना या तो द्वैतवाद के छोर पर ले जायेगा या फिर इनके बीच एक यान्त्रिक किस्म के सम्बन्ध की समझदारी की ओर ले जायेगा।

बेतेलहाइम स्तालिन पर यह आरोप लगाते हैं कि स्तालिन ने वर्ग संघर्ष को उचित महत्व नहीं दिया और उनके विश्लेषण में वर्ग विश्लेषण नेपथ्य में चला जाता है। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि स्तालिन वर्ग संघर्ष की बजाय उत्पादक शक्तियों के विकास को अधिक अहमियत देते हैं। बेतेलहाइम यहाँ भी एक सही प्रश्न की ओर संकेत करते हैं लेकिन उनकी आलोचना का प्रस्थान-बिन्दु एकदम ग़ैर-मार्क्सवादी है। बेतेलहाइम यहाँ स्पष्ट रूप से वर्ग संघर्ष को उत्पादक शक्तियों के विकास (और उत्पादन सम्बन्धों के साथ उसके अन्तरविरोध) से पूरी तरह काट देते हैं और उनके बीच के संगति के सम्बन्ध को समझने में पूरी तरह असफल रहते हैं। चूँकि इस मुद्दे पर बेतेलहाइम आधारभूत मार्क्सवादी समझदारी से प्रस्थान कर जाते हैं, इसलिए बेतेलहाइम के वे आलोचक जो कि स्तालिन का अनालोचनात्मक बचाव करते हैं, उन्हें इस बिन्दु पर घेरते हैं और कुछ इस तरह से मामले को प्रस्तुत करते हैं, मानो इस विषय पर स्तालिन के सूत्रीकरणों के किसी आलोचनात्मक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इस प्रक्रिया में वे स्तालिन के कई यान्त्रिकतापूर्ण सूत्रीकरणों की भी लगन से हिफ़ाज़त करते हैं, मिसाल के तौर पर 'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद' का वह प्रसिद्ध सूत्रीकरण जो उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध को व्याख्यायित करता है। वहीं दूसरे छोर पर खड़े बेतेलहाइम स्तालिन पर आरोप लगाते हैं कि स्तालिन वर्ग संघर्ष की भूमिका को नकारते हैं, जो कि तथ्यत: ग़लत है। **इन दोनों छोरों पर खड़े होकर स्तालिन के सूत्रीकरणों के विषय में कोई आलोचनात्मक चर्चा हो ही नहीं सकती है।** जहाँ बेतेलहाइम "अर्थवाद" की एक इरादतन सीमित परिभाषा देकर स्तालिन पर अनैतिक आक्रमण करते हैं, वहीं स्तालिन के अनालोचनात्मक रक्षक उन मुद्दों पर भी स्तालिन के सूत्रीकरण की रक्षा का बीड़ा उठाये रहते हैं, जिन पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति से स्तालिन के सूत्रीकरणों की हिफ़ाज़त नहीं की जा सकती है।

यहाँ एक और तथ्य यह है कि स्तालिन वास्तव में सचेतन तौर पर उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता के अर्थवादी सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते थे, जैसा कि

बेतेलहाइम स्तालिन के कुछ उद्धरणों को पूर्वाग्रहों के साथ चुनकर सिद्ध करना चाहते हैं, बल्कि उसका विरोध करते थे। बेतेलहाइम यह बात भी छिपा जाते हैं कि 1936 से लेकर 1952 के बीच समाजवादी की समस्याओं और उसमें उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के द्वन्द्व और वर्ग संघर्ष के बारे में उनके विचारों में लगातार विकास भी हुआ था। मिसाल के तौर पर, स्तालिन के इन उद्धरणों पर ग़ौर करें:

"कॉमरेड यारोशेंको की प्रमुख ग़लती यह है कि वे उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों की समाज के विकास में भूमिका के बारे में मार्क्सवादी अवस्थिति को भूल जाते हैं, कि वह उत्पादक शक्तियों की भूमिका को बेहद ज़्यादा बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं और उतना ही ज़्यादा उत्पादन के सम्बन्धों के महत्व को घटाकर पेश करते हैं, और अन्त में यह घोषणा कर देते हैं कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के ही संघटक अंग होते हैं।"

आगे स्तालिन लिखते हैं, **"कॉमरेड यारोशेंको "शत्रुतापूर्ण वर्ग अन्तरविरोधों" की स्थितियों में उत्पादन के सम्बन्धों को एक निश्चित भूमिका देने को तैयार हैं, इस हद तक कि उत्पादन के सम्बन्ध "उत्पादक शक्तियों के विकास के विरोध में होते हैं।" लेकिन वह इसे एक शुद्ध रूप से नकारात्मक भूमिका तक सीमित रखते हैं, एक ऐसे कारक की भूमिका जोकि उत्पादक शक्तियों के विकास को रोकता है, उनके विकास के पैरों में बेड़ियाँ है। कॉमरेड यारोशेंको, उत्पादन सम्बन्धों के कोई अन्य प्रकार्य, सकारात्मक प्रकार्य देखने में असफल रहते हैं।**

"जहाँ कि समाजवादी व्यवस्था की बात है, जहाँ "शत्रुतापूर्ण वर्ग अन्तरविरोध" अब मौजूद नहीं होते, और जहाँ उत्पादन के सम्बन्ध "उत्पादक शक्तियों के विरोध में नहीं खड़े होते," वहाँ कॉमरेड यारोशेंको के अनुसार उत्पादन के सम्बन्ध किसी भी स्वतन्त्र भूमिका से पूर्णतः रहित होते हैं, वे विकास का कोई गम्भीर कारक नहीं रह जाते हैं, और उत्पादक शक्तियों द्वारा समाहित कर लिये जाते हैं, उनका संघटक अंग बन जाते हैं।...यह वास्तव में बताता है कि क्यों कॉमरेड यारोशेंको समाजवादी व्यवस्था के ऐसे आर्थिक प्रश्नों में दिलचस्पी नहीं रखते जैसे कि हमारी अर्थव्यवस्था में विभिन्न प्रकार के सम्पत्ति रूप, माल संचरण, मूल्य का नियम, आदि जो कि उनके लिए मामूली प्रश्न हैं जो केवल बौद्धिकतावादी विवादों को जन्म देते हैं।"

समाजवाद की समस्याओं के राजनीतिक अर्थशास्त्र की इस समझदारी की खिल्ली उड़ाते हुए स्तालिन कहते हैं, **"संक्षेप में, बिना आर्थिक समस्याओं वाला एक राजनीतिक अर्थशास्त्र।...तब ऐसा लगने लगता है कि कम्युनिस्ट व्यवस्था "उत्पादक शक्तियों के तार्किक संगठन" से ही शुरू और ख़त्म होती है।...इस धारणा के बारे में क्या कहा जा सकता है?"**

इसके बाद स्तालिन सकारात्मक तौर पर अपनी समझदारी को सामने रखते हैं, **"पहली बात तो यह कि यह सच नहीं है कि समाज के इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका केवल एक रुकावट, उत्पादक शक्तियों के विकास में बेड़ी की बन चुकी है। जब मार्क्सवादी उत्पादन सम्बन्धों के विलम्बित करने वाली भूमिका की बात करते हैं, तो उनके दिमाग़ में सभी उत्पादन सम्बन्ध नहीं बल्कि पुराने उत्पादन सम्बन्ध होते हैं, जो कि उत्पादक शक्तियों में हुई वृद्धि से मेल नहीं खाते और लिहाज़ा उनके विकास को विलम्बित करते हैं। लेकिन, जैसा कि हम जानते हैं, पुराने के अलावा, नये उत्पादन**

सम्बन्ध भी होते हैं (यहाँ स्तालिन का इशारा संक्रमणशील समाजवादी समाज की ओर है–लेखक) जो पुराने सम्बन्धों की जगह ले लेते हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि नये उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका उत्पादक शक्तियों पर रोक लगाने की होती है? नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, नये उत्पादन सम्बन्ध *प्रमुख* और निर्णायक शक्ति होते हैं, वे शक्ति जो वास्तव में उत्पादक शक्तियों के आगे के, और पहले से भी ज़्यादा शक्तिशाली विकास को निर्धारित करते हैं, और इसके बिना उत्पादक शक्तियाँ ठहराव के लिए अभिशप्त हो जायेंगे, जैसा कि आज पूँजीवादी देशों के साथ हो रहा है।

"कोई हमारे सोवियत उद्योग की उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भरी गयी छलाँगों से इंकार नहीं कर सकता है। लेकिन यह विकास सम्भव नहीं होता, अगर हमाने अक्टूबर 1917 में, पुराने, पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की जगह नये, समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित नहीं किया होता।" (**जोसेफ़ स्तालिन**, 1972, *इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ सोशलिज़्म इन दि यूएसएसआर,* प्रथम संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, पृ. 60-63, *अनुवाद हमारा*)

बेतेलहाइम ने स्तालिन की पुस्तिका 'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद' के कुछ सूत्रीकरणों को भी सन्दर्भ काटकर मनमानी व्याख्या करते हुए आलोचना का विषय बनाया है। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम ने स्तालिन के उस कथन को उद्धृत किया है जिसमें स्तालिन कहते हैं कि पहले समाज की उत्पादक शक्तियों का विकास होता है और फिर उसके अनुसार नये उत्पादन सम्बन्धों में इस विकास के आधार पर परिवर्तन आता है। बेतेलहाइम का कहना है कि स्तालिन की थीसिस में वर्ग संघर्ष को गौण बना दिया गया है या उसकी उपेक्षा कर दी गयी है। यह दावा सही नहीं है क्योंकि स्तालिन यह नहीं कह रहे हैं कि उत्पादक शक्तियों में विकास के आधार पर उत्पादन सम्बन्धों में खुद-ब-खुद बदलाव आ जाता है और इस प्रक्रिया में कहीं वर्ग संघर्ष का हस्तक्षेप नहीं होता। यहाँ पर स्तालिन केवल उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व की बात कर रहे हैं। **हम निश्चित तौर पर उस तरीके की आलोचना कर सकते हैं, जिससे कि स्तालिन इस द्वन्द्व को पेश करते हैं। निश्चित तौर पर, इस प्रस्तुति पर यान्त्रिक भौतिकवाद का असर है।** लेकिन इस प्रस्तुति की आलोचना इसी मुद्दे पर की जानी चाहिए न कि आलोचना को एक आनन-फानन में चलाया जाने वाला महाभियोग बनाया जाना चाहिए जैसा कि बेतेलहाइम करते हैं। वास्तव में, इसी पुस्तक में स्तालिन उत्पादक शक्तियों के उस संशोधनवादी सिद्धान्त की पुरज़ोर मुख़ालफ़त करते हैं, जो कि नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना में वर्ग संघर्ष और क्रान्ति की भूमिका को नहीं देखता। यह ज़रूर है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का स्तालिन द्वारा किया गया चित्रण कुछ यान्त्रिक और तकनोलॉजिकल निर्धारणवादी (technological determinist) है। ऐसा नहीं है कि स्तालिन उनके बीच के द्वन्द्व को नकारते हैं, लेकिन 1938 में उनकी अवस्थिति जहाँ खड़ी थी, उससे स्तालिन ने इस द्वन्द्व का एक ऐसा चित्र पेश किया है जो कि उत्पादक शक्तियों के निर्धारक/निर्णायक होने पर असन्तुलित ज़ोर है। स्तालिन समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादक शक्तियों और उत्पादक सम्बन्धों के बीच के रिश्ते के बारे में असन्तुलित सूत्रीकरण देते हैं, जिनमें से कुछ को बाद में स्तालिन ने सुधार लिया था। मिसाल के तौर पर, स्तालिन इस पुस्तिका में एक स्थान पर यह लिखते हैं कि समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियाँ "पूर्ण संगति" (full conformity) में होती हैं। लेकिन अपनी इस अवस्थिति को स्तालिन ने बाद में दुरुस्त कर लिया था और इस कथन को शाब्दिक

तौर पर लेने के लिए नॉटकिन की आलोचना की थी। इन सब के बावजूद बेतेलहाइम उन चीज़ों के लिए स्तालिन की आलोचना कर रहे हैं, जिनके लिए स्तालिन की आलोचना नहीं की जा सकती है। मिसाल के तौर पर यह बात कि स्तालिन वर्ग संघर्ष को गौण बना देते हैं! यह कथन अपने आप में मूर्खतापूर्ण है क्योंकि यह उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध तथा वर्ग संघर्ष के बीच के सम्बन्ध को नकारता है। लेकिन अहम बात यहाँ यह है कि वर्ग संघर्ष के महत्व के प्रश्न पर बेतेलहाइम स्तालिन पर एक ग़लत आरोप लगाते हैं।

हमने इतने विस्तार से स्तालिन के उद्धरणों को इसलिए पेश किया ताकि स्तालिन पर बेतेलहाइम द्वारा किये गये एक बेहद सिद्धान्तहीन किस्म के हमले का जवाब दिया जा सके। बेतेलहाइम का स्तालिन पर हमला स्पष्ट रूप से साफ़ अंतश्चेतना के साथ नहीं किया गया है, क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि बेतेलहाइम ने स्तालिन की इस (शायद सबसे ज़्यादा) प्रसिद्ध पुस्तक को नहीं पढ़ा होगा। इस पुस्तक के बारे में प्रसिद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्री **रोनाल्ड मीक** ने ठीक ही लिखा था, **"*इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स* में प्रमुख सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ जिन पर मैंने ऊपर विचार किया है उनके पीछे स्तालिन का इरादा सम्भवतः उक्त समस्याओं का अन्तिम समाधान पेश करने का दावा नहीं था, बल्कि नये रास्तों की ओर संकेत करना था जिन नये रास्तों पर आगे के शोध को चलना चाहिए।"** (**रोनाल्ड एल. मीक**, 2009, *स्टडीज़ इन दि लेबर थियरी ऑफ वैल्यू*, आकार बुक्स, दिल्ली, पृ. 282) अपनी इसी पुस्तक में रोनाल्ड मीक ने यह भी प्रदर्शित किया है कि 1936 से 1943 और फिर 1943 से 1953 के बीच समाजवाद की समस्याओं पर स्तालिन का चिन्तन किस दिशा में आगे बढ़ रहा था और किस प्रकार स्तालिन के लेखन और सोवियत अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये लेखन में अवस्थितियों का फर्क है, हालाँकि तमाम सोवियत अर्थशास्त्री स्तालिन के ही पुराने लेखों से प्राधिकार प्राप्त करने का प्रयास करते थे।

स्तालिन के अन्तिम दौर के लेखन से स्पष्ट पता चलता है कि स्तालिन समाजवाद की समस्याओं पर सही दिशा में सोच रहे थे। वैसे तो प्रति-तथ्यात्मक इतिहास लेखन मार्क्सवादियों का काम नहीं होता है, लेकिन फिर भी हम अपने आपको यह कहने से नहीं रोक पा रहे हैं कि यदि जीवन ने मौका दिया होता तो स्तालिन समाजवाद की समस्याओं के तमाम नुक़्तों पर बेहद सटीक नतीजों तक पहुँच सकते थे। **यहाँ हम पाठकों का इस ओर भी ध्यानाकर्षित करना चाहेंगे कि यारोशेंको की आलोचना करते हुए स्तालिन जहाँ कहीं भी समाजवाद में शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों की मौजूदगी या ग़ैर-मौजूदगी की बात कर रहे हैं, वहाँ उन्होंने उद्धरण चिन्हों का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि स्तालिन 1936 की इस प्रस्थापना पर भी पुनर्विचार कर रहे थे कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में स्थापना के साथ शत्रुतापूर्ण वर्ग सोवियत समाज से समाप्त हो गये हैं।** ऐसी अटकल लगाना बिल्कुल अतार्किक या मनोगत कवायद या फिर प्रतितथ्यात्मक अटकलबाज़ी भी नहीं मानी जायेगी क्योंकि अगर स्तालिन 1953 तक इस समझदारी तक पहुँच चुके थे कि समाजवाद में माल उत्पादन और माल सम्बन्ध मौजूद रहते हैं (हालाँकि इसके कारण के तौर पर अभी स्तालिन केवल दो प्रकार के समाजवादी सम्पत्ति रूपों की मौजूदगी को ही देख रहे थे), मूल्य का नियम एक प्रभावकारी कारक व सीमित अर्थों में विनियामक की भूमिका निभाता है, और गाँव और शहर के बीच का अन्तर का काम करता है (हालाँकि मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के अन्तर को स्तालिन ने उतना महत्व नहीं दिया है), तो ज़्यादा सम्भावना यही है कि स्तालिन (अगर उन्हें अपने इस चिन्तन को आगे बढ़ाने का मौका

मिलता) इसी नतीजे पर पहुँचते कि समाजवादी समाज में भी कुंजीभूत कड़ी वर्ग संघर्ष होता है, बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी पार्टी और राज्य के भीतर राजकीय बुर्जुआज़ी को जन्म देती है, तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ बुर्जुआ अधिकारों और विनिमय सम्बन्धों को जन्म देती हैं, इस वजह से श्रम शक्ति अभी भी एक माल होती है और समाजवाद की इन समस्याओं के लिए जहाँ उत्पादक शक्तियों का द्रुत विकास करना होगा वहीं उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को आगे बढ़ाना होगा और साथ ही अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति के कार्यभार को हाथों में लेना होगा। ज़ाहिर है, स्तालिन अपने तरीके और किसी अलहदा रास्ते से इन्हीं नतीजों पर पहुँच सकते थे जो शायद माओ के विचारों और चिन्तन प्रक्रिया के रास्ते से अलग होती। **लेकिन इन अटकलबाज़ियों या प्रति-तथ्यात्मक इतिहास को एक तरफ़ भी रख दें तो स्तालिन के अन्तिम दौर का लेखन यह दिखलाता है कि समाजवाद की समस्याओं पर उनके चिन्तन की दिशा कमोबेश दुरुस्त थी।**

इसके बरक्स अगर हम स्तालिन पर बेतेलहाइम की टिप्पणियों को देखें तो हम पाते हैं कि वह पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर की गयी हैं और ऐसा लगता है कि पहले ही तय कर लिया गया था कि स्तालिन के विषय में किस नतीजे तक पहुँचना है। बेतेलहाइम का प्रमुख मक़सद स्तालिन की सैद्धान्तिक क्षमताओं पर प्रश्न खड़ा करना, उन्हें पार्टी के भीतर विजातीय प्रवृत्तियों का वाहक या उन्हें वैध ठहराने वाली शक्ति के रूप में चित्रित करना है। इस मामले में बेतेलहाइम और त्रात्स्की के विचारों में कुछ समानता नज़र आती है। त्रात्स्की ने कहा था कि स्तालिन ने सोवियत पार्टी में नौकरशाह प्रतिक्रिया की संस्थापना नहीं की थी, बल्कि पहले से मौजूद नौकरशाह प्रतिक्रिया को स्तालिन के रूप में एक मुफ़ीद उम्मीदवार मिल गया था। अब इस कथन की तुलना बेतेलहाइम के इस दावे से करें जिसमें वह कहते हैं कि सोवियत पार्टी या मज़दूर आन्दोलन में अर्थवाद स्तालिन की पैदावार नहीं थी, लेकिन स्तालिन ने अर्थवादी भटकाव को ज़बरदस्त स्वीकार्यता और प्राधिकार दे दिया। **इस पूरे विश्लेषण में बस त्रात्स्की के 'नौकरशाह प्रतिक्रिया' की जगह बेतेलहाइम के 'अर्थवाद' को रख दें, तो ज़्यादा कुछ अन्तर नहीं है।** बस यही कहा जा सकता है कि शायद बेतेलहाइम का ग़लत विश्लेषण त्रात्स्की के ग़लत विश्लेषण से कम सतही है और बौद्धिक निरन्तरता पर इसका दावा त्रात्स्की के विश्लेषण से ज़्यादा है। लेकिन दोनों ही ग़लत हैं और पूर्वाग्रह-ग्रसित होकर किये गये हैं या इरादतन तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं।

हम उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के द्वन्द्व के विषय में मार्क्सवादी समझदारी के बारे में चर्चा को भी ज़रूरी समझते हैं क्योंकि इस विषय पर बेतेलहाइम और उनके आलोचक आम तौर पर दो छोरों पर खड़े नज़र आते हैं। इन दोनों छोरों में एक बात सामान्य है: ये दोनों ही छोर इस द्वन्द्व को एक स्थैतिक (static) द्वन्द्व के रूप में देखते हैं, न कि एक गतिमान और परिवर्तनीय द्वन्द्व के रूप में। बेतेलहाइम का दावा है कि इस द्वन्द्व में आम तौर पर उत्पादन सम्बन्धों का पहलू हर-हमेशा प्रमुख है, जबकि उनके आलोचकों[1] का दावा है कि इस द्वन्द्व में उत्पादक शक्तियाँ हर-हमेशा निर्धारक भूमिका निभाती हैं। बेतेलहाइम के आलोचकों, विशेष तौर पर होज़ापन्थी और स्तालिन का अनालोचनात्मक बचाव करने वाले कठमुल्लावादी मार्क्सवादियों ने बेतेलहाइम की एक ऐसी आलोचना पेश की है जो कि एक आम पाठक की निगाह में बेतेलहाइम की अवस्थिति की स्वीकार्यता को बढ़ाने का ही काम करती है। मिसाल के तौर पर, एक आलोचक सुनील सेन लिखते हैं, **"जिस 'अर्थवाद' के विरुद्ध लेनिन से संघर्ष किया उसका इतिहास की**

भौतिकवादी अवधारणा में आर्थिक कारक की समझदारी से कोई लेना-देना नहीं था। वास्तव में, 'अर्थवादियों' को युद्ध सामग्री मुहैया कराने वाले और उन्हें सैद्धान्तिक टिकाऊपन मुहैया कराने वाले बर्नस्टाइन ने 'आर्थिक भौतिकवाद' या मार्क्सवादियों द्वारा आर्थिक कारकों को दिये जाने वाले महत्व की पुरज़ोर आलोचना की और आरोप लगाया कि मार्क्सवाद अर्थव्यवस्था को *एकमात्र* निर्धारक कारक मानता है।" (सुनील सेन, **'मार्क्सिज़्म एण्ड मि. बेतेलहाइम'**, *रिवोल्यूशनरी डेमोक्रेसी*, सितम्बर 2000, *अनुवाद हमारा*) बेतेलहाइम द्वारा "अर्थवाद" की एक सीमित किस्म की परिभाषा के जवाब में सुनील सेन ने अर्थवाद की उससे भी ज़्यादा सीमित किस्म की परिभाषा दी है ताकि वह बेतेलहाइम को ग़लत सिद्ध करते हुए यह बता सकें कि ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के अनुसार आर्थिक कारक ही इतिहास में निर्धारक तत्व की भूमिका अदा करता है। इसके पक्ष में सुनील सेन मार्क्स के कई उद्धरणों को पेश करते हैं, जिसमें मार्क्स इतिहास की प्रत्ययवादी और अधिभूतवादी व्याख्याओं का खण्डन करते हुए आर्थिक कारक के महत्व को बता रहे हैं। लेकिन मार्क्स कहीं भी यह नहीं कहते कि आर्थिक कारक हर-हमेशा निर्धारक कारक की भूमिका निभाता है। **एंगेल्स** ने एक जगह स्पष्ट किया है, **"इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार, इतिहास में अन्तिम मौके पर जो चीज़ निर्णायक होती है, वह है वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन। इसके ज़्यादा न तो मार्क्स ने कहीं कहा है और न ही मैंने। लेकिन जब इसको विकृत करके ऐसे पढ़ता है कि आर्थिक कारक ही एकमात्र तत्व है, तो वह इस कथन को एक अर्थहीन, अमूर्त, अनर्गल जुमले में तब्दील कर देता है। आर्थिक स्थिति आधार है, लेकिन उनके परिणामों के विभिन्न तत्व, संविधान-कानूनी रूप, और साथ ही भागीदारों के दिमाग़ों में इन सभी प्रतिक्रियाओं के बीच वास्तविक संघर्ष, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक, धार्मिक विचार-ये सभी ऐतिहासिक संघर्षों के विकास पर प्रभाव डालते हैं, और कुछ मौकों पर उनके रूपों को निर्धारित भी करते हैं।"** (एंगेल्स, 1972, **जे. ब्लॉक को पत्र**, सितम्बर 21, 1890, *'हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज़्म-मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन'* में संकलित, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 294, *अनुवाद हमारा*)

दूसरी बात यह है कि सुनील सेन ने अर्थवाद की जो परिभाषा दी है, वह अर्थवाद का केवल एक विशिष्ट रूप था जिसके विरुद्ध लेनिन ने 1901-02 में संघर्ष शुरू किया था। इस तथ्य की ओर कुछ अन्य टिप्पणीकारों ने भी इशारा किया है, हालाँकि अक्सर वे बेतेलहाइम का हिमायती बन दूसरे छोर पर जा खड़े हुए हैं। बहरहाल, अर्थवाद के इस विशिष्ट रूप के विरुद्ध संघर्ष के साथ ही लेनिन अर्थवाद को एक आम विजातीय रुझान भी मानते थे जिसके कई अन्य रूप हो सकते हैं और लेनिन के ही जीवन काल में कई ऐसे अन्य रूप सामने भी आये। मिसाल के तौर पर, साम्राज्यवादी अर्थवाद और काऊत्स्की की अति-साम्राज्यवाद की थीसिस के मूल में भी अर्थवाद ही था, और यहाँ पर अर्थवाद मूलत: और मुख्यत: उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता के सिद्धान्त के तौर पर ही प्रकट हुआ था। लेनिन ने अन्य कई अर्थवादी रुझानों की पहचान की थी और इसीलिए आम तौर पर अर्थवाद को लेनिन ने इस रूप में परिभाषित किया था, ***"राजनीतिक प्रश्न उठाने से इंकार करने की वही पुरानी अर्थवादी प्रवृत्ति।"*** और एक अन्य जगह लेनिन अर्थवाद को ***"राजनीतिक प्रश्न उठाने में अक्षमता"*** के रूप में भी परिभाषित करते हैं (लेनिन, 1964, **दि नेसेण्ट ट्रेण्ड ऑफ इम्पीरियलिस्ट इकोनॉमिज़्म**, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-23, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.

13-21, *अनुवाद हमारा*)। लेनिन के ऐसे ढेरों उद्धरण पेश किये जा सकते हैं जो कि अर्थवाद को एक *आम* विजातीय रुझान के तौर पर व्याख्यायित करते हैं। लेकिन बेतेलहाइम की सख़्त से सख़्त आलोचना करने के प्रयास में कठमुल्लावादी मार्क्सवादी आलोचना अन्त में बेतेलहाइम जैसे हेगेलीय प्रत्ययवादियों की अवस्थिति को लाभ ही पहुँचाता है। मार्क्स और एंगेल्स की रचनाएँ भी इस तथ्य के प्रति विशेष जागरूकता को प्रदर्शित करती हैं कि इतिहास में ऐसे दौर आते हैं, विशेष तौर पर, आमूलगामी और युगान्तरकारी परिवर्तनों के दौर, जब अधिरचना का पहलू और उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का पहलू प्रमुख भूमिका निभाता है। सेन एक स्थान पर लिखते हैं कि बेतेलहाइम के शर्मिन्दा रक्षकों (मिसाल के तौर पर, तमाम तथाकथित माओवादी लेखक, आलोचक आदि) ने उत्पादन सम्बन्धों को आम तौर पर प्राथमिक और निर्धारक तत्व सिद्ध करने के प्रयास में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व की इस तरीके से पेशकश की है, जिसमें कोई भी निर्णायक तत्व या निर्धारक तत्व नहीं होता है, और यह केवल एक "अनिर्धारित" द्वन्द्व के समान होता है; सेन का यह कहना बिल्कुल सही है कि यह सापेक्षतावाद (relativism) के गड्ढे में गिरना है। **लेकिन इस द्वन्द्व का एक स्थैतिक चित्र पेश करना भी कठमुल्लावाद के गड्ढे में गिरने के समान है, जिसमें उत्पादक शक्तियाँ हर क्षण निर्धारक तत्वों की भूमिका में होती हैं।** वास्तव में, इसी कमज़ोरी का लाभ सेन की आलोचना करने वाले कुछ बेतेलहाइम के समर्थकों ने उठाया भी है, हालाँकि कुल मिलाकर उनकी अवस्थिति अपेक्षाकृत रूप से कमज़ोर ठहरती है।

मार्क्स और एंगेल्स और उसके बाद लेनिन और माओ की रचनाओं में हमें इस प्रकार की कोई प्रश्नोत्तरी तो नहीं मिलेगी जिसमें उन्होंने सीधे-सीधे इस प्रश्न का जवाब दिया हो कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों में कौन सा कारक हर-हमेशा निर्धारक की भूमिका निभाता है, लेकिन उनके पूरे रचना कर्म से हम इस विषय पर एक सन्तुलित मार्क्सवादी-लेनिनवाद-माओवादी अवस्थिति को निःसृत कर सकते हैं। **क्योंकि महान शिक्षकों की रचनाओं में से सन्दर्भ से काटते हुए दोनों ही पक्ष अपने समर्थन में उद्धरणों के ढेर लगा सकते हैं, लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवाद पहुँच और पद्धति को इस प्रकार की धुरीविहीन और सन्दर्भरहित उद्धरणबाज़ी से नहीं समझा जा सकता है।**

हम समझते हैं कि अगर आम तौर पर मानव इतिहास की बात की जाये तो उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्व में प्रधान और गौण कारकों का कोई *स्थायी* बँटवारा नहीं होता; **प्रधान कारक गौण बन जाते हैं और गौण कारक प्रधान में तब्दील हो जाते हैं। हर अन्तरविरोध के बारे में यह बात सत्य है और उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के विषय में भी यह बात उतनी ही सत्य है। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का यह द्वन्द्व सतत् गतिमान होता है, परिवर्तनशील होता है। अगर मानव समाज के पूरे इतिहास में उद्भवात्मक विकास (evolutionary development) की बात करें तो निश्चित तौर पर उत्पादक शक्तियों का विकास एक अधिक गतिमान तत्व है और *इस रूप में* आम तौर पर वह एक निर्धारक भूमिका निभाता है। लेकिन अगर हम आमूलगामी परिवर्तनों, अनिरन्तरताओं या विच्छेदों के दौरों की बात करें तो निश्चित तौर पर उत्पादन सम्बन्धों का पहलू उस समय प्रधान कारक की भूमिका में होता है।** वैसे तो सभी क्रान्तियों के दौरों के लिए यह बात सही है, लेकिन समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापना के बाद के एक लम्बे दौर के लिए यह बात विशेष तौर पर सही है। समाजवादी क्रान्तियों की विशिष्टता पर हम थोड़ा आगे आयेंगे।

निश्चित तौर पर, उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच द्वन्द्व *लगातार* मौजूद रहता है, चाहे प्रधान पहलू कोई भी हो, अन्यथा किसी द्वन्द्व की बात ही नहीं जा सकती है। इसीलिए उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए अनुकूल उत्पादन सम्बन्धों द्वारा प्रेरण एक पूर्वशर्त है, और साथ ही किसी भी प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना उत्पादक शक्तियों और उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों के एक स्तर की माँग करता है। अगर यह बात न समझी जाय तो न तो यह बताना सम्भव होगा कि उत्पादक शक्तियों का विकास कैसे होता है और न ही यह बताना सम्भव होगा कि उत्पादन सम्बन्धों की ऐतिहासिकता (historicity) क्या है? किसी विशेष दौर में विशेष किस्म के उत्पादन सम्बन्ध ही क्यों बने, किसी और किस्म के क्यों नहीं? उत्पादन सम्बन्ध या तो उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा की भूमिका निभायेंगे या फिर उत्प्रेरण की। मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों में बँधे होते हैं, यह मार्क्सवाद की खोज नहीं थी; मार्क्सवाद ने जिस बुनियादी प्रश्न का जवाब दिया वह यह था कि ये सामाजिक उत्पादन सम्बन्ध किस प्रकार निर्धारित होते हैं? मनुष्य किसी विशेष दौर में किसी विशेष प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों में ही क्यों बँधते हैं? क्या यह आकस्मिकता या संयोग का मामला है? या फिर यह मनुष्यों की मनोगत इच्छा या मंशा का मसला है? बेतेलहाइम इसी सवाल पर फँस जाते हैं। यदि उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्ववाद में कोई उत्पादन सम्बन्धों को हर-हमेशा निर्धारक तत्व माने तो वह इस प्रश्न का जवाब नहीं दे सकता है और अन्ततः प्रत्ययवाद और मनोगतवाद के गड्ढे में जाकर गिरता है। वहीं अगर कोई यह मानता है कि इस द्वन्द्व में उत्पादक शक्तियों का विकास हर-हमेशा निर्धारक कारक की भूमिका निभाता है तो उसे उत्पादक शक्तियों के विकास को एक प्राकृतिक शक्ति मानना होगा, जो स्वतः अपनी ही आन्तरिक अन्तर्क्रिया से विकसित होती है। उसके लिए उत्पादक शक्तियों का विकास एक स्वायत्त परिघटना बन जायेगी और इस सूरत में उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के रथ के पीछे घिसटने वाली चीज़ बन जायेंगे। **ये दोनों ही छोर किसी द्वन्द्व की बात नहीं कर रहे हैं, और अगर द्वन्द्व की बात कर रहे हैं, तो वे एक "स्थैतिक द्वन्द्व" की बात कर रहे हैं, और यह शब्द ही एक ग़लत शब्द (misnomer) है।** कोई द्वन्द्व स्थैतिक नहीं होता, और अगर किसी स्थैतिक द्वन्द्व की बात की जा रही है तो वह ठीक इसी कारण से द्वन्द्व नहीं होगा क्योंकि वह स्थैतिक है।

चार्ल्स बेतेलहाइम इसमें पहली वाली ग़लती को अंजाम देते हैं। उनके मुताबिक इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका निर्धारक होती है। अगर यह पूछा जाये कि उत्पादन सम्बन्धों को कौन-सा कारक निर्धारित करता है, तो वह वर्ग संघर्ष का नाम लेते हैं। अगर उनसे पूछा जाय कि वर्ग संघर्ष के चरित्र का निर्धारण कैसे होता है, तो वह अन्ततः विचारधारा की शरण में जाते हैं क्योंकि उनके अनुसार हर वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक रूपों में ही होता है! चिन्तन की यह दिशा बेतेलहाइम को अन्त में हेगेलीय प्रत्ययवाद और युवा-हेगेलीय मनोगतवाद के एक विचित्र मिश्रण के गड्ढे में जा गिराता है। **मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के अनुसार मानव समाज में सबसे बुनियादी चीज़ होती है भौतिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन।** मनुष्य उत्पादन की प्रक्रिया में प्रकृति से और स्वयं आपस में निश्चित सम्बन्ध कायम करते हैं। वे आपस में एक निश्चित किस्म के सहकार के ज़रिये ही उत्पादन कर सकते हैं। इन सम्बन्धों के दायरे के भीतर ही वे उत्पादन करते हैं और प्रकृति पर अपनी मानवीय कार्रवाई को अंजाम देते हैं। इन सम्बन्धों का चरित्र अन्तिम तौर पर *उत्पादन की प्रभावी भौतिक परिस्थितियों और उत्पादन के साधनों* पर निर्भर करता है। भौतिक उत्पादन के

आरम्भ में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के सम्बन्ध में सापेक्षिक संगति का पहलू प्रधान होता है और अनुकूल उत्पादन सम्बन्धों के सन्दर्भ में उत्पादक शक्तियों का विकास होता है; लेकिन उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों में उत्पादक शक्तियों की भूमिका ज़्यादा गतिमान होती है। इसी कारण से उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की सापेक्षिक संगति का पहलू गौण होता जाता है और उनकी असंगति का पहलू प्रधान बनता जाता है। एक वर्ग समाज में उन्नत होती उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले नये सामाजिक वर्ग पुराने सामाजिक ढाँचे को नयी परिस्थितियों के अनुसार ढालने का प्रयास करते हैं। यह अन्तरविरोध उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच बढ़ते अन्तरविरोधों के साथ असमाधेय होता जाता है और सामाजिक क्रान्ति या रूपान्तरण के युग की शुरुआत होती है। निश्चित तौर पर, इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रान्ति इस प्रक्रिया में स्वत: सम्पन्न हो जाती है। असमाधेय हो चुके अन्तरविरोध तीखे होते सामाजिक वर्ग संघर्ष में प्रतिबिम्बित होते हैं, हालाँकि यह प्रतिबिम्बन बेहद जटिल होता है और आर्थिक क्षेत्र के अतिरिक्त विचारधारा, राजनीति, संस्कृति और मूल्यों के क्षेत्र में भी होता है, जो कि निश्चित तौर पर आपस में सतत् अन्तर्क्रिया करते रहते हैं और वास्तविकता में उनके बीच रेखाएँ खींचकर कोई बँटवारा नहीं किया जा सकता है। बहुविध रूपों में होने वाला यह वर्ग संघर्ष ही समाज की गति को तात्कालिक तौर पर निर्धारित करता है और यही तय करता है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के असमाधेय हो चुके अन्तरविरोध का समाधान एक सामाजिक क्रान्ति के तौर पर होगा या फिर उत्पादक शक्तियों के विनाश और प्रतिक्रिया के एक दौर के रूप में होगा। और यहीं पर क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी हिरावल की भूमिका अहम हो जाती है। आप मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन या माओ से यह उम्मीद नहीं कर सकते हैं कि वे किसी भी विषय विशेष पर चर्चा करते हुए इन सभी नुक्तों पर विस्तारों और व्याख्याओं में जायें। इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समझदारी की बात करते हुए मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन व माओ ने एक भाषा में लिखा है तो क्रान्ति की परिस्थितियों, उसकी पूर्वशर्तों, वर्ग संघर्ष और वर्ग अधिनायकत्व पर विशेष तौर पर चर्चा करते हुए उनका ज़ोर अलग दिखता है। अगर उनके लेखन को सम्पूर्णता में न देखा जाये, तो बेतेलहाइम जैसे हेगेलीय प्रत्ययवादियों को भी अपनी अवस्थिति को सिद्ध करने के लिए उद्धरण मिल जायेंगे, और स्तालिन के अनालोचनात्मक रक्षकों को भी अपने समर्थन में कुछ उद्धरण मिल ही जायेंगे। बेतेलहाइम के मार्क्सवाद पर चली बहसों में आम तौर पर हमें मार्क्सवादी-लेनिनवादी पहुँच और पद्धति पर वैज्ञानिक चर्चा की बजाय इसी किस्म की यान्त्रिक, सार-संग्रहवादी (eclectic) और चयनवादी (selective) उद्धरणबाज़ी मिलती है।

यहाँ पर बेतेलहाइम के कठमुल्लावादी मार्क्सवादी आलोचकों के विषय में एक बात और भी ग़ौर की जानी चाहिए। ऐसे आलोचक उत्पादक शक्तियों पर चर्चा करते समय हमेशा जाने या अनजाने उत्पादन के भौतिक साधनों, तकनोलॉजी व वैज्ञानिक ज्ञान व कुशलता को केन्द्रीय उपादान के तौर पर पेश करते हैं। मानव उपादान का या तो ज़िक्र ही नहीं किया जाता है या फिर उसका सबसे अन्त में नाम लिया जाता है। **उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों पर बिल्कुल पृथक तौर पर विचार करना सम्भव ही नहीं है। ऐसा कोई प्रयास एक अर्थहीन अमूर्तन होगा क्योंकि उत्पादक शक्तियों का केन्द्रीय उपादान स्वयं मनुष्य है और यह मनुष्य ही उत्पादन सम्बन्धों में बँधता है।** अगर इस बुनियादी तथ्य पर से निगाह हट जाये तो कुछ अवैयक्तिक उत्पादक शक्तियों और कुछ अवैयक्तिक उत्पादन सम्बन्धों की

बेतुकी चर्चा में फँसने का ख़तरा रहता है। **ऐसा इसलिए भी है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अध्ययन एक-दूसरे से उनके द्वन्द्व के रूप में ही किया जा सकता है; उनका अध्ययन एक-दूसरे से उनके रिश्ते के तौर पर ही किया जा सकता है; निश्चित तौर पर इन सैद्धान्तिक श्रेणियों को गड्डमड्ड नहीं किया जा सकता है, लेकिन ऐसी किसी भी वैज्ञानिक श्रेणी का अध्ययन अन्य श्रेणियों से उसके रिश्ते के रूप में ही किया जा सकता है क्योंकि ये श्रेणियाँ निरपेक्ष और आदर्श (absolute and ideal) रूप में नहीं बल्कि सापेक्ष और यथार्थ (relative and real) रूप में मौजूद होती हैं।** मार्क्स ने प्रूधों की आलोचना करते हुए इस तथ्य को इस प्रकार रेखांकित किया है:

"आर्थिक श्रेणियाँ केवल सैद्धान्तिक अभिव्यक्तियाँ होती हैं, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के अमूर्तीकरण। एम. प्रूधों एक सच्चे दार्शनिक के समान चीज़ों को सिर के बल खड़ा रखते हुए वास्तविक सम्बन्धों में और कुछ नहीं बल्कि इन सिद्धान्तों, इन श्रेणियों का अवतरण देखते हैं, जो कि–तो दार्शनिक एम. प्रूधों हमें बताते हैं–"मानवता की अवैयक्तिक तर्कणा" के आलिंगन में झपकी ले रही थीं।" (कार्ल मार्क्स, 1977, **दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी,** तीसरा संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, पृ. 102-03, *अनुवाद हमारा*) वास्तविकता स्वयं इन श्रेणियों के रूप में विद्यमान नहीं होती बल्कि ये श्रेणियाँ वास्तविकता के वैज्ञानिक अध्ययन से नि:सृत होती हैं और इन श्रेणियों के आपसी सम्बन्धों और द्वन्द्व में ही यथार्थ को समझा जा सकता है। यही बात उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बारे में और उनके द्वन्द्व के बारे में भी लागू होती है। और यही कारण है कि इनके द्वन्द्व में प्रधान पहलू को लेकर चलने वाली बहसों में इनके द्वन्द्व पर विचार करने की बजाय इन श्रेणियों पर आदर्श व निरपेक्ष रूप में विचार करने के कारण मार्क्सवादी समझदारी के बारे में कोई स्पष्टता पैदा होने की बजाय भ्रम पैदा होता है। बेतेलहाइम और उनके आलोचकों के बीच की बहस पर भी यह बात एक हद तक लागू होती है।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व पर विचार करते हुए यहाँ समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व पर अलग से विचार किया जाना चाहिए। हमने तीसरे अध्याय में एक दूसरे सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार किया था। समाजवादी क्रान्ति कई अर्थों में पूर्ववर्ती सामाजिक क्रान्तियों और रूपान्तरणों से भिन्न है। यह पहली क्रान्ति है जो कि शोषक वर्गों की अल्पसंख्या पर बहुसंख्यक आबादी के अधिनायकत्व को स्थापित करती है। इस रूप में इस क्रान्ति के साथ मानव इतिहास के एक नये युग की शुरुआत होती है। ऐसा इसलिए भी है कि यह क्रान्ति जिस समाज को स्थापित करती है, वह सामाजिक संरचना कोई स्थायी सामाजिक संरचना नहीं होती, जो कि बाद में किसी बलपूर्वक की जाने वाली क्रान्ति के ज़रिये समाप्त हो, बल्कि यह एक संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष के ज़रिये समाज अन्ततः वर्गविहीन समाज, यानी कि कम्युनिस्ट समाज की ओर जाता है। **चूँकि इन अर्थों में समाजवादी क्रान्ति पूर्ववर्ती सामाजिक क्रान्तियों और परिवर्तनों से भिन्न हैं इसीलिए समाजवादी समाज के उत्पादन सम्बन्ध मूलतः और मुख्यतः पूँजीवादी समाज के गर्भ में ही नहीं पैदा हो जाते; क्योंकि यहाँ क्रान्ति के ज़रिये एक शोषक वर्ग को दूसरे शोषक वर्ग का स्थान नहीं लेना होता है।** पूँजीवादी समाज के दायरे के भीतर समाजवाद की कुछ पूर्वशर्तें ही पूरी होती हैं जैसे कि अभूतपूर्व रूप से विशाल पैमाने पर उत्पादन का समाजीकरण और एक विशाल सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा वर्ग का उदय। इन उत्पादक शक्तियों

के विकास के अलावा पूँजीवादी समाज में समाजवाद के तत्व कम ही होते हैं, विशेष तौर पर उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर बेहद नगण्य, जिन्हें भ्रूण रूप में श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया के कुछ पहलुओं के देखा जा सकता है। इसके विपरीत अगर हम सामन्ती समाज और पूँजीवादी क्रान्तियों की बात करें तो हम पाते हैं कि सामन्ती समाज के गर्भ में ही पूँजीवादी उत्पादक शक्तियों ही नहीं बल्कि एक हद तक पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का भी एक ढाँचा रूप ग्रहण करने लगा था। यही कारण है कि बुर्जुआ क्रान्तियों के बाद उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया **ग्यॉर्गी लूकाच** के शब्दों में "अभूतपूर्व सहजता" और "उत्कृष्टता" के साथ आगे बढ़ती है; ऐसा लगता है मानो पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियाँ बस एक आवरण को फाड़कर सामने आ गये हैं। लेकिन समाजवादी क्रान्ति के साथ ऐसा नहीं होता। बुर्जुआ राज्यसत्ता के ध्वंस और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना, निजी सम्पत्ति का कानूनी उन्मूलन और उसके बाद उत्पादन की प्रक्रिया पर क्रमिक गति से स्वयं प्रत्यक्ष उत्पादकों के नियन्त्रण का कायम होना, आदि, सबकुछ बेहद सचेतन तौर पर अंजाम दिया जाता है और यह पूरी प्रक्रिया बेहद उथल-पुथल से भरी होती है। समाजवादी क्रान्ति के बाद उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य पहले की क्रान्तियों की अपेक्षा एक लम्बा, जटिल और दुरूह कार्य होता है। **इस रूप में या कहें कि यही कारण है कि समाजवादी क्रान्ति के बाद और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के बाद उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू लम्बे समय तक प्रधान पहलू की भूमिका निभाता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच का द्वन्द्व स्थैतिक और पूर्वनिर्धारित होता है। इस दीर्घकालिक संक्रमण के दौरान भी यह द्वन्द्व बदलता है, प्रधान पहलू गौण बन जाता है, और गौण पहलू प्रधान।** समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना का कार्य कई मंज़िलों से होकर गुज़रता है जिसमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और फिर निजी सम्पत्ति का उन्मूलन आधारभूत भूमिका निभाते हैं। इस बुनियाद के बिना उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता और आप सीधे विनियोजन की सामाजिक प्रक्रियाओं, श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया के समाजवादी रूपान्तरण की बात भी नहीं कर सकते हैं।

बेतेलहाइम द्वारा चीनी प्रयोग से अनुचित रूप से वैधता ग्रहण करने का प्रयास करते हुए यह दावा किया जाना कि निजी सम्पत्ति के कानूनी रूपों का ख़ात्मा कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में भी ऐसा होना सम्भव है, एक भयंकर विभ्रम पैदा करता है और राज्य के चरित्र के पूरे प्रश्न को नहीं समझता। निश्चित तौर पर, पूँजीवाद निजी पूँजीपति वर्ग के बिना अस्तित्वमान रह सकता है; लेकिन अगर स्तालिन के दौर सोवियत संघ को राजकीय पूँजीवादी क़रार दिया जाता है तो फिर यह मानना होगा कि सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण कभी शुरू ही नहीं हुआ, समाजवाद कभी वहाँ अस्तित्वमान ही नहीं था; यहाँ बेतेलहाइम जो बात नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं वह है (तमाम बुर्जुआ विकृतियों और नौकरशाहाना विरूपताओं के बावजूद, और जिसकी ओर स्तालिन ने भी ध्यानाकर्षित किया था) एक सर्वहारा राज्यसत्ता की मौजूदगी। **राज्य के चरित्र के प्रश्न पर तमाम बड़े-बड़े जुमलों और क्लासिकीय मार्क्सवाद से उद्धरणों का ढेर लगाने के बावजूद बेतेलहाइम इसी वजह से सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना या प्रति-क्रान्ति की किसी 'घटना' (event) की कहीं पहचान नहीं कर पाते।** कम-से-कम उनके रचना-कर्म में ऐसी

किसी पूँजीवादी प्रतिक्रान्ति का ज़िक्र नहीं मिलता; उल्टे अन्त में बेतेलहाइम यहाँ जा पहुँचते हैं कि सोवियत संघ में अन्ततः पूँजीवादी रूपान्तरण कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की परिणति थी, जो कि फरवरी 1917 के बाद से ही मौजूद थीं, और विकसित हो रही थीं! बेतेलहाइम राज्यसत्ता के प्रश्न को समझने में बुरी तरह नाकाम रहने के कारण एक भारी विचारधारात्मक और राजनीतिक क़ीमत चुकाते हैं।

बहरहाल, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व के बारे में हेगेलीय प्रत्ययवाद और युवा हेगेलीय मनोगतवाद तथा कठमुल्लावादी मार्क्सवादी, यान्त्रिक भौतिकवादी और होज़ापन्थी अवस्थितियों के दोनों छोरों के विपरीत एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को अपनाना बहुत महत्वपूर्ण है। इसका एक कारण यह भी है कि आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच के द्वन्द्व का प्रश्न भी इस प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इस प्रश्न पर भी एक साफ़ दृष्टिकोण का होना ज़रूरी है और निश्चित तौर पर बेतेलहाइम को पढ़कर इस विषय में एक सन्तुलित समझदारी का बन पाना मुश्किल ही है।

अधिरचना की भूमिका पर भी बेतेलहाइम का ज़ोर गैर-द्वन्द्वात्मक है। बेतेलहाइम का यह मानना कि वर्ग संघर्ष इतिहास की निर्धारक शक्ति होती है, उत्पादक शक्तियों का विकास नहीं (द्वैतवाद!), वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक रूपों में होता है और विचारधारा अधिरचना का अंग होती है, बेतेलहाइम को अप्रत्यक्ष तौर पर और बाद में प्रत्यक्ष तौर पर इस नतीजे पर पहुँचा देती है कि इतिहास की आम तौर पर निर्धारक शक्ति अधिरचना होती है। इस अवस्थिति की तुलना आप एंगेल्स के उस कथन से कर सकते हैं, जो ऊपर हमने ब्लॉक को लिखे गये उनके पत्र से उद्धृत किया है। आर्थिक आधार और अधिरचना के द्वन्द्व में *अन्तिम विश्लेषण में* आर्थिक आधार का पहलू निर्धारक पहलू निभाता है; लेकिन क्रान्तिकारी सन्धि-बिन्दुओं या ऐतिहासिक उथल-पुथल या रूपान्तरणों के दौर में अधिरचना का पहलू निर्धारक भूमिका निभा सकता है। लेनिन ने बताया था कि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है; यदि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है तो निश्चित तौर पर इतिहास में क्रान्तिकारी घड़ियों में अधिरचना का पहलू प्रधान हो जाता है। न सिर्फ़ राजकीय अधिरचना का पहलू ऐसे दौरों में अहम हो जाता है, बल्कि विचारधारात्मक अधिरचना का पहलू भी इन दौरों में निर्णायक भूमिका निभाता है। अधिरचना के क्षेत्र में वर्ग संघर्ष, बुर्जुआ राज्यसत्ता के ध्वंस और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना के बग़ैर आर्थिक आधार (यानी कि विशिष्टतः उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग, और उत्पादक शक्तियों) का क्रान्तिकारी रूपान्तरण शुरू नहीं किया जा सकता है। निश्चित तौर पर, यह शुरुआत आर्थिक सम्बन्धों के कानूनी रूपों के रूपान्तरण के साथ ही शुरू हो सकता है, जिसे बेतेलहाइम कोई विशेष महत्व नहीं देते हैं। **सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना और निजी सम्पत्ति के कानूनी रूपों का उन्मूलनः इसे हम समाजवादी निर्माण या समाजवादी रूपान्तरण की पहली मंज़िल कह सकते हैं।** हमारा मानना है कि स्तालिन के दौर में समाजवादी सोवियत संघ में, तमाम नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं के बावजूद यह मंज़िल पूरी की गयी थी। इसके बाद समाजवादी रूपान्तरण के काम को जारी रखने के लिए बुर्जुआ अधिकारों का उन्मूलन और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को समाप्त करने का कार्यभार अहम हो जाता है; इस कार्यभार के लिए जहाँ लगातार आर्थिक आधार में उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के विकास के कार्य को अंजाम देना होता है, वहीं अधिरचना में सतत् क्रान्ति के कार्यभार को भी पूरा करना होता है। उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के

द्रुत विकास के कार्य में केन्द्रीय उपादान राजकीय व कार्यकारी निर्णय, तकनोलॉजी, मशीनरी आदि नहीं होते (हालाँकि, वे निश्चित रूप से अहम होते हैं) बल्कि मानव उपादान होता है। इसीलिए विचारधारात्मक अधिरचना के विभिन्न क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष को सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत चलाना बेहद महत्वपूर्ण हो जाता है। इस रूप में समाजवादी निर्माण के एक पूरे दौर में अधिरचना का पहलू अहम भूमिका निभाने लगता है। **लेकिन बेतेलहाइम अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के विलोपन के पूरे कार्यभार को केवल विचारधारात्मक अधिरचना तक ही सीमित कर देते हैं।** मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम, गाँव और शहर, उद्योग और कृषि के बीच की असमानताएँ उत्पादन की एक विशेष मंज़िल में पैदा हुई थीं। उनके पैदा होने के साथ ही अधिरचनात्मक क्षेत्र में उनसे संगति रखने वाले विचार, मूल्य, मान्यताएँ, आदतें, आदि भी रूप ग्रहण करते हैं। हर नयी सामाजिक संरचना के उदय के साथ इन तीन बुनियादी असमानताओं और उसके नतीजे के तौर पर होने वाले श्रम विभाजन ने अपने रूप बदले। सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण के साथ इन असमानताओं के रूप और अन्तर्वस्तु में फर्क आये। इसके साथ ही इनसे संगति रखने वाली अधिरचनात्मक अभिव्यक्तियों में भी फर्क आया। पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण में भी यह प्रक्रिया घटित होगी। लेकिन समाजवादी सामाजिक संरचना इस मायने में पूर्ववर्ती सामाजिक संरचनाओं से भिन्न है कि यह शोषक अल्पसंख्या पर उत्पादक बहुसंख्या के अधिनायकत्व/शासन द्वारा पहचानी जाती है और यह इस बात के प्रति "सचेत" होती है कि यह वर्ग-विहीन समाज की ओर प्रयाण की एक संक्रमण अवधि है। सर्वहारा वर्ग अपने सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को बुर्जुआ वर्गों पर लागू करता है और सचेतन तौर पर बुर्जुआ मूल्यों, मान्यताओं, विचारों, आदतों, बुर्जुआ श्रम विभाजन, बुर्जुआ अधिकारों आदि के विरुद्ध संघर्ष चलाता है। इस पूरी प्रक्रिया को जहाँ आर्थिक आधार में जारी रखना होता है, वहीं अधिरचना के क्षेत्र में भी सचेतन और सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त को लागू करना होता है। **यदि कोई यह दावा करता है कि पूरे समाजवादी संक्रमण के दौर में अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और विशेष तौर पर विचारधारात्मक अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू ही प्रधान रहता है, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं; या, यदि कोई यह दावा करता है कि पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू ही प्रधान पहलू बना रहेगा, जैसा कि यान्त्रिक और अधिभूतवादी मार्क्सवादी दावा करते हैं, तो यह पूरे के पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान आर्थिक आधार और अधिरचना के एक ऐसे द्वन्द्व की कल्पना करते हैं जो कि स्थैतिक होगा।** समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि कोई एकाश्मी या सजातीय (monolithic and homogeneous) अवधि नहीं होगी, बल्कि यह कई चरणों से होकर गुज़रेगी; कहने की ज़रूरत नहीं है कि एक चरण से दूसरे चरण का फर्क उनमें मौजूद अन्तरविरोधों की विशिष्टता पर निर्भर करेगा। जैसा कि माओ ने बताया था कि अन्तरविरोध के प्रधान और गौण पहलू परस्पर बहिष्कारवादी (mutually exclusivist) नहीं होते, बल्कि एक दूसरे में परिवर्तित होने योग्य (transmutable) होते हैं। समाजवादी संक्रमण के दौर में भी अन्तरविरोध को उसकी गति में ही देखा जा सकता है। **ऐसा कोई फार्मुला पेश कर देना कि समाजवादी संक्रमण के दौरान हमेशा अधिरचना का पहलू ही प्रधान रहेगा, या कि पूरे इतिहास में आर्थिक आधार का पहलू ही हमेशा निर्णायक और निर्धारक भूमिका निभाता है, इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समझदारी नहीं बल्कि एक कठमुल्लावादी और**

यान्त्रिक समझदारी है। और इस रूप में अपने तमाम *वॉलण्टरिज़्म* और मनोगतवाद के बावजूद चार्ल्स बेतेलहाइम की इतिहास की समझदारी एक सिर के बल खड़ा कठमुल्लावाद (inverted dogmatism) है। **अगर तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं का समाप्त करने का मुद्दा आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के विकास का मुद्दा नहीं है और यह केवल विचारधारात्मक अधिरचना का मुद्दा है तो यह कार्य किसी भी युग में हो सकता था, बशर्ते कि कम्युनिस्ट पार्टी और उसकी सत्ता अस्तित्व में होती!** इतिहास की मार्क्सवादी समझदारी विशेष तौर पर किसी भी परिघटना को उसके दिक् और काल में अवस्थित करती है। यह बताती है कि कम्युनिज़्म के सिद्धान्त एक विशेष युग की पैदावार हैं; सर्वहारा वर्ग एक निश्चित ऐतिहासिक और सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ में पैदा हुआ; यह बताता है कि वर्ग इतिहास के एक निश्चित सन्धि-बिन्दु पर पैदा हुए और एक निश्चित समय पर इनका विलोपन हो जायेगा; यह बताता है कि श्रम विभाजन भी उत्पादन की एक विशेष मंज़िल (जिसका अर्थ केवल उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर नहीं है, जैसा कि यान्त्रिक भौतिकवादी और होज़ापन्थी टिप्पणीकार दावा करते हैं) में पैदा हुआ है और एक अन्य विशेष मंज़िल में ही इनका विलोपन हो सकता है। यह केवल मनुष्य की मनोगत इच्छाओं के ज़रिये नहीं ख़त्म की जा सकती है। निश्चित तौर पर, मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है, लेकिन वह इसे अपनी मनमर्ज़ी से नहीं बनाता है। जो इस बात कोई नहीं समझता है वह ऐतिहासिक भौतिकवाद के एक बुनियादी सिद्धान्त यानी कि आवश्यकता और स्वतन्त्रता (freedom and necessity) के सिद्धान्त से नावाक़िफ़ है और उसी ग़लती को अंजाम दे रहा है जिस ग़लती को युवा हेगेलपंथियों ने अंजाम दिया था।

चूँकि ये असमानताएँ उत्पादन की एक विशेष मंज़िल में पैदा हुई थीं और उनकी एक ऐतिहासिकता है, इसलिए इन असमानताओं और बुर्जुआ अधिकारों को केवल विचारधारात्मक प्रचार और शिक्षण से समाप्त नहीं किया जा सकता है। लेकिन साथ ही जो प्रेक्षक या अध्येता यह दावा करते हैं कि विचारधारात्मक अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य समाजवादी संक्रमण की ऐतिहासिक अवधि के किसी बिन्दु पर प्रधान अन्तरविरोध नहीं बनता है, वे भी उतनी ही भयंकर भूल कर रहे हैं। इसलिए आर्थिक आधार और अधिरचना के द्वन्द्व के प्रश्न पर भी बेतेलहाइम एक युवा हेगेलीय मतिभ्रम के शिकार हैं, जबकि उनके यान्त्रिक भौतिकवादी और अर्थवादी आलोचक आर्थिक आधार के प्रति भावनात्मक मोह में फँसे हुए हैं। **इन ग़लत अवस्थितियों के युग्म के पीछे वास्तव में एक ही अधिभूतवादी और यान्त्रिक पद्धति छिपी हुई है जो कि मार्क्सवादी पद्धति से कोसों दूर है।** हमारा मानना है कि समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की एक अपेक्षाकृत सन्तुलित समझदारी विकसित करने के लिए समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी समाज में मौजूद अन्तरविरोधों की एक सही समझदारी होना ज़रूरी है और ऐसी कोई भी समझदारी समाजवादी समाज में तात्कालिक निर्धारक कारक के तौर पर वर्ग संघर्ष और अन्तिम तौर पर निर्धारक तत्व के तौर पर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के द्वन्द्व को स्थैतिक द्वन्द्व के तौर पर नहीं बल्कि एक गतिमान द्वन्द्व के रूप में ही देख सकती है।

आधार और अधिरचना के बीच सम्बन्धों के विषय में बेतेलहाइम तथ्यों और अवधारणाओं, दोनों के ही स्तरों पर कई नुक़सानदेह विकृतिकरण पैदा करते हैं। इसमें एक अहम विकृतिकरण वह अपने ग़ैर-मार्क्सवादी सूत्रीकरणों को माओ पर थोपकर करते हैं। मिसाल के तौर पर, उन्होंने अपनी इस पुस्तक में भी और अन्य कई रचनाओं में भी यह दावा

किया है कि माओ ने आर्थिक आधार और अधिरचना के सम्बन्धों के विषय में पुराने कठमुल्लावादी मार्क्सवादी सूत्रीकरण का खण्डन किया और यह दिखलाया कि अधिरचना के बिना आर्थिक आधार का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता और अन्तिम विश्लेषण में अधिरचना आर्थिक आधार को निर्धारित करती है। इसमें किसी भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि आर्थिक आधार एकतरफ़ा तरीके से अधिरचना को निर्धारित नहीं करता है और वह केवल अन्तिम विश्लेषण में ही अधिरचना को निर्धारित करता है। स्वयं मार्क्स और एंगेल्स ने तमाम जगहों पर इस तथ्य को रेखांकित किया है। ख़ास तौर पर, एंगेल्स द्वारा 1880 के दशक से उनके जीवन के अन्त तक कई लोगों को लिखे गये पत्रों में एंगेल्स ने इस बात की ओर विशेष तौर पर ध्यानाकर्षण किया था कि इतिहास के कई मौकों पर और ख़ास तौर पर क्रान्तिकारी सन्धि-बिन्दुओं पर अधिरचना निर्धारक कारक की भूमिका निभाती है। लेकिन बेतेलहाइम द्वारा यह दावा किया जाना कि यह तथ्य माओ की खोज थी, इस विषय पर माओ-पूर्व मार्क्सवादी चिन्तन को कूड़े की टोकरी के हवाले करना है। माओ ने स्वयं कभी इस खोज का दावा नहीं किया था कि इतिहास में अधिरचना भी कई मौकों पर निर्धारक की भूमिका निभाती है। माओ का विशिष्ट योगदान इस प्रश्न पर क्या था, उस पर हम थोड़ा आगे आएँगे। लेकिन पहले हम इस तथ्य की ओर विशेष तौर पर ध्यान दिलाना चाहेंगे कि लेनिन ने भी अधिरचना और आधार के गतिमान द्वन्द्व को कई रचनाओं में रेखांकित किया था। मिसाल के तौर पर, लेनिन ने मृत्यु से पहले के अपने लेखन में सोवियत संघ में समाजवाद की समस्याओं में से एक प्रमुख समस्या यह बतायी थी कि सोवियत मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की सांस्कृतिक चेतना का स्तर बेहद निम्न है और इसके स्तरोन्नयन के बिना केवल उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास से समाजवाद का निर्माण नहीं किया जा सकता है। लेनिन ने निश्चित तौर पर 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सुसंगत विज्ञान नहीं पेश किया था, लेकिन समाजवाद और संस्कृति के प्रश्न पर चिन्तन लेनिन जीवन के अन्तिम दौर में शुरू कर चुके थे। 'सहकार के बारे में' में लेनिन लिखते हैं:

"हमारे विरोधियों ने हमें बार-बार बताया कि हमने एक अपर्याप्त रूप से संस्कृति-सम्पन्न देश में समाजवाद को बो देने का उपक्रम हाथ में लेने की जल्दबाज़ी की। लेकिन हमारे उस छोर के विपरीत छोर से शुरुआत करने से वे भ्रमित हो गये थे जिस छोर की अनुशंसा सिद्धान्त (हर प्रकार के विद्याडम्बरियों के सिद्धान्त) करते हैं, क्योंकि हमारे देश में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले सम्पन्न हुई, वही सांस्कृतिक क्रान्ति जो अब हमारा कार्यभार बन गयी है।" (वी.आई. लेनिन, 1966, **ऑन कोऑपरेशन**, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-33, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 474-75, *अनुवाद हमारा*)

बताने की आवश्यकता नहीं है कि माओ के सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त एक अलग सिद्धान्त है। लेकिन यहाँ लेनिन जिस चीज़ की बात कर रहे हैं, वह विचारधारात्मक अधिरचना के क्षेत्र में समाजवादी रूपान्तरण का ही एक पहलू है। लेनिन के एक और उद्धरण पर ग़ौर करें:

"अगर समाजवाद के निर्माण के लिए संस्कृति के एक निश्चित स्तर की आवश्यकता है (हालाँकि कोई बता नहीं सकता कि वह "संस्कृति का वह निश्चित स्तर" क्या है, क्योंकि यह हर पश्चिमी यूरोपीय देश में भिन्न है) तो हम पहले क्रान्तिकारी तरीके से संस्कृति के उस निश्चित स्तर की पूर्वशर्तों को पूरा करने के साथ

शुरुआत क्यों नहीं कर सकते, और फिर, मज़दूरों व किसानों की सरकार और सोवियत तन्त्र की सहायता से अन्य राष्ट्रों से आगे क्यों नहीं निकल सकते?" (वी. आई. लेनिन, 1966, **हमारी क्रान्ति**, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-33, चौथा संस्करण, पृ. 478-79, *अनुवाद हमारा*)

निश्चित तौर पर, अधिरचना और आर्थिक आधार के द्वन्द्व की एक गतिमान समझदारी माओ के पूर्व भी हम मार्क्सवादी चिन्तन में स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं। वहीं दूसरी ओर माओ पर जिस विचार को बेतेलहाइम थोपने का प्रयास कर रहे हैं, उसके बरक्स अगर हम माओ के ही लेखन को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि माओ का उस विचार से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध में माओ ने चीनी पार्टी के भीतर कठमुल्लावाद का विरोध करते हुए कुछ लेख लिखे जो अब दर्शन पर लिखे गये माओ के प्रमुख लेखों के रूप में जाने जाते हैं। इनमें से एक लेख **'अन्तरविरोध के बारे में'** विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है। **इस लेख में माओ बताते हैं कि एक भौतिकवादी वही होता है जो कि यह माने कि इतिहास में अन्तिम तौर पर आर्थिक आधार निर्णायक की भूमिका निभाता है। लेकिन एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी वही होता है जो कि यह समझता है कि निर्धारित होने के बाद अधिरचना स्वयं एक निर्धारक की भूमिका अदा करती है।** जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच का द्वन्द्व कोई स्थैतिक द्वन्द्व नहीं होता। आइये देखें कि माओ इस बात को किस तरह से स्पष्ट करते हैं:

"यह सही है कि उत्पादक शक्तियाँ, व्यवहार और आर्थिक आधार आम तौर पर प्रधान और निर्णायक भूमिका अदा करते हैं; जो भी इससे इंकार करता है वह भौतिकवादी नहीं है। लेकिन यह भी माना जाना चाहिए कि कुछ विशेष स्थितियों में, उत्पादन सम्बन्धों, सिद्धान्त और अधिरचना जैसे पहलू भी पलटकर अपने आपको प्रधान और निर्णायक भूमिका में पेश करते हैं। जब उत्पादक शक्तियों के लिए उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन के बिना विकसित होना असम्भव हो जाता है, तो उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन प्रधान और निर्णायक भूमिका अदा करता है।...क्या ऐसा कहकर हम भौतिकवाद के ख़िलाफ़ जा रहे हैं? नहीं। इसका कारण यह है कि जब हम यह स्वीकारते हैं कि इतिहास के सामान्य विकास में भौतिक तत्व मानसिक तत्व को और सामाजिक अस्तित्व सामाजिक चेतना को निर्धारित करता है, तो हमें-निश्चित तौर पर अवश्य ही-भौतिक चीज़ों पर मानसिक चीज़ों, सामाजिक चेतना का सामाजिक अस्तित्व और अधिरचना के आर्थिक आधार पर प्रतिक्रिया को भी स्वीकारना चाहिए। यह भौतिकवाद के विरुद्ध नहीं जाता; उल्टे, यह यान्त्रिक भौतिकवाद की ग़लती से बचाता है और मज़बूती से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को कायम रखता है।" (माओ त्से तुंग, 1967, **अन्तरविरोध के बारे में**, *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ माओ त्से तुंग*, खण्ड-1, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, पृ. 336, *अनुवाद हमारा*)

इस उद्धरण से ही स्पष्ट है कि बेतेलहाइम माओ पर हेगेलीय व युवा हेगेलीय विचारों के जिस मिश्रण को थोपने का प्रयास कर रहे हैं, माओ ने उसकी निरन्तरतापूर्ण आलोचना पेश की है और एक द्वन्द्वात्मक समझदारी को पेश किया है। बेतेलहाइम इसी तरीके से माओ के विचारों को बार-बार विकृत करके पेश करते हैं, ताकि अपनी उस समझदारी को "माओवाद" का जामा पहना सकें जो दार्शनिक तौर पर हेगेलीय प्रत्ययवाद, युवा हेगेलवाद और अधिभूतवाद और राजनीतिक तौर पर संशोधनवाद, अराजकतावाद,

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, बुखारिनपन्थ, त्रात्स्कीपन्थ और स्वीज़ीपन्थी मार्क्सवाद की एक विचित्र घालमेल खिचड़ी है।

जहाँ तक माओ के विशिष्ट अवदान का प्रश्न है तो समाजवादी संक्रमण के दौरान आर्थिक आधार और अधिरचना के गतिमान द्वन्द्व के बारे में माओ ने जो समझदारी पेश की वह माओ का विशिष्ट अवदान था और 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सिद्धान्त इस रूप में समाजवादी समाज के गति के नियमों के विषय में मार्क्सवादी समझदारी को गुणात्मक रूप से विकसित करता है। माओ ने बताया कि समाजवादी सामाजिक संरचना के तहत आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच एक अन्तरविरोध का सम्बन्ध बरक़रार रहता है और उनके बीच "पूर्ण संगति" नहीं आती है। समाजवादी अधिरचना के अंग के तौर पर समाजवादी राज्यसत्ता, समाजवादी कानून और समाजवादी विचारधारा आर्थिक आधार में मौजूद समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के साथ सापेक्षिक संगति में होते हैं और उसकी सेवा करते हैं। लेकिन इसके साथ ही अधिरचना में बुर्जुआ विचारधारा, मूल्य-मान्यताओं, आदतों की मौजूदगी बरक़रार रहती है। साथ ही, बुर्जुआ श्रम विभाजन और उसके कारण बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी के कारण बुर्जुआ विचारधारा का एक भौतिक आधार भी समाज में मौजूद रहता है। माओ ने बताया कि जहाँ आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य जारी रखना ज़रूरी है, वहीं यह भी ज़रूरी है कि अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति को जारी रखते हुए बुर्जुआ विचारधारा के प्राधिकार को निर्णायक रूप से तोड़ा जा सके; साथ ही, माओ ने यह भी बताया कि समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी निर्माण में ऐसे दौरों को आना लाज़िमी है जब अधिरचना के धरातल पर सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने का पहलू प्रधान होगा। वास्तव में, आर्थिक आधार में भी समाजवादी रूपान्तरण को जारी रखने के लिए कई बार सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति एक पूर्वशर्त बन जायेगी। तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं की समाप्ति का काम *केवल* उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण से ही नहीं हो सकता है; इस युगों पुराने श्रम विभाजन की अधिरचनात्मक अभिव्यक्तियों के विरुद्ध सतत् संघर्ष भी इस बात को सुनिश्चित करेगा कि इन श्रम विभाजनों का विलोपन हो सके। अधिरचना के धरातल पर मौजूद पुराने तत्व नये आर्थिक आधार की स्थापना की शुरुआत के साथ खुद-ब-खुद नहीं बदलने लग जायेंगे। उनके लिए भी सर्वहारा पार्टी और राज्य को सचेतन प्रयास करने होंगे। यही प्रयास राज्य और पार्टी के भीतर एक राजकीय बुर्जुआ वर्ग को सुदृढ़ीकृत होने से भी रोकेंगे (जिनके चरित्र का फैसला केवल उनकी विचारधारा और सर्वहारा या ग़ैर-सर्वहारा प्रथाओं से ही नहीं होगा, जैसा कि बेतेलहाइम बताने का प्रयास करते हैं, बल्कि वितरण सम्बन्धों और विनियोजन के सम्बन्धों के ज़रिये होगा, जिनका बेतेलहाइम ज़िक्र तो करते हैं लेकिन उन्हें विचारधारा पर अपचयित कर देते हैं)। माओ ने बताया कि समाजवादी आर्थिक आधार को बरक़रार रखने और आर्थिक आधार में समाजवादी रूपान्तरण को जारी रखने के लिए अधिरचना के धरातल पर सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के प्राधिकार को निर्णायक तौर पर स्थापित करना अनिवार्य है और इसलिए समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि में निश्चय ही ऐसे दौर आयेंगे जब अधिरचना के समाजवादी रूपान्तरण का पहलू प्रधान होगा, ठीक वैसे ही जैसे कि ऐसे दौर भी होंगे, जब आर्थिक आधार के समाजवादी रूपान्तरण का पहलू प्रधान होगा। माओ के महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त कहीं आसमान से नहीं टपका, बल्कि कई मायनों में वह समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के बारे में लेनिन के चिन्तन की निरन्तरता में

ही था; **निश्चित तौर पर, समाजवादी समाज में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की रणनीति और आम रणकौशल को एक सुसंगत सिद्धान्त के तौर पर सूत्रबद्ध करने का श्रेय माओ को ही जायेगा और इस रूप में माओ के अवदानों को 'माओवाद' का नाम दिया जाना चाहिए।**

●

हम देख सकते हैं कि "अर्थवाद" के अपने विशिष्ट तौर पर निर्मित संस्करण को बेतेलहाइम किस तरीके से बोल्शेविक पार्टी और विशेष तौर पर स्तालिन पर थोपते हैं; किस तरह से इस तथाकथित आलोचना की चपेट में वह चलते-चलाते मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन को भी ले लेते हैं; और किस प्रकार वह यह दावा करते हैं कि इन प्रश्नों पर उनके ज्ञान चक्षु तब खुले जब माओ ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त देते हुए, मार्क्सवादी-लेनिनवादी चिन्तन में मौजूद "अर्थवाद" का पुख़्ता जवाब दिया और चीनी समाजवादी प्रयोगों के ज़रिये यह दिखला दिया कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर के बावजूद समाजवाद का निर्माण हो सकता है! हम देख चुके हैं कि ये सारे दावे वास्तव में सच्चाई से काफ़ी दूर हैं। पूरी समस्या की इस रूप में प्रस्तुति वास्तव में अर्थवाद के विचलन की पहचान ही ग़लत तरीके से करती है, उसकी ग़लत परिभाषा और व्याख्या पेश करती है, उस ग़लत परिभाषा और व्याख्या को ग़लत तरीके से बोल्शेविक पार्टी और स्तालिन पर थोपती है (जिनमें निहित अर्थवादी रुझानों की निश्चित तौर पर आलोचना की जा सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि चीनी समाजवादी निर्माण और चीनी पार्टी की तमाम प्रस्थापनाओं की इन प्रश्नों पर एक सर्वथा अलग आलोचना पेश की जा सकती है) और अन्त में चीनी समाजवादी प्रयोगों का एक काल्पनिक ब्यौरा पेश करते हुए पूरे सोवियत समाजवादी प्रयोगों को ग़लत तरीके से निशाने पर रखती है। **इस रूप में बेतेलहाइम की समस्या-प्रस्तुति (problematic) और साथ ही *थीमैटिक* (thematic का अर्थ मोटे तौर पर यहाँ विश्लेषण के लिए इस्तेमाल की गयी पद्धति या नियमों से है) वास्तव में समस्या के मूल तक जाना और उसकी आलोचना पेश करना तो दूर समस्या की पहचान करने और परिभाषा पेश करने के कार्यभार को ही नहीं पूरा कर पाती।** बेतेलहाइम द्वारा समस्याओं की यह प्रस्तुति और उनके विश्लेषण के लिए इस्तेमाल की गयी विचित्र पद्धति उन्हें विचित्र परिणामों तक पहुँचा देती है। मसलन, बेतेलहाइम का यह दृष्टिकोण कि वर्ग संघर्ष हर-हमेशा विचारधारात्मक रूप में ही होते हैं। यानी कि वर्ग संघर्ष को पूरी तरह से विचारधाराओं के संघर्ष में अपचयित कर दिया गया है। **यह कहना कि वर्ग संघर्ष सामान्य तौर पर विचारधारात्मक रूपों में अनिवार्य रूप से अभिव्यक्ति पाता है, एक बात है, लेकिन यह कहना कि वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक रूप में *ही* होते हैं, एक बिल्कुल अलग बात है।** अगर कोई कहता है कि वर्ग संघर्ष केवल विचारधारात्मक रूप में होते हैं, तो वह वर्ग संघर्ष को उसकी भौतिक पृष्ठभूमि से काट रहा है। बेतेलहाइम वर्ग संघर्ष को उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध से न जोड़कर उसे पूर्ण रूप से विचारधारात्मक मसला बना देते हैं। यह विचारधारात्मक अधिरचना के लिए सापेक्षिक स्वायत्तता का दावा करना नहीं है, बल्कि उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा करना है। ऐसा कोई भी दावा अन्ततः हेगेलीय मनोगतवाद की ओर ही ले जा सकता है। बेतेलहाइम अन्त में यहीं पहुँच गये हैं। यह सच है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध इतिहास में हर क्षण हर विचारधारात्मक संघर्ष को तात्कालिक तौर पर *निर्धारित* नहीं करते हैं; लेकिन यह भी सच है कि किसी भी

विचारधारात्मक संघर्ष की ऐतिहासिकता (historicity) अन्ततः इसी कारक से निर्धारित होती है।

हर वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक संघर्ष के रूप में ही होता है, यह दावा करते हुए बेतेलहाइम 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' को भी एक महज़ सांस्कृतिक व विचारधारात्मक क्रान्ति में अपचयित कर देते हैं, जबकि 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' मूलतः और व्यवहारतः एक शुद्धतः राजनीतिक और भौतिक क्रान्ति थी! निश्चित तौर पर हर विचारधारात्मक संघर्ष वर्ग संघर्ष ही होता है और यही हो सकता है, लेकिन बेतेलहाइम इस बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्त को सिर के बल खड़ा कर देते हैं और फिर उसे किसी भी प्रकार की ऐतिहासिकता और भौतिक पृष्ठभूमि से वंचित कर देते हैं। विचारधारात्मक संघर्ष केवल विचारों, मूल्यों-मान्यताओं, आदतों आदि के धरातल पर चलने वाला संघर्ष बन जाता है; तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ भी महज़ विचारों, आदतों, प्रथाओं (practices) आदि का मसला बन जाता है। चूँकि ये सभी विचारों के धरातल पर होते हैं इसलिए इन्हें बदलने के काम को भी बेतेलहाइम के अनुसार विचारों के धरातल पर ही किया जाना होता है। इसलिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का कार्यभार बेतेलहाइम के लिए निश्चित तौर पर उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण है, लेकिन इस पूरे कार्यभार को पूरा करने के लिए अधिरचना और विशेष तौर पर विचारधारात्मक अधिरचना के स्तर पर ही क्रान्ति को जारी रखना होता है। यानी कि आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के कार्यभार को बेतेलहाइम एक हद तक अनदेखा कर देते हैं। यही वह हेगेलीय प्रत्ययवाद है जिसके कारण बेतेलहाइम पार्टी और विचारधारा की भूमिका को इस हद तक बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं, कि भौतिक कारकों से उनका रिश्ता ही टूट जाता है। **मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम का यह मानना कि अक्टूबर क्रान्ति का वर्ग चरित्र इस बात से तय होता था कि इस क्रान्ति का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी ने किया था; या उनका यह मानना कि सर्वहारा पार्टी और विचारधारा के बिना सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग से नहीं लड़ सकता (सर्वहारा वर्ग कम्युनिस्ट पार्टी या विचारधारा के बिना भी बुर्जुआ वर्ग से लड़ता है; लेनिनवादी अवस्थिति सिर्फ़ यह है कि हिरावल पार्टी के बिना सर्वहारा वर्ग स्वतःस्फूर्त ढंग से समाजवादी वर्ग चेतना नहीं हासिल कर सकता है।) उसी प्रकार बोल्शेविकों के नेतृत्व में होने से फरवरी क्रान्ति सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति नहीं बन सकती थी, जैसा कि बेतेलहाइम का विचार है; यहाँ भी बेतेलहाइम आर्थिक आधार की भूमिका को पूरी तरह से नज़रन्दाज़ कर देते हैं।** क्रान्ति का चरित्र केवल इस बात से नहीं तय होता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेतृत्व में कौन है, बल्कि इस बात से तय होता है कि राज्यसत्ता और सामाजिक संरचना का चरित्र क्या है। यहाँ बेतेलहाइम पर त्रात्स्कीपन्थी तर्क के प्रभाव को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

राजकीय पूँजीपति वर्ग (state bourgeoisie) के बारे में भी बेतेलहाइम की थीसिस एकदम हेगेलीय प्रत्ययवादी है। राजकीय बुर्जुआ वर्ग किस प्रकार पैदा होता है? ऐसे एक नये वर्ग का सामाजिक-आर्थिक आधार क्या है या इसकी भौतिक पृष्ठभूमि क्या है, इस विषय में भी बेतेलहाइम ने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं दी है। बेतेलहाइम राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पहचान के लिए जो एकमात्र पैमाना देते हैं, वह यह है कि समाजवादी राज्यसत्ता और कम्युनिस्ट पार्टी के पूरे ढाँचे में कौन-से व्यक्ति बुर्जुआ मूल्यों-मान्यताओं, प्रथाओं या व्यवहार पर अमल कर रहे हैं, और कौन-से व्यक्ति सर्वहारा विचारों, मूल्यों-मान्यताओं पर। बेतेलहाइम स्वयं मानते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता की मशीनरी में मौजूद सभी पार्टी कार्यकर्ता या कमिसार

राजकीय बुर्जुआज़ी का निर्माण नहीं करते थे। कुछ ऐसे भी थे राजकीय बुर्जुआ वर्ग से अलग थे। **तो फिर सवाल यह उठता है कि वह निर्धारक पैमाना क्या है जिसके आधार पर राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पहचान की जाय?** बेतेलहाइम का जवाब है विचारधारा। लेकिन कौन किस विचारधारा पर अमल कर रहा है या कौन-सी मूल्य-मान्यताएँ बुर्जुआ हैं और कौन-सी सर्वहारा, यह निर्धारण कैसे होगा और कौन करेगा? अगर यह तय पार्टी या राज्यसत्ता को ही करना है (जिसमें बुर्जुआ विचारधारा हावी हो रही है या बुर्जुआ मुख्यालय बन रहा है), तो फिर तो बात घूम-फिरकर वहीं आ जाती है और यह पूरा सवाल ही एक 'ट्रिक' प्रश्न बन जाता है। **राजकीय बुर्जुआ वर्ग के किसी भी सिद्धान्त को भौतिक पृष्ठभूमि और समाज में जारी वर्ग संघर्ष से भी जोड़ना होगा।** अन्यथा, इसकी पहचान का प्रश्न एक पूर्णतः मनोगत प्रश्न बन जायेगा। समाज में राजकीय बुर्जुआ वर्ग का भौतिक आधार उत्पादन में श्रम विभाजन, अन्तरवैयक्तिक असमानताओं और बुर्जुआ अधिकारों के रूप में मौजूद होता है। लेनिन ने बार-बार नौकरशाही के पैदा होने की भौतिक पृष्ठभूमि और उसके राजनीतिक अर्थशास्त्र को चिन्हित किया था। यह उनके लिए महज़ पुरानी विचारधारा, आदतों, मूल्य-मान्यताओं के उत्तरजीवन का प्रश्न नहीं था। निश्चित तौर पर, पुरानी बुर्जुआ विचारधारा का मौजूद रहना और इसके प्राधिकार का निर्णायक तौर पर खण्डित न होना एक अहम कारण है। लेकिन इसे भौतिक पृष्ठभूमि से काट देने से विचारधारा का प्रश्न ही एक अर्थहीन अमूर्तन बन जाता है। बेतेलहाइम पार्टी और राज्य के भीतर राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पहचान और उससे संघर्ष के प्रश्न पर आर्थिक आधार में मौजूद अन्तरविरोध और समाज में मौजूद वर्ग संघर्ष के साथ विचारधारा के प्रश्न को जोड़ नहीं पाते हैं और राजकीय बुर्जुआ वर्ग के पैदा होने और सुदृढ़ीकृत होने के प्रश्न को सही ढंग से नहीं समझ पाते हैं।

चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे रचना कर्म में हम **एक महान नेता के प्रति अन्धभक्ति** के दृष्टिकोण को साफ़ तौर पर देख सकते हैं। 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड में ही हम इस प्रवृत्ति के तमाम उदाहरण देख सकते हैं। सबसे पहले तो हम लेनिन के लिए उन विशेषणों का इस्तेमाल देख सकते हैं, जो कि इस रचना के लेखन के समय माओ के लिए किये जा रहे थे। लेकिन यह सबसे प्रातिनिधिक उदाहरण नहीं है। चार्ल्स बेतेलहाइम मानते हैं कि बोल्शेविक पार्टी में "अर्थवाद" के भटकाव के विरुद्ध तीन कारक सक्रिय थेः पहला था पार्टी और राज्य के भीतर मौजूद कम्युनिस्ट अल्पसंख्या, दूसरा था मज़दूर वर्ग का वर्ग संघर्ष (जो कि अपने आप में इतना शक्तिशाली नहीं था कि "अर्थवादी" रुझान का मुकाबला कर पाये) और तीसरा कारक था लेनिन के रूप में एक महान नेता की मौजूदगी।

यह सच है कि लेनिन ने अपने जीवित रहते तमाम ग़ैर-सर्वहारा और विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध पार्टी के भीतर संघर्ष चलाया। **लेकिन बेतेलहाइम बोल्शेविक पार्टी और लेनिन को ज़्यादातर मौकों पर एक-दूसरे के सामने और एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं और पार्टी के पूरे इतिहास को ऐसे पेश करते हैं, मानो पार्टी लगातार पतित हो जाने, अर्थवादी हो जाने और "वाम" या दक्षिण अवसरवाद के गड्ढे में गिरने को तैयार खड़ी रहती थी, और बस लेनिन उसे अकेले अपने दम पर रोके रहते थे!** लेनिन के पार्टी के भीतर विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध शानदार संघर्ष को बोल्शेविक पार्टी के पूरे इतिहास के विकृतिकरण की क़ीमत वसूल कर पेश किया गया है। सोवियत इतिहास से परिचित कोई भी अध्येता जानता है कि बोल्शेविक पार्टी का इतिहास दो लाइनों के शानदार संघर्षों से भरा हुआ है। जब तक लेनिन जीवित थे तो अक्सर वह इन बहसों के केन्द्र में हुआ करते थे और उनका

योगदान केन्द्रीय महत्व का हुआ करता था। लेकिन ऐसा नहीं है कि अन्य विलक्षण और प्रतिभावान बोल्शेविक नेताओं की भूमिका पार्टी की कार्यदिशा के विकास में कमतर थी, चाहे इन नेताओं ने भविष्य में ग़लत राजनीति और विचारधारा का ही पक्ष क्यों न चुन लिया हो। मिसाल के तौर पर, स्तालिन, बुखारिन, त्रात्स्की, रादेक, टॉम्स्की, रियाज़ानोव, प्रियोब्रेज़ेंस्की, ज़िनोवियेव आदि ने बोल्शेविक पार्टी के विचारधारात्मक और राजनीतिक विकास में अभूतपूर्व योगदान किया था। स्वयं लेनिन ने इन बोल्शेविकों के योगदान को मानते थे और सराहते थे और कई बार उन्होंने इनमें से कई बोल्शेविकों के योगदान से सीखा और उसे परिष्कृत भी किया। **लेकिन अगर कोई बेतेलहाइम का ब्यौरा पढ़ता है, तो उसे ऐसा लग सकता है कि पूरी की पूरी बोल्शेविक पार्टी औसत बौद्धिक क्षमता के लोगों से भरी हुई थी और यह तो लेनिन का व्यक्तित्व और बौद्धिक क्षमता थी कि उनके जीवित रहते हुए पार्टी सही रास्ते पर बनी रही। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद ही पार्टी अर्थवाद, नौकरशाही, फरमानशाही आदि का शिकार हो गयी और 1930 के दशक की शुरुआत होते-होते पार्टी में वे प्रवृत्तियाँ हावी हो चुकी थीं, जो अन्त में संशोधनवाद के रूप में परिणत हुईं। यह पूरे सोवियत इतिहास का भयंकर विकृतिकरण है।**

इस इतिहास में स्तालिन का शानदार नेतृत्व, सामूहिकीकरण आन्दोलन, समाजवादी नियोजन, समाजवादी उद्योगीकरण की अभूतपूर्व उपलब्धियों की भूमिका या तो ग़ायब है, या फिर उसे उपयुक्त रूप से रेखांकित ही नहीं किया गया है। कोई भी व्यक्ति यदि लेनिन की अवस्थिति को तत्काल और पूर्ण समर्थन नहीं देता, तो वह बेतेलहाइम की निगाह में पूँजीवादी पथगामी हो जाता है या फिर भविष्य में उसके पूँजीवादी पथगामी हो जाने के बीज इसी बात में तलाशे जाते हैं कि फलाँ वर्ष में उसने लेनिन का विरोध किया था, या तत्काल लेनिन को समर्थन नहीं दिया था। यह शैली भी कहीं न कहीं बेतेलहाइम ने चीनी पार्टी के पार्टी इतिहास-लेखन से उधार ली है। यह पूरी पद्धति अन्त में एक ख़राब इतिहास-लेखन में परिणत होती है। **बेतेलहाइम की पुस्तक को वास्तव में इतिहास-लेखन क़रार दिया भी नहीं जा सकता है। यह एक प्रचार की रचना (work of propaganda) ज़्यादा है।** इसके नतीजे पहले से तय थे (हालाँकि बेतेलहाइम तीसरे खण्ड पर जाते-जाते उन तय नतीजों से भी ज़्यादा बुरे नतीजों पर जा पहुँचे हैं!) और उन तय नतीजों के अनुसार इतिहास के तथ्यों का चयन और छँटाई की गयी है। यही कारण है कि यह पुस्तक थोड़े समय बाद बेहद ऊबाऊ बन जाती है।

इसके अलावा हम 'प्राक्कथन' में बेतेलहाइम द्वारा की गयी तथ्यात्मक ग़लतियों का विस्तार से ज़िक्र किये बग़ैर आगे बढ़ना चाहेंगे, जैसे कि पेरिस कम्यून की नेतृत्वकारी विचारधारा सर्वहारा विचारधारा थी, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का बेतेलहाइम का मज़ाकिया विश्लेषण (जिसमें सोवियत साम्राज्यवाद द्वारा पूँजी के निर्यात और उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों को प्राप्त करने के प्रयासों की प्रमुख भूमिका नहीं था, बल्कि महाशक्तियों के बीच की प्रतिस्पर्द्धा और शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा की भूमिका थी! ये कार्रवाइयाँ कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा की गयी मूर्ख ग़लतियाँ थीं, न कि साम्राज्यवादी विस्तारवाद और अर्थनीति की पैदावार!), या फिर बेतेलहाइम का यह दावा कि रूस में मेंशेविक अर्थवादी जर्मनी या अन्य यूरोपीय देशों के समान राजनीतिक तौर पर विजयी नहीं हो सके क्योंकि रूस में एक सर्वसत्तावादी राज्य सत्ता थी; ज़ारशाही के रूप में एक निरंकुश राजतन्त्र और ग़ैर-जनवादी शासन की मौजूदगी के कारण बोल्शेविकों ने अर्थवादी प्रवृत्तियों को राजनीतिक तौर पर शिकस्त देने में कामयाबी

पायी! वास्तव में तमाम पश्चिमी अध्येता रूस में कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता के लिए ज़ारशाही को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति का शिकार हैं। मिसाल के तौर पर, **ई.एच. कार** भी यह दलील देते हैं कि रूस में बोल्शेविक इसलिए सफल हो गये क्योंकि रूस में उदार बुर्जुआ जनवाद नहीं था। चूँकि पश्चिमी देशों में उदार बुर्जुआ जनवाद था, इसलिए वहाँ कम्युनिस्ट सफल हो ही नहीं सकते थे! यह पूरा तर्क स्वयं एक उदार बुर्जुआ तर्क और इस पर यूरो-केन्द्रित दृष्टिकोण का गहरा असर है। **यह मानता है कि रूस में समाजवाद का आना वास्तव में रूसी शासकों को उदार बुर्जुआ संसदीय प्रणाली न अपनाने की सज़ा थी! यानी कि अगर रूस के शासकों ने फ्रांस, इंगलैण्ड और एक हद तक जर्मनी के शासकों से सीखा होता तो फिर उन्हें बोल्शेविक क्रान्ति की आपदा नहीं झेलनी पड़ती। बेतेलहाइम सीधे यह बात न कहकर भी इन उदार बुर्जुआ इतिहासकारों की अवस्थिति पर जाकर खड़े हो गये हैं। बोल्शेविक पार्टी की सफलता का कारण आन्तरिक नहीं बल्कि बाह्य था, यानी कि एक ऐसी राज्यसत्ता की मौजूदगी जिसने अपनी निरंकुशता और तानाशाही के कारण मज़दूर आन्दोलन और किसान आन्दोलन को जोड़ दिया और अपनी ही कब्र खोद दी।** आप देख सकते हैं कि यह तर्क किस प्रकार बेतेलहाइम के "अति-माओवादी" तर्क के साथ मेल खाता है, जिसके अनुसार समूची किसान आबादी (कुलकों को छोड़कर) की सक्रिय हिस्सेदारी के बिना समाजवादी क्रान्ति अव्वलन तो हो नहीं सकती, और अगर हो गयी तो टिक नहीं सकती। बेतेलहाइम अपने इसी तर्क को लागू करते हुए 1929 में 'नयी आर्थिक नीतियों' के परित्याग को एक ग़लत कदम बताते हैं, और 'नेप' को पूरे समाजवादी संक्रमण की आम सही नीति के तौर पर सामान्यीकृत करते हैं। इस पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। लेकिन फिलहाल इस प्रश्न पर हम बेतेलहाइम की सिरे से ग़लत अवस्थिति पर केन्द्रित करेंगे।

बेतेलहाइम तमाम पश्चिमी बुर्जुआ इतिहासकारों का अनुसरण करते हुए दावा करते हैं कि रूस में मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट पार्टी इसलिए कामयाब हो सके क्योंकि उनके अनुसार अगर रूस में किसी खुले मज़दूर आन्दोलन की गुंजाइश होती तो फिर उसकी नियति भी यही होती कि उसमें काऊत्स्की-शैली के अर्थवाद और संशोधनवाद की विजय होती। **यह पूरी अवस्थिति मार्क्सवादी विश्लेषण पद्धति को नहीं बल्कि एक अधिभूतवादी पद्धति को प्रदर्शित करती है, जिसमें बाह्य कारकों को प्रमुख भूमिका दे दी गयी है।** अगर यह अवस्थिति सही है, तो रूस ही नहीं बल्कि कई ऐसे देशों में सर्वहारा समाजवादी क्रान्तियाँ होनी चाहिए थीं, जहाँ प्राच्य निरंकुश राजतन्त्र या किसी अन्य प्रकार गैर-जनवादी राज्यसत्ता मौजूद थी मिसाल के तौर पर तत्कालीन टर्की या पूर्वी यूरोप के कई देश। निश्चित तौर पर, बाह्य कारक किसी भी परिवर्तन में एक भूमिका निभाते हैं, लेकिन बाह्य कारक आन्तरिक कारकों के ज़रिये ही गतिमान होते हैं। यहाँ बेतेलहाइम का अधिभूतवाद स्पष्ट रूप में सामने आ गया है।

अपने प्राक्कथन में ही बेतेलहाइम स्तालिन और उनके पूरे दौर की उपलब्धियों को कचरा-पेटी के हवाले करने की भूमिका तैयार करते नज़र आते हैं। मिसाल के तौर पर, जब बेतेलहाइम बोल्शेविक पार्टी में लेनिन के बाद और विशेष तौर पर पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान "अर्थवादी" थीसिस के सुदृढ़ीकरण के कारणों की चर्चा करते हैं, तो बताते हैं कि इसके मूल रूप से दो कारण थे: पहला था 1917 से 1929 के बीच पार्टी में आये ढाँचागत परिवर्तन और दूसरा था स्तालिन के समर्थन द्वारा "अर्थवाद" को ज़बरदस्त प्राधिकार और

वैधीकरण मिलना। वास्तव में, ये दोनों ही कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्तालिन को कठघरे में खड़ा करते हैं। बेतेलहाइम यहाँ एक ही झटके में सभी महान समाजवादी प्रयोगों को ख़ारिज कर देते हैं, जैसे कि सामूहिकीकरण, उद्योगीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, आदि। उनके अनुसार, 1929 में स्तालिन द्वारा 'नेप' का परित्याग समाजवादी निर्माण में हुई भूल थी! बेतेलहाइम सामूहिकीकरण और उद्योगीकरण को लेकर पार्टी के भीतर चल रही बहस में बुखारिन का पक्ष लेते हैं, हालाँकि "माओवाद" का सच्चा अनुयायी बनने के लिए बेतेलहाइम के लिए यह ज़रूरी था कि वह बुखारिन के विरोध को भी "वामपन्थी" और अधूरा क़रार दें! बेतेलहाइम का दावा है कि पार्टी के भीतर स्तालिन का प्राधिकार सिर्फ़ इसलिए था, क्योंकि उन्होंने त्रात्स्की के विपरीत सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के लेनिन के रास्ते का समर्थन किया था। यह सरासर ग़लत तथ्य है। स्तालिन का पार्टी में प्राधिकार केवल लेनिन की कार्यदिशा का समर्थन करने वाले व्यक्ति के रूप में ही नहीं था। **ग़ौरतलब है कि कई प्रश्नों पर स्तालिन की अवस्थिति लेनिन से पूरी तरह नहीं मिलती थी, मिसाल के तौर पर, समाजवाद के अन्तर्गत विदेशी व्यापार की राजकीय इज़ारेदारी का प्रश्न या फिर राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का प्रश्न (जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे), आदि।** पार्टी में स्तालिन की स्वीकार्यता और प्राधिकार इस वजह से थी क्योंकि स्तालिन ने क्रान्तिकारी व्यवहार में अपने आपको एक अग्रणी और शानदार बोल्शेविक सिद्ध किया था। यही कारण था कि लेनिन के जीवित रहते, विशेष तौर पर, दसवीं कांग्रेस के आते-आते स्तालिन को पार्टी ने विशेष तौर पर लेनिन के आग्रह के आधार पर वैविध्यपूर्ण ज़िम्मेदारियाँ सौंप दी थीं, जैसे कि पोलित ब्यूरो, ऑर्ग ब्यूरो और कण्ट्रोल कमिशन आदि की एक साथ सदस्यता, आदि। इस पर भी बेतेलहाइम काफ़ी नाराज़ दिखते हैं और इसे नौकरशाही की प्रवृत्तियाँ पैदा होने का एक कारण बताते हैं! अगर ऐसा है तो बेतेलहाइम को इसके लिए प्रथमतः लेनिन को ज़िम्मेदार ठहराना चाहिए! बेतेलहाइम आगे स्तालिन पर किये जाने वाले हमले की पृष्ठभूमि 'प्राक्कथन' में ही तैयार कर देते हैं। इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने से लेकर ग़लत तरीके से उद्धृत करने तक, हर पैंतरा अपनाते हैं।

यह बात सही है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष की जीवन्त परम्परा 1930 के दशक की अपेक्षा में कम हुई; लेकिन इसके लिए बस स्तालिन को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। वास्तव में, समाजवादी निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रिया सोवियत संघ में जिस रूप में गुज़री, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मोर्चे पर उसे जिन भयंकर चुनौतियों का सामना करना पड़ा और उससे भी महत्वपूर्ण, समाजवादी निर्माण की जो अवधारणा पार्टी में हावी थी, उसमें ऐसा होने की सम्भावना मौजूद थी, चाहें नेतृत्व में कोई भी होता। बेतेलहाइम स्तालिन के बारे में कहते हैं कि उनमें धारा के विरुद्ध जाने की प्रवृत्ति नहीं थी और इसीलिए वह पार्टी में हावी विजातीय प्रवृत्तियों के नुमाइन्दे बन गये। यह विशेष तौर पर 1924 से लेकर 1930 तक और फिर 1930 से लेकर स्तालिन की मृत्यु तक पार्टी में चले दो लाइनों के संघर्ष को नज़रन्दाज़ करता है।

यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि सामूहिकीकरण और उद्योगीकरण तथा पंचवर्षीय योजनाएँ समाजवादी रूपान्तरण के लिए उठाये गये बिल्कुल वाजिब कदम थे और इन कदमों ने सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की पहली मंज़िल को पूरा किया, यानी कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना। **ये कदम अपने आप में बिल्कुल सही थे।** बेतेलहाइम के अनुसार ये कदम ही ग़लत थे और समाजवादी संक्रमण की आम नीति 'नेप' की नीति होनी

चाहिए थी; बेतेलहाइम यहाँ राजनीतिक अर्थशास्त्र के मामले में संशोधनवादियों के साथ खड़े हैं और माओ की क्रान्तिकारी राजनीतिक अर्थशास्त्र का ग़लत विनियोजन (misappropriation) कर रहे हैं। उनके अनुसार अगर पार्टी और राज्यसत्ता क्रान्तिकारी बने हुए हैं, तो फिर माल उत्पादन, मुद्रा संचरण आदि के बने रहने से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। यह सत्य का केवल एक पहलू है। निश्चित रूप से, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की यही समझदारी थी और 1921 में यह सही भी थी। लेकिन यह केवल एक रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने और जीते हुए बुर्जो को कायम रखने, और कुछ समय सुस्ताकर नया समाजवादी आक्रमण शुरू करने की ताक़त जुटाने की नीति थी। बेतेलहाइम इसे पूरे समाजवादी संक्रमण पर विस्तारित कर देते हैं जो कि अन्त में संशोधनवाद के वस्तुगत समर्थन में तब्दील हो जाता है।

समस्या सामूहिकीकरण और उद्योगीकरण के कदमों में नहीं थी; समस्या उन अवधारणाओं के साथ थी जो कि इन कदमों के साथ सोवियत संघ में जोड़ दी गयी थीं; ये कदम उत्पादक शक्तियों का विकास करते हुए स्वत: कम्युनिज़्म की ओर जाने के प्रवेश द्वार के रूप में देखे जा रहे थे; इस रूप में जो धारणाएँ समाजवादी निर्माण के इन शानदार कदमों के साथ जोड़ दी गयीं थीं, उन्होंने कहीं न कहीं पूँजीवादी पुनर्स्थापना के प्रति पार्टी की चौकसी को प्रभावित किया; 1936 में स्तालिन द्वारा यह घोषणा करना कि सोवियत संघ में *शत्रुतापूर्ण* वर्ग नहीं हैं, और फिर 1939 में यह दावा करना कि राज्यसत्ता की मार्क्सवादी अवधारणा को समाजवाद के प्रयोगों की रोशनी में विकसित करना होगा और यह समझना होगा कि शत्रुतापूर्ण वर्गों के न होने के बावजूद सोवियत संघ में विदेशी एजेण्टों और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के कारण राज्यसत्ता की मौजूदगी ज़रूरी है, सर्वहारा चौकसी को कमज़ोर करने के समान था। लेकिन बेतेलहाइम असली समस्या पर तो संक्षेप में बात करते हैं, मगर स्तालिन के नेतृत्व में किये गये समाजवाद के शानदार प्रयोगों को कहीं-कहीं कुछ सकारात्मक टिप्पणियों के बावजूद कुल मिलाकर ग़लत क़रार देते हैं। 'प्राक्कथन' ओर 'प्रस्तावना' में अपने भावी "विश्लेषण" की ज़मीन तैयार करने के बाद बेतेलहाइम सोवियत संघ का जो ऐतिहासिक ब्यौरा पेश करते हैं, वह तथ्यात्मक भूलों, आत्मगतवादी चयन पद्धति, और ग़लत व्याख्याओं से भरा हुआ है। **इसे हम सोवियत संघ का एक बुरा और भ्रामक इतिहास कह सकते हैं।**

सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष का एक बुरा इतिहास

1. पहला भाग – अक्टूबर क्रान्ति और सोवियत सत्ता की स्थापना

पहले भाग में बेतेलहाइम द्वारा की गयी कई तथ्यात्मक ग़लतियों या कुछ अहम तथ्यों पर ध्यान न दिये जाने को छोड़ कर हम सीधे बेतेलहाइम द्वारा बोल्शेविक क्रान्ति के इतिहास की व्याख्या पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे। पहले भाग में ही बेतेलहाइम बोल्शेविक क्रान्ति के "दोहरे" चरित्र की या उसमें **जनवादी और समाजवादी क्रान्ति की प्रक्रियाओं के अन्तर्गुन्थन (interweaving)** की बात करते हैं। हम पिछले अध्याय में इस ग़लती की ओर इशारा कर चुके हैं। यह विचित्र नतीजा बेतेलहाइम अपनी अर्थवादी पद्धति से निकालते हैं

क्योंकि वह इस बुनियादी लेनिनवादी सिद्धान्त को नहीं समझ पाते हैं कि किसी भी क्रान्ति या क्रान्तिकारी आन्दोलन के चरित्र को निर्धारित करने का सबसे पहला पैमाना राजनीतिक होता है, आर्थिक नहीं। सिर्फ इस वजह से कि रूस की समाजवादी क्रान्ति ने कई छूटे हुए जनवादी कार्यभारों को पूरा किया, इस क्रान्ति को समाजवादी और जनवादी क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं का अन्तर्गुन्थन नहीं कह सकते हैं; वैसे भी साम्राज्यवाद के दौर के जारी रहते जिन देशों में समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी उनके पास पूरे करने के लिए कुछ जनवादी कार्यभार अवश्य ही हो सकते हैं। हमने पिछले अध्याय में देखा था कि अगर उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र की बात करें तो 1908-09 तक रूसी कृषि में पूँजीवादी विकास विचारणीय स्तर तक पहुँच चुका था, हालाँकि प्रशियाई पथ से भूमि सुधार के कारण बदलते हुए चरित्र के साथ बड़ी ज़मीन्दारी कायम थी और अलग-अलग मात्रा में ग़रीब किसान आबादी की अस्वतन्त्रता भी अभी देखी जा सकती थी। अत्यधिक भूमि असमानता और पिछड़ापन अभी रूसी खेती में बाकी था, लेकिन सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध मुख्य और मूल रूप से टूट चुके थे। जिन भी देशों में भूमि सुधार किसी रैडिकल बुर्जुआ क्रान्ति के रास्ते न होकर, क्रमिक सुधारों के रास्ते होगा, वहाँ सामन्ती अवशेषों की मौजूदगी लम्बे समय तक होगी। अगर ऐसे देशों में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आज जाने पर समाजवादी क्रान्ति को तमाम छूटे हुए जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे। जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया है, अगर रूसी क्रान्ति विश्व युद्ध और अकाल की परिस्थितियों और साथ ही सोवियत आन्दोलन के स्वत:स्फूर्त उभार के कारण अक्टूबर 1917 में न हुई होती, और वहाँ क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ तीन या चार दशक बाद पैदा हुई होतीं तो उसके पास पूरे करने को उतने जनवादी कार्यभार न होते। **मिसाल के तौर पर, 1920 के दशक में जर्मनी में सम्भावित समाजवादी क्रान्ति के पास भी उतने जनवादी कार्यभार न होते।** लेकिन रूस में 1917 में ही अपवादस्वरूप स्थितियों के कारण समाजवादी क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार होने के कारण बोल्शेविकों को जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी भी उठानी पड़ी। रूस में जनवादी क्रान्ति की जो प्रक्रिया फरवरी क्रान्ति के ठीक पहले शुरू हुई थी, वह अब पूँजीपतियों और ज़मीन्दारों की नुमाइन्दगी करने वाली आरज़ी सरकार के रहते पूर्णता तक नहीं पहुँच सकती थी। बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि रूस में समाजवादी क्रान्ति ने जनवादी क्रान्ति को बचाया; लेकिन यह बेतेलहाइम का कोई मौलिक सूत्रीकरण नहीं है और उसी दौर में तमाम बोल्शेविकों ने विशेष तौर पर काऊत्स्की और मेंशेविकों द्वारा बोल्शेविक क्रान्ति की आलोचनाओं पर जवाब देते हुए यह बात कही थी। ख़ैर, इस बाबत बेतेलहाइम के विवरणों में कहीं कोई बड़ी भूल नहीं है। **लेकिन जब बेतेलहाइम अक्टूबर क्रान्ति में जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों के अन्तर्गुन्थन की बात करते हैं तो यह एक बड़े राजनीतिक विभ्रम की ओर ले जाता है। एक तो यह त्रात्स्कीपन्थी 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की अनुगूँज देता है।** बस फर्क इतना है कि त्रात्स्की के लिए किसान ऐसे अराजनीतिक सामाजिक वर्ग थे जो कोई भी सचेतन राजनीतिक अवस्थिति अपनाने में अक्षम थे, जबकि बेतेलहाइम के लिए किसान एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, जो कि एक वर्ग के तौर पर समाजवादी कार्यक्रम पर आ सकते थे। दोनों ही छोर ग़लत हैं और किसानों के सामाजिक संस्तर को एकाश्मी और सजातीय तौर पर पेश करते हैं। लेकिन जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गुन्थन की बात बेतेलहाइम को त्रात्स्की के करीब ले जाकर खड़ा कर देती है।

अन्तर्गुन्थन के इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि यह क्रान्ति के चरित्र

का निर्धारण करते हुए राजनीति को प्रमुख पैमाना नहीं मानती है। किसी देश में समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद सर्वहारा सत्ता किस प्रकार का कृषि/भूमि कार्यक्रम लागू करेगी, यह सिर्फ़ इस बात से तय नहीं होगा कि उत्पादन सम्बन्धों का चरित्र क्या हो चुका है। रूस में कृषि के मुख्य और मूल रूप से पूँजीवादी स्वरूप अख़्तियार करने के बावजूद किसान आबादी समाजवादी कार्यक्रम के लिए राजनीतिक तौर पर तैयार नहीं थी। इसके दो कारण थे: एक वस्तुगत और दूसरा मनोगत। वस्तुगत कारण का हम ज़िक्र कर चुके हैं। एक तो रूस में जो भूमि सुधार हुए थे, वे प्रशियाई पथ से हुए युंकर-शैली के भूमि सुधार थे, जो कि किसानों की ज़मीन की भूख को शान्त नहीं करते, बल्कि सामन्ती ज़मीन्दारों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील होने का अवसर देते हैं। इसके अलावा यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि ये प्रशियाई शैली के भूमि सुधार भी रूस में अभी परिपक्व नहीं हुए थे।

दूसरा कारण मनोगत था और वह था रूसी किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का बेहद सीमित आधार। बोल्शेविक राजनीति और विचारों ने रूस के सर्वहारा वर्ग के उन्नततम हिस्से में अपना प्राधिकार कायम कर लिया था, लेकिन किसान आबादी में अभी भी नरोदवादियों के राजनीतिक वंशज, यानी कि समाजवादी-क्रान्तिकारियों का ही ज़्यादा आधार था। क्रान्ति के दौरान किसान आबादी कुछ सीमित प्रश्नों पर (भूमि कब्ज़ा करने और शान्ति के मुद्दे पर) बोल्शेविकों के साथ आये क्योंकि इन प्रश्नों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का ढुलमुल रवैया सामने आ गया था। लेकिन उस वक़्त भी किसानों की व्यापक बहुसंख्या समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर राज़ी नहीं थी। इन दोनों कारणों के चलते रूसी किसानों की आकांक्षाएँ अभी भी जनवादी थीं, समाजवादी नहीं। यही कारण है कि लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति से पहले रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपना लिया क्योंकि किसानों की बहुसंख्या अभी राजनीतिक तौर पर इसी कार्यक्रम के लिए तैयार थी, और इस बहुसंख्या पर समाजवादी कार्यक्रम थोपा नहीं जा सकता था। रूसी किसानी आर्थिक तौर पर पूँजीवादी सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर वस्तुगत और आत्मगत कारणों के चलते वह तैयार नहीं थी। **लेकिन यहाँ जो बात ग़ौर करने वाली है वह यह है कि समाजवादी सत्ता की स्थापना होते ही जहाँ कहीं सम्भव था वहाँ राजकीय और सामूहिक फार्मों का निर्माण किया गया, बाग़ों आदि का राजकीयकरण किया गया।** सर्वहारा राज्यसत्ता की मंशा समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने की थी और उसने जहाँ कहीं भी सम्भव था मॉडल फार्मों और सामूहिक फार्मों का निर्माण किया। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कुल खेती में इनका हिस्सा मुश्किल से चार प्रतिशत था। यहाँ इनका असली महत्व यह है कि ये खेती में पूँजीवादी सम्बन्धों के निषेध का प्रतिनिधित्व करते हैं। **डी.डी. कोसाम्बी** ने प्राचीन भारत में दास प्रथा को लेकर चली बहस के बारे में एक बार कहा था कि भारत में दास उत्पादन पद्धति का कुल उत्पादन में कितना योगदान था, या दासों की संख्या यूनान या रोम की तुलना में कम थी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। मूल बात यहाँ यह है कि दास प्रथा का किसी भी रूप या आकार में शुरू होना सामुदायिक उत्पादन पद्धति के टूटने को दिखलाता था और इस रूप में भारत में दास प्रथा का उद्भव और विकास ऐतिहासिक महत्व रखता है। ठीक उसी प्रकार 1917 में रूसी खेती में सामूहिक खेती और राजकीय खेती की मात्रा से उतना फर्क नहीं पड़ता जितना कि इस बात से पड़ता है कि सामूहिक और राजकीय खेती की शुरुआत हो गयी थी। दूसरी बात यह है कि सोवियत राज्यसत्ता के लिए एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम चयन का मसला नहीं था। एक अन्य पहलू जिसकी चर्चा करना ज़रूरी है, वह यह है कि उद्योग और राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में सर्वहारा राज्यसत्ता ने शुरू से ही समाजवादी नीतियों को लागू करना शुरू कर दिया था। यह ज़रूर है कि गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर के कारण लेनिन ने जिस चरणबद्ध प्रक्रिया से इन समाजवादी नीतियों को लागू करने का प्रस्ताव रखा था, उस प्रक्रिया से ये नीतियाँ लागू नहीं हो सकीं। लेकिन इतना तय था कि बोल्शेविक सत्ता उद्योग, वित्त व व्यापार के क्षेत्र में समाजवादी नीतियों को ही लागू कर रही थी। **जिन अपवादस्वरूप स्थितियों में रूसी क्रान्ति हुई थी, उनमें राजनीतिक तौर पर एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम ही लागू हो सकता था। इस मायने में रूसी क्रान्ति और चीनी नवजनवादी क्रान्ति में बुनियादी अन्तर है, और बेतेलहाइम बिना नाम लिये, इन दोनों ऐतिहासिक क्रान्तियों के बीच कुछ समानान्तर रेखाएँ खींचने का प्रयास कर रहे हैं, जो कि रूसी क्रान्ति के इतिहास का एक अनर्थकारी विनियोजन है।** सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना, उद्योग, व्यापार व वित्त के समाजवादी रूपान्तरण और सामूहिक व राजकीय खेती की शुरुआत (चाहे किसी भी स्तर पर) यह दिखलाता है कि बोल्शेविक क्रान्ति एक समाजवादी क्रान्ति थी जिसने जनवादी क्रान्ति के कई अधूरे कार्यभारों को पूरा किया। बेतेलहाइम द्वारा इसे जनवादी और समाजवादी क्रान्ति की प्रक्रियाओं का अन्तर्गुन्थन बोलना, अनावश्यक भ्रम पैदा करता है और त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के लिए साँस लेने की जगह छोड़ता है।

हम पहले भी बेतेलहाइम की हेगेलीय प्रत्ययवादी पद्धति की चर्चा कर चुके हैं। पहले खण्ड के पहले ही हिस्से में बेतेलहाइम इस पद्धति का कार्यान्वयन करते हुए भी नज़र आ जाते हैं। सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनसमुदायों में पार्टी का नेतृत्व किस रूप में स्थापित हुआ और उसकी क्या कमज़ोरियाँ थीं, इसकी चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के उन्नततम हिस्से में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका स्थापित हो चुकी थी, जिसका अर्थ यह था कि सर्वहारा विचारों का वर्चस्व उनके बीच स्थापित हो चुका था; बेतेलहाइम आगाह करते हैं कि इस वर्चस्व को 'प्रभुत्व' न समझा जाय जो कि सर्वहारा सत्ता की स्थापना के बाद ही स्थापित हो सकता है। **पहली बात तो यह है कि यहाँ 'वर्चस्व' और 'प्रभुत्व' के सिद्धान्त को बेतेलहाइम ने बेतुके तरीके से इस्तेमाल किया है।** सर्वहारा सत्ता के स्थापित होने के बाद भी सर्वहारा विचारों के 'प्रभुत्व' की बात नहीं की जा सकती है; प्रभुत्व और वर्चस्व के बीच मार्क्सवाद जो फर्क करता है, उसका रिश्ता मात्रा से नहीं है, बल्कि गुण से है। यहाँ सर्वहारा वर्ग के बीच सर्वहारा विचारों के वर्चस्व का अर्थ यह है कि सर्वहारा वर्ग उन्हें स्वयं स्वीकार करता है, जबकि प्रभुत्व का अर्थ होता है (बशर्ते कि बेतेलहाइम किसी नयी अवधारणा का आविष्कार न कर रहे हों!) कि सर्वहारा वर्ग की 'सहमति' या 'असहमति' के बावजूद सर्वहारा विचारों को थोपा जाना। निश्चित तौर पर, अगर प्रभुत्व और वर्चस्व के मार्क्सवादी विज्ञान में स्वीकृत अर्थों के आधार पर बात की जाय, तो बेतेलहाइम द्वारा किया गया विभाजन यहाँ विचित्र है। बहरहाल, बेतेलहाइम पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका के स्थापित होने के बावजूद उसकी दो कमियाँ बताते हैं: एक तो यह कि किसान आबादी में सर्वहारा वर्ग की पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका नहीं स्थापित हो सकी थी और दूसरी कमी यह कि मज़दूर वर्ग में भी बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका का चरित्र विचारधारात्मक नहीं था, बल्कि राजनीतिक था और यही कारण था कि सोवियत सत्ता क्रान्ति के तुरन्त बाद समाजवाद में संक्रमण नहीं कर सकी, बल्कि 'समाजवाद की ओर कुछ कदमों' तक ही सीमित रह गयी। बेतेलहाइम लिखते हैं: **"बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका की दूसरी सीमा यह थी**

कि मज़दूरों के बीच भी पार्टी की नेतृत्वकारी विचारधारात्मक भूमिका मूलतः राजनीतिक थी। मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों के निर्णायक हिस्से में जो चीज़ काफ़ी हद तक प्रविष्ट हुई थी, वह क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बुनियादी विचार नहीं थे–जो कि समाजवाद के रास्ते को प्रकाशित करते हैं और जो बताते हैं कि कम्युनिज़्म तक जाने के लिए क्या ज़रूरी है–बल्कि वे विचार थे जो कि उन्हीं कदमों के लिए पर्याप्त थे जिन्हें लेनिन ने "तात्कालिक कदम" कहा था।

"नेतृत्वकारी भूमिका की इन विभिन्न सीमाओं के कारण, और क्रान्ति के तात्कालिक कार्यभारों के कारण, बोल्शेविक पार्टी सोवियत सत्ता के स्थापित होने के बाद सीधे समाजवादी रूपान्तरण के कार्यभारों का लक्ष्य नहीं रख सकी।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 95, *अनुवाद हमारा*)

यह पूरा दृष्टिकोण सिरे से प्रत्ययवादी और मनोगतवादी है। बेतेलहाइम के अनुसार मज़दूर वर्ग में विचारधारात्मक नेतृत्व का अर्थ यह होता है कि मज़दूर वर्ग का बड़ा हिस्सा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को मानता हो! ज़ाहिर है कि क्रान्ति के बाद भी लम्बे समय तक ऐसी स्थिति नहीं पैदा हो सकती है। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ हो सकता है कि मज़दूर वर्ग के उन्नततम हिस्से ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अपने प्राधिकार के तौर पर स्वीकार किया हो, यानी कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्व दृष्टिकोण और पद्धति को स्वीकार किया हो। **मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदाय मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे, तभी समाजवादी रूपान्तरण सम्भव है, यह विचार ही मूर्खतापूर्ण है।** साथ ही, बेतेलहाइम का यह कहना कि इसी "विचारधारात्मक नेतृत्व की कमी" के कारण क्रान्ति के बाद मज़दूर वर्ग केवल 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदम' उठाने के लिए ही तैयार था, समाजवादी रूपान्तरण के लिए नहीं। यह कतई लेनिन के मूल्यांकन से भिन्न अवस्थिति है।

लेनिन ने स्पष्ट किया था कि क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवादी नीतियों को लागू न कर सकने के कई कारण थे, जिसमें युद्ध और अकाल के कारण पैदा हुआ आर्थिक बिखराव और मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक चेतना की कमी था। मज़दूर वर्ग की यह अक्षमता यह नहीं थी कि उसके व्यापक जनसमुदाय मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं बने थे; इसका अर्थ यह था कि रूसी मज़दूर वर्ग अभी राजनीतिक वर्ग चेतना की कमी और पिछड़ेपन का शिकार था। **मज़दूर वर्ग का पुख़्ता तौर पर और सचेतन रूप से पूँजीवाद-विरोधी बनना और उसका मार्क्सवादी-लेनिनवादी बनना दो अलग चीज़ें हैं।** सचेतन रूप से पूँजीवाद-विरोधी, पूँजीपति वर्ग को अपने दुश्मन के तौर पर देखने वाला वर्ग सचेत मज़दूर, हो सकता है कि, अभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को समझने और मानने वाला न बना हो। लेकिन निश्चित तौर पर वह समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ सकता है। रूस में मज़दूर वर्ग युद्ध और अकाल के कारण बिखरा हुआ था, और क्रान्ति के बाद गृहयुद्ध के दौरान उसे और भी अधिक बिखराव का सामना करना पड़ा। एक वर्ग के तौर पर रूसी मज़दूर वर्ग अभी संगठित तौर पर समाजवादी अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए तैयार नहीं था और इसीलिए लेनिन ने वस्तुगत सीमाओं के कारण तत्काल समाजवादी नीतियों को लागू करने की बजाय, 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदमों' की बात की थी। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि तत्काल समाजवादी नीतियों को लागू न करने का कारण आर्थिक बिखराव नहीं

था, क्योंकि जब "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान पार्टी ने स्वयं सचेतन तौर पर समाजवादी नीतियों को लागू करने का प्रयास किया तो वह विफल रही। **हम देख सकते हैं कि बेतेलहाइम अपनी बात को सिद्ध करने के लिए एक बिल्कुल ग़लत उदाहरण दे रहे हैं।** गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में समाजवादी रूपान्तरण को तत्काल अंजाम देना पार्टी की कोई सुचिन्तित नीति नहीं थी, बल्कि वस्तुगत परिस्थितियों द्वारा थोपी गयी एक बाध्यता थी। बेतेलहाइम के लिए 'नेप' की नीतियों का 1921 में अपनाया जाना बोल्शेविक पार्टी द्वारा इस बात की स्वीकृति थी कि अभी समाजवादी रूपान्तरण को तत्काल लागू नहीं किया जा सकता है और बोल्शेविक पार्टी द्वारा अक्टूबर 1917 से मई 1918 के 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदमों' की ओर वापस जाना मात्र नहीं था, बल्कि यह एक सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के लेनिन के सिद्धान्त से अलग एक नया विचार था! यह सोवियत रूस के इतिहास का भयंकर विकृतिकरण है। बोल्शेविक पार्टी पर गृहयुद्ध के दौरान "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों का थोपा जाने और फिर 1921 में उसकी वजह से हुए नुक़सानों की भरपाई के लिए 'नेप' की नीतियों का अपनाया जाने को बेतेलहाइम अपने नतीजों को सिद्ध करने के लिए ग़लत तरीके से विनियोजित करते हैं। 'नेप' पर बेतेलहाइम के संशोधनवादी विचारों पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

लेनिन का नज़रिया इस विषय में बिल्कुल साफ़ था। **लेनिन का मानना था कि समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस जैसे देश में, जहाँ टटपुँजिया उत्पादन और टटपुँजिया वर्गों का बोलबाला हो, पहले बड़े पैमाने के उत्पादन को कायम करना होगा।** इसके लिए देश को पहले सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के एक दौर से गुज़रना होगा। इस दौर में समाजवाद के सबसे बड़े दुश्मन, यानी कि छोटे पैमाने के माल उत्पादन और उससे हर मिनट, हर घण्टे पैदा होने वाले टटपुँजिया तत्वों, से निपटना होगा; इस दौर में मज़दूर वर्ग स्वयं उद्योगों और खाना-खदानों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं कायम करेगा, बल्कि वह बही-खातों के ज़रिये अपने नियन्त्रण और विनियमन को लागू करेगा और साथ ही इस दौर में वह बुर्जुआ विशेषज्ञों से उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को संचालित करने की बारीकियों को सीखेगा। तकनीकी और सांस्कृतिक तौर पर पिछड़ा हुआ यह मज़दूर वर्ग अगर विचारधारात्मक तौर पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार भी कर लेता तो वह समाजवादी उद्योगों का संचालन नहीं कर लेता।

संक्षेप में, लेनिन ने रूस में समाजवाद के चरणबद्ध विकास का जो रास्ता सुझाया था, उसके मूल कारण वस्तुगत थे; मनोगत कारण गौण थे। क्रान्ति से पूर्व मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों के बीच बोल्शेविक पार्टी का राजनीतिक और विचारधारात्मक नेतृत्व क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए उपयुक्त था। निश्चित तौर पर, इस नेतृत्वकारी भूमिका के लिए उपयुक्त होने के बावजूद समाजवादी रूपान्तरण की पूरी प्रक्रिया किसी भी देश में, और विशेष तौर पर रूस में, एकरेखीय और सुगम नहीं हो सकती थी। इस रूपान्तरण की प्रक्रिया की जटिलता को पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका पर थोप देना बेतेलहाइम की मार्क्सवादी भौतिकवादी विश्लेषण कर पाने की अक्षमता को दिखलाता है। सोवियत रूस में समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया वस्तुगत तौर पर भी भयंकर जटिलताओं से गुज़र रही थी, जो कि इस क्रान्ति की अपवादस्वरूप स्थितियों के कारण था, और साथ ही ये जटिलताएँ पार्टी के भीतर भी लगातार तीखे दो लाइनों के संघर्ष को जन्म दे रही थी, जो कि 1918 से ही "वामपन्थी" विपक्ष, त्रात्स्कीपन्थ, बुखारिनपन्थ से बहसों के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था। यह ज़रूर है कि

किसानों के बीच बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका अभी स्थापित नहीं हो पायी थी, हालाँकि क्रान्ति से पहले से ही बोल्शेविक पार्टी अपनी इस कमज़ोरी पर अपनी ताक़त के मुताबिक काम कर रही थी। लेकिन किसी भी रूप में बेतेलहाइम का तर्क यहाँ बिल्कुल ग़लत है और ऐतिहासिक तथ्य उसकी पुष्टि नहीं करते।

बेतेलहाइम की यह विचित्र तर्क पद्धति कुछ आगे ही फिर से दिखलायी पड़ती है। तमाम प्रश्नों पर बेतेलहाइम कुछ सही प्रस्थापनाएँ देते हैं या सही दिशा में आगे बढ़ते दिखायी देते हैं, लेकिन बहुत जल्द ही उनका विश्लेषण प्रत्ययवाद और मनोगतवाद के गड्ढे में जा गिरता है। **बेतेलहाइम एक स्थान पर राजनीतिक सत्ता (political power) और राज्यसत्ता के बीच एक सही अवधारणात्मक अन्तर की चर्चा करते हैं।** बेतेलहाइम लिखते हैं कि राजनीतिक सत्ता *सर्वप्रथम* वर्गों के बीच के सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करती है, और वह कई प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं के रूप में संस्थाबद्ध हो सकती है। लेकिन इसके बाद वे राजनीतिक सत्ता और उसके संस्थाबद्ध रूपों के बीच ऐसी दीवार खड़ी कर देते हैं कि वे दो भिन्न, बल्कि, विपरीत वस्तुएँ बन जाती हैं। बेतेलहाइम कहते हैं कि राजनीतिक सत्ता कई रूपों में संस्थाबद्ध हो सकती है, जो कि अपने आप में सही है। **लेकिन यह संस्थाबद्धीकरण अन्ततः किसी न किसी राज्य रूप को ही ग्रहण करेगा, या फिर वह राजनीतिक सत्ता स्वयं भी समाप्त हो जायेगी।** बेतेलहाइम द्वारा राजनीतिक सत्ता और राज्यसत्ता के बीच फर्क को ग़लत छोर तक ले जाने के पीछे उनकी मंशा जल्द ही साफ़ हो जाती है। बेतेलहाइम कहते हैं कि बोल्शेविक पार्टी ने क्रान्ति के बाद सर्वहारा राजनीतिक सत्ता को राज्य का रूप प्रदान किया। लेकिन यह राज्यसत्ता हर-हमेशा वह नहीं करती थी, जो कि सर्वहारा राजनीतिक सत्ता चाहती थी। कुछ मौकों पर इसका कारण अन्य वर्गों द्वारा डाला जाने वाला दबाव होता था, जबकि कई बार पार्टी की राजनीतिक ग़लतियों के कारण भी राज्यसत्ता सर्वहारा हितों की विपरीत काम करती थी। वर्ग की राजनीतिक सत्ता और राज्यसत्ता के बीच फ़र्क मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी शिक्षा है। लेकिन इनके बीच के संगति और अन्तरविरोध का द्वन्द्वात्मक रिश्ता भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की एक बुनियादी शिक्षा है। बेतेलहाइम सोवियत राज्यसत्ता और सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता के बीच इस प्रकार की दीवार खड़ी करके आगे यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता अन्ततः सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी, बल्कि उस पर नौकरशाह राजकीय बुर्जुआ वर्ग का वर्चस्व स्थापित हो गया था। यहाँ बेतेलहाइम का विश्लेषण कई स्तरों पर ग़लत है।

पहली ग़लती यह है कि बेतेलहाइम वर्ग के राजनीतिक संगठन और वर्ग की राजनीतिक सत्ता को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। क्रान्ति से पहले सर्वहारा वर्ग बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में राजनीतिक तौर पर संगठित हुआ; यही कारण था कि अन्त में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता को चकनाचूर करके अपनी राजनीतिक सत्ता को स्थापित कर पाया। सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता की स्थापना से पहले सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक शक्ति या सत्ता अमूर्त रूप में सिर्फ़ वर्गों के सम्बन्धों के रूप में विद्यमान नहीं रह सकती थी। बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि सर्वहारा राज्यसत्ता कई बार सर्वहारा वर्ग के हितों के विपरीत काम कर सकती है, जिसका कारण अन्य वर्गों का दबाव या पार्टी की राजनीतिक ग़लतियाँ हो सकती हैं। लेकिन सर्वहारा राज्यसत्ता *वास्तविकता* में इसी तरह से काम करेगी। **यहाँ बेतेलहाइम सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का आदर्शीकरण/निरपेक्षीकरण करते हैं, जिसके अनुसार सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता (जो कि राज्यसत्ता से भिन्न है) ग़लतियों से**

परे है; ग़लतियाँ तो तब होती हैं जब सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता राज्यसत्ता का रूप ग्रहण करती है! यहाँ पर सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता हेगेलीय 'परम विचार' (demi urgos) बन जाती है और राज्यसत्ता उसका परकीकृत (reified) अशुद्ध रूप। यह सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का एक हेगेलीय प्रत्ययवादी दृष्टिकोण है। यदि सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता बिना किसी स्वायत्तता के शुद्ध रूप से सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करे तो भी ग़लतियाँ होना लाज़िमी है। बेतेलहाइम सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता की अपनी प्रत्ययवादी अवधारणा की ज़मीन पर खड़े होकर सोवियत राज्यसत्ता की एक ग़लत आलोचना पेश करते हैं। अगर यह मान भी लिया जाये कि राज्यसत्ता और वर्ग की राजनीतिक सत्ता में अवधारणात्मक अन्तर होता है, तो भी उनके बीच में कोई चीन की दीवार नहीं होती; **एक वर्ग का राजनीतिक तौर पर संगठित होना और आगे अपनी राज्यसत्ता की स्थापना करना उसकी राजनीतिक सत्ता के वास्तवीकरण (realization) की दो मंज़िलें हैं।** किसी भी मंज़िल में यह नहीं कहा जा सकता है कि सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता हेगेलीय 'परम विचार' के समान शुद्ध और बेदाग़ आचरण कर रही थी। हर मंज़िल में सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक आन्दोलन में विच्युतियाँ और विचलन मौजूद होंगे, उनके विरुद्ध सही कार्यदिशा का संघर्ष मौजूद होगा। अगर यह न समझा जाय तो हम सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता की एक अयथार्थवादी, प्रत्ययवादी समझदारी बना बैठेंगे।

सोवियत राज्यसत्ता के चरित्र और उसकी संरचना की बात करते हुए भी बेतेलहाइम कई तथ्यात्मक और अवधारणात्मक ग़लतियाँ करते हैं। बेतेलहाइम स्वीकार करते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी ही होती है। त्रात्स्की और बुखारिन से ट्रेड यूनियनों और सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी में उनकी भूमिका पर लेनिन द्वारा चलायी गयी बहस का सन्दर्भ देते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि ट्रेड यूनियनें सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण नहीं हो सकती हैं बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की मशीनरी में वे पार्टी और जनसमुदायों के बीच की कड़ी हो सकती हैं। यहाँ बेतेलहाइम एक तथ्यात्मक भूल कर रहे हैं। **लेनिन ने ट्रेड यूनियनों को आम मेहनतकश जनसमुदायों और पार्टी के बीच की कड़ी नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों और पार्टी के बीच की कड़ी करार दिया था। सोवियतें आम मेहनतकश जनसमुदाय और पार्टी के बीच की कड़ी की भूमिका निभाती हैं।** इसीलिए ट्रेड यूनियनों को लेनिन ने समाजवादी संक्रमण के दौरान "सर्वहारा सत्ता का भण्डार" और "कम्युनिज़्म और प्रबन्धन की पाठशाला" कहा था। इसी पाठशाला में मज़दूर वर्ग के वे सिपाही प्रशिक्षित होंगे जो कि सर्वहारा वर्ग के विचारधारात्मक और राजनीतिक प्राधिकार को आम मेहनतकश जनसमुदायों के बीच स्थापित करेंगे। बेतेलहाइम की यह तथ्यात्मक भूल सर्वहारा अधिनायकत्व की संरचना के बारे में लेनिनवादी समझदारी का एक ग़लत विनियोजन करती है। इसके बाद, बेतेलहाइम दावा करते हैं कि ट्रेड यूनियनें सोवियत संघ में ऐसी भूमिका कभी निभा नहीं सकीं और इसका कारण ट्रेड यूनियनों के नैसर्गिक चरित्र में ही निहित है। बेतेलहाइम के अनुसार ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के बीच कुछ विशेष किस्म के बँटवारे पैदा करती हैं। **स्पष्ट है कि बेतेलहाइम पूँजीवादी व्यवस्था में ट्रेड यूनियनों की भूमिका और चरित्र और समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की भूमिका और चरित्र के बीच फर्क को नहीं समझ रहे हैं।** लेनिन ने स्पष्ट तौर पर समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की बदली हुई भूमिका को रेखांकित किया था। लेनिन ने कारखाना समितियों को ट्रेड यूनियन के ढाँचे के मातहत लाने, ट्रेड यूनियनों को आर्थिक नियोजन और

प्रबन्धन की ज़िम्मेदारियाँ सौंपने और मज़दूर वर्ग को समाजवादी निर्माण की दिशा में शिक्षित-प्रशिक्षित करने की अहम ज़िम्मेदारी देने की बात कही थी। साथ ही, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता में मौजूद नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं के विरुद्ध संघर्ष को ट्रेड यूनियनों के राजनीतिक कार्यभारों में से एक बताया था। पूँजीवाद के तहत ट्रेड यूनियनों का मकसद होता है पूँजी के हमलों के बरक्स मज़दूर वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त करना। इस विशिष्ट कार्यभार के कारण भी ट्रेड यूनियनें पेशागत तौर पर संगठित होती हैं और यह विभाजन इतना अनमनीय होता है कि पेशागत संकुचन की मानसिकता को भी पैदा करता है। लेकिन समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की भूमिका को सचेतन तौर पर बदले जाने की ज़रूरत होती है। **ट्रेड यूनियनों के किसी अन्तर्निहित नैसर्गिक चरित्र या गुण की बात करना बेमानी होगा।** बदली हुई सामाजिक संरचना के अन्तर्गत उनकी भूमिका स्वतः ही बदल जायेगी और बदल दी जायेगी। सोवियत संघ में ऐसा ही हुआ था। यह एक दीगर प्रश्न है कि ट्रेड यूनियनों की जिस भूमिका, उनकी जिस राजनीतिक स्वायत्तता की लेनिन ने कल्पना की थी, उनकी वह भूमिका और राजनीतिक स्वायत्ता बन सकी या नहीं। लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि बेतेलहाइम द्वारा ट्रेडयूनियनों के चरित्र और उनकी भूमिका का सारभूतीकरण (esssentialization) निश्चित तौर पर ग़लत और अनैतिहासिक है।

आगे बेतेलहाइम लिखते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता कोई शुद्धतः मज़दूर राज्य नहीं थी, बल्कि यह एक "मज़दूर-किसान राज्य" थी। इसके समर्थन में वह लेनिन के कथन को उद्धृत करते हैं, जिसमें लेनिन ने बुखारिन और त्रात्स्की के वामपन्थी भटकाव का जवाब देते हुए कहा था कि सोवियत राज्यसत्ता एक मज़दूर-किसान राज्यसत्ता है। इस पर बुखारिन ने आपत्ति की थी और कहा था कि मज़दूर-किसान राज्यसत्ता की अवधारणा ही ग़लत है और उसे केवल उसी अर्थ में लागू किया जा सकता है जिन अर्थों में जनता की जनवादी क्रान्ति के बाद मज़दूरों और किसानों का जनवादी अधिनायकत्व स्थापित होता है। **'पार्टी में संकट' नामक अपने लेख में लेनिन ने स्वीकार किया कि मज़दूर-किसान राज्य सोवियत राज्यसत्ता के चरित्र की व्याख्या करने के लिए सही अवधारणा नहीं है और सोवियत राज्यसत्ता एक मज़दूर राज्य ही है।** लेकिन लेनिन ने कहा कि उन्होंने जब मज़दूर-किसान राज्य की बात की थी तो उनका मक़सद यह सम्प्रेषित करना था कि सोवियत रूस में समाजवादी क्रान्ति के बाद एक ऐसे देश में मज़दूर राज्य अस्तित्व में आया है, जहाँ बहुसंख्यक आबादी किसानों की है और एक ऐसे देश में मज़दूर राज्यसत्ता मज़दूर-किसान संश्रय पर ही टिक सकती है; ऐसे में, मज़दूर राज्य को अपने नीति-निर्धारण और समाजवादी निर्माण के रास्ते के निर्धारण में इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा। उसे व्यापक ग़रीब किसान आबादी को अपने पक्ष में लेना होगा, मँझोली किसान आबादी को जीतने या फिर उसे तटस्थ बनाना होगा और धनी किसानों और कुलक आबादी को अलग-थलग करना होगा। एक लम्बी प्रक्रिया में किसानों के बीच राजनीतिक वर्ग विभाजन की प्रक्रिया को अंजाम देते हुए ही सोवियत रूस समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ सकता है। लेनिन ने उपरोक्त लेख में दलील दी कि इस रूप में उनके नतीजों में कोई फर्क नहीं पड़ता, हालाँकि सैद्धान्तिक तौर पर मज़दूर-किसान राज्य का सूत्रीकरण ग़लत है। **लेकिन बेतेलहाइम इस पूरे सन्दर्भ को पेश करने की बजाय मज़दूर-किसान राज्य की बात को लेनिन पर आरोपित कर दिया है, जबकि उस बहस में लेनिन का मक़सद "वामपन्थी" कम्युनिज़्म के मरीज़ों के सामने यह स्पष्ट करना था कि सोवियत संघ में समाजवादी राज्य की उत्तरजीविता के लिए मज़दूर-किसान संश्रय**

(smytchka) का कायम रहना ज़रूरी है और इसलिए सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली राज्यसत्ता को इस संश्रय को बचाना होगा। बेतेलहाइम जानबूझकर यहाँ इस पूरे सन्दर्भ को गोल कर जाते हैं, क्योंकि उस सूरत में लेनिन की अवस्थिति का "अति-माओवादी" विनियोजन सम्भव हो जाता है, जिसके अनुसार 'नेप' की नीतियाँ समाजवादी संक्रमण की आम नैसर्गिक नीति होगी और समूची मँझोली किसान आबादी समाजवाद पर सहमत हो जायेगी!

बेतेलहाइम आगे कहते हैं कि लेनिन ने सोवियत राज्य के मज़दूर-किसान राज्य होने और उसमें नौकरशाहाना विकृति होने की बात को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया था, जबकि बाद के दौर में (यानी कि स्तालिन के दौर में) इस प्रकार की बेलाग-बेलौस स्वीकृतियाँ नहीं मिलती हैं! यह तथ्यात्मक तौर पर ग़लत है। यह कहना कि स्तालिन ने सोवियत राज्यसत्ता में मौजूद नौकरशाहाना विकृतियों की ओर ध्यानाकर्षण नहीं किया था, एक झूठ होगा। लेकिन इस तरीके से सोवियत राज्य में नौकरशाहाना विकृतियों की बात करने का श्रेय पहले लेनिन को जाता है, और फिर बाद में त्रात्स्की को! नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष में स्तालिन का योगदान पूरी तरह ग़ायब हो जाता है। स्तालिन के नौकरशाही-विरोधी संघर्ष की अवधारणात्मक कमियों की बात करना एक बात है, लेकिन यह कहना कि स्तालिन ने नौकरशाही के विरुद्ध सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर संघर्ष ही नहीं चलाया, एक कोरा झूठ होगा। नये शोधकार्यों ने इस सच्चाई से सन्देह की गुंजाइशें ख़त्म कर दी हैं।

बेतेलहाइम थोड़ा आगे जाकर लेनिन द्वारा मज़दूर-किसान राज्य के सूत्रीकरण को दुरुस्त करने का चलते-चलाते ज़िक्र करते हैं, लेकिन साथ में इस नतीजे को जोड़ देते हैं कि लेनिन के दौर में किसानों से संश्रय बचाने और मज़दूरों और किसानों के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के कार्यभार को सही तरीके से अंजाम दिया गया, जबकि बाद के दौर में इस अन्तरविरोध को पार्टी सही ढंग से हल नहीं कर पायी। **यहाँ लेनिन की अवस्थिति का ज़बरन "माओवादी" विनियोजन का करने का प्रयास किया जा रहा है।** बेतेलहाइम दावा करते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए किसानों को लगातार रियायतें और छूटें देनी पड़ती थीं, और अगर ऐसा न किया जाता तो फिर पार्टी और राज्य के भीतर अति-केन्द्रीकरण होता जाता और पार्टी और राज्य के भीतर बुर्जुआ सम्बन्ध हावी हो जाते! **यानी कि बेतेलहाइम के अनुसार कृषि के समाजवादी रूपान्तरण के कार्य में किसान आबादी के किसी भी हिस्से के साथ कभी भी, किसी भी किस्म की कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं की जानी चाहिए और अगर ऐसा किया जाता है तो वह पार्टी और राज्य के भीतर बुर्जुआ विकृतियों को बढ़ावा देगा!** चिन्तन के इसी सिलसिले को आगे बेतेलहाइम 'नेप' की नीति के बिना शर्त समर्थन और उसे समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पेश करने से जोड़ देते हैं और साथ ही लेनिन द्वारा "मज़दूर-किसान संश्रय" के सूत्रीकरण से भी जोड़ देते हैं! बेतेलहाइम लगभग यह कहने तक पहुँच जाते हैं कि लेनिन को समाजवादी क्रान्ति के बाद 'मज़दूर-किसान राज्य' के इस ग़लत सूत्रीकरण में सुधार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी और वास्तव में यही सूत्रीकरण सही था!

बेतेलहाइम यहाँ कई स्तरों पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण कर रहे हैं और साथ ही माओ की अवस्थिति को भी ग़लत तरीके से पेश कर रहे हैं, क्योंकि उनकी शब्दावली (मज़दूरों और किसानों के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करना) स्पष्ट तौर पर उनके तथाकथित "माओवादी" रुझान की ओर संकेत करते हैं।

बेतेलहाइम किसान आबादी को समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में अविभेदीकृत वर्ग के तौर पर देखते हैं और विश्लेषण में उसे इसी तौर पर इस्तेमाल करते हैं। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग समूची किसान आबादी को साथ लेगा और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में वह खेतिहर सर्वहारा और ग़रीब किसानों (अर्द्धसर्वहारा) के साथ मज़बूती के साथ वर्ग एकता कायम करेगा। मँझोले किसानों के दोहरे चरित्र की लेनिन ने बार-बार चर्चा की है। वह कहते हैं कि मँझोले किसान एक ओर अपने ख़ून-पसीने से उत्पादन करते हैं तो वहीं कई बार वे उजरती श्रम का शोषण भी करते हैं। ऐसे में, वे मँझोले किसान *आम तौर पर* समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत किये जा सकते हैं जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं, जबकि वे मँझोले किसान जो कि उजरती श्रम का शोषण करते हैं, उन्हें पहले सहमत करने का प्रयास किया जाना चाहिए और अगर वे सहमत न हों तो उन्हें तटस्थ करने का प्रयास किया जाना चाहिए। बाद के दौर में वास्तव में लेनिन उन्हीं किसानों को मँझोले किसानों में गिन रहे थे जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते थे। इस उद्धरण पर ग़ौर करें, **"जवाब में हम कहते हैं कि मध्यम किसान वह किसान है जो कि दूसरे के श्रम का शोषण नहीं करता, दूसरों के श्रम पर नहीं ज़िन्दा रहता है, जो दूसरों की मेहनत के फल को किसी भी आकार या रूप में नहीं लेता है, बल्कि स्वयं काम करता है, और अपनी मेहनत पर जीता है। - कहने की आवयश्कता नहीं है कि यह मध्यम किसान तत्काल समाजवाद को नहीं अपनायेगा, क्योंकि वह उस चीज़ से चिपका रहता है जिसकी उसे आदत होती है, हर नवोन्मेष के बारे में वह बहुत सावधान रहता है, जो भी उसे दिया जाता है उसे तथ्यात्मक, व्यावहारिक तौर पर परखता है और अपनी जीवन-शैली बदलने का फैसला तब तक नहीं करता है जब तक कि वह सहमत न हो जाये कि यह परिवर्तन अनिवार्य है।"** (लेनिन, 1972, **'मध्यम किसान'**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-29,* चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 246, *अनुवाद हमारा*) लेनिन ने 1919 के अपने इस लेख में स्पष्ट किया है कि सोवियत सर्वहारा सत्ता को उन मँझोले किसानों पर ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी चाहिए और उन पर समाजवाद को थोपने का प्रयास नहीं करना चाहिए जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं। इन मँझोले किसानों को उदारहण पेश करके और सामूहिक व सहकारी किसानी के उनके लिए ज़्यादा फ़ायदेमन्द होने की मिसालें पेश करके समाजवादी कार्यक्रम तक लाना होगा। **यह एक दीगर बात है कि सोवियत सत्ता को इस नीति को अंजाम देने का कभी अवसर ही नहीं मिला, और बाद में आपात स्थितियों में उन मँझोले किसानों पर भी अक्सर ज़ोर-ज़बरदस्ती का असर पड़ा जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते थे। यही कारण था कि बाद में सोवियत सत्ता को क्षति-नियन्त्रण के लिए कुछ शर्तों के साथ सीमित रूप में उजरती श्रम के शोषण की भी कुछ समय के लिए (नेप के दौरान) इजाज़त देनी पड़ी।** कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस रणनीतिक तौर पर पीछे कदम हटाने की अपनी क़ीमतें थीं, जो कि 1926-27 तक विशेष तौर पर सामने आने लगी थीं। इसके बाद, सामूहिकीकरण के आन्दोलन के दौरान नेप की नीतियों के फलस्वरूप पैदा हुए बुर्जुआ तत्वों तक एक हद तक ज़ोर-ज़बरदस्ती भी करनी पड़ी। **लेकिन 1917 से 1930 तक के इतिहास की बात करें तो उसमें सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में बिरले ही कुछ नैसर्गिक और स्वस्थ प्रक्रिया से हो पाया था!** बहरहाल, लेनिन का मँझोले किसानों के बारे में अप्रोच स्पष्ट था और वे उजरती श्रम का शोषण करने या न करने को सर्वहारा सत्ता के आम रवैये को तय करने का मुख्य आधार मानते

थे। आगे इस प्रश्न पर हम लेनिन के विचारों को थोड़ा और विस्तार से पेश करेंगे।

अब आइये इस विषय में माओ के विचारों पर भी एक निगाह डाल लें, जिनके प्राधिकार का बार-बार आवाहन करने का स्वाँग बेतेलहाइम की इस रचना में किया जाता है। माओ ने **'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना'** में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी उच्च मध्यम किसान हमारा मज़बूत दोस्त नहीं बनेगा, बल्कि निम्न मध्यम किसान हमारा साथी बनेगा। माओ सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुस्तक की आलोचना पेश करते हुए लिखते हैं, **"यह पुस्तक मध्यम किसानों का कोई विश्लेषण नहीं करती है। हम उच्च और निम्न मध्यम किसानों और साथ ही पुराने और नये मध्यम किसानों के बीच फर्क करते हैं, और उनमें से नये को थोड़ा बेहतर मानते हैं। अभियान के बाद अभियान के अनुभवों ने दिखलाया है कि ग़रीब किसान, नये निम्न मध्यम किसान और पुराने निम्न मध्यम किसानों का राजनीतिक रवैया तुलनात्मक रूप से बेहतर है। वे लोग जन कम्यूनों को अपनाते हैं। उच्च मध्यम और खाते-पीते मध्यम किसानों के बीच एक समूह है जो कम्यूनों का समर्थन करता है, तो दूसरा उसका विरोध करता है।"** फिर माओ बताते हैं कि कम्यून बनाने के अभियानों में नेतृत्व कई बार उच्च मध्यम किसानों और अवांछित तत्वों के हाथ में आ जाता है जिसके कारण कई किसान समूह कम्यून बनाने पर राज़ी नहीं होते। माओ सोवियत पुस्तक की आलोचना जारी रखते हुए कहते हैं, **"पृष्ठ 340 पर किताब कहती है कि "मूलतः मध्यम किसान का दोहरा चरित्र होता है।" इस प्रश्न के ठोस विश्लेषण की आवश्यकता है। ग़रीब, निम्न मध्यम, उच्च मध्यम और ख़ुशहाल मध्यम किसान सभी एक अर्थ में कामगार हैं, लेकिन एक दूसरे अर्थ में वे निजी मालिक भी है। निजी मालिक के तौर पर उनके दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं। ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों को अर्द्ध-निजी मालिक कह सकते हैं, जिसका दृष्टिकोण सापेक्षतः आसानी से बदला जा सकता है। इसके विपरीत उच्च मध्यम और ख़ुशहाल किसानों का निजी स्वामित्व वाला दृष्टिकोण ज़्यादा मज़बूत होता है, और उन्होंने ही सहकारीकरण का लगातार विरोध किया है।" (सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना, पृ. 37, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ)**

माओ के इन विचारों पर निगाह डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि बेतेलहाइम विशेष तौर पर किसान प्रश्न पर माओ की अवस्थिति का बार-बार ग़लत तरीके से विनियोजन करते हैं। स्पष्ट है कि समाजवाद की मंज़िल में तो आम तौर पर उच्च मध्यम किसान समाजवादी भूमि कार्यक्रम के विरोध में खड़ा होगा। सोवियत संघ में क्रान्ति के अपवादस्वरूप स्थितियों में होने, उसके बाद गृहयुद्ध और चार वर्षों के दौरान मज़दूर-किसान संश्रय के कमज़ोर पड़ने और किसान आबादी में आम तौर पर बोल्शेविक पार्टी की कमज़ोर मौजूदगी के विशेष कारणों के चलते सोवियत राज्यसत्ता को बचाने के लिए बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता ने समाजवादी रूपान्तरण के कदमों को रोका और रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाये। यह रणनीतिक तौर पर पीछे कदम हटाना 'नेप' की नीतियों के रूप में सामने आया जिसमें कि मँझोले किसानों को निर्धारित जिंस कर देने के बाद मुक्त बाज़ार में अपने अधिशेष के विपणन की आज़ादी दी गयी और साथ ही निजी व्यापारियों के वर्ग को भी कुछ आज़ादी दी गयी। लेकिन निश्चित तौर पर यह एक समाजवादी आक्रमण के बाद जीते गये बुर्जों को सुदृढ़ करने, कुछ ऐसे बुर्जों को छोड़कर हटने जिन पर कायम रहना सम्भव नहीं था और कुछ समय के लिए सुस्ताने की नीति थी, क्योंकि चार वर्षों के गृहयुद्ध ने सर्वहारा वर्ग

को बुरी तरह से क्लान्त कर दिया था। आम तौर पर, समाजवादी संक्रमण इसी रूप में ही हो सकता है, जिसमें समाजवादी आक्रमणों के कुछ दौर होंगे और रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने के कुछ दौर होंगे। लेनिन ने इसी वजह से 'नेप' की नीतियों को रणनीतिक तौर पर अस्थायी रूप से कुछ कदम पीछे हटाने की संज्ञा दी थी। लेकिन बेतेलहाइम इस रूपक से सहमत नहीं हैं और लेनिन के जीवन के कुछ आखिरी लेखों से सन्दर्भ से काटकर वह कुछ उद्धरण पेश करते हैं जिससे कि यह साबित कर सकें कि लेनिन अपने आख़िरी दिनों में 'नेप' की नीति को ही समाजवादी संक्रमण की आम नैसर्गिक नीति मानने लगे थे। इस पर हम आगे विस्तार से अपनी बात रखेंगे और दिखलायेंगे कि इस प्रश्न पर बेतेलहाइम बिल्कुल वहीं खड़े हैं जहाँ दुनिया भर के संशोधनवादी खड़े हैं और किस प्रकार बेतेलहाइम माओ को भी एक संशोधनवादी बना देते हैं!

लेकिन यहाँ हम पहले किसानों को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में अविभेदीकृत वर्ग के तौर पर देखने की बेतेलहाइम की ग़लती पर वापस आते हैं। हमने ऊपर इस बात की चर्चा की है कि लेनिन और माओ किस तरह से समाजवादी क्रान्ति के दौर में मँझोली किसान आबादी के दोहरे चरित्र की बात करते थे। वास्तव में, लेनिन ने गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी देशों द्वारा घेरेबन्दी की शुरुआत के बाद ही किसान आबादी को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने की नीति की अनुशंसा करनी शुरू कर दी थी। लेनिन का कहना था कि गाँवों में समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने का वक़्त आ गया है और इसके लिए ग़रीब किसान समितियों का निर्माण करना चाहिए और ग़रीब किसानों को अलग पंचायतों में संगठित किया जाना चाहिए। पार्टी ने गृहयुद्ध के ठीक पहले और उसके दौरान यह कार्य हाथ में लिया भी और कुछ समय तक यह कार्य सही ढंग से भी चला। लेकिन गृहयुद्ध के दौरान पार्टी के भीतर पैदा हुए "वामपन्थी" विचलन ने इस कार्य को सही ढंग से आगे नहीं बढ़ने दिया और ग़रीब किसान समितियों के संचालन को कुछ इस तरह से अंजाम दिया गया कि मँझोले किसानों की एक अच्छी-ख़ासी आबादी जिसे कि जीता जा सकता था या तटस्थ किया जा सकता था, उसे भी शत्रु खेमे की ओर धकेल दिया गया। साथ ही एक वस्तुगत सीमा यह थी कि ग़रीब किसान समितियों के कामकाज को सही ढंग से राजनीतिक निर्देशन देने के लिए पर्याप्त बोल्शेविक संगठनकर्ता मौजूद नहीं थे। नतीजतन, कई जगहों पर ये समितियाँ बिल्कुल स्वायत्त तरीके से काम करती रहीं और कई बार अपनी वर्ग भावना से प्रस्थान करते हुए निम्न मँझोले किसानों को भी निशाना बनाती रहीं।

बहरहाल, ग़रीब किसान समितियों और ग़रीब किसानों की अलग सोवियतों की परिकल्पना रखते हुए इन निकायों को लेनिन ने प्राथमिक तौर पर राजनीतिक निकायों के रूप में सोचा था जो कि क्रान्तिकारी प्रचार के ज़रिये कुलकों और धनी किसानों को अलग-थलग करतीं और निम्न मँझोले किसानों की बड़ी आबादी को अपने पक्ष में करतीं या फिर तटस्थ करती। **इस रूप में गाँवों में वर्ग संघर्ष एक ऐसी दिशा में आगे बढ़ता जिसमें कि समाजवादी निर्माण के कार्यों को गाँवों में आगे बढ़ाया जा पाता और सोवियत सत्ता का एक मज़बूत अवलम्ब गाँवों में खड़ा हो जाता। लेकिन चीज़ें उस रूप में आगे नहीं बढ़ पायीं और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में बुखारिन और त्रात्स्की के धड़े द्वारा की गयी ग़लतियों और पर्याप्त और उपयुक्त बोल्शेविक निर्देशन के अभाव के कारण ये ग़रीब किसान समितियाँ और ग़रीब किसानों की सोवियतें महज़ फसल वसूली की टुकड़ियाँ बन गयीं जो उचित राजनीतिक निर्देशन के अभाव में मँझोले किसानों के उन हिस्सों पर भी**

वार कर रही थीं, जिन्हें जीता जा सकता था या तटस्थ बनाया जा सकता था। ऐसे में, गाँवों में वर्ग शक्ति सन्तुलन कुछ इस प्रकार का बनने लगा जो कि सोवियत सत्ता के लिए ख़तरनाक हो गया। जब यह प्रक्रिया चरम पर पहुँची तो बहुत से गाँवों में बोल्शेविकों की टुकड़ियों और ग़रीब किसान समितियों पर हमले हुए और कई जगह धनी और मँझोले किसानों के साथ सशस्त्र झड़पें हुईं। क्रोंस्टाट विद्रोह में एक पहलू मँझोली किसान आबादी के बड़े हिस्से का सोवियत सत्ता से दूर होना भी था जिसका कि अराजकतावादियों, मेंशविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने लाभ उठाया था। **लेकिन इतना स्पष्ट है कि लेनिन की मूल कार्यदिशा बोल्शेविक क्रान्ति के कुछ समय बाद ही किसान आबादी को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने की थी, जो कि गृहयुद्ध के दौर और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई ग़लतियों (जिनमें से कुछ से नहीं बचा सकता था जबकि कुछ से बचा जा सकता था) के कारण सही तरीके से लागू नहीं की जा सकी।** निश्चित तौर पर, लेनिन रूस में समाजवाद के निर्माण की विशिष्ट परिस्थितियों में मँझोले किसानों की आबादी को एक समय तक रियायतें देने और कई बार सर्वहारा वर्ग की हितों की क़ीमत पर उनके हितों को प्राथमिकता देने की बाध्यता को समझते थे, लेकिन साथ ही लेनिन यह भी समझते थे कि गाँवों में किसानों की आबादी का राजनीतिक विभेदीकरण तेज़ी से करके इसी स्थिति को जल्द से जल्द समाप्त भी करना होगा। चूँकि तथ्यों और लेनिन के विचारों को बेतेलहाइम पूरी तरह विकृत नहीं कर पाते इसलिए एक जगह वह लेनिन के दौर में भी किसान प्रश्न को हल करने के तरीके पर असन्तोष और आपत्ति जताते हैं। यहाँ पर बेतेलहाइम का हेगेलीय प्रत्ययवाद और किसानवाद स्पष्ट तौर पर सामने आता है, जिसे वह माओवाद का जामा पहनाने का प्रयास करते हैं।

बेतेलहाइम एक स्थान पर सोवियत राज्यसत्ता के सर्वहारा और "जनवादी" होने की बात करते हैं। यह एक बेतुकी बात है। निश्चित तौर पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सर्वहारा वर्ग का जनवाद भी होगा और अलग से "जनवादी" विशेषण के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। वैसे भी राज्यसत्ता के लिए 'जनवादी' विशेषण का प्रयोग वास्तव में क्रान्ति के जनवादी मंज़िल में होने के लिए किया जाता है। मिसाल के तौर पर, बुर्जुआ जनवादी राज्य, जनता का जनवादी राज्य या फिर मज़दूरों और किसानों का जनवादी अधिनायकत्व। बोल्शेविक क्रान्ति एक समाजवादी क्रान्ति थी जो कि एक ऐसे देश में हुई थी जहाँ सर्वहारा आबादी कुल आबादी का एक छोटा सा हिस्सा थी। इसके कारण सोवियत सत्ता मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित थी, लेकिन इसके कारण वह मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही या फिर 'सर्वहारा और जनवादी राज्य' नहीं बन जाता है। बेतेलहाइम कहते हैं कि सोवियत रूस में किसान आबादी को सोवियतों से बाहर नहीं रखा जा सकता था क्योंकि उस सूरत में शक्ति/सत्ता कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाती और यह राज्यसत्ता समाजवादी राज्यसत्ता नहीं रह जाती क्योंकि उसमें 'अराज्य' का तत्व नहीं होता! यह पूरी तर्कपद्धति विचित्र है और इस पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का असर देखा जा सकता है। यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर से किसानों को अविभेदीकृत वर्ग के तौर पर पेश कर रहे हैं, जबकि लेनिन ग़रीब किसानों की अलग सोवियतें और समितियाँ बनाने की बात कर रहे थे। लेनिन ने तब भी कहा था कि सोवियतों में आबादी में हिस्सेदारी के अनुपात में प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। इसीलिए मज़दूर सोवियतों में मज़दूरों के प्रतिनिधित्व का अनुपात कम रखा गया था, जबकि किसान सोवियतों में यह अनुपात कहीं ज़्यादा था। ऐसी नीति बोल्शेविक पार्टी ने इसीलिए अपनायी थी

कि सोवियत सत्ता में मज़दूरों का प्रतिनिधित्व किसानों से ज़्यादा हो। बेतेलहाइम लेनिन की इस नीति को खुले तौर पर खण्डित नहीं करते हैं लेकिन उनकी कार्यदिशा स्पष्ट तौर पर लेनिन की इस नीति का नकार करती है। उनके अनुसार लेनिन की नीति सत्ता का केन्द्रीकरण कर रही थी और यह सोवियत राज्यसत्ता में बुर्जुआ विकृति और नौकरशाहाना विरूपताओं को बढ़ावा दे रही थी। **बेतेलहाइम का राज्यसत्ता के "जनवादी" चरित्र को लेकर मचाये जाने वाले हो-हल्ले के पीछे असल सोच यह है।** हालाँकि, बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा अन्तरविरोधों से भरा हुआ है। मिसाल के तौर पर, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की संरचना के बारे में चर्चा करते हुए बेतेलहाइम एक सटीक प्रेक्षण रखते हैं। वह बताते हैं कि सोवियतें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की संरचना में एक केन्द्रीय स्थान रखेंगी या नहीं रखेंगी, इस विषय में लेनिन का चिन्तन बदलता रहा था। मिसाल के तौर पर, **'राजनीतिक स्थिति'** नामक लेख में लेनिन ने लिखा था कि 'सारी सत्ता सोवियतों को' का नारा जुलाई 1917 तक ही प्रासंगिक था, क्योंकि उसके बाद मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने खुले तौर पर क्रान्ति से ग़द्दारी कर दी थी और अधिकांश सोवियतों में वे ही वर्चस्वकारी स्थिति में थे। लेकिन सितम्बर के बाद लेनिन ने फिर से सोवियतों के हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण की वकालत की क्योंकि उस समय तक सोवियतों में बोल्शेविकों की स्थिति सुदृढ़ हो गयी थी और भूमि पर कब्ज़ा करने और शान्ति के प्रश्न पर मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी दोनों ही बेनक़ाब हो गये थे और उनकी स्वीकार्यता घट चुकी थी। **लेनिन की अवस्थिति बिल्कुल स्पष्ट थी: सोवियतों को सत्ता देने के नारे की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर करती थी कि सोवियतों पर किसका राजनीतिक वर्चस्व है; यानी कि सोवियत टटपुँजिया वर्ग की राजनीति के मातहत हैं या फिर सर्वहारा वर्ग की राजनीति के मातहत।** इसीलिए बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि सोवियतें सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता में क्या स्थान रखेंगी, इसका कोई बना-बनाया सूत्र नहीं हो सकता और लेनिन में सोवियतों को लेकर कोई अन्धभक्ति (fetish) नहीं थी। लेनिन की यह समझदारी भी थी कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में सोवियतों का जो भी स्थान हो, लेकिन उसके प्रधान उपकरण का काम कोई ऐसा निकाय ही कर सकता है, जिसका विश्व दृष्टिकोण सर्वहारा हो, यानी कि सर्वहारा वर्ग की पार्टी। यही कारण था कि सोवियत राज्यसत्ता का जो ढाँचा क्रान्ति के बाद उभरकर सामने आया उसमें **सोवनार्कोम (जन कमिसार परिषद्)** की भूमिका सबसे अहम थी, जिसकी संरचना बोल्शेविक पार्टी तय करती थी। निश्चित तौर पर, यह परिषद् जो कि सरकार की भूमिका निभाती थी, वह अपने निर्णयों को **सोवियतों की अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारी समिति (वी.टी.एस.आई.के.)** में पारित करवाती थी और वी.टी.एस.आई.के. अपने सभी निर्णयों को **अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस** में पारित करवाती थी। लेकिन सरकार के रोज़मर्रा के कार्यों के निष्पादन की ज़िम्मेदारी सोवनार्कोम के रूप में एक ऐसे निकाय की थी, जिसे राजनीतिक तौर पर बोल्शेविक पार्टी नियन्त्रित करती थी। सोवियत सत्ता या सोवियत रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व इस रूप में काम करता था और इसी रूप में काम कर सकता था, जिसमें कि प्रधान उपकरण की भूमिका पार्टी निभाती थी और वह कई संचरण पट्टियों के ज़रिये सर्वहारा अधिनायकत्व की मशीनरी के अन्य निकायों, जैसे कि सोवियत, ट्रेड यूनियनों आदि से जुड़ी हुई थी, जो कि स्वयं कई अन्य संचरण पट्टियों द्वारा मज़दूरों के जनसमुदायों और आम मेहनतकश जनता के जनसमुदायों से जुड़ी हुई थीं। लेकिन बेतेलहाइम टुकड़ों-टुकड़ों में कुछ सही प्रेक्षण देने के बाद अन्त में फिर से अपने हेगेलीय प्रत्ययवाद, मनोगतवाद और किसानवाद के गड्ढे में जा गिरते हैं।

बेतेलहाइम बताते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण की एक प्रक्रिया चल रही थी। सोवियत सत्ता में शक्ति सोवनार्कोम के हाथों में केन्द्रित हो रही थी और पार्टी के भीतर केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के हाथों में केन्द्रित हो रही थी; सोवनार्कोम सीधे पार्टी के नियन्त्रण में था। बेतेलहाइम मानते हैं कि इस केन्द्रीकरण में अपने आप में कुछ ग़लत नहीं था और एक ऐसी मशीनरी के तहत ही पार्टी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण बन सकती थी। लेकिन यहाँ पर भी बेतेलहाइम कुछ बातें जोड़ देते हैं जिसके पीछे उनकी मंशा बाद में समझ में आती है। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि पार्टी का पूर्ण प्राधिकार लेनिन के जीवन काल में राज्यसत्ता पर स्थापित नहीं हो पाया था और इसलिए सर्वहारा राज्यसत्ता कई बार पार्टी की इच्छा से स्वायत्त बर्ताव करती थी। **अपने आप में यह दावा मासूम लग सकता है, लेकिन वास्तव में इसके पीछे बेतेलहाइम की मंशा यह सिद्ध करने की है कि लेनिन के जीवन काल में सोवियत सत्ता जब-जब सर्वहारा वर्ग के हितों के विपरीत काम कर रही थी तब उसका कारण यह था कि पार्टी का राज्यसत्ता पर पूर्ण प्राधिकार स्थापित नहीं हुआ था, लेकिन स्तालिन काल में तो पार्टी का राज्यसत्ता पर पूर्ण प्राधिकार स्थापित हो चुका था; इसलिए स्तालिन काल में राज्यसत्ता के नौकरशाहाना बर्ताव और प्रवृत्तियों के लिए राज्यसत्ता को नहीं बल्कि स्वयं पार्टी और स्तालिन के नेतृत्व को दोषी ठहराया जाना चाहिए!** तथ्यात्मक तौर पर भी यह बात ग़लत है। पार्टी के भीतर केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो का प्राधिकार और राज्यसत्ता के निकायों पर पार्टी का प्राधिकार दसवीं कांग्रेस (1921) के बाद मज़बूती के साथ स्थापित होने लगा था। और सैद्धान्तिक तौर पर भी यह दावा सही नतीजों तक नहीं ले जाता है क्योंकि राज्यसत्ता पर पार्टी का अधिकतम सम्भव प्राधिकार स्थापित हो जाने के बाद भी पार्टी यह सुनिश्चित नहीं कर सकती है कि राज्यसत्ता की पूरी मशीनरी हमेशा उसके निर्णयों के अनुसार ही व्यवहार करेगी और उसकी कोई स्वायत्तता नहीं होगी। तब भी राज्यसत्ता के व्यवहार में तमाम विचलन और विकृतियाँ मौजूद रहेंगी। वास्तव में, यह पूरा दावा इसलिए किया गया है क्योंकि बेतेलहाइम वास्तव में बोल्शेविक पार्टी की *जिन* चीज़ों की आलोचना कर रहे हैं, उसके लिए उन्हें लेनिन की भी आलोचना पेश करनी पड़ेगी और कई जगह दबे शब्दों में उन्होंने लेनिन की आलोचना की भी है; लेकिन लेनिन की आलोचना से बेतेलहाइम बचना चाहते हैं और उन्हें माओ का सही पूर्वज ठहराना चाहते हैं। इसलिए तमाम चीज़ों का दोष स्तालिन पर थोप दिया गया है (जिनके स्तालिन दोषी नहीं थे) क्योंकि स्तालिन सभी बुर्जुआ अकादमिकों के लिए एक नरम निशाना (soft target) होते हैं। अभी तो हम यह प्रश्न भी नहीं उठा रहे कि अधिकांश मुद्दे ही बेतेलहाइम ने ग़लत उठाये हैं, और जहाँ कहीं उन्होंने सही मुद्दे उठाये हैं वहाँ उनकी आलोचना मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूल सिद्धान्तों के अनुसार ग़लत है।

बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि प्रशासनिक ढाँचा भी राज्यसत्ता के शीर्ष निकायों से स्वायत्त रूप से बर्ताव कर रहा था। क्रान्ति के बाद, विशेष रूप से गृहयुद्ध के दौर में पार्टी द्वारा प्रतिपादित नीति, सोवनार्कोम द्वारा लागू की जाने वाली नीति, और फिर प्रशासनिक ढाँचे द्वारा कार्यान्वित नीति में फर्क होता था। कारण यह था कि बोल्शेविकों को क्रान्ति के बाद एक नया प्रशासनिक तन्त्र खड़ा कर पाने का अवसर नहीं मिला था और ऐसे में वे पुराने प्रशासनिक ढाँचे को इस्तेमाल करने के लिए बाध्य थे। इसलिए प्रशासनिक तन्त्र में पुराने अधिकारियों और विशेषज्ञों को विशेषाधिकार और अधिक वेतन देकर रखा गया। यह पूरा प्रशासनिक तन्त्र कई

बार सोवियत सत्ता और आम जनसमुदायों के बीच एक धूम्रावरण खड़ा कर देता था। इसे नियन्त्रित करने का पहला प्रयास पार्टी ने तब किया जब नियन्त्रण कमिसारियत की स्थापना की गयी। लेकिन बेतेलहाइम का मानना है कि प्रशासनिक तन्त्र को नियन्त्रित करने के लिए एक और प्रशासनिक उपकरण निर्मित करना व्यर्थ था। **यहाँ पर भी बेतेलहाइम का विश्लेषण कई स्तरों पर ग़लत है।** पहली बात तो यह है कि ऐसा नहीं था कि बोल्शेविकों ने राज्य तन्त्र को सम्भालने के लिए नये सर्वहारा तत्वों की तैयारी नहीं की थी। यह ज़रूर है कि गृहयुद्ध के दबाव में बोल्शेविक पार्टी ऐसे पर्याप्त तत्व तैयार नहीं कर पायी थी और न ही उन्हें उपयुक्त रूप से प्रशासनिक कार्यों में प्रशिक्षित कर पायी थी; ऐसे में, सोवियत सत्ता को पुराने प्रशासनिक ढाँचे और तत्वों का भी उपयोग करना पड़ा। अगर हम क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी के काडरों के कार्य-विभाजन को देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी का सबसे बड़ा हिस्सा राज्य के विभिन्न निकायों में काम कर रहा था, जैसे कि सेना, राज्य के अन्य आधिकारिक निकाय, तमाम कमिसारियतें आदि। वास्तव में, बेतेलहाइम बाद में इस पर भी आपत्ति करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी अपनी ताक़त का इतना बड़ा हिस्सा राज्यतन्त्र को सम्भालने में क्यों लगा रही थी! ख़ैर, मूल बात यह है कि बोल्शेविक पार्टी इस समस्या के प्रति सचेत थी और अवसर मिलने पर वह लगातार राज्यतन्त्र में सर्वहारा तत्वों और पार्टी तत्वों की भर्ती, शिक्षण और प्रशिक्षण कर रही थी। यह ज़रूर है कि इस दौर में लेनिन ने स्वयं इस बात पर बल दिया था कि अभी रूस का सर्वहारा वर्ग स्वयं राज्यतन्त्र की सारी ज़िम्मेदारियों का वहन करने के लिए राजनीतिक और तकनीकी तौर पर तैयार नहीं है। ऐसे में, कुछ समय तक सोवियत सत्ता को बुर्जुआ विशेषज्ञों का इस्तेमाल करना चाहिए और शासन-प्रशासन के तकनीकी पहलुओं को उनसे सीखना चाहिए, भले ही इसके लिए उन्हें अधिक वेतन और अन्य विशेषाधिकार देने पड़ें। लेनिन ने इस कदम की वकालत आर्थिक प्रबन्धन, प्रशासन और सेना तक में की। लेनिन एक यथार्थवादी थे, न कि प्रत्ययवादी। वह समझते थे कि जब तक सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण के तौर पर बोल्शेविक पार्टी काबिज़ है, तब तक राज्यसत्ता में पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों और उन्हें मिलने वाले विशेषाधिकारों से हमें घबराना नहीं चाहिए; हमें उनसे काम करवाना चाहिए, उनसे सीखना चाहिए और उन्हें नियन्त्रण में रखना चाहिए। **दूसरी बात यह है कि राज्यतन्त्र और प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए जो नियन्त्रण कमिसारियत खड़ी की गयी, वह वास्तव में कोई प्रशासनिक संस्था नहीं थी, बल्कि पार्टी संस्था थी और पूर्ण रूप से पार्टी के नियन्त्रण में थी।** यहाँ पर भी अप्रत्यक्ष निशाना स्तालिन ही हैं, क्योंकि इस कमिसारियत में उनकी अहम भूमिका थी। बहरहाल, नियन्त्रण कमिसारियत जिस हद तक प्रशासनिक ढाँचे और राज्यतन्त्र का नियन्त्रित करने का काम कर सकती थी, वह कर रही थी। गृहयुद्ध की आपात स्थितियों में उससे इससे ज़्यादा उम्मीद करना अयथार्थवादी होगा। लेकिन बेतेलहाइम का इशारा यहाँ सम्भवत: राज्यतन्त्र पर जनसमुदायों द्वारा प्रत्यक्ष नियन्त्रण की तरफ़ है और इस मामले में सम्भवत: वह चीन के उदाहरण और 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का अनुसरण कर रहे हैं। **लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति का विश्लेषण चीनी क्रान्ति की स्थितियों और शर्तों के आधार पर नहीं किया जा सकता है।** सोवियत रूस में उस समय जनसमुदायों द्वारा राज्यसत्ता पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण की बात करना बेमानी था। उस समय जनसमुदाय आम सहमति से तमाम बुर्जुआ विकृतियों और नौकरशाहाना विरूपताओं को अनुमोदित कर सकते थे। बहुसंख्यक किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का राजनीतिक-विचारधारात्मक वर्चस्व अभी स्थापित नहीं हुआ था; मज़दूर

आबादी गृहयुद्ध से बुरी तरह थकी हुए और बिखरी हुई थी। ऐसे में, राज्यतन्त्र और प्रशासनिक तन्त्र का स्वायत्त रूप से व्यवहार करना नैसर्गिक था और उस पर नियन्त्रण करने के लिए पार्टी द्वारा एक विनियामक संस्था का निर्माण भी उतना ही नैसर्गिक था। यहाँ बेतेलहाइम पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भों को ध्यान में लिये बग़ैर बोल्शेविक पार्टी और रूसी क्रान्ति से चीनी रास्ते पर चलने की उम्मीद कर रहे हैं, जो कि न सिर्फ़ अनैतिहासिक है बल्कि मूर्खतापूर्ण भी है। वास्तव में, 1921 के बाद बोल्शेविक पार्टी ने राज्यतन्त्र और प्रशासनिक ढाँचे के रूपान्तरण के काम को भी एक हद तक हाथ में लिया और उसे प्रभावी ढंग से पूरा भी किया। इस पर हम अगले अध्यायों में आयेंगे।

बुर्जुआ विशेषज्ञों का इस्तेमाल, उनसे सीखने और फिर अपने सर्वहारा तत्वों को तैयार करने की वांछनीयता को लेनिन ने केवल प्रशासनिक तन्त्र के लिए रेखांकित नहीं किया था, बल्कि गृहयुद्ध के दौरान यह प्रक्रिया पूरे के पूरे सोवियत राज्यतन्त्र में चली, जिसमें कि लाल सेना भी शामिल थी; हालाँकि बेतेलहाइम भी मानते हैं कि लाल सेना, विदेशी मामलों की कमिसारियत और चेका पर पार्टी का नियन्त्रण अन्य प्रशासनिक तन्त्रों के मुकाबले सन्तोषजनक था। बेतेलहाइम बताते हैं कि क्रान्ति के तत्काल बाद बोल्शेविकों के पास जन मिलिशिया थी जिन्हें जोड़कर बाद में लाल गाड्र्स का निर्माण किया गया। जब गृहयुद्ध शुरू हुआ तो लाल सेना को खड़ा करने की ज़िम्मेदारी त्रात्स्की को सौंपी गयी। जब लाल सेना का निर्माण हुआ तो उसमें ज़ार की सेना और आरज़ी सरकार की सेना के तमाम अफ़सरों को विशेषाधिकार, अधिक वेतन आदि के साथ सेना में पुनर्स्थापित किया गया और साथ ही उच्च दर्जे के अधिकारियों को सम्मान जताने वाले पुराने सलाम करने के तरीकों को भी फिर से लागू कर दिया गया। **बेतेलहाइम इन परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या किये बिना इनकी आलोचना करते हैं।** इस पूरी प्रक्रिया में गृहयुद्ध द्वारा पैदा हुई आपात स्थिति की कितनी भूमिका थी और त्रात्स्की की नौकरशाहाना और हिरावलपन्थी प्रवृत्ति को इसके लिए किस हद तक ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है? अगर इन बुनियादी प्रश्नों का जवाब न दें तो पूरा सन्दर्भ हमारे सामने साफ़ नहीं होता और ऐसा समझ में आता है कि बोल्शेविक पार्टी ने सोच-समझकर इन कामों को किया था। पूरा सन्दर्भ यह था कि सोवियत सत्ता को गृहयुद्ध में सैन्य अनुभव और कुशलता की ज़रूरत थी जो कि पुराने अफसरों के पास था। इसलिए पुराने अफसरों को विशेषाधिकारों और अधिक वेतनों के साथ वापस सेना में शामिल किया गया। लेकिन यह कोई अलग-थलग प्रक्रिया नहीं थी। आर्थिक विखण्डन, बिखराव और प्रशासनिक अराजकता से निपटने के लिए अर्थव्यवस्था और प्रशासन में भी बुर्जुआ विशेषज्ञों की सहायता लेनी पड़ रही थी हालाँकि इन कदमों के कारण वेतन का अन्तर और बुर्जुआ अधिकार बढ़ रहे थे। लेनिन ने उसी समय स्पष्ट किया था कि यदि सर्वहारा अधिनायकत्व को कायम रखा जाये और इन बुर्जुआ अधिकारों को सीमित दायरे में रखा जाये, तो इनसे घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। साथ ही, लेनिन ने क्रान्ति के बाद सोवियत सत्ता के लिए चार वर्षों तक मौजूद रहे अस्तित्व के संकट की ओर भी ध्यानाकर्षित किया और बताया कि इसके अलावा सोवियत सत्ता के सामने कोई और रास्ता ही नहीं था। **लेनिन ने गृहयुद्ध के दौरान ही बताया था कि रूस जैसे देश में समाजवादी संक्रमण के शुरुआती लम्बे दौर में एक पारम्परिक सेना की आवश्यकता बनी रहेगी; साथ ही, प्रशासन और अर्थव्यवस्था को प्रबन्धित करने के कार्य को भी सर्वहारा वर्ग को शुरुआती दौर में बुर्जुआ विशेषज्ञों से ही सीखना पड़ेगा; असल चीज़ यह है कि सर्वहारा वर्ग राजनीतिक सत्ता पर अपनी मज़बूत पकड़ बनाये रखे और बुर्जुआ अधिकारों और वेतन के अन्तर जैसी असमानताओं को**

विनियमित करे। लेनिन ने बताया कि सोवियत सत्ता के शुरुआती दौर के लिए ये कदम वांछनीय हैं और जो इस बात को नहीं समझता वह "वामपन्थी" बचकानेपन का शिकार है। किसी भी युद्ध में रणनीतिक कुशलता, अनुभव और सैन्य कौशल की आवश्यकता होती है; सोवियत सत्ता तत्काल अपने बूते पर ऐसी सेना नहीं खड़ा कर सकती है। ऐसे में, सेना में भी बुर्जुआ विशेषज्ञों की सहायता और सेवाएँ लेनी होंगी और उनसे सीखना होगा। समाजवादी संक्रमण के बहुत आगे की मंज़िल में पहुँचने के बाद ही एक स्थायी सेना की आवश्यकता का विलोपीकरण होगा और मज़दूर वर्ग की चेतना इस हद तक विकसित हो सकेगी कि वह स्वत:स्फूर्त रूप से युद्धों का संचालन और नियोजन कर सके और समूची सशस्त्र जनता अनुशासन के साथ निर्धारित रणनीति और योजना के तहत युद्ध लड़ सके। समाजवादी संक्रमण की आरम्भिक मंज़िल में ही स्थायी सेना की ज़रूरत को ख़त्म करने की उम्मीद करना ख़्याली पुलाव पकाने के समान है।

बेतेलहाइम अपनी इस रचना में कई स्थान पर जनवादी क्रान्ति के समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो जाने या उनके अन्तर्गुन्थन की इस बात करते हैं जिससे कि इन दोनों चरणों के बीच की राजनीतिक, विचारधारात्मक और ऐतिहासिक विभाजन रेखा को लोप हो जाता है। यह शब्दावली हमारे विचार में सटीक नहीं है और इससे त्रात्स्कीपन्थ की बू आती है। मिसाल के तौर पर, 'बोल्शेविक पार्टी और उसकी नेतृत्वकारी भूमिका' नामक उपशीर्षक में बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष का इतिहास बताते हुए बेतेलहाइम लेनिन की रचना 'जनवादी क्रान्ति में सामाजिक जनवादी की दो कार्यनीतियाँ' पर चर्चा करते हुए दावा करते हैं कि लेनिन ने इसमें जनवादी क्रान्ति के समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो जाने की सम्भावना की ओर इंगित किया था। लेकिन वास्तव में अगर स्वयं लेनिन की शब्दावली देखें तो हम पाते हैं कि वे क्रान्ति के दोनों चरणों में स्पष्ट अन्तर करते हैं, और साथ में यह कहते हैं कि एक चरण से बिना रुके हुए, 'अविरत क्रान्ति' (uninterrupted revolution) करते हुए दूसरे चरण तक जाया जा सकता है। वास्तव में, इस सम्भावना की बात मार्क्स और एंगेल्स ने भी की थी। लेकिन यहाँ पर शब्दों का चयन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि दोनों चरणों के बीच का फर्क रेखांकित हो क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्तिकारी वर्ग मोर्चा बदल जाता है, जैसा कि लेनिन ने बताया था। जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग समूची किसान आबादी के साथ संश्रय कायम करके जनता की जनवादी तानाशाही कायम करेगा और फिर बिना रुके आगे बढ़ेगा और खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा को मुख्य मित्र बनाते हुए समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करेगा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कायम करेगा। साथ ही, एक चरण से बिना रुके दूसरे चरण में प्रविष्ट होने का सवाल भी कोई सिद्धान्त का प्रश्न नहीं था और लेनिन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का एक यथार्थवादी मूल्यांकन पेश करते हुए इस सम्भावना की बात कर रहे थे कि सर्वहारा वर्ग क्रान्ति को एक चरण से बिना रुके दूसरे चरण में ले जा सकता है। **लेकिन इसे लेनिनवाद का बुनियादी नियम बना देना कठमुल्लावाद होगा और कार्यक्रम के प्रश्न को सिद्धान्त का प्रश्न बना देना होगा।** बहरहाल, बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन की इस रचना ने लासाल की इस अवधारणा को निर्णायक तौर पर ध्वस्त किया कि सर्वहारा वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। निश्चित तौर पर, लेनिन की इस रचना ने इस लासाल की इस "वामपन्थी" समझदारी को निर्णायक रूप से खण्डित किया, लेकिन मार्क्स और एंगेल्स ने पहले ही लासाल की इस समझदारी को ख़ारिज कर दिया था। मार्क्स और एंगेल्स ने एक पत्र व्यवहार में इस बात पर विचार किया था कि जर्मनी में सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य काफ़ी हद तक किसान युद्धों के नये संस्करणों पर भी निर्भर करता है। इस तरह बेतेलहाइम यहाँ एक तथ्यात्मक

अस्पष्टता पैदा कर रहे हैं।

बेतेलहाइम पार्टी इतिहास का जो ब्यौरा पेश करते हैं वह काफ़ी हद तक उनके अनैतिहासिक और प्रत्ययवादी नज़रिये को दिखलाता है। साथ ही, वह कुछ तथ्यात्मक भूलें भी करते हैं। मिसाल के तौर पर, 'पार्टी के निर्माण के लिए राजनीतिक संघर्ष' नामक उपशीर्षक में बेतेलहाइम एक जगह लिखते हैं कि 1905 के बाद पार्टी का विकास काफ़ी तेज़ गति से हुआ। लेकिन वास्तव में 1905 की क्रान्ति की पराजय और उसके बाद स्तोलिपिन की प्रतिक्रिया के दौर को रूसी मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और पार्टी के विकास के इतिहास में एक गिरावट के दौर के रूप में देखा जा सकता है। वास्तव में, 1911-12 के बाद ही आन्दोलन और पार्टी दोनों के विकास ने एक बार फिर से गति पकड़ी। **साथ ही, बेतेलहाइम दावा करते हैं कि फरवरी क्रान्ति के बाद जो पूँजीवादी आरज़ी सरकार बनी, शुरू में स्तालिन ने भी उसका समर्थन कर दिया था। लेकिन इस तथ्य का वह कोई स्रोत नहीं बताते और अन्य स्रोतों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं हो पाती और बस इस बात की पुष्टि हो पाती है कि स्तालिन समेत कई बोल्शेविकों में शुरुआती दौर में आरज़ी बुर्जुआ सरकार के प्रति भ्रम और अनिर्णय की स्थिति बनी हुई थी।** आगे बेतेलहाइम लिखते हैं कि बोल्शेविक पार्टी अपनी केन्द्रीय कमेटी के मातहत एकजुट थी, लेकिन वास्तव में केन्द्रीय कमेटी के भीतर स्वयं लेनिन को अपने विचारों को स्वीकार करवाने के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ता था। इस आधार पर बेतेलहाइम यह नतीजा निकालते हैं कि बोल्शेविक पार्टी मूलतः एक लेनिनवादी पार्टी नहीं थी। इसके ज़रिये बेतेलहाइम लेनिन को देवतुल्य बनाने और बोल्शेविक पार्टी को ग़ैर-लेनिनवादी क़रार देने की अपनी परियोजना को ही आगे बढ़ाते हैं। यह दावा निहायत अनैतिहासिक और बेतुका है। क्या बोल्शेविक पार्टी के लेनिनवादी होने का यह अर्थ है कि उस पार्टी में लेनिन के विचार बिना बहस या विवाद के स्वीकार लिये जायेंगे? क्या इसका अर्थ है कि पार्टी में कोई दो लाइनों का संघर्ष नहीं होगा? बिल्कुल नहीं! लेनिनवादी पार्टी की यह समझदारी एक निहायत एकांगी और एकाश्मी किस्म की समझदारी है। वास्तव में पार्टी के भीतर दो लाइनों के राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष के बाद पार्टी का अन्ततः आम तौर पर लेनिन के विचारों पर सहमत होना, उस पार्टी के जीवन्त जनवादी केन्द्रीयतावादी चरित्र को सिद्ध करता है और यह दिखलाता है कि बोल्शेविक पार्टी निस्सन्देह एक लेनिनवादी पार्टी थी। **बोल्शेविक पार्टी में यह आन्तरिक राजनीतिक और विचारधारात्मक शक्ति थी कि वह कटु और तीव्र राजनीतिक संघर्षों को चला सकती थी और अन्त में एक सही कार्यदिशा तक पहुँच सकती थी।** बेतेलहाइम की लेनिनवादी पार्टी की एक अवधारणा एक आदर्शीकृत अवधारणा है।

पहले भाग के अन्त में बेतेलहाइम एक अन्य तथ्यात्मक और अवधारणात्मक भूल करते हैं। बेतेलहाइम बताते हैं कि 1917 से 1921 के बीच बोल्शेविक पार्टी और सोवियत सत्ता को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनके पीछे मुख्य कारण थे व्यापक किसान जनसमुदायों में पार्टी की सीमित पहुँच, भौगोलिक तौर पर पार्टी की सीमित पहुँच, अनुभव की कमी, कुशल राजनीतिक कार्यकर्ताओं की कमी, आदि। उनका यह कहना सही है कि किसानों के बीच बोल्शेविकों के समर्थन का कारण बोल्शेविकों द्वारा एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम का समर्थन और युद्ध और शान्ति के प्रश्न पर उनकी नीति थी। लेकिन इससे बेतेलहाइम यह नतीजा निकालते हैं कि यही कारण थे जिनके चलते बोल्शेविक पार्टी क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने की बजाय 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' तक सीमित रही। **यानी**

कि सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद 'समाजवाद की ओर कुछ कदमों' के साथ समाजवादी निर्माण की शुरुआत करने के सारे कारण मनोगत थे, उनका कोई वस्तुगत पहलू नहीं था; पार्टी की कुछ निश्चित कमियों-कमज़ोरियों के कारण ही तत्काल समाजवादी नीतियों का कार्यान्वयन नहीं किया जा सका। यह पूरा दृष्टिकोण एक बार फिर से बेतेलहाइम के मनोगतवादी रवैये को दिखलाता है। वास्तव में, जहाँ तक सर्वहारा वर्ग और उद्योगों का प्रश्न था, तो उत्पादन और उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण सीधे मज़दूरों के हाथों में सौंपने की नीति न अपनाये जाने का मूल कारण पार्टी की सर्वहारा वर्ग में कम पहुँच नहीं थी; इसके दो वस्तुगत कारण थे, जैसा कि लेनिन ने बताया था। एक था क्रान्ति के पहले से ही जारी आर्थिक बिखराव और विखण्डन और दूसरा कारण (जो कि पहले कारण से जुड़ा हुआ ही था) सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक और तकनीकी तौर पर ज़्यादा कुशल न होना। यही कारण था कि सर्वहारा वर्ग का स्वत:स्फूर्त रूप से कारखानों को अपनी कारखाना समितियों के तहत लेकर उत्पादन और उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण करने का प्रयास असफल हो गया था। इसके बाद, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की नीति की लेनिन ने वकालत की थी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो चुका था और मज़दूर वर्ग को सधे हुए कदमों से समाजवाद के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ना था। लेकिन इसमें पहली मंज़िल थी लेखा और खाता-बही द्वारा उत्पादन का मज़दूर वर्ग द्वारा नियन्त्रण। इस दौर में मज़दूर वर्ग की सत्ता के लिए यह बाध्यता थी कि वह बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाएँ ले, उससे उत्पादन की पूरी प्रक्रिया के संचालन को सीखे और इस बीच सक्षम मज़दूर प्रबन्धक, तकनीशियन आदि तैयार करे। लेनिन ने बताया कि बड़ी पूँजी की सत्ता को चकनाचूर करने के बाद रूस में समाजवादी सत्ता के समक्ष सबसे बड़ा दुश्मन टटपुँजिया वर्ग और टटपुँजिया उत्पादन है और इसे ख़त्म करके ही समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। इसके लिए सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के एक दौर से गुज़रना वांछनीय था। जब "वामपन्थी" कम्युनिस्टों बुखारिन, ओसिंस्की, स्मिर्नोव ने बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखने, उन्हें अधिक वेतन और विशेषाधिकार देने और प्रत्यक्ष उत्पादकों के हाथों में उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण तत्काल न सौंपे जाने की आलोचना की तो लेनिन ने उनकी खूब खिल्ली उड़ायी और उन्हें शेखचिल्ली क़रार दिया था। लेनिन ने याद दिलाया कि जब तक सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम है, तब तक ऐसे कुछ संक्रमणकालीन कदमों से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है और ये संक्रमणकालीन कदम सोवियत सत्ता के अस्तित्व की पूर्वशर्त हैं। चार्ल्स बेतेलहाइम यह भी नहीं समझते कि कृषि के क्षेत्र में तो सोवियत सत्ता ने अभी 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' भी नहीं उठाये थे, सिवाय कुछ मॉडल राजकीय फार्मों और कुछ सामूहिक व सहकारी फार्मों के निर्माण के अतिरिक्त। कृषि के क्षेत्र में सोवियत समाजवादी सत्ता ने जनवादी क्रान्ति को सबसे रैडिकल तरीके से पूर्णता तक पहुँचाया था। लेनिन की यह कार्यदिशा थी कि जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीके से पूर्णता तक पहुँचाने के बाद पार्टी का तात्कालिक कार्यभार यह है कि वह किसानों को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करे, खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा के साथ मज़बूत एकता कायम करके कृषि क्षेत्र में समाजवादी रूपान्तरण की ओर आगे बढ़े। लेकिन गृहयुद्ध ने इस पूरी योजना और कार्यदिशा पर अमल करने का अवसर पार्टी को नहीं दिया। लेकिन इस पूरे घटनाक्रम को बेतेलहाइम अपने तरीके से पेश करते हैं, जिससे कि लेनिन की मूल कार्यदिशा छिप जाती है जो कि समाजवादी निर्माण की एक चरणबद्ध रूपरेखा प्रस्तुत करती थी; और 1921 में अपनायी गयी समाजवादी संक्रमण की आम नैसर्गिक नीति के रूप में 'नयी आर्थिक नीतियाँ' (नेप)

लेनिन की मूल कार्यदिशा बन जाती है। **यह तथ्यों का विकृतिकरण है और बेतेलहाइम यहाँ पर भी अपनी संशोधनवादी कार्यदिशा को "माओवाद" और बुखारिनपन्थ के मिश्रण के तौर पर पेश कर रहे हैं।**

2. दूसरा भाग – सोवियत सत्ता और 1917 और 1921 के बीच वर्ग सम्बन्धों का रूपान्तरण

बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वर्ग सम्बन्धों में आये परिवर्तनों और स्वयं वर्गों में आये परिवर्तनों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और निजी सम्पत्ति के कानूनी रूपों के ख़ात्मे के साथ बुर्जुआ वर्ग को पराजय का सामना करना पड़ा था, लेकिन बुर्जुआ वर्ग समाज से समाप्त नहीं हुआ था। उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर बुर्जुआ श्रम विभाजन और अधिरचना के धरातल पर बुर्जुआ विचारधारा की मौजूदगी बनी हुई थी। लेकिन अब ये चीज़ें सर्वहारा चौकसी और शासन के अन्तर्गत थीं। इसलिए पूरी प्रक्रिया, बेतेलहाइम के शब्दों में, "रूपान्तरित हो गयी थी, लेकिन उन्मूलित नहीं हुई थी।" निश्चित तौर पर, कोई भी क्रान्ति पूर्ववर्ती सामाजिक सम्बन्धों का उन्मूलन नहीं करती है, बल्कि सम्पत्ति सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के साथ उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के रूपान्तरण के कार्य की शुरुआत करती है और इसे अलग से रेखांकित करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। **लेकिन यह कहना कि पूरी प्रक्रिया "रूपान्तरित हो गयी थी, उन्मूलित नहीं" आपको इस सवाल का जवाब देने का बाध्य करती है कि किस चीज़ में रूपान्तरित हो गयी थी?** बेतेलहाइम इस प्रश्न का कहीं जवाब नहीं देते जो कि वास्तव में समाजवादी समाज के एक "संक्रमणशील समाज" (जो न तो पूँजीवादी कहा जा सकता है और न ही समाजवादी!) की पुरानी थीसिस से मेल खाता है। बहरहाल, बेतेलहाइम भी इतना मानते हैं कि सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी-वैधिक रूपों के रूपान्तरण की पूर्वशर्त को पूरा किये बग़ैर उत्पादन सम्बन्धों क्रान्तिकारी रूपान्तरण की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। लेकिन इसके बाद बेतेलहाइम मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अपने पुराने हेगेलीय प्रत्ययवादी और प्रतीतिगत तौर पर "माओवादी" विकृतिकरण पर आ जाते हैं।

बेतेलहाइम लिखते हैं कि उत्पादन सम्बन्धों के स्वरूप और संरचना का निर्धारण सामाजिक उत्पादन की वास्तविक स्थितियों, यानी कि उत्पादन और संचरण की संरचना, से होता है। सामाजिक उत्पादन की वास्तविक स्थितियाँ श्रम के सामाजिक विभाजन और उत्पादन के उपकरणों में प्रकट होती हैं; और ये श्रम विभाजन और उत्पादन के उपकरण पिछले दौर के वर्ग संघर्ष के उपोत्पाद या प्रभाव होते हैं। **दूसरे शब्दों में, बेतेलहाइम के अनुसार, उत्पादक शक्तियों का चरित्र वर्ग संघर्ष द्वारा निर्धारित होता है। वर्ग संघर्ष के चरित्र का निर्धारण बेतेलहाइम के अनुसार उन *निर्धारित भौतिक बुनियादों* के आधार पर होता है, जिनमें यह वर्ग संघर्ष होता है। अब सवाल यह पैदा होता है कि ये भौतिक बुनियाद क्या है, अगर यह स्वयं उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध नहीं है? यदि वर्ग संघर्ष उत्पादक शक्तियों के विकास और चरित्र को निर्धारित करता है तो वर्ग संघर्ष किस कारक से निर्धारित होता है?** निश्चित तौर पर, वर्ग संघर्ष किसी भी युग में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध को हल करता है। क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष के हस्तक्षेप के बिना उत्पादक शक्तियों का विकास निर्बन्ध नहीं हो सकता और पुराने

उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण नहीं हो सकता है क्योंकि वर्ग संघर्ष के ज़रिये ही शासक वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस होता है, जो कि पहले से मौजूद आर्थिक आधार (उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग) की हिफ़ाज़त करती है। **लेकिन यह कहना कि किसी भी समाज में उत्पादक शक्तियों (और उत्पादन सम्बन्धों) का चरित्र वर्ग संघर्ष द्वारा निर्धारित होता है और वर्ग संघर्ष का चरित्र *भौतिक परिस्थितियों* द्वारा निर्धारित होता है, एक अर्थहीन गोल चक्कर में घूमने के समान है। अपने हेगेलीय प्रत्ययवाद और मनोगतवाद के चलते बेतेलहाइम इसी गोल चक्कर में घूम गये हैं और अफ़सोस की बात यह है कि इस गोल चक्कर को वह माओ की रचना मानते हैं!**

बेतेलहाइम अपने इस गोल चक्कर में घूमते हुए यह सही सूत्र वाक्य दुहराते रहते हैं कि केवल सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण से उत्पादन सम्बन्धों का रूपान्तरण पूरा नहीं होता है। उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के लिए बुर्जुआ श्रम विभाजन और वितरण सम्बन्धों में समानता स्थापित होना आवश्यक है। यह सही है और इस तथ्य को मार्क्स से लेकर माओ तक सभी महान शिक्षकों ने अलग-अलग तरीके से स्पष्ट और रेखांकित किया है। लेकिन इस सही नतीजे तक पहुँचने के लिए उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व और वर्ग संघर्ष की भूमिका के विकृतिकरण की कोई आवश्यकता नहीं थी। माओ से अधिक माओवादी बनने के प्रयास में बेतेलहाइम इस बुनियादी मार्क्सवादी समझदारी को भूल गये हैं कि इतिहास में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध अन्तिम तौर पर निर्धारक शक्ति की भूमिका निभाता है; यह द्वन्द्व एक गत्यात्मक द्वन्द्व (dynamic dialectic) है जिसमें कि प्रधान पहलू और गौण पहलू एक-दूसरे में रूपान्तरित/परिवर्तित होते रहते हैं; यह अन्तरविरोध ही अपने आपको वर्ग समाज के पूरे दौर में वर्ग संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त करता है, जो कि इतिहास की तात्कालिक निर्धारक शक्ति होता है। इन बुनियादी सिद्धान्तों का बेतेलहाइम माओ और माओवाद के नाम पर हेगेलीय विकृतिकरण करते हैं और यह उनकी रचना में बार-बार होता है।

जैसा कि हमने पहले भी कहा है, बेतेलहाइम कई जगहों पर कुछ सटीक प्रेक्षण देते हैं, लेकिन अन्ततः वह प्रत्ययवाद की शरण में ही पहुँच जाते हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम का यह कहना एकदम दुरुस्त है कि समाजवाद की स्थापना का अर्थ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का "उन्मूलन" नहीं होता, बल्कि इसका अर्थ होता है सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और उसके तहत उत्पादन सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण का निरन्तर जारी रहना। बेतेलहाइम का यह कहना भी बिल्कुल सही है कि उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का अर्थ केवल सम्पत्ति सम्बन्धों, या दूसरे शब्दों में मालिकाने के सम्बन्धों का रूपान्तरण नहीं है। सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण के साथ तो सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के ख़ात्मे की मात्र पूर्वशर्त पूरी करता है। इसके बाद सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ श्रम विभाजन को ख़त्म करते हुए लगातार उन सभी चीज़ों से अपने अलगाव को ख़त्म करना होता है, जिनसे पूँजीवादी उत्पादन ने उन्हें काट दिया होता है। यह कार्य सर्वहारा वर्ग द्वारा अपने सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को बुर्जुआ वर्ग (जिसका सम्पत्तिहरण हुआ है, लेकिन जो समाज में अभी भी मौजूद है) पर लागू करते हुए उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को श्रम विभाजन को ख़त्म करने और वितरण सम्बन्धों को समानतामूलक बनाने तक ले जाना होता है। इस प्रक्रिया को अगर आगे नहीं बढ़ाया गया तो बुर्जुआ वर्ग ऐतिहासिक रूप से निर्धारित नये रूपों में (राजकीय बुर्जुआ वर्ग के रूप में) फिर से वर्चस्वकारी स्थिति में आ सकता है, और

सर्वहारा वर्ग उन बुर्ज़ों को एक बार फिर से हार सकता है, जिन्हें उसने जीता है। आगे बेतेलहाइम लेनिन द्वारा 'एक महान शुरुआत' नामक लेख में दी गयी वर्ग की परिभाषा को उद्धृत करते हुए यह बताते हैं कि कानून कई बार उत्पादन सम्बन्धों की मूल अन्तर्वस्तु को अभिव्यक्त करने की बजाय उसे छिपाते हैं, मिसाल के तौर पर, पूँजीवाद के तहत राजकीय सम्पत्ति, जो कि औपचारिक तौर पर सारी जनता की सम्पत्ति होता है, लेकिन वस्तुतः वह सामूहिक पूँजीपति वर्ग की संचित पूँजी होता है। **लेकिन यहाँ पर दो दिक्कतें हैं।**

एक तो यह कि बेतेलहाइम सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत जारी वर्ग संघर्ष के ज़रिये उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण की जिस प्रक्रिया का विवरण देते हैं, वह एकांगी और एकरेखीय है। समाजवादी संक्रमण के दौरान रूपान्तरण की यह प्रक्रिया सम रफ्तार से नहीं जारी रहती है। वह कई बार ठहराव और यहाँ तक कि विपर्यय से भी गुज़रती है। समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वहारा वर्ग अपनी पार्टी के नेतृत्व में और अपने अधिनायकत्व के ज़रिये कभी समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) को संचालित करता है, कभी जीते हुए किलों की हिफ़ाज़त करते हुए कदम अड़ा देता है, तो कभी वह रणनीतिक तौर पर कदम पीछे भी हटाता है (strategic retreat)। समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया जारी है या फिर ठहरावग्रस्त हो गयी है, इसका फैसला किसी छोटे कालखण्ड में नहीं किया जा सकता है और सच कहें तो समाजवादी रूपान्तरण के जारी रहने, ठहर जाने या पीछे की ओर जाने का हमेशा इस रूप में परिमाणात्मक मूल्यांकन करना सम्भव ही नहीं है। *मिसाल के तौर पर, अक्टूबर 1917 से मई 1918 के दौरान सोवियत रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और 'समाजवाद की ओर' कुछ सधे हुए कदम बढ़ाया जाना; मई 1918 से लेकर 1921 तक गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में पार्टी का वक़्त से पहले समाजवादी रूपान्तरण की कुछ आगे की नीतियों को लागू करने पर बाध्य होना और इस दौर में कुछ "वामपन्थी" बचकानेपन की ग़लतियों का होना; 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में समाजवादी रूपान्तरण की सही और सन्तुलित प्रक्रिया के जारी न रह पाने के कारण हुए नुक़सान की भरपाई के लिए रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना और 'नेप' की नीतियों का लागू किया जाना; 1926 तक के दौर में 'नेप' की नीतियों की बदौलत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पटरी पर लौटना और साथ ही 'नेप' के तहत किसानों और व्यापारियों को दी गयी छूट के रूप में बाज़ार की शक्तियों को दी गयी छूटों के कारण एक नये कृषक पूँजीपति वर्ग और उसके साथ नत्थी निजी व्यापारी पूँजीपति वर्ग का पैदा होना, जो कि समाजवादी राज्यसत्ता द्वारा विनियमन का विभिन्न रूपों में विरोध कर रहा था और असहयोग और तोड़-फोड़ तक की नीतियों को अपनाना शुरू कर रहा था; 1929 में 'नेप' की नीतियों की अनावश्यक उत्तरजीविता के कारण आर्थिक संकट का पैदा होना और पार्टी द्वारा आपातकालीन कदमों को उठाया जाना; और फिर 1930-31 से सामूहिकीकरण आन्दोलन की शुरुआत के रूप में सर्वहारा वर्ग का एक बार फिर से समाजवादी आक्रमण पर जाना*–ये सभी समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया के अलग-अलग चरण या दौर थे, जिसमें सर्वहारा वर्ग कभी आगे कदम बढ़ाता हुआ तो कभी पीछे कदम हटाता हुआ दिखता है। 1936 में सामूहिकीकरण आन्दोलन के साथ सोवियत अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से पूँजीवादी सम्पत्ति का ख़ात्मा हो गया और यह मानना होगा कि 1936 तक सोवियत संघ में समाजवादी रूपान्तरण तमाम उतार-चढ़ावों से होता हुआ *गुणात्मक रूप से* आगे बढ़ा। और यह भी नहीं भूलना चाहिए कि समाजवादी रूपान्तरण की इस प्रक्रिया को अपनी पार्टी के सक्रिय और संस्थाबद्ध नेतृत्व में

सर्वहारा वर्ग ने आम तौर पर लगभग हमेशा ही आपात स्थितियों में रहते हुए आगे बढ़ाया। क्योंकि केवल इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही हम 1917 से 1936 के बीच बोल्शेविक पार्टी और स्तालिन के चिन्तन, विशेष तौर पर, समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर हुए चिन्तन की कमज़ोरियों और विचलनों को समझ सकते हैं। स्तालिन के तहत सोवियत समाजवाद की समस्याओं पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे और कुछ प्रश्नों पर हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं। **लेकिन बेतेलहाइम द्वारा स्तालिन के दौर में समाजवादी निर्माण की समस्याओं पर चर्चा एक ग़लत ज़मीन से की जाती है। इसे बेतेलहाइम माओवादी आलोचना की ज़मीन के तौर पर पेश करते हैं, लेकिन यह वास्तव में हेगेलीय प्रत्ययवाद, युवा-हेगेलीय मनोगतवाद, बुखारिनपन्थ, त्रात्स्कीपन्थ, अल्थूसरीय उत्तर-संरचनावाद, और संशोधनवाद की ज़मीन है।**

दूसरी बात यह कि बेतेलहाइम वर्ग की परिभाषा के विषय में लेनिन का जो उद्धरण पेश करते हैं, उसे भी अपने अन्दाज़ में विनियोजित करते हैं। मिसाल के तौर पर, लेनिन अपने उद्धरण में कहते हैं कि उत्पादन सम्बन्धों में सम्पत्ति सम्बन्ध का पहलू अधिकांश मामलों में कानून द्वारा निर्धारित और सूत्रबद्ध होता है। **कानून उत्पादन सम्बन्धों की मूल अन्तर्वस्तु को छिपाते हैं, यह बात लेनिन ने नहीं लिखी है, बल्कि इसे बेतेलहाइम लेनिन पर आरोपित कर देते हैं।** लेनिन ने सिर्फ इतना कहा है कि आम तौर पर कानून सम्पत्ति सम्बन्धों को औपचारिक और निर्धारित रूप देते हैं, और कुछ मामलों में ऐसा नहीं भी हो सकता है, जिस सूरत में वे उत्पादन सम्बन्ध की मूल अन्तर्वस्तु को छिपा भी सकते हैं। लेकिन वे हर-हमेशा ऐसा ही करेंगे, लेनिन ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। लेनिन की अवस्थिति कहीं ज़्यादा द्वन्द्वात्मक और सन्तुलित है। अपने एकांगी दृष्टिकोण को सिद्ध करने के लिए बेतेलहाइम पूँजीवाद के तहत राजकीय सम्पत्ति का उदाहरण देते हैं, जिसे जनता की सम्पत्ति क़रार दिया जाता है। लेकिन कानून वास्तव में यहाँ सम्पत्ति सम्बन्धों की मूल अन्तर्वस्तु को पूर्ण रूप से छिपा पाने में कामयाब नहीं हो पाता क्योंकि पूँजीवादी समाज में *आम तौर पर* सर्वहारा वर्ग यह जानता या महसूस करता है कि राज्यसत्ता पर कौन काबिज़ है, और इसीलिए राजकीय सम्पत्ति का औपचारिक तौर पर मौजूद होना उसके लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखता। **बहरहाल, यहाँ पर बेतेलहाइम जिस भावी चोट की ज़मीन तैयार कर रहे हैं वह यह है कि सोवियत संघ में निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे से उत्पादन सम्बन्धों में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और दूसरा यह कि सोवियत राज्यसत्ता में 1930 के दशक की शुरुआत तक राजकीय बुर्जुआ वर्ग मज़बूती से काबिज़ हो चुका था, इसलिए उद्योगों में राजकीय सम्पत्ति की मौजूदगी के बाद भी उत्पादन के साधनों का प्रबन्धन सर्वहारा वर्ग के हाथों में नहीं था और उत्पादन के साधनों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण और फैसला लेने की ताक़त से तो वह मीलों दूर था। यह 1920 और 1930 के दशक के सोवियत समाजवाद के अनुभवों का एक न सिर्फ़ अतिवादी चित्रण है बल्कि ग़लत चित्रण है, जो सच्चाई से बेहद दूर है।** यह सच है कि सोवियत समाजवाद की समस्याओं का 1920 के दशक और 1930 के दशक में बोल्शेविक पार्टी सटीक तरह से हल नहीं निकाल सकी और उसकी समझदारी पर अर्थवाद का स्पष्ट प्रभाव था; यह भी सच है कि इस अर्थवादी विचलन के कारण स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी से कई परिघटनाओं के मूल्यांकन में गम्भीर भूलें भी इस दौर में हुईं; जहाँ एक ओर इस दौर सोवियत संघ में मज़दूर वर्ग के जीवन स्तर में गुणात्मक छलाँग लगी, स्त्री-पुरुष समानता की स्थिति में युगान्तरकारी बदलाव आया और मज़दूर वर्ग

की रचनात्मकता और पहलकदमी से समाजवादी निर्माण और समाजवादी उत्पादन के विकास में सोवियत संघ में चमत्कारिक छलाँगें लगायीं, वहीं यह भी सच था कि उत्पादक शक्तियों के विकास पर एकांगी ज़ोर और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के पहलू पर कम ज़ोर होने के कारण वेतन असमानता बढ़ी, मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना का सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को सर्वतोमुखी रूप से लागू करने के लिए उपयुक्त रूप से स्तरोन्नयन नहीं हो सकता और कुछ मामलों में मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चौकसी में कमी भी आयी। यह पूरी स्थिति यदि सभी पहलुओं के साथ बयान न की जाय तो बेतेलहाइम का यह दृष्टिकोण सोवियत संघ के इतिहास से अपरिचित किसी नये पाठक को सही लग सकता है कि 1917 के बाद से ही जारी कुछ विजातीय रुझानें विशेष तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद से बढ़ती रहीं और 1930 के दशक में ये रुझानें मुख्य रूप से सोवियत सत्ता पर हावी हो चुकी थीं; सोवियत सत्ता 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध में राजकीय बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के मातहत आ गयी थी, मज़दूर वर्ग की पहलकदमी समाप्त हो चुकी थी और वे अब राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पूँजी संचय को बढ़ाने के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचने वाला एक उजरती मज़दूर वर्ग बन चुका था। **यह सोवियत संघ के इतिहास का एक ख़तरनाक विकृतिकरण है और सोवियत समाजवादी निर्माण के पूरे दौर में जारी परस्पर विरोधी रुझानों को सम्पूर्णता में और उनके अन्तरविरोधों में नहीं पेश करता है।**

बेतेलहाइम यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी तर्क देने के छोर पर भी जाते हैं कि सर्वहारा वर्ग 1930 के दशक में उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं रखता था। निश्चित तौर पर, सर्वहारा वर्ग उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण समाजवादी निर्माण की बेहद ऊँची मंज़िलों में ही रख सकेगा; तब तक सर्वहारा राज्यसत्ता की मध्यस्थता के ज़रिये ही सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण रखेगा; इस दौर में आर्थिक परिघटना के तौर पर अलगाव इस हद तक मौजूद रहेगा कि अभी श्रम विभाजन, विनिमय सम्बन्ध मौजूद रहेंगे और इसलिए अधिशेष का विनियोजन होगा। लेकिन उसका स्वरूप बदल चुका होगा क्योंकि अब विनियोजित होने वाले और विनियोजित करने वाले का स्वरूप बदल चुका होगा और उनके बीच शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध नहीं होगा, हालाँकि दोनों के बीच एक अन्तर के रूप में अन्तरविरोध मौजूद रहेगा। इस अन्तरविरोध को सही ढंग से हल नहीं करने की सूरत में चीज़ें ग़लत मोड़ ले सकती हैं और इस रूप में इस पूरे संक्रमण के दौर में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना मौजूद रहती है। लेकिन इसके बावजूद यह एक बहुत बड़ा बदलाव है और अलगाव के चरित्र में यह बुनियादी और गुणात्मक परिवर्तन कर देता है और वस्तुतः अलगाव की पूरी परिघटना के विलोपन की दिशा में एक महान अग्रवर्ती कदम होता है। लेकिन बेतेलहाइम एक सच्चे अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी के समान इस बात को समझने में नाकाम रहते हैं और "प्रत्यक्ष नियन्त्रण" के पुराने अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी गाने को बीच-बीच में गुनगुनाते रहते हैं।

दूसरी बात यह कि समाजवादी निर्माण की उत्तरवर्ती मंज़िलों में भी, जब सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना इतनी उन्नत हो चुकी होगी कि वह संकीर्ण आर्थिक हितों से ऊपर उठकर पूरे सर्वहारा वर्ग के हितों को स्वयं समझने लगेगा और पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन के कामों को क्रमिक प्रक्रिया में अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लेता जायेगा, तब भी नेतृत्व करने वाले लोगों और नेतृत्व स्वीकार करने वाले लोगों का फ़र्क मौजूद होगा; बस फर्क इतना होगा कि यह अन्तर किसी बुर्जुआ अधिकार का आधार नहीं बनेगा और

नेतृत्व कोई विशेषाधिकार नहीं होगा बल्कि महज़ एक भूमिका होगी; दूसरी बात यह कि अब यह श्रम विभाजन अनमनीय और कठोर नहीं रह जायेगा, बल्कि तरल और परिवर्तनीय होगा। वास्तव में, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के विभेद के मिटने की क्रमिक और दीर्घकालिक प्रक्रिया का भी यही अर्थ हो सकता है। मिसाल के तौर पर मानसिक श्रम मानसिक श्रम ही रहेगा और शारीरिक श्रम शारीरिक श्रम ही रहेगा, लेकिन समाजवादी निर्माण के उच्चतर मंज़िलों में पहुँचने के साथ शारीरिक श्रम करने वालों और मानसिक श्रम करने वालों के बीच कोई कठोर और अनमनीय बँटवारा नहीं होगा और उनकी भूमिकाएँ अपरिवर्तनीय नहीं होंगी बल्कि परस्पर परिवर्तनीय होंगी। निश्चित तौर पर, तब भी ऐसे लोग होंगे जो कि शारीरिक श्रम में अधिक निपुण होंगे और कुछ ऐसे लोग होंगे जो कि मानसिक श्रम में अधिक निपुण होंगे, लेकिन शारीरिक श्रम तब अपमान का नहीं बल्कि गौरव का विषय होगा, शारीरिक श्रम की गरिमा बहाल हो चुकी होगी और बुर्जुआ श्रम विभाजन समाप्त होने की दिशा में आगे बढ़ चुका होगा। बेतेलहाइम अपनी ज़रूरत के अनुसार इस बात की पुष्टि भी करते हैं और फिर अपनी ज़रूरत के ही अनुसार "प्रत्यक्ष उत्पादक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण" की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी शब्दावली का अवसरवादी इस्तेमाल भी करते हैं, ताकि सोवियत संघ में स्तालिन के दौर में समाजवादी निर्माण के अग्रवर्ती विकास पर प्रश्न खड़ा किया जा सके।

1917 से 1923 के बीच शहरों में वर्ग सम्बन्धों में आये परिवर्तनों के बारे में चर्चा करते हुए बेतेलहाइम पूँजीपति वर्ग के एक प्रभुत्वशाली वर्ग के तौर पर ख़ात्मे की बात करते हैं; लेकिन वह आगाह करते हैं कि पूँजीपति वर्ग को प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में सत्ताच्युत करने की प्रक्रिया पूर्ण नहीं थी और न ही यह झटके से हुई। जैसा कि हम बता चुके हैं, राजकीय पूँजीपति वर्ग की पूरी अवधारणा का बेतेलहाइम ने बेहद लापरवाह किस्म से इस्तेमाल किया है। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के बारे में लिखते हुए वह हर चीज़ में ही राजकीय बुर्जुआज़ी की मौजूदगी को सूँघ लेते हैं। मिसाल के तौर पर, इस दौर के लिए बेतेलहाइम कहते हैं कि 1917 से 1923 के बीच में क्रान्ति की चुनौतियों के कारण एक राजकीय बुर्जुआ वर्ग का निर्माण हो गया था। यह इस पूरी अवधारणा का सटीक इस्तेमाल नहीं है। 1917 से 1923 के बीच राज्य और प्रशासन के लिए सर्वहारा सत्ता को पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों का इस्तेमाल करना पड़ा, उन्हें अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन से लेकर सेना तक में अहम पद देने पड़े, अधिक वेतन व सुविधाएँ देनी पड़ीं और यह कहा जा सकता है कि पुरानी बुर्जुआ राज्यसत्ता के प्रशासनिक ढाँचे को पूरी तरह से प्रतिस्थापित करने की क्षमता अभी रूसी सर्वहारा वर्ग के पास नहीं थी; इसके ऐतिहासिक कारण उन अपवादस्वरूप पैदा हुई स्थितियों में थे जिसमें कि बोल्शेविक क्रान्ति सम्पन्न हुई थी और जिनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेनिन बोल्शेविक क्रान्ति के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझते थे; साथ ही क्रान्ति के कुछ माह के अनुभवों के बाद ही लेनिन यह भी समझ गये थे कि रूसी सर्वहारा वर्ग अभी अपनी राज्यसत्ता के सुचारू संचालन में सक्षम नहीं है। वस्तुगत स्थितियों के अलावा तत्काल समाजवादी नीतियों की शुरुआत न करके समाजवाद की ओर कुछ कदम बढ़ाने के पीछे एक कारण यह कमज़ोरी भी थी। इसी के मद्देनज़र लेनिन ने समाजवादी निर्माण के पहले दौर के तौर पर रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की हिमायत की और बताया कि रूसी सर्वहारा वर्ग को अभी प्रबन्धन और नियोजन (आर्थिक और तकनीकी दोनों ही) के कई कामों को सीखने के लिए बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवा लेनी चाहिए और इसमें कोई हर्ज़

नहीं है; इस पहले दौर में पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा राज्यसत्ता को इन सभी कामों को सम्भालने के लिए सक्षम सर्वहारा तत्वों को तैयार करना चाहिए; जब तक सर्वहारा वर्ग राज्यसत्ता पर मज़बूती से काबिज़ है, बुर्जुआ विशेषज्ञों की राज्यसत्ता के आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचे में मौजूदगी और उन्हें मिलने वाले बुर्जुआ अधिकारों से घबराने की आवश्यकता नहीं है। **लेकिन वास्तव में इन बुर्जुआ विशेषज्ञों को ही विशिष्ट अर्थों में सोवियत रूस में क्रान्ति के तत्काल बाद पैदा हो गयी 'राजकीय बुर्जुआज़ी' की संज्ञा देना भ्रामक होगा। राजकीय पूँजीपति वर्ग समाजवादी संक्रमण के दौरान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं और बुर्जुआ श्रम विभाजन के कारण पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर से पैदा होता है। पहले से मौजूद बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा अस्थायी तौर पर इस्तेमाल करने के परिणामस्वरूप राज्यसत्ता की प्रशासनिक और आर्थिक संरचना में बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी को सीधे तौर पर राजकीय बुर्जुआ वर्ग की संज्ञा दे देना, इस पूरी अवधारणा का भी बचकाना सरलीकरण और साथ ही उस समय सोवियत रूस में समाजवादी निर्माण की स्थिति की भी एक बचकानी सरलीकृत व्याख्या है।**

बेतेलहाइम यहाँ भी अपने भावी आक्रमण की ज़मीन तैयार कर रहे हैं जिसके मुताबिक वह सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की किसी घटना (event) का ज़िक्र नहीं करते और न ही यह बताते हैं कि वास्तव में सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना कब हुई थी; वह उसे 1917 के बाद से ही जारी रुझानों की ही तार्किक परिणति के तौर पर देखते हैं। जैसा कि हम पहले भी इंगित कर चुके हैं, यह सोच 'संक्रमणशील समाज' की उनकी थीसिस से भी मेल खाती है। बेतेलहाइम का यह पूरा सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क माओ की समझदारी को सोवियत समाजवादी निर्माण पर लागू करने के नाम पर भयंकर सैद्धान्तिक गड़बड़झाला फैलाता है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का विकृतिकरण करता है।

मज़दूर नियन्त्रण और सोवियत सत्ता द्वारा क्रान्ति के तत्काल बाद इस पर जारी की गयी आज्ञप्ति की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम दिखलाते हैं कि सोवियत समाजवादी निर्माण का एक बुरा इतिहास कैसे लिखा जाय। वास्तव में, बेतेलहाइम सोवियत समाजवाद के विषय में तथ्यों, तर्कों और प्रमाणों के प्रति एक लापरवाह रवैया अक्सर इसलिए अपनाते नज़र आते हैं क्योंकि उनकी इस रचना में उनकी मूल मंशा एक वस्तुपरक इतिहास लिखना नहीं है, बल्कि सोवियत समाजवादी के विषय में अपनी पूर्वनिर्धारित "माओवादी" आलोचना को सिद्ध करना है। यही कारण है कि वह तसल्लीबख़्श विश्लेषण करने के समय लेने वाले कार्य को जैसे-तैसे करते हैं और तथ्यों के विवरण और उनकी व्याख्या से तेज़ी से फिसलते हुए उन मूल्य-आधारित निर्णयों तक पहुँच जाते हैं, जो पहले से तय हैं और जिनका वह बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे थे! **थियोडोर अडोर्नो** ने एक बार कहा था कि किसी भी आलोचनात्मक अध्ययन का उद्देश्य वास्तव में अध्ययन की प्रक्रिया में ही स्पष्ट होता है; चाहे अध्येता कितनी भी पूर्वनिर्धारित मान्यताएँ लेकर चले, ठोस तथ्यों का उसका प्रेक्षण और व्याख्या बार-बार उद्देश्य को नये रूप में परिभाषित और पुनर्परिभाषित करता रहता है। एक मायने में यह बात सच है, हालाँकि इस तर्क को एक छोर तक बढ़ा दिया जाय तो इस बात पर भी सन्देह किया जा सकता है कि लेखक की कोई *ए प्रायोरी* पक्षधरता होनी चाहिए। बेतेलहाइम पर अडोर्नो की यह टिप्पणी मुश्किल से ही लागू होती है। बेतेलहाइम के नतीजे पहले से तय हैं और तथ्यों को काट-छाँटकर और विकृत करके उनकी पूर्वनिर्धारित व्याख्या में फिट कर दिया गया है। लेकिन

इस हद तक अडोर्नो की यह बात बेतेलहाइम पर लागू भी होती है क्योंकि पहले खण्ड में बेतेलहाइम जिन नतीजों तक पहुँचना चाहते हैं, तीसरे खण्ड तक वह उससे कहीं ज़्यादा गैर-लेनिनवादी विश्लेषण और नतीजे तक पहुँच गये हैं। लेकिन इतना तय है किसी भी विषय-वस्तु के अध्ययन के आरम्भ से पहले, ए *प्रायोरी (a priori)*, केवल पहुँच और पद्धति तय की जा सकती है, नतीजे नहीं। यही कारण है कि यह पुस्तक बुरे इतिहास-लेखन का एक प्रातिनिधिक उदाहरण है।

मज़दूर नियन्त्रण की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम मानते हैं कि क्रान्ति के बाद फैक्टरी समितियों का आन्दोलन उनके भीतर मौजूद अराजकतावादी, संघाधिपत्यवादी और अर्थवादी रुझानों के कारण असफल हो गया था। उनके असफल होने के कारण उद्योगों में एक अव्यवस्था फैल गयी थी, जिसके कारण आर्थिक बिखराव पैदा हो रहा था। इससे निपटने के लिए मज़दूर नियन्त्रण की आज्ञप्ति लायी गयी जिसके तहत एक अखिल रूसी मज़दूर नियन्त्रण परिषद् का निर्माण किया गया। लेकिन इसके बाद बेतेलहाइम फैक्टरी कमेटियों की असफलता पर अपने दुख को छिपा नहीं पाते, क्योंकि उनके भीतर मौजूद अराजकातवादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों (जिसे बेतेलहाइम ग़लती से माओवादी जनदिशा समझ बैठे हैं!) के लिए फैक्टरी समितियाँ रूस में आर्थिक प्रबन्धन और नियोजन के लिए ज़्यादा मुफ़ीद निकाय थीं, जो कि "प्रत्यक्ष उत्पादक के उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण" को ज़्यादा बेहतर तरीके से सुनिश्चित करतीं! बेतेलहाइम अप्रत्यक्ष खेद के साथ लिखते हैं कि मज़दूर नियन्त्रण हेतु बनायी गयी परिषद् में फैक्टरी कमेटियाँ अल्पसंख्या में थीं। यह सच है। लेकिन यह भी सच है कि इस परिषद् में ट्रेड यूनियन के प्रतिनिधियों के अलावा तकनीशियनों, वीटीएसआईके, व फैक्टरी कमेटियों के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। निश्चित तौर पर ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों के संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। **लेकिन बोल्शेविकों के लिए इसके दो कारण थे। एक तो यह था कि ट्रेड यूनियनें मज़दूरों की ज़्यादा बड़ी और व्यापक इकाई, यानी कि पूरे उद्योग या पेशे का प्रतिनिधित्व करती थीं, जबकि फैक्टरी कमेटियाँ अलग-अलग कारखानों के मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती थीं, जो कि वास्तव में मज़दूरों को एक वर्ग के तौर पर नहीं बल्कि एक-एक कारखाने के मज़दूरों के तौर पर अलग-अलग संगठित करती थीं।** वास्तव में, जिस दौर में फैक्टरी कमेटियों ने कारखानों पर कब्ज़ा करके चलाया, उस दौर के अनुभवों ने बोल्शेविकों को दिखला दिया था कि फैक्टरी कमेटियाँ वास्तव में हर कारखाने के मज़दूरों को एक 'सामूहिक पूँजीपति' में तब्दील कर रही थीं, न कि "प्रत्यक्ष उत्पादक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण" को कायम कर रही थीं। फैक्टरी कमेटियों की असफलता पर चर्चा के लिए आप तीसरे अध्याय (**'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून, 2013, पृ. 34-59) को देख सकते हैं। इन अनुभवों से मिले सबक को देखते हुए बोल्शेविक नेतृत्व ने सही नतीजा निकाला और तय किया कि उद्योगों के प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए ट्रेड यूनियनें ज़्यादा सही निकाय हैं।

दूसरा कारण यह था कि ट्रेड यूनियनों के अखिल रूसी संगठन पर अब बोल्शेविकों ने अपना वर्चस्व कायम करना शुरू कर दिया था। ज्ञात हो कि इस संगठन पर पहले मेंशेविकों का वर्चस्व था। इन दोनों कारणों से बोल्शेविक सोवियत अर्थव्यवस्था के नियोजन व प्रबन्धन के अधिकार को फैक्टरी कमेटियों का नैसर्गिक अधिकार नहीं मानते थे। ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के अधिक व्यापक संगठन का प्रतिनिधित्व करने के नाते इसके लिए अधिक उपयुक्त थीं। साथ ही, वीटीएसआईके के प्रतिनिधि इस परिषद् में उच्चतम राजनीतिक प्राधिकार के

प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे।

बेतेलहाइम यह भी कहते हैं कि मेंशेविकों ने फैक्टरी कमेटियों के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का समर्थन किया था। यह बात तथ्यतः सही प्रतीत नहीं होती। सच यह है कि मेंशेविकों का वर्चस्व पारम्परिक तौर पर ट्रेड यूनियनों में ज़्यादा था और उन्होंने फैक्टरी कमेटियों द्वारा कारखानों के नियन्त्रण का शुरू से यह कहकर विरोध किया था कि यह आर्थिक अराजकता और अव्यवस्था फैला देगा। लेनिन ने भी फैक्टरी कमेटी आन्दोलन का क्रान्ति के पहले एक स्वतःस्फूर्त क्रान्तिकारी लहर के तौर पर समर्थन किया था, वह इसे कभी भी मज़दूर नियन्त्रण के नैसर्गिक उपकरण के तौर पर नहीं देखते थे; लेनिन के लिए यह इस बात पर निर्भर करता था कि इन कमेटियों की राजनीतिक चेतना का स्तर क्या है। अपने आप में उन्हें "प्रत्यक्ष नियन्त्रण" का दिव्य अधिकार नहीं प्राप्त था। बेतेलहाइम यहाँ एकदम ग़लत तथ्य पेश कर रहे हैं। मेंशेविकों में से कुछ आर्थिक विशेषज्ञों ने क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों में शामिल होने का निर्णय लिया था, उन्हें बाद में आर्थिक प्रबन्धन व नियोजन की ज़िम्मेदारियाँ सौंपी भी गयीं थीं। जब फैक्टरी कमेटियों की बजाय आर्थिक प्रबन्धन में बोल्शेविक सत्ता ने ट्रेड यूनियनों को प्राथमिकता दी तो मेंशेविकों ने इसका स्वागत किया था क्योंकि वे शुरू से ही इसकी माँग कर रहे थे। **शुरू से ही मेंशेविक ट्रेड यूनियनों के हाथों में नियन्त्रण सौंपने के पक्षधर थे, जबकि "वामपन्थी" कम्युनिस्ट, अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी फैक्टरी कमेटियों का समर्थन कर रहे थे।** लेकिन लेनिन ज़बरन ऊपर से कारखानों का नियन्त्रण फैक्टरी कमेटियों के हाथों से लेने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि अनुभव स्वयं मज़दूर वर्ग को सिखला देगा कि फैक्टरी कमेटियों के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के रास्ते मज़दूर वर्ग अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकता। जल्द ही यह सिद्ध भी हो गया और फैक्टरी कमेटियों की स्पष्ट असफलता के बाद उनके हाथों से नियन्त्रण लेकर ट्रेड यूनियनों के हाथों में सौंपा गया और फैक्टरी कमेटियों का भी एक राष्ट्रीय संगठन बनाया गया और उसे ट्रेड यूनियनों के राष्ट्रीय संगठन के मातहत लाया गया। वास्तव में फैक्टरी कमेटियों की असफलता को नज़र में रखते हुए ही अखिल रूसी मज़दूर नियन्त्रण परिषद् का निर्माण किया गया था। **बेतेलहाइम इन सारे तथ्यों को नज़रन्दाज़ कर देते हैं।**

आगे बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि जब अखिल रूसी मज़दूर नियन्त्रण परिषद् की प्रणाली राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन में कारगर नहीं साबित हुई तो फिर सर्वोच्च आर्थिक परिषद् (वेसेंखा) का निर्माण किया गया। **यह भी तथ्यों की ग़लत प्रस्तुति है।** वास्तव में वेसेंखा स्वयं भी सोवनार्कोम, वीटीएसआईके और ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों द्वारा ही बनी थी। वेसेंखा के बनने से सिर्फ़ इतना फर्क पड़ा कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन का कार्य और साथ ही ट्रेड यूनियनों का पूरा ढाँचा (जिनकी कि आर्थिक प्रबन्धन में भूमिका अधिक से अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही थी) अधिक से अधिक सोवनार्कोम और इस प्रकार पार्टी के नियन्त्रण के अधीन आता गया। **वेसेंखा के निर्माण का मुख्य कारण अखिल रूसी आर्थिक परिषद् की सफलता या असफलता नहीं था, बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व को सर्वतोमुखी रूप से प्रभावी तौर पर स्थापित करना था।** बेतेलहाइम यहाँ आर्थिक प्रबन्धन में लाये गये बदलावों की एक ग़लत व्याख्या पेश करते हैं जो कि तथ्यों की प्रस्तुति के धरातल पर भी ग़लत है।

वेसेंखा और उस समय उत्पादन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संगठन की बात करते हुए

बेतेलहाइम बताते हैं कि किस प्रकार वेसेंखा के ज़रिये आर्थिक मामलों के प्रबन्धन पर पार्टी का नियन्त्रण कायम हुआ और किस प्रकार उस समय बुर्जुआ विशेषज्ञों को तमाम विशेषाधिकार देने पड़े क्योंकि सर्वहारा वर्ग स्वयं तमाम तकनीकी व प्रबन्धन-सम्बन्धी कार्यों को अंजाम देने की काबिलियत नहीं रखता था। लेकिन आगे वे कुछ ऐसे प्रेक्षण रखते हैं, जिसे सुनकर आप विस्मय में पड़ सकते हैं। बेतेलहाइम लिखते हैं, *"वेसेंखा के संगठन और उत्पादन की इकाइयों से इसके सम्बन्धों के विषय में ठोस इंतज़ामात में से कुछ इंतज़ामों पर उस दौर की विशिष्ट स्थितियों की स्पष्ट छाप थी जिसमें वेसेंखा का निर्माण हुआ था। ये स्थितियाँ जनवादी केन्द्रीयता की बजाय प्रशासनिक केन्द्रीयता का समर्थन करती थीं। लेकिन, उन स्थितियों के तहत किये गये इन्तज़ाम मुख्य तौर पर बाद के दौर में भी कायम रखे गये और उन्हें हम राजकीय योजना आयोग या गॉस्प्लैन में भी देख सकते थे जो 22 फरवरी, 1921 को बना था (21 फरवरी 1920 को बने अखिल रूसी विद्युतीकरण आयोग, या गोएलरो के विकास के रूप में)। गॉस्प्लैन शुरुआत में एक मामूली "तकनीकी उपकरण" था, जिसका कार्यभार था आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करने के दृष्टिकोण से अध्ययन करना। केवल काफ़ी बाद में, फरवरी 1925 में, "विकेन्द्रीकृत" उपकरणों से लैस होकर यह कुछ हद तक वेसेंखा की जगह लेने में सक्षम हुआ।"* (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, 1917-1923, फर्स्ट पीरियड'**, हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 153, *अनुवाद हमारा*)

आप देख सकते हैं कि बेतेलहाइम की समझदारी यहाँ क्या है। बेतेलहाइम का मानना है कि उस दौर में राजकीय आर्थिक प्रबन्धन में जनवादी केन्द्रीयता नहीं बल्कि प्रशासनिक केन्द्रीयता की ही स्थितियाँ थीं। **कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति जानता है कि जनवादी केन्द्रीयता मूलतः कम्युनिस्ट पार्टी का सांगठनिक सिद्धान्त है; चाहें स्थितियाँ कैसी भी हों, समाजवादी संक्रमण के दौरान राजकीय उपकरणों (चाहे वे तकनीकी मामलों के लिए हों या आर्थिक मामलों के लिए) में तब तक जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता है, जब तक कि राज्यसत्ता के उपकरणों का चरित्र और उसमें तैनात लोगों का संघटन निर्णायक रूप से सर्वहारा न हो जाये। बेतेलहाइम स्वयं स्वीकार करते हैं कि राज्यसत्ता के उपकरणों में तमाम पदों पर पुराने बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी बनी हुई थी। ऐसे में, राजकीय उपकरणों में जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को लागू करते हुए राज्यसत्ता पर सर्वहारा नियन्त्रण को किस प्रकार क़ायम रखा जा सकता था? बेतेलहाइम इस सवाल का जवाब देने में अक्षम हैं। ज़ाहिर है, सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद लम्बे समय तक ऐसी स्थिति की उम्मीद करना व्यर्थ है जिसमें कि राज्यसत्ता के उपकरण के सर्वहारा चरित्र को सुनिश्चित किया गया होता और जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को सर्वहारा राज्यसत्ता के उपकरणों में भी लागू किया जा सकता।** अगर सर्वहारा वर्ग अपने अधिनायकत्व के तहत राजकीय अंगों में जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त लागू करेगा तो यह उसके अधिनायकत्व को कभी भी सर्वतोमुखी नहीं बनने देगा। ऐसे में, सर्वहारा वर्ग अपने अधिनायकत्व को कमज़ोर ही करेगा और उसे बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी तौर पर लागू नहीं कर सकेगा। अभी अगर हम गॉस्प्लैन के बनने और "बाद में" उसके वेसेंखा को प्रतिस्थापित करने में सक्षम होने के बारे में बेतेलहाइम के तथ्यों की अशुद्धता की बात छोड़ भी दें, तो इस विषय में बेतेलहाइम की समझदारी बेहद गड्ड-मड्ड है। वास्तव में, बेतेलहाइम का बुर्जुआ जनवादी विभ्रम जिस पर हम पहले भी कुछ प्रसंगान्तर करते हुए चर्चा कर चुके हैं, और आगे भी विस्तार से चर्चा करेंगे, यहाँ भी अपना सिर उठाते हुए देखा

जा सकता है। राजकीय ढाँचे में जनवादी केन्द्रीयता लागू करने की समझदारी किसी बुर्जुआ विभ्रम के असुधारणीय मरीज़ की ही समझदारी हो सकती है। बेतेलहाइम वैसे तो अलग से बुखारिन के "वामपन्थी" कम्युनिज़्म के शेखचिल्लीपन की आलोचना करते हैं (जो कि पार्टी और राज्य में केन्द्रीकरण का विरोध कर रहा था) और लेनिन के यथार्थवाद की हिमायत करते हैं, लेकिन वास्तव में वे राज्य और पार्टी में केन्द्रीकरण को केवल उस समय की स्थितियों द्वारा थोपी गयी एक मजबूरी के रूप में पेश करते हैं और लेनिन की प्रतिभा बेतेलहाइम के लिए इस बात में प्रतिबिम्बित होती है कि उन्होंने इस मजबूरी को पहचान लिया! बेतेलहाइम बताते हैं कि वेसेंखा से बुखारिन को हटाकर लारिन और मिल्यूतिन को उसकी ज़िम्मेदारी सौंप दी गयी जो कि राज्य और अर्थव्यवस्था में केन्द्रीकरण की वकालत करते थे। लेकिन बेतेलहाइम यहाँ यह नहीं बताते कि समाजवादी निर्माण की शुरुआती मंज़िलों (जो कि लेनिन के अनुसार एक लम्बे कालखण्ड तक जारी रहने वाली थीं) में लेनिन स्वयं राज्य और अर्थव्यवस्था में केन्द्रीकरण की वकालत करते थे। लेनिन ने 'राज्य और क्रान्ति' में लिखा था कि सर्वहारा राज्यसत्ता में शुरू से ही 'अराज्य' का तत्व होगा। लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति के बाद के करीब दो-ढाई वर्षों के अनुभव के बाद ही लेनिन ने अपने इस विचार को बदल लिया था और कहा था कि जो भी क्रान्ति के तत्काल बाद राज्य को कमज़ोर करने की बात करता है, वह वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व को कमज़ोर करने की बात कर रहा है। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि समाजवादी निर्माण की शुरुआती मंज़िलों में राज्य का तत्व मज़बूत ही होगा। 'अराज्य' का तत्व विकसित होने की प्रक्रिया कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं होगी। जब तक बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध को निर्णायक रूप से तोड़ नहीं दिया जाता, जब तक मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना का इतना स्तरोन्नयन नहीं हो जाता कि वह स्वयं एक वर्ग के तौर पर पार्टी के *संस्थाबद्ध* नेतृत्व के बग़ैर राज्य और अर्थव्यवस्था का संचालन करने के योग्य हो जाये, जब तक सर्वहारा वर्ग तकनीकी तौर पर भी उत्पादन और राज-काज की सम्पूर्ण प्रक्रिया के संचालन के योग्य नहीं हो जाता है, तब तक सर्वहारा राज्यसत्ता के 'राज्य' के तत्व को कमज़ोर करने की बात और 'अराज्य' के तत्व को बढ़ाने की बात करना बेमानी है। इस पूरे दौर में राज्य का तत्व सर्वहारा राज्यसत्ता में सुदृढ़ होगा। **विकेन्द्रीकरण और 'अराज्य' के तत्व के विकसित होने का प्रश्न सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना के स्तर और तैयारी से जुड़ा हुआ प्रश्न है। इसे एक अमूर्त लक्ष्य बना देना अन्त में सर्वहारा अधिनायकत्व को कमज़ोर करेगा। यह फिर से बेतेलहाइम के बुर्जुआ जनवादी विभ्रम और अराजकतावाद को ही दिखलाता है।** यही कारण है कि बेतेलहाइम लेनिन की अवस्थिति का अराजकतावादी विनियोजन करते हैं, उसमें क्रान्ति के अनुभवों के साथ आये बदलावों की चर्चा नहीं करते और यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि शुरुआती दौर में सोवियत राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था में केन्द्रीकरण लेनिन के लिए केवल एक अफ़सोसनाक मजबूरी थी, जो कि वस्तुगत परिस्थितियों द्वारा पार्टी पर थोप दी गयी थी! यह तथ्यों और लेनिन की अवस्थितियों की एक विकृत तस्वीर पेश करने के समान है।

बेतेलहाइम आगे वेसेंखा के तहत पैदा हुए प्रशासनिक ढाँचे की चर्चा करते हुए बताते हैं कि उद्योग की हर शाखा के लिए एक केन्द्र (ग्लाव्की) का निर्माण किया गया। इस *ग्लाव्की* में सोवियत सरकार यानी सोवनार्कोम की ओर से एक जनकमिसार की नियुक्ति होती थी। इसके अतिरिक्त, एक प्रशासनिक और एक तकनीकी प्रबन्धक की नियुक्ति की जाती थी। बेतेलहाइम शिकायत करते हैं कि मज़दूर नियन्त्रण के निकाय, यानी कि फैक्टरी समिति,

प्रशासनिक प्रबन्धन के कदमों पर प्रश्न तो उठा सकते थे, लेकिन तकनीकी प्रबन्धन पर नहीं; इसके अलावा, फैक्टरी समिति के प्रस्ताव प्रशासनिक आर्थिक परिषद् को सौंपे जाते थे, जिसमें मज़दूरों का बहुमत नहीं होता था, और जिसमें जनकमिसार द्वारा नियुक्त प्रबन्धक, तकनीशियन, आदि होते थे, जो कि कई बार भूतपूर्व पूँजीवादी प्रबन्धक/मालिक भी हुआ करते थे। बेतेलहाइम इस पूरी चीज़ पर सीधे हमला करने से कतराते हैं क्योंकि यह लेनिन के निर्देशन में ही हो रहा था, लेकिन वह पूरे मसले को ऐसे पेश करते हैं, जिससे की पाठक को लगेगा कि इन कदमों से मज़दूरों का नियन्त्रण ख़त्म हो रहा था और राजकीय बुर्जुआ वर्ग का नियन्त्रण बढ़ रहा था। लेकिन यहाँ बेतेलहाइम ग्लाव्की व वेसेंखा के पूरे ढाँचे की कुंजीभूत कड़ी को जानबूझकर नज़रन्दाज़ कर रहे हैं। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण तथ्य ये नहीं हैं कि प्रशासनिक और तकनीकी प्रबन्धकों की नियुक्ति या प्रशासनिक आर्थिक परिषद् में मज़दूर अल्पमत में थे या फिर मज़दूरों के प्रस्तावों को इस परिषद् के समक्ष रखा जाता था या नहीं। **यहाँ सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि इस पूरे ढाँचे के शीर्ष पर एक जनकमिसार था जो कि पार्टी द्वारा नियुक्त किया जाता था और इस पूरी मशीनरी को नियन्त्रित करता था। उस दौर में सर्वहारा नियन्त्रण को इसी रूप में स्थापित किया जा सकता था।** इस पूरे तथ्य पर बेतेलहाइम कोई ज़ोर नहीं डालते।

दूसरी बात यह है कि गृहयुद्ध के दौर में उद्योगों के विसंगठन का एक बहुत बड़ा कारण मज़दूरों का गाँव वापस चले जाना, उत्पादन में अनुशासन का न होना, और उनके अनुपस्थितिवाद (absenteeism) था; उत्पादन के बिखराव से निपटना उस समय पहली प्राथमिकता थी और उसके बिना गृहयुद्ध में विजय पाना बोल्शेविक सत्ता के लिए असम्भव था। इसलिए फैक्टरी कमेटियों के प्रस्तावों को प्रशासनिक आर्थिक परिषद् के समक्ष रखा जाता था। तकनीकी प्रबन्धक उत्पादन की ठोस गतिविधियों और प्रक्रियाओं का निर्धारण करता था; उत्पादन में अनुशासन कायम रखने के लिए उस समय उसे फैक्टरी समितियों के नियन्त्रण के तहत नहीं रखा जा सकता था क्योंकि फैक्टरी समितियों में उस समय स्वयं अनुशासनहीनता, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और अर्थवाद का ज़बरदस्त असर था। **असली चीज़ थी जनकमिसार का नियन्त्रण और निर्णय और उसके आधार पर प्रशासनिक प्रबन्धन द्वारा उत्पादन को प्रबन्धित करने के निर्णय लेना (जिस पर मज़दूर प्रश्न खड़ा कर सकते थे); तकनीकी प्रबन्धन की भूमिका सबसे बाद में आती थी जो कि उत्पादन के तकनीकी कुशलता के पहलुओं से सरोकार रखता था।** जब मज़दूर वर्ग स्वयं राजनीतिक और तकनीकी कौशल न रखता हो, और अराजकतावादी रुझानों का शिकार हो, उस दौर में तकनीकी प्रबन्धन पर मज़दूरों के "प्रत्यक्ष" नियन्त्रण की बात करना बेमानी है। **लेकिन बेतेलहाइम इस तथ्य को गोल कर जाते हैं कि इस पूरे तन्त्र पर जनकमिसार का नियन्त्रण वास्तव में क्या था? उसका चरित्र क्या था? अगर इस कुंजीभूत तथ्य को ग़ायब कर दिया जाये तो वास्तव में आप सिमोन वील और ब्रूनो रिज़्ज़ी** (तीसरा अध्याय देखें–**'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 78-79) **जैसे लोगों के सिद्धान्त पर पहुँच जायेंगे।** बेतेलहाइम वहाँ तक तो नहीं जाते लेकिन पाठक को उन अर्थहीन सिद्धान्तों और व्याख्याओं की ओर जाने को प्रेरित ज़रूर कर देते हैं। विडम्बना की बात यह है कि यह सब "माओवादी" जनदिशा के नाम पर किया जाता है!

बुखारिन जब अपने शुरुआती "वामपन्थी" भटकाव को छोड़कर त्रात्स्की के दक्षिणपन्थी भटकाव के छोर पर आते हैं और राज्य में केन्द्रीकरण और अर्थव्यवस्था के राजकीय नियन्त्रण

की वकालत करते हैं, तो बेतेलहाइम उन पर तीख़ा हमला करते हैं, और यह हमला भी वह प्रतीतिगत तौर पर एक "माओवादी" अवस्थिति से करते हैं। बुखारिन अपनी रचना **'इकोनॉमिक्स ऑफ दि ट्रांज़िशनल पीरियड'** में "युद्ध कम्युनिज़्म" की आपात नीतियों की आम तौर पर हिमायत करते हुए उन्हें कम्युनिज़्म की ओर संक्रमण का सही रास्ता क़रार देते हैं। यह निश्चित तौर पर ग़लत था क्योंकि इसके तहत श्रम के सैन्यकरण, प्रशासन व अर्थव्यवस्था में बुर्जुआ विशेषज्ञों को रखने, ज़बरन फसल वसूली आदि को वांछनीय कदम क़रार दिया गया है। मुद्रा को सचेतन तौर पर ख़त्म करने के कार्यकारी निर्णय को बुखारिन ने सही ठहराया है और कहा है कि समाजवादी राज्य मुद्रा के अवमूल्यन के द्वारा उसकी प्रासंगिकता को ही समाप्त कर देगा और बाद में मुद्रा के विनिमय के द्वारा वस्तुओं में राज्य द्वारा प्रबन्धित वस्तु विनिमय होगा। ज़ाहिर है कि बुखारिन का "वामपन्थी" शेखचिल्लीपन और दक्षिणपन्थी विचलन इस रचना में मिश्रित होकर आया है और इस रूप में इसकी बेतेलहाइम ने सही पहचान की है। लेकिन बेतेलहाइम इस रचना के ज़रिये बुखारिन पर एकतरफ़ा हमला करते हैं और इस तथ्य को छिपा जाते हैं कि इस रचना के कई पहलुओं की लेनिन ने प्रशंसा की थी और कहा था कि समाजवादी निर्माण की कई भावी नीतियों का इसमें सही तरीके से पूर्वानुमान लगाया गया है। **लेनिन ने बुखारिन की आलोचना इसलिए की थी कि वह समाजवादी निर्माण की उन नीतियों को तत्काल ही लागू करने के पक्षधर थे, जिन्हें कि केवल भविष्य में ही लागू किया जा सकता था।** दूसरी बात यह कि इन नीतियों को तत्काल लागू करने के लिए वे "युद्ध कम्युनिज़्म" की उन आपातकालीन नीतियों को समाजवादी निर्माण की स्वाभाविक नीतियाँ बता रहे थे, जो कि गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के कारण सोवियत राज्यसत्ता पर थोप दी गयीं थीं। बुखारिन का मानना था कि जब सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाता है, तो अर्थव्यवस्था और कुशलता का मुद्दा प्रमुख मुद्दा बन जाता है। इस प्रकार बुखारिन अपने पुराने "वामपन्थी" बचकानेपन और त्रात्स्कीपन्थी दक्षिणपन्थी भटकाव का एक मिश्रण कर रहे थे और राजनीति की केन्द्रीयता को नकार रहे थे। लेकिन जहाँ तक ठोस आर्थिक नीतियों की बात है, उन्होंने कई भावी समाजवादी नीतियों का इस रचना में काफ़ी हद तक सही अनुमान लगाया था और इस रचना की मूलभूत कमज़ोरियों के बावजूद इस मायने में लेनिन ने इसकी प्रशंसा भी की थी। बेतेलहाइम इस रचना और बुखारिन व त्रात्स्की की पूरी अवस्थिति की एक दक्षिणपन्थी, किसानवादी, अराजकतावादी अवस्थिति से आलोचना करते हुए उन्हें एकतरफ़ा तरीके से ख़ारिज कर देते हैं; यह लेनिन का तरीका नहीं था। लेनिन ने बुखारिन और त्रात्स्की की ग़लती के सही चरित्र को पकड़ते हुए एक सटीक व्याख्या की थी। लेकिन निश्चित तौर पर अगर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी छोर से तुलना करें तो लेनिन इस दूसरे छोर (बुखारिन-त्रात्स्की धड़ा) के ज़्यादा सकारात्मकों और कम नकारात्मकों को देख रहे थे। इसका एक नैसर्गिक कारण था। कारण यह था कि अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वाम" धड़ा पार्टी और राज्यसत्ता के सुदृढ़ीकरण की आवश्यकता को नकारते हुए स्वत:स्फूर्ततावाद की वकालत कर रहा था, जबकि बुखारिन-त्रात्स्की धड़ा पार्टी और राज्य की भूमिका को अतिरेखांकित कर रहा था और जनसमुदायों की भूमिका को पूरी तरह से नज़रन्दाज़ कर रहा था। **ये मनोगत और वस्तुगत, हिरावल और वर्ग, और चेतना और स्वत:स्फूर्तता के बीच के द्वन्द्व को नहीं समझ पा रहे थे और इसीलिए लेनिन ने कहा कि ये दोनों ही अर्थवाद के दो संस्करण हैं, एक-दूसरे की छाया (mirror image) हैं, और राजनीति की प्राथमिकता के सिद्धान्त को नहीं समझते हैं।**

बुखारिन पर एक ग़लत और अवसरवादी हमला करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि

अपने "वाम"-दक्षिण भटकाव के कारण ही बुखारिन लेनिन के 'मज़दूर-किसान राज्य' की थीसिस को नहीं समझ पाये थे; हम पहले ही दिखला चुके हैं कि लेनिन ने इस सूत्रीकरण को बाद में स्वयं ही ग़लत कहा था। हालाँकि जिस वजह से लेनिन ने सोवियत राज्य को 'मज़दूर-किसान राज्य' कहा था वह वजह सही थी, यानी कि सोवियत सर्वहारा राज्यसत्ता का मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित होना और इस संश्रय की हिफ़ाज़त करने की ज़रूरत, जिसे सोवियत सत्ता को केवल मज़दूर राज्य मानते हुए भी बुखारिन नहीं समझ पा रहे थे (इस नुक्ते पर चर्चा के लिए इसी परिशिष्ट में वर्तमान अंक में देखें पृ. 65-67)। लेकिन बेतेलहाइम अवसरवादी ढंग से अपने किसानवाद को सामने लाते हैं और इस बहस के पूरे सन्दर्भ को ग़ायब करके सोवियत सत्ता को मज़दूर-किसान राज्य के रूप में पेश करने का प्रयास करते हैं और ग़लत कारणों के लिए बुखारिन की निन्दा करते हैं। बाद में बेतेलहाइम यह भी जोड़ देते हैं कि स्वयं स्तालिन बाद में इस "वाम"-दक्षिण भटकाव के शिकार हो गये थे और पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान स्तालिन की भी यही समझदारी थी; यही कारण था कि स्तालिन ने 1936 में कहा था कि सोवियत संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं थे और इसी के कारण बाद में पार्टी में संशोधनवाद पैदा हुआ। स्पष्ट है कि बेतेलहाइम यहाँ समाजवादी निर्माण की समस्याओं और संशोधनवाद के पैदा होने के कारणों की व्याख्या करते हुए अतिवादी मूल्यांकन कर रहे हैं और पूरे मसले का अतिसरलीकरण कर रहे हैं। ये सारा विकृतिकरण भी बेतेलहाइम "माओवाद" और "जनदिशा" के नाम पर करते हैं जबकि वास्तव में इस प्रक्रिया में वह अपने किसानवाद, हेगेलीय प्रत्ययवाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद को ही बेनक़ाब कर देते हैं।

जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया था, बेतेलहाइम राजकीय पूँजीपति वर्ग के निर्माण की अवधारणा का बेहद लापरवाह इस्तेमाल करते हैं। किसी भी जगह और हर जगह राजकीय पूँजीपति वर्ग की गंध तुरन्त ही बेतेलहाइम तक पहुँच जाती है। मिसाल के तौर पर, उनकी दलील है कि 1917 से 1923 के बीच एक ओर तो पुराने पूँजीपति वर्ग का आर्थिक और सामाजिक आधार नष्ट हो गया, वहीं राज्यसत्ता के भीतर एक नयी बुर्जुआज़ी पैदा हो गयी। यहाँ बेतेलहाइम उन लोगों के वर्ग को राजकीय बुर्जुआज़ी की संज्ञा दे रहे हैं जो कि पेशेवर शहरी मध्यवर्ग के लोग थे और जिन्हें सोवियत सत्ता को शुरुआत में ऊँचे वेतनों और सुविधाओं के साथ प्रशासन और अर्थव्यवस्था-सम्बन्धी कामों में रखना पड़ा था। बाद में दौर में, बेतेलहाइम खुद ही कहते हैं कि वर्ग मूल का प्रश्न गौण बन गया था और राजकीय बुर्जुआज़ी का मुख्य आधार बुर्जुआ अधिकार और बुर्जुआ प्रथाएँ बन गयीं थीं और कुशल और अकुशल मज़दूरों के बीच का अन्तर, उत्पादक और प्रबन्धकीय गतिविधियों के बीच का अन्तर एक नयी राजकीय बुर्जुआज़ी को जन्म दे रहा था। यह पूरा सैद्धान्तिकीकरण शायद बेतेलहाइम को बाद में खुद ही एकतरफ़ा किस्म का लगा, इसलिए बाद में वह एक 'आवश्यक सूचना' जोड़ देते हैं और बताते हैं कि राज्यसत्ता में मौजूद सारे पदधारी लोग राजकीय पूँजीपति वर्ग नहीं थे! अब बेतेलहाइम अपनी ही बातों में फँस जाते हैं। **फिर वास्तव में राजकीय बुर्जुआज़ी को किस रूप में परिभाषित किया जाय? कौन राजकीय पूँजीपति वर्ग का सदस्य है और कौन नहीं, यह कौन तय करेगा और कैसे तय करेगा?** यानी कि राज्यसत्ता के सभी प्रशासनिक पदाधिकारी या उच्च पदों पर आसीन लोगों में से कुछ राजकीय पूँजीपति वर्ग हैं और कुछ नहीं; **तो फिर तय करने का बुनियादी पैमाना क्या है?** यहीं पर राजकीय पूँजीपति वर्ग की पूरी अवधारणा का बेतेलहाइम द्वारा बेतहाशा लापरवाह इस्तेमाल सामने आता है। **पहली बात** तो यह कि सोवियत राज्यसत्ता ने टटपुँजिया वर्ग के पेशेवरों (यानी कि

तकनीशियनों, प्रबन्धकों, आदि) और साथ ही पुराने पूँजीपति वर्ग से आर्थिक और प्रशासनिक स्तर पर बुर्जुआ अधिकारों को देते हुए जो सुविधाएँ ली थीं, उनके कारण तुरन्त ही सोवियत राज्यसत्ता में कोई राजकीय पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा, यह बात अपने आपमें वर्ग की पूरी अवधारणा की एक ग़लत समझदारी पेश करता है। यह सैद्धान्तिक तौर पर बिल्कुल सही है कि बुर्जुआ श्रम विभाजन राजकीय पूँजीपति वर्ग को जन्म देते हैं। लेकिन इस सिद्धान्त का बेतेलहाइम द्वारा इस्तेमाल दुरुस्त नहीं है। राजकीय पूँजीपति वर्ग के पैदा होने का फैसला सोवियत सत्ता के स्थापित होने के तुरन्त बाद ऊँचे वेतनों और सुविधाओं के साथ रखे गये बुर्जुआ विशेषज्ञों से नहीं हो जाता है। ये बुर्जुआ विशेषज्ञ बाद में निकाले जा सकते थे, या बदल सकते थे। कइयों के साथ ऐसा हुआ था। जैसे-जैसे बोल्शेविक पार्टी ने अपने काडरों के बीच से तकनीकी और प्रशासनिक ज़िम्मेदारियाँ उठाने के लिए लोगों को तैयार किया, वैसे-वैसे उन बुर्जुआ तकनीशियनों और विशेषज्ञों को सोवियत राज्यसत्ता से बाहर भी किया गया या वे खुद ही बाहर हो गये (प्रशासन के भीतर किस प्रकार एक वर्ग संघर्ष जारी था और किस प्रकार नये मज़दूर कार्यकर्ताओं और संगठनकर्ताओं ने कई बार ग़लत तरीके से भी बुर्जुआ विशेषज्ञों को प्रशासन से बाहर जाने को बाध्य कर दिया और किस प्रकार लेनिन समेत कुछ बोल्शेविक नेताओं ने इस पर आपत्ति भी की, इसके पूरे विवरण के लिए देखें **ई.एच. कार** की पुस्तक **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-1923' खण्ड-1**)। सोवियत सत्ता ने बाध्यतापूर्ण स्थितियों में क्रान्ति के बाद बुर्जुआ विशेषज्ञों से एक समझौता किया। लेकिन यह अपने आप में इस बात का प्रमाण नहीं है कि तत्काल एक राजकीय बुर्जुआज़ी पैदा होने लगी; यह ज़रूर सच है कि बाद में पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर बुर्जुआ श्रम विभाजन और बाद में उसके बढ़ने और अनमनीय बन जाने के कारण एक राजकीय पूँजीपत वर्ग पैदा हुआ। लेकिन इसे जिस तरीके से बेतेलहाइम ने दिखलाया है, वह तरीका स्पष्टत: बचकाना है।

दूसरी बात यह कि सोवियत राज्यसत्ता में राजकीय बुर्जुआ वर्ग पैदा होने के साथ एक दूसरी प्रक्रिया भी जारी थी, जो कि उसके विपरीत काम कर रही थी। लेकिन इसका बेतेलहाइम बहुत ही चलते-चलाते ज़िक्र करते हैं। लेनिन ने स्पष्ट किया था कि बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखने मात्र से सोवियत सत्ता को घबराने की ज़रूरत नहीं है। जब तक सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और सर्वहारा चौकसी कायम है, तब तक बुर्जुआ विशेषज्ञों को रखने मात्र से सोवियत सत्ता को ख़तरा नहीं है। कहने का अर्थ स्पष्ट है। **केवल इतने से ही कोई नया बुर्जुआ वर्ग तुरन्त राज्यसत्ता में सुदृढ़ीकृत नहीं होने लगेगा, हालाँकि जब तक यह अवांछित स्थिति मौजूद रहेगी, तब तक सर्वहारा राज्यसत्ता में बुर्जुआ विकृतियाँ मौजूद रहेंगी।** लेनिन ने स्पष्ट किया कि कुछ समय तक इन बुर्जुआ विशेषज्ञों का रखना सोवियत सत्ता की बाध्यता है और इस दौर में ही सोवियत सत्ता को ऐसे नये लोग तैयार करने होंगे जो इन प्रबन्धकीय और तकनीकी कार्यभारों को उठाने में सक्षम हों। दूसरी बात यह है कि यह विशिष्ट स्थिति सोवियत रूस में अधिक तीव्रता के साथ मौजूद थी, लेकिन किसी भी देश में समाजवादी क्रान्ति के बाद कुछ समय के लिए ऐसी स्थिति का होना अपेक्षित माना जा सकता है। विशेष तौर पर, आज जिन देशों में नये सिरे से समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ तैयार हो रही हैं, वहाँ भी कम-से-कम कुछ समय के लिए बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाएँ लेने की स्थिति मौजूद रहेगी। लेकिन केवल इतने से ही यह कहना कि राजकीय पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा है, ग़लत होगा। **ऐसा तब निश्चित तौर पर कहा जा सकता है जब सर्वहारा राज्यसत्ता इसे एक नैसर्गिक और वांछित स्थिति बताने लगे और इस स्थिति को**

सैद्धान्तिक वैधीकरण प्रदान करने लगे। सोवियत रूस में 1917 से 1923 के बीच ही ऐसा हो रहा हो, इसके प्रमाण मौजूद नहीं है। इसके विपरीत प्रमाण ज़रूर मौजूद हैं। जैसे कि वेतन के बीच मौजूद अन्तर को समाप्त करने का सोवियत सत्ता लगातार प्रयास कर रही थी। गृहयुद्ध के दौरान यह चीज़ बहुत स्पष्ट तौर पर दिखलायी नहीं पड़ती है, क्योंकि उस समय मुद्रा का इस कदर अवमूल्यन हो गया था कि इस बात का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया था कि किसी का मौद्रिक वेतन क्या है। बेतेलहाइम इस बात की ओर भी इशारा करते हैं कि पार्टी के ज़िम्मेदार लोगों का वेतन ज़्यादा था मगर गृहयुद्ध के दौर में इसका कोई विशेष अर्थ नहीं था। उस समय जिस चीज़ का मतलब था वह था राज्य द्वारा वस्तुओं के रूप में किया जा रहा वितरण जो कि मुख्य रूप से मज़दूर वर्ग को मिल रहा था। वास्तव में, पार्टी के कार्यकर्ता और ज़िम्मेदार लोग इस दौर में बहुत ही ख़राब स्थितियों में जी रहे थे। गृहयुद्ध के बाद वेतन अन्तर को घटाने के सोवियत राज्यसत्ता और पार्टी के सचेतन प्रयासों के स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं। कई विभागों में इस अन्तर को नगण्य बना दिया गया था। इस पूरे इतिहास का बेतेलहाइम ज़िक्र नहीं करते हैं और वह बढ़ते वेतन अन्तर या बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी की एक ऐसी एकतरफ़ा तस्वीर पेश करते हैं, मानो सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी इसके बारे में सचेत नहीं थी और इसे सन्तुलित करने के लिए कोई कदम नहीं उठा रही थी। इन कदमों की प्रभाविता पर अलग से चर्चा की जा सकती है, लेकिन इन कदमों पर ही चर्चा न करना एक ग़लत तस्वीर पेश करता है। यह भी बेतेलहाइम की उस थीसिस के साथ फिट बैठता है जिसके अनुसार 1917 के बाद से ही पूँजीवादी पुनर्स्थापना की रुझानें मौजद थीं, जो कि बाद में, विशेष तौर पर स्तालिन के दौर के उत्तरार्द्ध (तीस के दशक) में हावी हो गयीं। **हम देख सकते हैं कि बेहद मासूम से दिखने वाले असन्तुलित प्रेक्षणों में वास्तव में बेतेलहाइम स्तालिन के दौर पर हमले की ही तैयारी कर रहे हैं।** जैसे-जैसे आप पुस्तक आगे पढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे यह बात और भी स्पष्ट होती जाती है।

यहाँ यह समझना अहम है कि समाजवादी समाज के आरम्भिक दौर में ज़्यादा सम्भावना यही है कि बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता को लेना पड़ेगा, चाहे शुरुआती दौर में उसके लिए इन बुर्जुआ विशेषज्ञों को कुछ ऊँचे वेतन और विशेषाधिकार ही क्यों न देने पड़ें। जो बात सबसे अहम है वह यह है कि यह अपने आप में तत्काल ही किसी राजकीय पूँजीपति वर्ग का निर्माण करने लगेगा, ऐसा नहीं है। दो बातें यहाँ समझना आवश्यक है। एक तो यह कि सबसे अहम है इस विशिष्ट दौर में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और उसकी चौकसी का मज़बूती से कायम रहना और ऐसे पार्टी संगठनकर्ताओं का तेज़ी से शिक्षण-प्रशिक्षण जो कि बुर्जुआ विशेषज्ञों को दी जाने वाली छूटों को अप्रासंगिक और अनावश्यक बना दें। और दूसरी बात यह कि बुर्जुआ श्रम विभाजन को ख़त्म करने के लिए सचेतन तौर पर विचारधारात्मक और सांस्कृतिक स्तर पर क्रान्ति को जारी रखने की आवश्यकता होती है; इसके बग़ैर बुर्जुआ श्रम विभाजन को समाप्त नहीं किया जा सकता है और जब तक बुर्जुआ श्रम विभाजन मौजूद रहेगा तब तक राजकीय बुर्जुआ वर्ग के पैदा होने और पूँजीवादी पुनर्स्थापना की ज़मीन भी मौजूद रहेगी। गृहयुद्ध के दौर में सोवियत राज्यसत्ता पहले कार्यभार को अधूरे तौर पर समझ पायी और एक हद तक उस दिशा में कुछ काम कर सकी। लेकिन दूसरे कार्यभार को समझने का अवसर बोल्शेविक पार्टी को गृहयुद्ध के दौर में मिलना सम्भव नहीं था। गृहयुद्ध के ख़त्म होने के बाद और नयी आर्थिक नीतियों (नेप) की शुरुआत के बाद क्रमिक प्रक्रिया में पार्टी के भीतर अलग-अलग किस्म की कुछ अर्थवादी

रुझानें हावी होने लगीं और सांस्कृतिक क्रान्ति के कार्यभार को सही ढंग से समझने का काम नहीं किया जा सका। 1930 के दशक के मध्य से सोवियत संघ युद्ध की तैयारियों की शुरुआत कर चुका था। इसके बाद के दौर में स्तालिन के चिन्तन में यान्त्रिकतावादी भटकाव और अपवादस्वरूप भौतिक परिस्थितियों ने बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी की समस्याओं पर रचनात्मक और अग्रवर्ती चिन्तन करने का अवसर नहीं दिया। इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ ही बोल्शेविक पार्टी और सोवियत राज्यसत्ता के भीतर एक राजकीय पूँजीपति वर्ग के पैदा होने की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। **राजकीय पूँजीपति वर्ग का जो सबसे बड़ा लक्षण है, वह है इस वर्ग का पूँजीवादी पथगामी होना। यह वर्ग सचेतन तौर पर पूँजीवाद के रास्ते को चुनता है और इसके शीर्ष विचारक इसके पक्ष में तर्क और सिद्धान्त गढ़ते हैं।** 1917 से 1923 के बीच क्या हम बुखारिन या त्रात्स्की पर भी यह आरोप लगा सकते हैं, चाहे उनके कितने भी गम्भीर विचारधारात्मक भटकाव क्यों न हों?

यही कारण है कि हम सोवियत रूस में राजकीय पूँजीपति वर्ग के पैदा होने और विकसित होने के बेतेलहाइम के विश्लेषण को बचकाना मानते हैं। ऐसा लगता है कि बेतेलहाइम अपने अध्ययन की शुरुआत के पहले से ही राजकीय पूँजीपति वर्ग को सोवियत रूस की राज्यसत्ता में खोज निकालने पर आमादा हैं और इसलिए उन्हें रस्सी भी साँप नज़र आ रही है! राजकीय पूँजीपति वर्ग की माओवादी अवधारणा को बेतेलहाइम बेहद मनमाने ढंग से लागू करते हैं और यह एक ऐसी परिघटना का बेहद सतही विश्लेषण करते हैं, जो कि कहीं ज़्यादा गम्भीर विश्लेषण और अन्तर्दृष्टि की माँग करता है।

क्रान्ति के बाद की शिक्षा व्यवस्था के बारे में भी बेतेलहाइम के प्रेक्षण दिलचस्प हैं और आप समझ नहीं पाते हैं कि आख़िर उनकी शिक़ायत क्या है? अगर सोवियत राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग के बीच से विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करती है और उन्हें तकनीकी और प्रशासनिक ज़िम्मदारियाँ उठाने के लिए तैयार करती है, तो बेतेलहाइम इस पर यह कहकर आपत्ति करते हैं कि मज़दूर वर्ग के बीच से विश्वविद्यालय तन्त्र में जाने वाले लोग कम थे, और ज़्यादातर लोग औद्योगिक और तकनीकी प्रशिक्षण ले रहे थे। अगर सोवियत सत्ता पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को लेती है, तो बेतेलहाइम को इस पर शिकायत है कि यह काम मज़दूर वर्ग को क्यों नहीं सौंपे गये और इसके कारण राजकीय पूँजीपति वर्ग पैदा हो गया! आप अचरज करते हैं कि बेतेलहाइम के अनुसार क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर गृहयुद्ध के दौर में सोवियत राज्यसत्ता को करना क्या चाहिए था!

बेतेलहाइम लिखते हैं कि क्रान्ति के बाद सोवियत रूस में स्कूल व्यवस्था एक प्रमुख स्रोत थी जो कि बुर्जुआ विचारधारा और मूल्य-मान्यताओं का पुनरुत्पादन कर रही थी क्योंकि अधिकांश शिक्षक सोवियत सत्ता के विरोधी थे और वे किसी न किसी रूप में तोड़-फोड़ करते थे, असहयोग करते थे या फिर पुरानी बुर्जुआ शिक्षण पद्धतियों का इस्तेमाल करते थे। वैसे क्रान्ति के तत्काल बाद और गृहयुद्ध के दौर में सोवियत सत्ता किस प्रकार तुरन्त इस स्कूल तन्त्र को बदल डालती, इसके बारे में बेतेलहाइम कोई सकारात्मक सुझाव नहीं देते हैं। वह क्रुप्सकाया और लुनाचार्स्की के बीच स्कूल व्यवस्था को लेकर चली बहस का हवाला देते हैं। क्रुप्सकाया का मानना था कि स्कूल तन्त्र में श्रम स्कूल, शारीरिक श्रम का प्रशिक्षण, चुने गये अध्यापकों की व्यवस्था की जानी चाहिए और "कम्युनिस्ट शिक्षा" दी जानी चाहिए। लुनाचार्स्की का मानना था कि सोवियत राज्यसत्ता को स्कूल व्यवस्था में पहले मानवतावाद और जनवाद की शिक्षा देनी चाहिए और राज्यसत्ता को इसे केन्द्रीय तौर पर विनियमित करना

चाहिए। इस मामले में बेतेलहाइम क्रुप्सकाया का पक्ष लेते हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि लुनाचार्स्की की अवस्थिति इसमें ज़्यादा सन्तुलित थी और क्रुप्सकाया की अवस्थिति पर थोड़ा "वामपन्थी" असर है, हालाँकि शारीरिक श्रम के प्रशिक्षण के बारे में उनकी बात सही है। समाजवादी सत्ता स्कूल व्यवस्था में बच्चों को कम्युनिस्ट विचारधारा की शिक्षा भी देने लगे तो इससे पूरी पीढ़ी कम्युनिस्ट नहीं बन जायेगी। हम यहाँ शिक्षाशास्त्रीय बहस में ज़्यादा विस्तार में नहीं जा सकते हैं, लेकिन इतना इंगित करना पर्याप्त होगा कि बच्चों को पहले मानवतावादी और जनवादी बनाना ज़रूरी है और उसके बाद ही वह समाजवाद को समझ सकते हैं। इन दो पूर्ववर्ती मंज़िलों के बिना समाजवादी विचारधारा को बच्चों को ज़बरन पिला दिया जाये, तो नतीजे बहुत वांछित नहीं होंगे, इतना दावे के साथ कहा जा सकता है। पूरी बहस में लुनाचार्स्की और क्रुप्सकाया की अवस्थितियाँ क्या रहीं, यह हमारे शोध का प्रमुख विषय नहीं है और इसलिए हम उन पर कोई अन्तिम टिप्पणी नहीं कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, शिक्षा के प्रश्न पर सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में चली बहसें एक अलग विशद विमर्श का विषय हैं।

इसके बाद बेतेलहाइम कहते हैं कि गृहयुद्ध के अन्त के बाद भी स्कूल तन्त्र और आम तौर पर पूरी शिक्षा व्यवस्था विशेषज्ञों को तैयार करने पर ज़्यादा ज़ोर दे रही थी। व्यवहारत: विश्वविद्यालय मज़दूरों के लिए नहीं खुला था क्योंकि विश्वविद्यालय अभी भी जिस प्रकार की कुशलता और प्रशिक्षण की माँग करते थे, वह अभी मज़दूरों के पास नहीं था। लेकिन इस स्थिति के निवारण के लिए सोवियत रूस में **राबफैक** (मज़दूर फैकल्टी) का निर्माण किया गया जिसमें कि मज़दूरों को दाखिला दिया गया। इनमें प्रशिक्षण की अवधि छोटी होती थी और ज़्यादातर तकनीकी और औद्योगिक प्रशिक्षण पर बल दिया जाता था। इस प्रयोग को ज़बरदस्त सफलता मिली। लेकिन बाद में इनमें भी विशेषज्ञों को तैयार करने पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा। लेकिन समझ में नहीं आता कि इसमें बेतेलहाइम को आपत्ति क्या है? अगर मज़दूर वर्ग के भीतर से तकनीकी ज़िम्मेदारियों को सम्भालने के लिए विशेषज्ञों को तैयार किया जा रहा था तो यही तो उन बुर्जुआ विशेषज्ञों की अपरिहार्यता को समाप्त कर सकता था, जिनकी सेवाएँ सोवियत सत्ता को अभी बाध्यतावश लेनी पड़ रही थीं। निश्चित तौर पर, महज़ इस बात से राजकीय पूँजीपति वर्ग के मूल पर चोट करने का काम पूरा नहीं हो जाता कि मज़दूर वर्ग के भीतर से विशेषज्ञ पैदा हों, और यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि इन नये मज़दूर विशेषज्ञों का विचारधारात्मक प्रशिक्षण भी होना चाहिए। **लेकिन अपने आप में मज़दूर वर्ग के भीतर से विशेषज्ञों को तैयार करने पर आपत्ति का क्या आधार हो सकता है?** वास्तव में, राजकीय पूँजीपति वर्ग के सुदृढ़ीकरण को रोकने के लिए तमाम कदमों में से यह कदम विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है।

बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि विश्वविद्यालय में मज़दूर फैकल्टी से आने वाले छात्रों के लिए दाख़िला आसान था क्योंकि उन्हें प्रवेश परीक्षाएँ नहीं देनी पड़ती थीं। लेकिन विश्वविद्यालय की शिक्षा और परीक्षा ही ऐसी थी कि मज़दूर वर्ग से कम ही स्नातक पैदा हो पाते थे। क्रान्ति के तुरन्त बाद और गृहयुद्ध के दौर के लिए, या कहना चाहिए कि 1920 के दशक के मध्य या अन्त तक के लिए यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन इस पूरे दौर के लिए हमारी उम्मीदें क्या होनी चाहिए? क्या क्रान्ति के बाद के कुछ वर्षों में आप कई लाख मज़दूर स्नातकों की उम्मीद कर रहे हैं? क्या यह उम्मीद ही शेखचिल्लीवादी नहीं है? और इस उम्मीद के पूरा न होने के आधार पर कोई सोवियत सत्ता पर प्रश्न खड़ा करे, तो क्या यह

बचकाना नहीं होगा? सही बात यह है कि मज़दूर ऐतिहासिक तौर पर शिक्षा और ज्ञान को लेकर जिस पूर्वाग्रह के बोझे को ढो रहे होते हैं, उसमें तुरन्त स्वयं मज़दूरों से भी यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वे आम तौर पर विश्वविद्यालय की शिक्षा आदि को लेकर बहुत उत्साह दिखलायेंगे। इन ऐतिहासिक पूर्वधारणाओं के मिटने में वक़्त लगेगा। ऐसी स्थिति पैदा होने में कई वर्ष लगेंगे कि विश्वविद्यालयों से हर वर्ष बड़े पैमाने पर मज़दूर वर्ग के स्नातक निकलें। **लेकिन बेतेलहाइम स्कूल व्यवस्था और विश्वविद्यालय व्यवस्था तक में बुर्जुआ विचारधारा, मूल्य और मान्यताओं के स्रोतों को ढूँढ निकालने के प्रति पहले से ही प्रतिबद्ध हैं। ऐसे में, उन्हें इस लक्ष्य को पूरा करने से रोक पाना मुश्किल है!** निश्चित रूप से, लेनिन या बोल्शेविक पार्टी के अन्य नेता भी क्रान्ति के बाद सोवियत स्कूल व विश्वविद्यालय व्यवस्था से कतई सन्तुष्ट नहीं थे। 1921 के बाद, यानी कि गृहयुद्ध के बाद भी समाजवादी शिक्षा पद्धति कैसी हो इसे लेकर पार्टी के भीतर और बाहर लगातार बहस-मुबाहिसे चल रहे थे। पार्टी निश्चित तौर पर केवल यह नहीं सोच रही थी कि आर्थिक, तकनीकी व प्रशासनिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए स्कूल व विश्वविद्यालय कैसे होने चाहिए, हालाँकि यह भी एक सरोकार था। लेकिन अगर कोई यह दावा करता है कि इन विषयों पर चिन्तन करते हुए पार्टी राजनीतिक और विचारधारात्मक तौर पर नहीं सोच रही थी, तो यह तथ्यों के साथ दुराचार होगा। बेतेलहाइम जाने-अनजाने यही कर बैठते हैं। जैसा कि **राल्फ़ मिलिबैण्ड** ने बेतेलहाइम के विषय में कहा है, बेतेलहाइम चीनी क्रान्ति के अनुभवों के बारे में अपने असन्तुलित किस्म के उत्साह में बह कर सोवियत रूस का इतिहास लिखते हैं। हम कह सकते हैं कि इसी "प्रवाह" में बेतेलहाइम तथ्यों के चयन की बाबत अपना सन्तुलन खो बैठते हैं क्योंकि ज़्यादातर मुद्दों पर उनके नतीजे तय हैं और वे उसके अनुसार तथ्यों को खोज लेते हैं। **वे चीनी क्रान्ति के इतिहास की शर्तों पर रूसी क्रान्ति का अध्ययन करना चाहते हैं, जो कि उन्हें कई बार मज़ाकिया विरोधाभासों में ले जाकर गिरा देता है।**

गृहयुद्ध के दौरान और उसके अन्त के समय मज़दूर वर्ग की जीवन स्थितियों और मज़दूरी के प्रश्न की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम स्वीकार करते हैं कि समाजवादी राज्य के स्थापित होते ही मज़दूरों के जीवन में गुणात्मक सुधार आया। इसका कारण यह था कि तत्काल ही आठ घण्टे के कार्यदिवस को लागू कर दिया गया, मज़दूरी को बढ़ाया गया, कारखाने के भीतर मौजूद दमनकारी नियम-कायदों को समाप्त कर दिया गया। **लेकिन साथ में बेतेलहाइम यह कहकर इन शानदार कदमों का श्रेय सर्वहारा राज्य से छीनने का प्रयास करते हैं कि ये वही प्रक्रियाएँ थीं, जो कि अक्टूबर से भी पहले, यानी कि फरवरी क्रान्ति के समय से ही जारी थीं।** यह दावा तथ्यों के आईने में हास्यास्पद साबित होता है। सच यह है कि फरवरी से अक्टूबर के दौरान, हालाँकि औपचारिक तौर पर कुछ कानूनी सुधार किये गये, लेकिन वास्तव में इनमें से एक भी लागू नहीं हुए। युद्ध के लिए आपूर्ति हेतु मज़दूर वर्ग पर भारी दबाव डाला जा रहा था, जिसके विरुद्ध मज़दूर आन्दोलन तीव्रतर होता जा रहा था। मज़दूरों की हड़तालों का सिलसिला इस दौर में नये स्तर पर पहुँच गया था। बेतेलहाइम अपनी इस रचना के तीसरे खण्ड तक जाते-जाते आरज़ी बुर्जुआ-भूस्वामी सरकार के प्रति अपनी सहानुभूति को छिपाने में पूरी तरह से नाकामयाब हो गये हैं, लेकिन पहले ही खण्ड में हम यहाँ उनकी इस प्रवृत्ति की छाया को देख सकते हैं। बहरहाल, बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि जब गृहयुद्ध शुरू हुआ तो मज़दूरों के लिए स्थिति ख़राब हुई क्योंकि गृहयुद्ध के दबाव में "युद्ध कम्युनिज़्म" की जो नीतियाँ लागू हुईं उनके कारण मज़दूरों पर श्रम अनुशासन, 'पीस रेट' पर

कार्य, बोनसों की व्यवस्था, वगैरह को लागू कर दिया गया। बेतेलहाइम का कहना है कि गृहयुद्ध के दौरान पैदा हुए आर्थिक विसंगठन से निपटने के लिए ये कदम अनिवार्य थे। स्वयं लेनिन ने इन कदमों की हिमायत की और कहा कि हमें अमेरिकी टेलर व्यवस्था के भी प्रगतिशील तत्वों को अपना लेना चाहिए। इसी सन्दर्भ में लेनिन ने रूसी मज़दूरों की श्रमशीलता और अमेरिकी कार्य संस्कृति को मिश्रित करने की बात कही थी। लेनिन के इन्हीं तर्कों का बुखारिन, रादेक व ओसिंस्की जैसे "वामपन्थी" कम्युनिस्टों ने यह कहकर विरोध किया था कि यह पूँजीवादी प्रबन्धन तन्त्र की वापसी है। लेनिन ने इस तीखी आलोचना करते हुए कहा था कि रूसी मज़दूर वर्ग अभी तुरन्त समाजवाद के आर्थिक तन्त्र को पूरी तरह से लागू करने के लिए तैयार नहीं है और अभी रूसी मज़दूर वर्ग का प्रमुख शत्रु बड़े पैमाने का 'राजकीय पूँजीवादी' उत्पादन या पूँजीवादी प्रबन्धन नहीं है, बल्कि टटपुँजिया पूँजीवाद है। इस टटपुँजिया पूँजीवाद के ख़ात्मे के लिए पहले सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत 'राजकीय पूँजीवाद' की मंज़िल से गुज़रना होगा। इस दौर में ही मज़दूर वर्ग राष्ट्रीय पैमाने पर उत्पादन को एक वर्ग के तौर पर सम्भालने के लिए शिक्षित-प्रशिक्षित होगा, अपनी राजनीतिक चेतना और अपनी आर्थिक व तकनीकी कुशलता दोनों को बढ़ायेगा। लेकिन तब तक बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी, बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखने की मजबूरी, वेतन के अन्तर, बोनसों की व्यवस्था, आदि व अन्य भौतिक प्रोत्साहन मौजूद रहेंगे।

"युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में श्रम अनुशासन को भी लागू किया गया। **बेतेलहाइम का दावा है कि गृहयुद्ध के दौरान लागू हुई ये सभी नीतियाँ केवल एक बाह्य कारक, यानी कि गृहयुद्ध के कारण लागू की गयी थीं अन्यथा सकारात्मक तौर पर सोवियत राज्यसत्ता ये नीतियाँ (श्रम अनुशासन, भौतिक प्रोत्साहन, बुर्जुआ अधिकार, आदि) नहीं लागू करती। यह अवस्थिति लेनिन की अवस्थिति का विकृतिकरण है।** लेनिन का दृष्टिकोण इस मसले पर स्पष्ट था। गृहयुद्ध के अन्त पर लेनिन ने सार-संक्षेप करते हुए कहा था कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की कई नीतियाँ अपने आप में ग़लत नहीं थीं, लेकिन युद्ध द्वारा पैदा की गयी आपात स्थिति में उनका कार्यान्वयन उस रूप में नहीं हुआ जिस रूप में आम तौर पर होता और अक्सर वक़्त से पहले हुआ। गृहयुद्ध होता या न होता, रूस में समाजवादी राज्यसत्ता स्थापित होने के बाद सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत 'राजकीय पूँजीवाद' की एक मंज़िल निश्चित तौर पर मौजूद होती। वास्तव में, गृहयुद्ध शुरू होने से पहले ही लेनिन ने स्पष्ट कर दिया था कि पहली प्राथमिकता बड़े पैमाने के उत्पादन को स्थापित करना, टटपुँजिया पूँजीवादी उत्पादन का ख़ात्मा और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनर्संगठन है, जिसके लिए रूसी मज़दूर वर्ग स्वतन्त्र तौर पर अभी सक्षम नहीं है। इस दौर में, वेतन अन्तरों का मौजूद होना, बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखा जाना और उन्हें विशेषाधिकार दिया जाना, एक व्यक्ति वाले प्रबन्धन को लागू किया जाना, स्वाभाविक होगा। साथ ही, ऐसा भी नहीं है कि समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने के बाद श्रम अनुशासन लागू नहीं किया जायेगा। मज़दूर वर्ग अपने राजनीतिक संगठन और नेतृत्व के ज़रिये मज़दूर वर्ग के ही उन सदस्यों पर श्रम अनुशासन को लागू करता है, जो कि राजनीतिक चेतना से लैस न होने के चलते काम से भाग जाते हैं, घुमन्तू मज़दूर बनने की प्रवृत्ति या गाँव में पलायन के रुझान का शिकार होते हैं। ऐसे में, मज़दूरों को *कॉमरेडाना ट्रिब्यूनल* स्थापित किये जाते हैं, जिसे कि मज़दूर वर्ग के ही अगुवा तत्व चलाते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार, सोवियत रूस में यह सब केवल गृहयुद्ध द्वारा पैदा हुई आपात स्थितियों के कारण हुआ। न तो यह सच है और न ही यह लेनिन का दृष्टिकोण था।

ये चीज़ें बिना गृहयुद्ध के भी होतीं। गृहयुद्ध के कारण यह ज़रूर हुआ कि इन नीतियों का कार्यान्वयन कई बार विकृत रूप में हुआ। इसके लिए आंशिक तौर पर वस्तुगत स्थितियाँ ज़िम्मेदार थीं, और आंशिक तौर पर त्रात्स्की-बुखारिन धड़े का दक्षिण-"वाम" भटकाव भी। निश्चित तौर पर, गृहयुद्ध के दौर में कई आपात नीतियाँ भी लागू हुईं, जैसे कि ज़बरन फसल वसूली; यह भी हुआ कि कई नीतियाँ जो कि भविष्य में लागू की जानी थीं, मजबूरी में उन्हें समय से पहले लागू करना पड़ा अन्यथा आर्थिक बिखराव को रोकना असम्भव था। जैसा कि लेनिन ने एक बार कहा था, "युद्ध कम्युनिज़्म" की तमाम नीतियाँ अपने आप में ग़लत नहीं थीं, बल्कि उनमें से कई नीतियाँ वास्तव में भविष्य की समाजवादी नीतियाँ थीं, जिन्हें वस्तुगत स्थितियों ने समय से पहले सोवियत सत्ता पर थोप दिया था और साथ ही त्रात्स्की के "श्रम के सैन्यकरण" की थीसिस ने उनके कार्यान्वयन को भी विकृत कर दिया था।

दूसरी बात, बेतेलहाइम यह नहीं समझ पाते कि "युद्ध कम्युनिज़्म" ने जहाँ मज़दूरों के लिए कई कठिनाइयाँ पैदा कीं, वहीं इसी दौर में 5 मज़दूरों तक के वर्कशॉपों तक का राष्ट्रीकरण हो गया और पूँजीपति वर्ग का लगभग पूर्ण रूप में सम्पत्ति-हरण कर लिया गया था। यहाँ अभी हम कृषक पूँजीपति वर्ग की बात नहीं कर रहे हैं। कृषि के क्षेत्र में केवल बड़े भूस्वामियों की सम्पत्ति छीनी गयी थी और उन्हें किसानों में पुनर्वितरित किया गया था। इन भूमि सुधारों ने धनी किसानों की ज़मीनें नहीं छीनीं थीं और साथ ही मँझोले और उच्च मँझोले किसानों का एक विशाल वर्ग पैदा किया था। लेकिन जहाँ तक उद्योगों का सवाल है, उनके राष्ट्रीकरण का कार्य गृहयुद्ध के दौर में ही पूरा हुआ था। गृहयुद्ध के दौरान वक्त से पहले लागू हुई कुछ समाजवादी नीतियों और उनके कार्यान्वयन में हुए अतिवादी भटकाव के कारण ही, नयी आर्थिक नीतियों के रूप में सोवियत सत्ता को रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने पड़े। लेकिन जब 'नेप' की नीतियाँ लागू हुईं तो क्या उन्होंने भौतिक प्रोत्साहन व बुर्जुआ अधिकारों को व्यवस्था को समाप्त कर दिया? नहीं! 'नेप' ने वास्तव में इन नीतियों को औपचारिक रूप दे दिया। 'नेप' ने कुलकों, धनी किसानों और व्यापारियों के वर्ग को तमाम छूटें दीं। इसके कारणों की चर्चा हम बिखरे तौर पर करते रहे हैं और आगे उपयुक्त स्थान पर इसकी विस्तार से भी चर्चा करेंगे। लेकिन अभी इतना कहना पर्याप्त होगा कि लेनिन के लिए 'नेप' की नीतियाँ "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अतिवादी ग़लतियों के कारण मज़दूर-किसान संश्रय के टूटने के ख़तरे को दूर करने के लिए रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने की पर्याय थीं। साथ ही "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में यह भी स्पष्ट हो गया था कि गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी ने भविष्य की कुछ समाजवादी नीतियों को अपरिपक्व तौर पर लागू करने के लिए सोवियत सत्ता को बाध्य कर दिया था, लेकिन अभी रूसी मज़दूर वर्ग समाजवादी निर्माण के कार्य को तेज़ी से आगे बढ़ाने की स्थिति में नहीं है; वर्ग संघर्ष अभी इस मंज़िल में नहीं था कि विचारधारात्मक-राजनीतिक मार्गदर्शन में जनसमुदाय स्वयं समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की ओर तेज़ी से आगे बढ़ पायें। इसके लिए सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत 'राजकीय पूँजीवाद' की नीतियों से गुज़रना अनिवार्य था। 'नेप' की नीतियों ने इसी को व्यवस्थित और औपचारिक रूप प्रदान किया। बेतेलहाइम यह नहीं बता पाते हैं कि अगर बुर्जुआ अधिकार, वेतन में अन्तर, आदि गृहयुद्ध के कारण बनाये रखे गये थे, तो फिर गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद उन्हें कायम क्यों रखा गया? वह यह भी नहीं बता पाते कि श्रम अनुशासन को भी नये रूपों में कायम क्यों रखा गया, हालाँकि उनका स्वरूप अब "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर से बिल्कुल अलग था? वास्तव में, 'नेप' की नीतियों के दौरान ट्रेड

यूनियनों की भूमिका पर लेनिन ने स्पष्ट कहा था कि वे आर्थिक प्रबन्धन के उन कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं डालेंगी जो कि एक-व्यक्ति वाले प्रबन्धन को सौंपे गये हैं; उनका कार्य होगा मज़दूर वर्ग को आर्थिक पुनर्निर्माण और समाजवादी निर्माण के कार्य के लिए अनुशासित करना और उन्हें गोलबन्द करना। लेनिन श्रम अनुशासन को लागू करने के कतई विरुद्ध नहीं थे, बल्कि उस तरीके की आलोचना करते थे जो कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में स्थितियों द्वारा पैदा की गयी बाध्यताओं में अपनाने पड़े थे। यहाँ पर बेतेलहाइम बड़ी असुविधाजनक स्थिति में फँस जाते हैं। जब भी बेतेलहाइम ऐसी स्थिति में फँसते हैं, तो वे लगभग हमेशा यह कहकर अपने विश्लेषण का मान बचाते हैं कि 'इन प्रश्नों को विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष के मुद्दों को समझे बग़ैर नहीं समझा जा सकता है।'

बेतेलहाइम आगे लिखते हैं कि उद्योग में श्रम अनुशासन की आवश्यकता होती है लेकिन कारखाने के भीतर पूँजीवादी श्रम अनुशासन और समाजवादी श्रम अनुशासन की बीच फर्क होता है। बेतेलहाइम स्वीकार करते हैं कि पूँजीवादी श्रम अनुशासन से समाजवादी श्रम अनुशासन के बीच का संक्रमण एकरेखीय नहीं होता है, बल्कि जटिल होता है। पूँजीवादी श्रम अनुशासन वह होता है जो कि मज़दूर वर्ग पर ऊपर से पूँजीपति वर्ग द्वारा थोपा जाता है, जबकि समाजवादी श्रम अनुशासन वह होता है जो कि मज़दूर वर्ग स्वेच्छा से अपने ऊपर लागू करता है। लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि समाजवादी संक्रमण के दौरान, जबकि वर्ग मौजूद होते हैं, शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच का अन्तर मौजूद होता है, और साथ ही अन्य अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ मौजूद होती हैं, तब क्या कोई ऐसा समाजवादी श्रम अनुशासन लागू हो सकता है जो कि *पूरे मज़दूर वर्ग* द्वारा सामूहिक तौर पर और स्वेच्छा से अपनाया जाता हो? अब तक के समाजवादी प्रयोगों से हम जानते हैं कि जब तक मज़दूरों के बीच पेशागत अन्तर, कुशल व अकुशल के बीच का अन्तर और साथ ही विशेष तौर पर टटपुँजिया विचारों का असर मौजूद रहेगा, तब तक ऐसी आदर्श स्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। वस्तुतः इस बात पर ही सन्देह किया जा सकता है कि समाजवादी संक्रमण के आरम्भिक दौर में ऐसी स्थिति पैदा होगी या नहीं। **लेकिन बेतेलहाइम के तर्क में यह अन्तर्निहित है कि समाजवादी श्रम अनुशासन के लागू होने के बाद समूचा मज़दूर वर्ग सर्वसम्मति से अपने ऊपर श्रम अनुशासन को लागू कर लेगा। वास्तव में, यह शेखचिल्ली का सपना है। समाजवादी श्रम अनुशासन के लागू होने के बाद भी मज़दूर वर्ग का अगुवा और वर्ग सचेत हिस्सा विशेष तौर पर पहलकदमी लेगा और मज़दूर वर्ग के अन्य सदस्यों को उस अनुशासन को लागू करने के लिए प्रेरित करेगा और कार्य छोड़कर भागने, परजीवीपन और अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति के शिकार सदस्यों पर बलपूर्वक भी इस अनुशासन को लागू करेगा।** सोवियत रूस में यदि गृहयुद्ध द्वारा कोई आपात स्थिति न भी पैदा होती तो मज़दूर वर्ग सर्वसम्मति से समाजवादी श्रम अनुशासन को लागू करने की स्थिति में नहीं पहुँच जाता। **बेतेलहाइम पूरे मसले को यूँ पेश करते हैं मानो गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी से पैदा हुई आपात स्थितियों के न होने की सूरत में मज़दूर वर्ग के किसी सदस्य पर श्रम अनुशासन को लागू करने के लिए कोई प्रयास न करना पड़ता और मज़दूर वर्ग यदि तत्काल नहीं तो जल्द ही समाजवादी श्रम अनुशासन को स्वयं स्वेच्छा से लागू करने की स्थिति में पहुँच जाता।** यदि ऐसा होता तो 'नेप' के दौर में समाजवादी राज्यसत्ता को न तो ट्रेड यूनियनों को श्रम अनुशासन लागू करने की ज़िम्मेदारी देनी पड़ती और न ही भौतिक प्रोत्साहनों की व्यवस्था को लागू करना पड़ता।

बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के मालिकाने के सम्बन्धों को बदलने के साथ शुरुआत के बाद श्रम प्रक्रिया व उत्पादन प्रक्रिया के रूपान्तरण और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं का ख़ात्मा अनिवार्य होता है। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया के दौरान जनसमुदायों के भी कुछ हिस्सों के ऊपर मज़दूर सत्ता कुछ ज़ोर-ज़बरदस्ती कर सकती है और लेनिन ने भी क्रोंस्टाट विद्रोह के सन्दर्भ में बात करते हुए इस बात की ताईद की थी। लेनिन ने बताया था कि औद्योगिक बिखराव रोकने के लिए कुछ समय के लिए श्रम अनुशासन के कुछ सख़्त रूपों और साथ ही बुर्जुआ विशेषज्ञों का विशेषाधिकार की व्यवस्था को अपनाना ही पड़ेगा। लेनिन ने यह बात केवल गृहयुद्ध के शुरू होने के कारण नहीं की थी, बल्कि एक पिछड़े पूँजीवादी देश में अपवादस्वरूप पैदा हुई स्थितियों में समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के सन्दर्भों में कही थी। और आज कहा जा सकता है कि रूस में तो यह समय थोड़ा ज़्यादा लम्बा होना ही था, लेकिन आज भी जिन देशों में नयी समाजवादी क्रान्तियाँ अपेक्षित हैं, वहाँ भी समाजवादी क्रान्ति के बाद एक ऐसा दौर अवश्य होगा। इसीलिए लेनिन ने कहा कि इस दौर में यदि सोवियत सत्ता दो कार्यों को अंजाम देती है, तो इन विशेष कदमों से घबराने की कोई बात नहीं है–एक, सर्वहारा अधिनायकत्व को अधिक से अधिक सुदृढ़ किया जाय और दूसरा, तेज़ी से ऐसे सर्वहारा तत्वों को तैयार किया जाय जो कि प्रबन्धन और नियोजन की कुशलता से लैस हों और बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को अप्रासंगिक बना दें। बेतेलहाइम इस बात पर सन्देह करते हैं कि सोवियत रूस ऐसा कुछ भी सफलतापूर्वक कर पाया, क्योंकि उन्हें बाद में यह सिद्ध करना है कि लेनिन ने जिन शर्तों के आधार पर इन आपात कदमों की आज्ञा दी थी, स्तालिन के दौर में उन शर्तों को पूरा नहीं किया गया। वास्तव में, यह शक़ ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर अनावश्यक सिद्ध होता है। सोवियत रूस के इतिहास के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन करें और विशेष तौर पर लेनिन के जीवन-काल में ही पार्टी और स्वयं लेनिन के लेखन को देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी ने प्रबन्धन और नियोजन के कार्यभारों को सम्भालने के लिए तेज़ी से कम्युनिस्ट व सर्वहारा तत्वों को तैयार किया (वास्तव में, बेतेलहाइम एक जगह खुद ही मानते हैं कि जितने मज़दूर कम्युनिस्ट तैयार हो रहे थे वे सभी पार्टी और राज्य के कार्यों में खप जा रहे थे और इस पर असन्तोष व्यक्त करते हैं कि कारखाने के भीतर पर्याप्त कम्युनिस्ट मज़दूर नहीं हो पा रहे थे!)। यह एक दीगर बात है कि इस तेज़ रफ्तार के बावजूद ऐसे कम्युनिस्ट मज़दूर संगठनकर्ताओं की व्यापक कमी को पूरा करने में पार्टी लम्बे समय तक कामयाब नहीं हो पायी। लेकिन यह कहना कि पार्टी ने ऐसा किया ही नहीं, तथ्यों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती करना होगा।

बेतेलहाइम प्रच्छन्न तौर पर 1918 से 1923 तक और विशेष तौर पर 1921 तक के लेनिन के रवैये पर भी हमला करते हैं। यह हमला स्पष्ट रूप में नहीं होता है, लेकिन सोवियत इतिहास के बारे में जानकारी रखने वाला सुसूचित पाठक समझ सकता है कि निशाना लेनिन ही हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम श्रम अनुशासन और ट्रेड यूनियनों को इस बाबत दी गयी भूमिका का ज़िक्र करते हुए बताते हैं कि जनवरी 1919 में दूसरी अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांग्रेस में लेनिन ने ट्रेड यूनियनों के "सरकारीकरण" (govermentalization) की बात की थी और साथ ही यह भी कहा था कि श्रम अनुशासन के लिए यह आवश्यक है। लेकिन बेतेलहाइम यह स्पष्टीकरण कहीं नहीं देते कि लेनिन ने जब ट्रेड यूनियनों के "सरकारीकरण" की बात की थी तो उनका अर्थ कतई वह नहीं था जो कि त्रात्स्की का था जब उन्होंने

बुखारिन के साथ मिलकर ट्रेड यूनियनों के "राजकीयकरण" (statization) की बात की थी। लेनिन हमेशा से ही इस बात के पक्षधर थे कि ट्रेड यूनियनों की सापेक्षिक स्वायत्तता होनी चाहिए और उनकी एक सरकारी भूमिका भी होनी चाहिए। वह ट्रेड यूनियनों को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की उस पूरी मशीनरी के एक अंग के तौर पर देखते थे, जिसका प्रधान उपकरण पार्टी थी। लेनिन ने त्रात्स्की और बुखारिन की इस थीसिस का विरोध किया था कि ट्रेड यूनियनों की कोई सापेक्षिक स्वायत्तता भी नहीं होनी चाहिए और वे पूरी तरह से राज्य के अधीन होनीं चाहिए। साथ ही, लेनिन ने श्ल्याप्निकोव व कोलोन्ताई के दूसरे छोर की ग़लती का भी खण्डन किया था जो कि ट्रेड यूनियनों की पूर्ण स्वायत्तता की बात कर रहे थे। लेनिन की अवस्थिति ट्रेड यूनियनों की पूरी भूमिका के बारे में बेहद द्वन्द्वात्मक थी। त्रात्स्की और बुखारिन की अवस्थिति से लेनिन की अवस्थिति एक और मायने में बिल्कुल भिन्न थी। त्रात्स्की और बुखारिन "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को साम्यवाद में संक्रमण की आम नीति के तौर पर देखते थे, जैसे कि श्रम के सैन्यकरण, आम ज़बरन फसल वसूली और ट्रेड यूनियनों का राजकीयकरण आदि, जबकि लेनिन इन नीतियों को गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी की विशिष्ट अपरिहार्यताओं के तौर पर देखते थे। यह सच है कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की कार्यदिशा के मुकाबले लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की कार्यदिशा के ज़्यादा नज़दीक थे, क्योंकि कम-से-कम उसमें तात्कालिक व्यावहारिकता का गुण था। लेकिन लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की कार्यदिशा को आम तौर पर दक्षिणपन्थी-वामपन्थी विचलन का शिकार मानते थे। **बेतेलहाइम जब लेनिन द्वारा ट्रेड यूनियनों के "सरकारीकरण" के ज़िक्र का हवाला देते हैं तो वह इन नुक़्तों का ज़िक्र तक नहीं करते जो कि लेनिन को त्रात्स्की की कार्यदिशा का समर्थक जैसा बना देता है, कम-से-कम 1919 के दौर तक।** 1920 की नौवीं पार्टी कांग्रेस में भी लेनिन ने स्पष्ट किया था कि समाजवादी संक्रमण के दौर में ट्रेड यूनियनों की मुख्य भूमिका मज़दूर प्रतिरोध की नहीं बल्कि आर्थिक संगठन और श्रम अनुशासन में योगदान की होगी, लेकिन लेनिन यह भी मानते थे कि उनकी गौण भूमिका मज़दूर राज्य में नौकरशाहाना विकृतियों का मुकाबला करना भी होगा और इस रूप में वह ट्रेड यूनियनों की सापेक्षिक स्वायत्तता की वकालत करते थे। **बेतेलहाइम स्पष्ट तौर पर 1920-21 में लेनिन और त्रात्स्की के मतभेदों के खुलकर सामने आने के पहले के दौर में उनकी अवस्थितियों के बीच मौजूद बुनियादी अन्तरों को समझने में पूरी तरह से नाकाम साबित होते हैं।**

बेतेलहाइम मानते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के दौर में उद्योग और अर्थव्यवस्था के अन्य सभी क्षेत्रों में सख़्त अनुशासन की आवश्यकता थी और इसलिए मज़दूर राज्य को मज़दूर वर्ग के ही कुछ हिस्सों पर ज़ोर-ज़बरदस्ती भी करनी पड़ी; लेकिन सोवियत इतिहास और बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के अपने प्रतीतिगत तौर पर "माओवादी" पाठ की परियोजना को आगे बढ़ाते हुए **बेतेलहाइम यह जोड़ देते हैं कि पार्टी के पास मज़दूर वर्ग को सहमत करने की पर्याप्त क्षमता नहीं थी और यही कारण था कि सोवियत सत्ता को मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से पर ज़ोर-ज़बरदस्ती का इस्तेमाल करना पड़ा। यहाँ पर बेतेलहाइम का हेगेलीय मनोगतवाद एक बार फिर खुलकर सामने आ जाता है। बेतेलहाइम की दलील का यह अर्थ हुआ कि अगर पार्टी के पास मज़दूर वर्ग को सहमत करने की पर्याप्त क्षमता होती तो सर्वहारा राज्य को मज़दूर वर्ग के किसी हिस्से पर गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी की आपात स्थितियों में भी कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं**

करनी पड़ती। यह पूरा तर्क उस दौर के अन्तरविरोधों को नहीं समझता और हर सकारात्मक या नकारात्मक पहलू की ज़िम्मेदारी एकतरफ़ा तरीके से बोल्शेविक पार्टी पर थोप देता है। यदि सोवियत इतिहास के उस दौर पर करीबी नज़र दौड़ायी जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम 1918 से 1921 तक के दौर में वस्तुगत परिस्थितियों का दबाव ही निर्धारक भूमिका निभा रहा था और बोल्शेविक पार्टी की अधिकांश नीतियाँ समाजवादी निर्माण की सकारात्मक सिद्धान्तों या समझदारी से नहीं बल्कि गृहयुद्ध द्वारा पैदा हुई आपात स्थितियों से तय हो रही थीं। अगर ऐसी कोई स्थिति न होती तो क्या बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर राज्य को मज़दूर वर्ग के किसी भी हिस्से के साथ कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती करने की ज़रूरत नहीं पड़ती? कम-से-कम गृहयुद्ध ख़त्म होने के बाद के दौर का इतिहास यह सिद्ध नहीं करता है। गृहयुद्ध से सिर्फ़ इतना फर्क पड़ा कि ज़ोर-ज़बरदस्ती के इन कदमों ने कई बार अतिरेकपूर्ण रूप धारण कर लिया और पार्टी इस बात को लेकर सचेत और चिन्तित भी थी। लेकिन उस समय पहली प्राथमिकता थी सर्वहारा सत्ता की हिफ़ाज़त और इस मक़सद को पूरा करने के लिए पार्टी को वे कदम उठाने पड़े। यह अलग से एक चर्चा का विषय हो सकता है कि पार्टी का विचारधारात्मक वर्चस्व मज़दूर वर्ग में कितना मज़बूत था, लेकिन यह कहना कि पार्टी को ज़ोर-ज़बरदस्ती के कदम इसलिए उठाने पड़े कि यह वर्चस्व मज़बूत नहीं था एकदम बेतुकी बात होगी। वास्तव में, बेतेलहाइम ही अपनी रचना के पहले खण्ड के शुरुआती हिस्से में यह स्वीकार करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी की मज़दूर वर्ग के बीच नेतृत्वकारी विचारधारात्मक-राजनीतिक भूमिका बेहद मज़बूत था और यही कारण था कि बोल्शेविक पार्टी योजनाबद्ध तरीके से आम बग़ावत को अक्टूबर 1917 में अंजाम दे सकी। बेतेलहाइम चूँकि नतीजे तय करके विश्लेषण शुरू करते हैं, इसलिए उनकी अवस्थिति में निरन्तरता की बेहद कमी दिखती है।

बेतेलहाइम जब मज़दूर वर्ग के कुछ हिस्सों पर लागू की गयी ज़ोर-ज़बरदस्ती की चर्चा करते हैं तो उसमें उन नीतियों को भी गिना देते हैं, जो कि समाजवादी संक्रमण की बिल्कुल सही नीतियाँ हैं। मिसाल के तौर पर, यह नीति कि सभी को काम करना होगा और जो कार्य राज्य द्वारा उपलब्ध कराया जायेगा वह कार्य बाध्यताकारी होगा; वास्तव में, सोवियत राज्यसत्ता ने **'मेहनतकश व शोषित जनता के अधिकारों के घोषणापत्र'** में ही इसका ज़िक्र किया था। लेनिन ने इसका समर्थन किया था और इसे आम नीति के तौर पर पेश किया था। वास्तव में, सामान्य दौरों में इस कदम से मज़दूर वर्ग को नहीं बल्कि बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ वर्ग को ही तक़लीफ़ होती है जो परजीवी जीवन व्यतीत करने के आदी होते हैं। सोवियत सत्ता काम करने की अनिवार्यता के नियम के साथ यह भी नियम लागू कर रही थी कि यदि राज्य कार्य देने में अक्षम साबित होता है तो वह गुज़ारे योग्य बेरोज़गारी भत्ता देगा। बेतेलहाइम इस पूरे दौर में बोल्शेविक पार्टी और सोवियत सत्ता की एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं कि पाठक उसके सर्वहारा चरित्र पर ही शक़ करने लगे, हालाँकि अन्त में वह कुछ वाक्य बोल्शेविक पार्टी और सोवियत सत्ता के सर्वहारा चरित्र के बारे में जोड़ देते हैं और स्वीकार करते हैं कि इस दौर में मुख्य पहलू यह था कि सर्वहारा वर्ग अब शासक वर्ग बन चुका था। लेकिन इस 'बॉटमलाइन' का पढ़ने वाले पर उतना असर नहीं पड़ता है, जितना कि पहले दिये गये विवरण का।

बेतेलहाइम लिखते हैं कि लेनिन को जनदिशा की अहमियत अच्छी तरह पता थी और इसीलिए वह बार-बार कहते हैं कि पार्टी को जनता से करीबी रिश्ता बनाये रखना चाहिए,

उसके मिजाज़ को समझना चाहिए आदि। साथ ही लेनिन यह भी कहते हैं कि पार्टी को ग़ैर-सर्वहारा जनसमुदायों से भी करीबी रिश्ता कायम रखना चाहिए। लेकिन बेतेलहाइम के मुताबिक पार्टी आपात स्थितियों में ऐसा नहीं कर सकी और किसानों के साथ पार्टी का अन्तरविरोध इसी कारण से पैदा हुआ। **यह पूरा तर्क वास्तव में पार्टी और खाते-पीते मँझोले किसानों समेत पूरे किसान वर्ग के बीच के अन्तरविरोधों के लिए पार्टी द्वारा जनदिशा को लागू (निश्चित तौर पर आपात स्थितियों में!) न कर पाने को ज़िम्मेदार ठहराता है। यानी एक बार फिर पार्टी की मनोगत भूमिका को कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है!** बेतेलहाइम के अनुसार, इसमें किसान वर्ग के नैसर्गिक वर्ग चरित्र की कोई भूमिका नहीं है। बेतेलहाइम का यह किसानवाद आगे और मुखर तौर पर आता है। लेकिन फिलहाल बेतेलहाइम के इस तर्क पर ही थोड़ा करीबी नज़र डालते हैं। **यदि आपात स्थितियों में पार्टी द्वारा जनदिशा का लागू न किया जा पाना किसान वर्ग से अन्तरविरोध का कारण था तो फिर 1921 के बाद, यानी कि 'नेप' के लागू होने के बाद किसान वर्ग और पार्टी का अन्तरविरोध क्यों बना रहा?** 1925-26 आते-आते धनी किसानों का एक पूरा वर्ग व्यापारियों और बाज़ार की ताक़तों के साथ मिलकर सोवियत सत्ता के प्रच्छन्न विरोध और तोड़-फोड़ की गतिविधियाँ क्यों चलाने लगा? मँझोले किसानों के वर्ग तक का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा जमाखोरी क्यों करने लगा? अगर किसान वर्ग के साथ पार्टी के अन्तरविरोध का कारण आपात स्थितियों में जनदिशा के कार्यान्वयन का अभाव था तो फिर 1928-29 में सोवियत सत्ता को आपात कदम क्यों उठाने पड़े? वैसे तो बेतेलहाइम इस दौर में भी किसान वर्ग और सोवियत सत्ता के बीच के अन्तरविरोध के कुछ नये और अलग कारण बताते हैं, लेकिन उन पर बाद में चर्चा करेंगे। फिलहाल, इतना कहना पर्याप्त होगा कि छद्म-माओवाद के आवरण में बेतेलहाइम किसानवाद की तस्करी करने का कोई अवसर नहीं चूकते हैं।

मिसाल के तौर पर, एक जगह बेतेलहाइम पार्टी और जनसमुदायों के जुड़ाव का ज़िक्र करते हुए बताते हैं कि पार्टी की सदस्यता में 1917 से 1921 के बीच भारी इज़ाफ़ा हुआ और 1921 से 1923 के बीच शुद्धीकरण अभियानों के चलते थोड़ी गिरावट आयी। लेकिन इस बीच पार्टी के मज़दूर सदस्यों के अनुपात में भारी बढ़ोत्तरी आयी। बेतेलहाइम को यह मानना पड़ता है कि किसानों की सदस्यता में भारी बढ़ोत्तरी हुई लेकिन फिर बेतेलहाइम यह भी जोड़ देते हैं कि जिस देश में 70 प्रतिशत आबादी किसानों की हो, उसमें यह बढ़ोत्तरी मामूली मानी जायेगी! **इस तर्क में यह अन्तर्निहित है कि कुल मेहनतकश आबादी में विभिन्न हिस्सों के अनुपात (यानी कि मज़दूरों और किसानों का अनुपात) एक हद तक पार्टी सदस्यता में प्रतिबिम्बित होने चाहिए।** यह विचार वास्तव में माओ के विचारों के एकदम ख़िलाफ़ पड़ता है। एक किसान-बहुल देश में भी कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता में मज़दूर वर्ग की हिस्सेदारी और उनकी भूमिका ही प्रमुख होगी। इसके बग़ैर पार्टी के सर्वहारा चरित्र को कायम नहीं रखा जा सकता है। वास्तव में, नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी मज़दूर वर्ग ही नेतृत्वकारी शक्ति होगा, हालाँकि किसान वर्ग मुख्य शक्ति होगा; और यह समीकरण पार्टी के भीतर इसी रूप में अभिव्यक्त होगा कि मज़दूर सदस्यता पार्टी की कुल सदस्यता के प्रमुख हिस्से का निर्माण करेगी जबकि पार्टी का किसानों के बीच भारी समर्थन आधार होगा। लेकिन माओ के इन बुनियादी विचारों को बेतेलहाइम तिलांजलि दे देते हैं। विडम्बना की बात यह है कि बेतेलहाइम यह सब एक कट्टर माओवादी के चोगे में करते हैं और इस रूप में माओवादी सिद्धान्तों को भी हानि पहुँचाते हैं।

बेतेलहाइम पार्टी की सदस्यता की संरचना और चरित्र की बात करते हुए बताते हैं कि क्रान्ति के बाद पार्टी के मज़दूर सदस्यों की भारी बहुसंख्या पार्टी कार्यों, प्रशासनिक कार्यों और लाल सेना में लग गयी और मुश्किल से 10 प्रतिशत मज़दूर सदस्य कारखानों में काम कर रहे थे। बेतेलहाइम इसे एक नकारात्मक के तौर पर देखते हैं। बेतेलहाइम इसे भी नकारात्मक के तौर पर देखते हैं कि क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर गृहयुद्ध के दौर में तमाम आर्थिक और प्रशासनिक कार्यों में बुर्जुआ विशेषज्ञों को लगाना पड़ा! लेकिन इस नकारात्मक को दूर करने के लिए ही बोल्शेविक पार्टी ने मज़दूर वर्ग से भर्ती को बढ़ाया, मज़दूर संगठनकर्ताओं को शिक्षित और प्रशिक्षित किया, ताकि उन तमाम कार्यों को मज़दूर संगठनकर्ताओं को सौंपा जा सके; लेकिन जब बोल्शेविक पार्टी अपने मज़दूर सदस्यों को प्रशासनिक और आर्थिक प्रबन्धन में लगाती है तो उस पर भी बेतेलहाइम को एतराज़ है। बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि चूँकि राज्य मशीनरी में उस समय बुर्जुआ तत्व पर्याप्त संख्या में मौजूद थे, इसलिए राज्य मशीनरी के कार्य-कलाप में लगाये जाने वाले मज़दूरों पर उनका प्रभाव पड़ता था और उनका बुर्जुआ रूपान्तरण होने लगता था। लेनिन ने इसीलिए कहा था कि राज्य मशीनरी में लगे हुए मज़दूरों को हर चार माह के बाद एक माह के लिए कारखानों में काम के लिए भेजा जाना चाहिए। गृहयुद्ध के दौरान यह सम्भव नहीं था और उसके बाद, बकौल बेतेलहाइम, लेनिन की यह शिक्षा भुला दी गयी और पार्टी को इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। यहाँ पर बेतेलहाइम का दृष्टिकोण यान्त्रिकता का शिकार हो गया है, जिसके कारण वह केवल आंशिक सत्य को ही देख पा रहे हैं। वास्तव में, राज्य मशीनरी में बुर्जुआ मूल के लोगों की मौजूदगी सर्वहारा तत्वों के बुर्जुआकरण का प्रमुख कारण नहीं थी। एक काल्पनिक स्थिति के बारे में सोचें। यदि पार्टी के पास पर्याप्त मज़दूर कम्युनिस्ट होते जो कि क्रान्ति के बाद राज्य मशीनरी के कार्यकलापों को पूरी तरह सम्भाल लेते और बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती, तो क्या राज्य मशीनरी में लगे सर्वहारा तत्वों के बुर्जुआ रूपान्तरण का जोखिम मौजूद नहीं रहता? कतई ऐसा नहीं है! समाजवाद के एक ऐसे दौर में जब अभी बुर्जुआ अधिकार बने हुए हैं, वेतन का अन्तर बना हुआ है, क्योंकि अभी कार्य के अनुसार भुगतान किया जा रहा है, माल उत्पादन और विनिमय सम्बन्ध बरक़रार हैं, भौतिक प्रोत्साहन की व्यवस्था अभी बनी हुई है; ऐसे में, मज़दूर राज्य कीचड़ में कमलवत् अस्तित्वमान नहीं रह सकता है, चाहे उसकी मशीनरी को चलाने वाले सभी तत्व सर्वहारा मूल के ही क्यों न हों। माओ ने बताया था कि असल बात यह है कि ऐसे दौर में बुर्जुआ प्रथाओं की मौजूदगी होगी और राज्य मशीनरी में मौजूद मज़दूर तत्वों में बुर्जुआ रुझानों के विकास की सम्भावना बनी रहेगी। बेतेलहाइम के "माओवाद" का चरित्र भी यहाँ उजागर हो जाता है। **बेतेलहाइम के लिए सोवियत राज्य मशीनरी में बुर्जुआ विकृतियों के पैदा होने का कारण था उसमें बुर्जुआ मूल के लोगों की मौजूदगी, जबकि माओ और साथ ही लेनिन के लिए यह कभी भी *प्रमुख* पहलू नहीं था। उनके लिए सर्वहारा राज्य में बुर्जुआ विरूपताओं की मौजूदगी का प्रश्न इस बात से जुड़ा हुआ था कि समाजवादी संक्रमण किस मंज़िल में है।** पार्टी अपने मनोगत प्रयासों से ही सर्वहारा राज्य का शुद्धीकरण नहीं कर सकती है। उसे राज्य के सर्वहारा चरित्र को बनाये रखने के लिए मनोगत तौर पर प्रयास जारी रखने होंगे, लेकिन राज्य का सर्वहारा चरित्र किस हद तक विकसित होता है, यह मनोगत और वस्तुगत कारकों के द्वन्द्व से निर्धारित होता है।

यहाँ बेतेलहाइम दो महत्वपूर्ण कारकों की अनदेखी भी कर रहे हैं। पहली बात तो यह कि गृहयुद्ध के बाद भी पार्टी ने राज्य के सर्वहारा चरित्र को कायम रखने के प्रति अपनी

चौकसी को बरक़रार रखा था, जैसा कि हम गृहयुद्ध के बाद पार्टी में चलाये गये शुद्धीकरण अभियानों में देखा जा सकता था। ऐसा नहीं था कि गृहयुद्ध के बाद ही राज्य के सर्वहारा चरित्र को कायम रखने के प्रति पार्टी अपना सरोकार खो बैठी थी और इसकी उसे बाद में "भारी क़ीमत चुकानी पड़ी।" दूसरी बात यह कि लेनिन ने जब राज्य मशीनरी में लगे कम्युनिस्ट मज़दूरों को हर चार माह के बाद कारखानों में काम करने के लिए भेजने की बात की थी, तो उसके पीछे मुख्य कारण यह नहीं था कि चार माह में उनके भीतर राज्य मशीनरी में लगे बुर्जुआ तत्वों द्वारा जितना प्रदूषण डाल दिया गया हो, उसे प्रक्षालित किया जा सके! **लेनिन ने यह दलील मुख्य तौर पर इसलिए दी थी कि ये कम्युनिस्ट मज़दूर कारखाने में गैर-पार्टी मज़दूरों के बीच राजनीतिक कार्य कर सकें, उन्हें कम्युनिस्ट बना सकें, पार्टी सदस्य बना सकें, और उन्हें राजकीय और प्रशासनिक कार्यों के लिए भी तैयार कर सकें।** यहाँ पर कम्युनिस्ट मज़दूरों को बीच-बीच में कारखाने भेजने के पीछे मुख्य कारण यह था कि पार्टी को कारखानों में काम करने वाली व्यापक ग़ैर-पार्टी मज़दूर आबादी के बीच राजनीतिक प्रचारकर्ताओं की सख़्त ज़रूरत थी और यदि पार्टी सदस्य मज़दूरों की भारी संख्या राजकीय मशीनरी में ख़र्च होती रहती तो यह ज़रूरत पूरी कर पाना सम्भव नहीं था। यह सच है कि पार्टी वास्तव में इस ज़रूरत को सही ढंग से पूरा नहीं कर पायी जिसके मुख्य रूप से वस्तुगत कारण थे। हालाँकि पार्टी सदस्य मज़दूरों का अच्छा-ख़ासा हिस्सा लाल सेना, प्रशासनिक ढाँचे आदि में लगा हुआ था, लेकिन फिर भी सर्वहारा राज्यसत्ता के पास मज़दूर कार्यकर्ताओं की भारी कमी थी। यह स्वाभाविक था कि पार्टी सदस्य मज़दूरों का मात्र दस प्रतिशत हिस्सा ही कारखानों में काम कर रहा था, जिस पर कि बेतेलहाइम को काफ़ी एतराज़ है। लेकिन उन्हें इस बात पर भी एतराज़ है कि राज्य मशीनरी में पर्याप्त मज़दूर नहीं थे! स्पष्ट है कि यह पूरी स्थिति आदर्श नहीं थी, लेकिन रूसी क्रान्ति का वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भ जिस किस्म का था, उसमें हम और किसी चीज़ की उम्मीद नहीं कर सकते हैं। साथ ही, बेहद कठिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में बोल्शेविक पार्टी ने जिस तरीके से क्रान्ति और सर्वहारा राज्य की रक्षा की, वह सबसे शत्रुतापूर्ण रुख़ रखने वाले प्रेक्षक को भी चकित कर देता है। लेकिन बेतेलहाइम अपने छद्म माओवाद के पैमाने पर रूसी क्रान्ति को ज़बरन कसने की कोशिश करते हैं, और अन्त में विचित्र अन्तरविरोधों में फँस जाते हैं।

जहाँ बेतेलहाइम सोवियत रूस में समाजवादी श्रम अनुशासन और कम्युनिस्ट कार्य के पैदा होने की बात करते हैं, वहाँ वे इसे पूरी तरह से विचारधारात्मक क्रान्ति का मुद्दा बना देते हैं। उनके अनुसार सचेतन तौर पर उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के ज़रिये ही कम्युनिस्ट कार्य और समाजवादी श्रम अनुशासन पैदा हो सकता है। इस तर्क के अनुसार उत्पादक शक्तियों के विकास की किसी भी मंज़िल में एक सही पार्टी के द्वारा सही तरीके से विचारधारात्मक कार्य किये जाने और उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन तौर पर क्रान्तिकारी रूपान्तरण किये जाने पर कम्युनिस्ट कार्य और समाजवादी श्रम अनुशासन पैदा हो सकता है। यह तर्क हास्यास्पद है और माओ की समझदारी से इसका दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि 'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ाओ' के नारे में माओ की समझदारी सही तरीके से प्रकट होती है। इस नारे को पूरा पढ़ने से पहले ही बेतेलहाइम का धैर्य जवाब दे जाता है। **वह यह समझने में पूरी तरह नाकाम रहते हैं कि कम्युनिस्ट कार्य और समाजवादी श्रम अनुशासन का विकसित होना जहाँ उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन क्रान्तिकारी रूपान्तरण पर निर्भर करता है, तो वहीं वह उत्पादक**

शक्तियों के विकास पर भी निर्भर करता है। समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में कभी कोई पहलू प्रधान हो सकता है, तो कभी कोई। लेकिन बेतेलहाइम को उत्पादक शक्तियों के विकास के पहलू का ज़िक्र भी स्वीकार नहीं है। लेनिन को चुनिन्दा तरीके से उद्धृत करके बेतेलहाइम लेनिन को अपने किस्म का "माओवादी" बनाने का पूरा प्रयास करते हैं, लेकिन जिन्होंने भी समाजवादी संक्रमण के बारे में लेनिन के लेखन को पढ़ा है, वे जानते हैं कि लेनिन ने उत्पादक शक्तियों के विकास पर पर्याप्त ज़ोर दिया था और साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन रूपान्तरण की ज़रूरत को भी बार-बारे रेखांकित किया था। हम देख सकते हैं कि किस तरह से माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में बेतेलहाइम लेनिनवादी भी नहीं रह जाते हैं। यही नहीं, बेतेलहाइम स्तालिन को एक भोण्डा अर्थवादी बनाने का प्रयास भी करते हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन ने क्रान्ति के बाद यह समझ लिया था कि प्रमुख कार्य है उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण। लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि लेनिन उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को जुड़वाँ कार्यभार मानते थे; मिसाल के तौर पर, हम लेनिन के विद्युतीकरण और भारी उद्योगों के विकास के बारे में विचारों को याद कर सकते हैं। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन के लेखन से अपने काम की चीज़ छाँट लेते हैं! आगे बेतेलहाइम कहते हैं कि लेनिन का यह मानना नहीं था कि जब तक उत्पादक शक्तियों का विकास दबाव न पैदा करे, तब तक उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं हो सकता है। यह बात इस रूप में कही गयी है, मानो वह स्तालिन की समझदारी हो, हालाँकि ऐसी भोंड़ी सोच किसी भी संजीदा मार्क्सवादी-लेनिनवादी की नहीं रही है। यह सच है कि स्तालिन की समझदारी में उत्पादक शक्तियों को ग़ैर-द्वन्द्वात्मक ज़ोर स्पष्ट तौर पर मौजूद है। लेकिन स्तालिन की समझदारी को इस रूप में पेश करना कि उन्होंने उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण पर कोई ज़ोर नहीं दिया या उसे पूरी तरह उत्पादक शक्तियों के विकास पर निर्भर मान लिया, स्तालिन के साथ अन्याय होगा। **उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के गतिमान द्वन्द्व के बारे में स्तालिन की समझदारी यान्त्रिक थी, लेकिन बेतेलहाइम उनकी समझदारी को जिस रूप में पेश करते हैं, वह बिल्कुल अनुचित है और स्वयं उनकी समझदारी यान्त्रिकता के दूसरे छोर का शिकार है।**

बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान अति-केन्द्रीकरण के प्रयासों के कारण जनसमुदायों द्वारा पैदा हुई पहलकदमी समाप्त होती गयी, हालाँकि इसके लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार थीं। यहाँ भी बेतेलहाइम तथ्यों को गड्डमड्ड कर रहे हैं। **पहली बात** तो यह है कि जनसमुदायों द्वारा कम्युनिस्ट पहलकदमी का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यानी कि सुब्बोतनिक जुलाई 1919 में पैदा हुआ था, जब गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियाँ अभी जारी थीं। **दूसरी बात** यह कि 1917 से 1921 के बीच आम तौर पर सर्वहारा जनसमुदायों ने कम्युनिस्ट पहलकदमी के बहुत-से उदाहरण नहीं पेश किये थे। लेनिन ने स्वयं 1921 के पहले और बाद के दौर में रूसी सर्वहारा वर्ग में टटपुँजिया विचारों के प्रभाव के कारण कम्युनिस्ट पहलकदमी के अभाव पर बार-बार खेद प्रकट किया था। इसलिए "युद्ध कम्युनिज़्म" के अति-केन्द्रीकरण के पास ख़त्म करने के लिए कम्युनिस्ट पहलकदमियों के बहुत से उदाहरण थे ही नहीं। बेतेलहाइम एक उदाहरण की बात करते हैं। वह कहते हैं कि जब कम्युनिस्ट शनिवार (सुब्बोतनिक) को एक नियम में तब्दील कर दिया गया और मज़दूरों के लिए इसे बाध्यताकारी बना दिया गया तो उसमें कुछ भी कम्युनिस्ट नहीं रह गया, क्योंकि

अब यह पूरी तरह स्वैच्छिक नहीं रह गया और इसलिए यह कम्युनिस्ट भी नहीं रह गया। यह अब सामूहिक स्वानुशासन नहीं था, बल्कि थोपा हुआ अनुशासन था। बेतेलहाइम यह भी कहते हैं पार्टी और लेनिन ने भी इस कदम का समर्थन किया। **यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर से भाववाद के गड्ढे में जा गिरते हैं।** यह सच है कि 1919 में पहला कम्युनिस्ट सुब्बोतनिक मज़दूरों की अपनी स्वायत्त पहलकदमी पर पैदा हुआ। लेकिन इसके बाद यह उम्मीद करना कि यह स्वत:स्फूर्त रूप से पूरे देश में फैल जायेगा और अलग-अलग जगह इसकी तर्ज़ पर सुब्बोतनिक आयोजित किये जायेंगे, एकदम भाववादी समझदारी है। मज़दूर वर्ग की इस शानदार पहलकदमी को प्रसारित करने, उसे आयोजित करने और उसे मज़दूर वर्ग के बीच संस्थाबद्ध करने के कार्य में पार्टी की सचेतन भूमिका का एक कारक भी होगा। यह दीगर बात है कि इसके बाद वस्तुगत परिस्थितियाँ ऐसे किसी रूप के फलने-फूलने के लिए पर्याप्त ईंधन मुहैया कराती हैं या नहीं। लेकिन यदि वस्तुगत परिस्थितियाँ पर्याप्त ईंधन मुहैया कराती भी हों, तो इसे पूरे देश के पैमाने पर फैलाने में पार्टी के सचेतन और संस्थाबद्ध नेतृत्व की भी एक भूमिका निश्चित तौर पर होगी। **लेकिन बेतेलहाइम इस विषय पर ऐसी समझदारी रखते हैं कि पार्टी के इसमें किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप या भूमिका कम्युनिस्ट पहलकदमी का यह शुद्ध रूप प्रदूषित हो जायेगा।**

इसके बाद बेतेलहाइम गाँवों में सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण पर आते हैं। यहाँ बेतेलहाइम सबसे पहले अपने जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गुन्थन के सिद्धान्त पर आते हैं, जिसके अनुसार बोल्शेविक क्रान्ति शहरों में समाजवादी और गाँवों में जनवादी क्रान्ति थी। हम इस भ्रामक सिद्धान्त का जवाब ऊपर दे चुके हैं और दिखला चुके हैं कि बेतेलहाइम के इस सिद्धान्त पर त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का गहरा असर है। उस आलोचना को दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

क्रान्ति से पहले रूसी गाँवों में प्रभावी सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कई सही प्रेक्षण प्रस्तुत करते हैं। वह दिखलाते हैं कि रूसी कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास हो गया था लेकिन रूसी ग्राम समुदाय *मीर* की मौजूदगी ने किसानों की वर्ग चेतना को कुन्द करने का काम किया और उसे अल्प-विकसित बनाये रखा। इसके कारण किसान अपने सही वर्ग शत्रुओं की पहचान नहीं कर पा रहे थे और ज़ारशाही राज्य के चरित्र को भी नहीं समझ पा रहे थे। इस प्रकार ग्राम समुदाय किसानों की वर्ग चेतना को भोथरा बनाये रखने का एक विचारधारात्मक-राजनीतिक उपकरण बना हुआ था जिसके कारण ग्राम पितृभूमि-भक्ति और टटपुँजिया ग्राम्य अहंवाद पैदा हो रहा था। वास्तव में *मीर* ग्रामीण बुर्जुआज़ी के प्रभुत्व को बनाये रखने का एक कारगर औज़ार साबित हो रहा था। यहाँ तक बात एकदम सटीक है। लेकिन इसके बाद बेतेलहाइम *मीर* को कोसते हुए किसान वर्ग के लिए एक क्षमापत्र पेश करते हैं। उनके मुताबिक किसानों की शहर के मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी की समस्याओं, भुखमरी और अनाज की कमी के प्रति तटस्थता इसी वजह से थी कि एक ओर *मीर* जैसी संस्थाओं ने किसानों की वर्ग चेतना को भोथरा बना रखा था, तो वहीं किसानों के बीच बोल्शेविकों की पकड़ और प्रचार-कार्य बेहद कमज़ोर था। **ये दोनों कारक किसानों की तटस्थता को केवल आंशिक रूप से ही व्याख्यायित करते हैं। अगर हम किसान वर्ग के स्वाभाविक टटपुँजिया चरित्र की पहचान नहीं करते, तो यह विश्लेषण अधूरा रहेगा।** अगर *मीर* जैसी कोई संस्था नहीं होती और बोल्शेविक पार्टी का किसान आबादी के बीच आधार होता तो क्या किसान आबादी इस प्रकार की कोई तटस्थता या

संकीर्ण हितों के प्रति सरोकार या स्वार्थ नहीं प्रदर्शित करती? हमें इस बात पर सन्देह है। यहाँ एक बार फिर बेतेलहाइम किसानों के समूचे वर्ग के चरित्र की मार्क्सवादी व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं और माओ से भी काफ़ी दूर नवनरोदवाद के छोर पर खड़े हैं। यह बात आगे और स्पष्ट हो जाती है। प्रतीतिगत तौर पर बेतेलहाइम **टियोडोर शैनिन** जैसे बुद्धिजीवियों की इस थीसिस का खण्डन करते हैं कि रूसी ग्राम समुदाय *मीर* के आधार पर समाजवादी सामूहिक खेती की शुरुआत की जा सकती थी। हम देख सकते हैं कि शैनिन जैसे लोग नरोदवादी थीसिस को ही नये रूप में पेश कर रहे हैं। **ऊपरी तौर पर इस थीसिस का विरोध करते हुए बेतेलहाइम अन्त में धीरे से यह दलील घुसा देते हैं कि अगर पार्टी की गाँवों गहरी जड़ें होतीं तो सामूहिक खेती की शुरुआत करने में *मीर* उपयोगी हो सकता था! यह पूरी दलील अन्त में नरोदवाद के पक्ष में जाकर खड़ी होती है।** साथ ही, लेनिन द्वारा मीर को समाजवादी खेती का आधार बनाने के विरोध में पेश किये गये तर्कों को समझने में यह दलील पूरी तरह नाकाम रहती है। सवाल पार्टी का गाँवों में आधार होने या न होने का था ही नहीं; **वास्तव में, मीर ढाँचागत तौर पर समाजवादी सामूहिक खेती का आधार बन पाने में अक्षम संस्था थी।** समाजवादी सामूहिक खेती/मालिकाने और प्राक्-पूँजीवादी सामुदायिक मालिकाने के बीच किसी किस्म का पुल नहीं बनाया जा सकता है। लेकिन बेतेलहाइम यहाँ अपने नरोदवादी-किसानवादी तर्क को उघाड़कर रख देते हैं, क्योंकि उनके तर्कों का अर्थ कुल मिलाकर यह निकलता है कि किसान समस्या के सही ढंग से समाधान न होने पीछे मनोगत कारक, यानी कि पार्टी ज़िम्मेदार थी। किसान वर्ग के स्वाभाविक चरित्र और प्रकृति को पूरी तरह कठघरे के बाहर कर दिया गया है।

बेतेलहाइम रूस में क्रान्ति के बाद जनवादी कृषि-सम्बन्धी कार्यभारों के पूरा होने का जो ब्यौरा पेश करते हैं वह कतई सटीक नहीं हैं और उसमें तथ्यों की भी काफ़ी ग़लतियाँ हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि भूमि पुनर्वितरण की आज्ञप्ति को लागू करने का कार्यभार *मीर* को सौंपा गया था, जो कि सटीक तथ्य नहीं है। दरअसल, यह ज़िम्मेदारी मुख्यत: और मूलत: भूमि समितियों (land committees) को सौंपी गयी थी जिन्हें समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने उस समय बनाया था, जब वे फरवरी क्रान्ति के उपरान्त बनी आरज़ी सरकार में भागीदार बने थे। बेतेलहाइम द्वारा पेश यह तथ्य भी ग़लत है कि भूमि पुनर्वितरण अक्टूबर क्रान्ति के बाद ग्राम समुदायों में उसी तर्ज़ पर किया जा रहा था, जिस तर्ज़ पर वह फरवरी क्रान्ति के बाद किया जा रहा था, यानी कि परिवार के पैमाने पर। **ई.एच. कार** क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों के बीच जारी एक बहस का ब्यौरा देते हैं। बोल्शेविकों के बीच इस बात को लेकर विवाद था कि भूमि पुनर्वितरण में उपभोग सिद्धान्त (consumption principle) लागू किया जाय (यानी कि परिवार के उपभोग के आकार के आधार पर भूमि वितरण किया जाय) या फिर कार्य सिद्धान्त (work principle) को लागू किया जाय (यानी कि काम करने वाले हाथों के आधार पर भूमि वितरण किया जाय)। वास्तव में, पूरे रूस में एक ही मॉडल पर भूमि वितरण हुआ ही नहीं था, जैसा कि बेतेलहाइम के ब्यौरे से ध्वनित होता है। लेकिन एक बात तय है कि फरवरी क्रान्ति और अक्टूबर क्रान्ति के बीच जिस तर्ज़ पर भूमि सुधार हुआ था, अक्टूबर क्रान्ति के बाद भूमि समितियों द्वारा लागू किये गये भूमि सुधार की उससे कोई तुलना नहीं की जा सकती है। लेकिन बेतेलहाइम यहाँ तक दावा करते हैं कि मीर में ग्रामीण बुर्जुआज़ी के प्रभुत्व में भूमि सुधारों के लागू होने के बाद कोई विशेष अन्तर नहीं आया और ग्रामीण वर्ग संरचना कमोबेश वैसी ही बनी रही जैसी

कि क्रान्ति के पहले थी। लेकिन साथ ही बेतेलहाइम यह भी कहते हैं कि किसान आबादी में मँझोले किसानों का हिस्सा पहले से बढ़ गया। **ये दोनों बातें अन्तरविरोधी हैं।** यदि **मॉरिस डॉब** और **ई.एच. कार** के ब्यौरे से इसकी तुलना करें तो हम पाते हैं कि बोल्शेविकों द्वारा लागू किये गये भूमि सुधारों के कारण गाँवों की वर्ग संरचना में बुनियादी बदलाव आये। **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** ने तो यहाँ तक कहा था कि बुर्जुआ भूमि सुधार लागू करके बोल्शेविकों ने मध्यम किसानों के रूप में अपना सबसे बड़ा भावी शत्रु पैदा कर लिया था।

आगे बेतेलहाइम गाँवों में समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बोल्शेविक प्रयासों का ब्यौरा देते हुए कहते हैं कि बोल्शेविक गाँवों में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए मूलत: ग़रीब किसानों पर अपने प्रयासों को केन्द्रित कर रहे थे और 1918 की गर्मियों से ये प्रयास शुरू भी हो गये थे। इसी समय से पार्टी ने गाँवों में ग़रीब किसानों के स्वतन्त्र आन्दोलन को विकसित करने के प्रयास शुरू किये थे। यह बात सही भी है। लेकिन यहाँ भी बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा बेहद असन्तुलित है। बेतेलहाइम यह बुनियादी तथ्य दर्ज़ करने से चूक जाते हैं कि 1918 की गर्मियों के पहले से ही बोल्शेविकों ने अपने सारे प्रयासों का केन्द्र बिन्दु ग़रीब किसानों को बनाया था। 'अप्रैल थीसिस' में ही लेनिन ने गाँवों में वर्ग संघर्ष में ग़रीब किसानों को समाजवादी क्रान्ति का सबसे भरोसेमन्द मित्र बताया था और बुर्जुआ भूमि सुधारों को लागू करते समय भी बोल्शेविकों ने ग़रीब किसानों को केन्द्र में रख कर ही सारे कदम उठाये। यही कारण था कि गृहयुद्ध के दौरान ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों के बीच भूस्वामियों के प्रतिक्रियावादी विद्रोह को कुचलने के लिए पार्टी का समर्थन आधार बरक़रार था। गृहयुद्ध शुरू होने के बाद भोजन की उपलब्धता को बनाये रखना सबसे बड़ी चुनौती था, न केवल शहर की आबादी और सैनिकों का पेट भरने के लिए बल्कि इसलिए भी कि भूस्वामियों के राज की पुनर्स्थापना को रोका जा सके। इस दौर में शहरी सर्वहारा के पास गाँव के अनाज से विनिमय करने के लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं था क्योंकि युद्ध और आर्थिक बिखराव के कारण उत्पादन नीचे चला गया था। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि 1918 में कृषि उत्पादन में भारी गिरावट आयी; यह बात तथ्यत: ग़लत है। **1918 में जिस चीज़ में गिरावट आयी थी, वह अनाज की प्राप्ति था न कि उत्पादन।** किसान अनाज पैदा कर रहे थे लेकिन विनिमय में कुछ न मिलने की सूरत में वे अनाज देने को तैयार नहीं थे। यही कारण था कि पार्टी ने इस मौके पर किसानों के बीच राजनीतिक तौर पर वर्ग विभेदीकरण को अंजाम देने की योजना हाथ में ली। इससे पहले बोल्शेविकों ने सचेतन तौर पर ऐसे कोई कदम नहीं उठाये थे क्योंकि अभी जनवादी कार्यभारों को पूरा करने का पहलू गाँवों में प्रधान बना हुआ था। लेकिन अब लेनिन ने साफ़ किया कि किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण को अंजाम देने का वक़्त आ गया है। धनी और मँझोले किसान वर्ग की टटपुँजिया स्वार्थपूर्ण वर्ग प्रवृत्तियाँ सामने थीं। जून-जुलाई 1918 में पहली बार **ग़रीब किसान समितियों** का निर्माण किया गया ताकि धनी और उच्च मध्यम किसानों से अतिरिक्त अनाज ज़ब्त किया जा सके। धनी और उच्च मध्यम किसानों ने कई जगहों पर सशस्त्र रूप से इन समितियों का प्रतिरोध किया और कई जगहों पर सशस्त्र टकराव के बाद ही अनाज प्राप्त किया जा सका। बेतेलहाइम पार्टी के इस कदम का विरोध करते हुए इसे किसान आबादी में विभेदीकरण करने के प्रति अति-आशावाद क़रार देते हैं। उनका मानना है कि लेनिन ने भी स्वयं किसानों द्वारा समाजवादी सम्बन्धों की स्थापना की बात की थी, न कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से। **यहाँ बेतेलहाइम लेनिन की समझदारी का किसानवादी विनियोजन कर रहे हैं।** लेनिन ने यह बात ग़रीब किसानों और ग्रामीण सर्वहारा और निम्न

मध्यम किसानों के बारे में कही थी, न कि धनी व उच्च मध्यम किसानों के बारे में! धनी और उच्च मध्यम किसान स्वेच्छा से समाजवादी सम्बन्धों की स्थापना क्यों करेंगे? बेतेलहाइम के अनुसार पार्टी द्वारा विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार के ज़रिये! यह हेगेलीय भाववाद और मनोगतवाद नहीं तो और क्या है?

आगे बेतेलहाइम कहते हैं कि ग़रीब किसान समितियाँ 1918 में किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण के कार्य को अंजाम देने की स्थिति में नहीं थीं। यह बात भी ग़रीब किसान समितियों के कालान्तर में आंशिक तौर पर असफल होने के कारणों की सही व्याख्या नहीं करती। यह सच है कि ग़रीब किसान समितियों को जो कार्यभार सौंपा गया था, उसे वे सही ढंग से अंजाम नहीं दे पायीं। लेकिन इसका कारण यह था कि पार्टी ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को सही तरीके से संचालित और दिशा-निर्देशित नहीं कर पायी। नतीजतन, जिन प्रहारों का निशाना कुलकों और धनी किसानों को बनाया जाना था, उनका निशाना अक्सर मँझोले किसान बन गये। लेनिन की यह समझदारी थी कि ग़रीब किसान समितियों को मँझोले किसानों को जीतना होगा या फिर उन्हें तटस्थ बनाना होगा ताकि धनी किसानों और कुलकों को अलगावग्रस्त किया जा सके। लेकिन कई मौकों पर इन समितियों के दिशाहीन प्रहारों की ज़द में मँझोले किसान भी आ गये और इसने मँझोले किसानों को, जो कि अब किसान आबादी के प्रमुख घटक थे, बोल्शेविकों से दूर किया और धनी किसानों से संश्रय बनाने को प्रेरित किया। लेकिन बेतेलहाइम इन सारी बारीकियों को नज़रन्दाज़ करना पसन्द किया है ताकि वे इस ग़ैर-लेनिनवादी और ग़ैर-माओवादी विचार को स्थापित कर सकें कि पूरी की पूरी किसान आबादी समाजवादी रूपान्तरण पर सहमत हो सकती है, या स्वेच्छा से समाजवाद की ओर जा सकती है और इसीलिए वह ग़रीब किसान समितियों के बनाये जाने को ही एक ग़लत कदम मानते हैं। लेनिन जानते थे कि समाजवादी निर्माण का सबसे मज़बूत आधार गाँवों में ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी है। धनी किसानों को अलगावग्रस्त करने के लिए मध्यम किसान आबादी को कम-से-कम तटस्थ बनाना होगा। यह मध्यम किसानों की आबादी आगे राजनीतिक तौर पर विभाजित होगी। अपनी मेहनत के आधार पर खेती करने वाले और उजरती श्रम का शोषण न करने वाले अधिकांश मध्यम किसानों को समाजवाद पर राज़ी किया जा सकता है और वे समाजवाद की ओर आ सकते हैं। लेकिन वह उच्च मध्यम किसान आबादी जो कि उजरती श्रम का शोषण करती है, उसका एक छोटा हिस्सा ही समाजवाद पर सहमत होगा। माओ ने भी 'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना' में स्पष्ट किया था कि मध्यम किसान वर्ग कोई एकाश्मी वर्ग नहीं है और जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी उच्च मध्यम किसान उतने मज़बूत मित्र नहीं साबित होंगे जितने कि निम्न मध्यम किसान। बेतेलहाइम ग़रीब किसान समितियों को पूर्ण असफलता क़रार देते हैं। यह भी लेनिन की समझदारी के बिल्कुल विपरीत है, जो कि कई ठोस कार्यभारों में असफलता के बावजूद ग़रीब किसान समितियों के निर्माण को एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कदम मानते थे।

बेतेलहाइम की दलील है कि इस तथाकथित असफलता के कारण ही ग़रीब किसान समितियों को बाद में किसान सोवियतों के साथ मिला दिया गया, जिसमें कि मध्यम किसान बहुसंख्या में थे। यह सारी बातें तथ्यों को बुरी तरह तोड़-मरोड़ देती हैं। ग़रीब किसानों की राजनीतिक भागीदारी और पहलकदमी को जागृत करने में ग़रीब किसान समितियाँ निश्चित तौर पर सफल रही थीं। बेतेलहाइम कहते हैं कि भूमि सुधारों के बाद मध्यम किसानों की आबादी बढ़ने के कारण पार्टी का ध्यान ग़रीब किसानों से स्थानान्तरित होकर मँझोले किसानों पर चला

गया। यह भी तथ्यत: ग़लत है। मध्यम किसानों को पार्टी ने कई रियायतें दीं क्योंकि गृहयुद्ध के दौरान उनका बड़ा हिस्सा सोवियत सत्ता से अलगावग्रस्त हो गया था और यह सोवियत सत्ता के अस्तित्व के लिए ख़तरा बन सकता था। **इसका यह अर्थ कतई नहीं था कि पार्टी गाँवों में मध्यम किसानों को क्रान्ति का प्रमुख वर्ग मित्र मानने लगी थी।** पार्टी अभी भी ग़रीब किसानों को ही समाजवादी क्रान्ति का प्रमुख वर्ग मित्र मानती थी और उस पर निर्भर करती थी। रूसी क्रान्ति ने 1918 से 1921 तक अपने आपको जिस ऐतिहासिक स्थिति में पाया, उसमें मँझोले किसानों को रियायत देने की नीति पर जाना सोवियत सर्वहारा सत्ता के लिए बाध्यता का विषय था, न कि चयन का। बेतेलहाइम की यही ग़लत समझदारी अन्त में उन्हें इस नतीजे पर ले जाती है कि 1921 में लेनिन के नेतृत्व में पार्टी द्वारा लागू की गयी 'नयी आर्थिक नीति' समाजवादी निर्माण की आदर्श नीति है! और इसके बावजूद वह लेनिनवादी और माओवादी होने का दावा करते हैं! **यह पूरा तर्क वास्तव में बेतेलहाइम को संशोधनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ओर ले जाता है। लेनिन ने 'नयी आर्थिक नीति' को सोवियत सत्ता की मजबूरी बताते हुए रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने की संज्ञा दी थी और वह अन्त तक इसी समझदारी पर बरक़रार रहे थे।** लेकिन बेतेलहाइम को लेनिन की इस संज्ञा पर आपत्ति है।

मँझोले किसानों पर रुख़ को लेकर आठवीं पार्टी कांग्रेस (1919) में लेनिन ने अपना पूरा दृष्टिकोण रखा और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई उन भयंकर भूलों की ओर पार्टी कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया, जिनकी हमने ऊपर संक्षेप में चर्चा की है। लेनिन ने बताया कि क्लासिकीय समाजवादी नीति मँझोले किसानों को तटस्थ बनाने और धनी किसानों को अलगावग्रस्त करने की होती है, लेकिन रूसी क्रान्ति का अनुभव बताता है कि विशिष्ट परिस्थितियों में हमें मँझोले किसानों के साथ मज़बूत संश्रय बनाना होगा, क्योंकि यह वर्तमान रूसी समाज में सबसे बड़ा वर्ग है और सोवियत सत्ता का भविष्य काफ़ी हद तक इस वर्ग के साथ हमारे रिश्ते पर निर्भर है। मँझोले किसानों से सुदृढ़ संश्रय बनाने के लिए कांग्रेस में एक प्रस्ताव भी पारित किया गया। **बेतेलहाइम लेनिन के इस दृष्टिकोण को आम तौर पर मँझोले किसान के प्रति रुख़ के मामले में मार्क्सवादी सिद्धान्त में एक इज़ाफ़े के तौर पेश करते हैं, जबकि लेनिन मँझोले किसानों से मज़बूत संश्रय बनाने की बात रूसी क्रान्ति के विशिष्ट अनुभवों के सन्दर्भ में कर रहे थे।** लेनिन इस संश्रय को कायम करने पर अतिशय ज़ोर इसलिए दे रहे थे क्योंकि त्रात्स्की के अतिवामपन्थी-दक्षिणपन्थी भटकाव का पार्टी के अच्छे-ख़ासे हिस्से पर प्रभाव था और इस भटकाव के कारण ही "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में कुछ अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुई थीं। लेनिन ने ज़ोर देकर कहा कि फसल वसूली के कार्यक्रम में ज़ोर-ज़बरदस्ती केवल धनी किसानों और कुलकों के वर्ग के लिए आरक्षित है। इसकी ज़द में मँझोले किसान कतई नहीं आने चाहिए। लेनिन के इस ज़ोर की व्याख्या बेतेलहाइम अपने किसानवादी दृष्टिकोण से करते हैं और मँझोले किसानों के समूचे वर्ग को समाजवाद का स्वाभाविक मित्र बना डालते हैं! जबकि लेनिन के इस ज़ोर का विशिष्ट सन्दर्भ था "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की अतिरेकपूर्ण ग़लतियों के कारण मँझोले किसानों का पार्टी से अलगाव जो कि सोवियत सत्ता के लिए प्राणान्तक हो सकता था, जैसा कि एक वर्ष के भीतर स्पष्ट भी हो गया। लेनिन की पूरी समझदारी का चरित्र यहाँ पर रणनीतिक नहीं बल्कि रणकौशलात्मक था। **मँझोले किसानों के बारे में लेनिन के पूरे लेखन को किनारे करके गृहयुद्ध के दौरान और उसके ठीक बाद की आपातस्थितियों में और विशेष तौर पर**

आठवीं कांग्रेस में इस बाबत उनके भाषण को सन्दर्भों से काटकर बेतेलहाइम ग़लत तरीके से व्याख्यायित करते हैं, ताकि लेनिन की अवस्थिति का किसानवादी विनियोजन किया जा सके।

आगे बढ़ने से पहले 1919 से मृत्यु तक लेनिन के किसान प्रश्न के बारे में चिन्तन पर थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी होगा। **'सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थशास्त्र और राजनीति', 'आर.सी.पी. (बी) के आठवें अखिल रूसी सम्मेलन में रिपोर्ट', 'कृषि कम्यूनों और कृषि आर्तेलों की प्रथम कांग्रेस पर भाषण', 'नवीं पार्टी कांग्रेस में पेश रिपोर्ट', 'आठवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट', 'टैक्स इन काइण्ड'** और **'अक्तूबर क्रान्ति की चौथी वर्षगाँठ'** जैसी रचनाओं में लेनिन ने किसान प्रश्न पर लिखा है। इनमें लेनिन मँझोले किसानों से मज़बूत गठजोड़ बनाने की बात करते हैं। लेकिन यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन की यह अवस्थिति उन परिस्थितियों के कारण थी जिनमें रूसी क्रान्ति ने अपने आपको पाया था। **पहली बात** तो यह है कि लेनिन मँझोले किसानों के दोहरे चरित्र के बारे में शुरू से स्पष्ट थे। यानी कि एक ओर अपने ख़ून-पसीने पर जीने वाला मेहनतकश और दूसरी ओर उजरती श्रम का शोषण करने वाला टटपुँजिया उत्पादक। लेनिन मँझोले किसानों के वर्ग के इन दो हिस्सों के बीच स्पष्ट फर्क करते हैं। लेनिन ने 1919 के बाद बार-बार स्पष्ट किया कि मँझोला किसान अब कुल रूसी किसान आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा है और उसके साथ एक मज़बूत गठजोड़ सोवियत सत्ता के अस्तित्व को बनाये रखने की एक पूर्वशर्त है। शुरुआत में इस प्रश्न के हल के लिए लेनिन की उम्मीदें यूरोप के कुछ उन्नत देशों और विशेष तौर पर जर्मनी में क्रान्ति पर टिकी थीं, जिसके बाद सोवियत मज़दूर सत्ता अपने आपको टिकाने की स्थिति में आ सकती थी। लेकिन 1920 का अन्त होते-होते ये उम्मीदें बिखर चुकी थीं। इसके बाद भी लेनिन का यह भरोसा था कि रूस में समाजवाद का निर्माण हो सकता है, हालाँकि यह प्रक्रिया पहले की अपेक्षा ज़्यादा जटिल और लम्बी होगी। इस दौर में सोवियत सत्ता को मँझोले किसानों से सुदृढ़ संश्रय बनाने के लिए उन्हें रियायतें देनी होंगी, मुक्त व्यापार को छूट देनी होगी, और इस प्रकार पूँजीवाद को थोड़ी छूट देनी होगी, लेकिन इसी के साथ सोवियत राज्यसत्ता को राजकीय मालिकाने के तहत तीव्र उद्योगीकरण करना होगा और लघु किसान अर्थव्यवस्था और राजकीय उद्योग के बीच विनिमय को संचालित करना होगा। इसके अतिरिक्त, सोवियत राज्यसत्ता को इस पूँजीवाद को सतत् नियन्त्रण में रखना होगा और उसे चोरी, जमाखोरी आदि की इजाज़त नहीं देनी होगी और साथ ही उसे बही-खातों यानी लेखा के ज़रिये आर्थिक तौर पर विनियमित करना होगा। और साथ ही इस बीच सोवियत सत्ता को ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों को सबसे पहले सहकारी, सामूहिक और फिर राजकीय खेती के लिए राज़ी करना होगा, लेकिन बिना ज़ोर-ज़बरदस्ती के। लेनिन इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि 'नयी आर्थिक नीति' के इन प्रावधानों के लागू होने पर मध्यम किसानों के बीच से ही धनी किसानों का एक वर्ग पैदा होगा और किसान आबादी का विभेदीकरण बढ़ेगा। लेनिन के मृत्यु के कुछ महीनों बाद ही 'नेपमैन' के वर्ग के पैदा होने की चर्चा होने लगी थी, जिनमें कि धनी किसानों और व्यापारियों का वर्ग प्रमुख था। लेनिन इस वर्ग के पैदा होने की समस्या को नियन्त्रित करने के बारे में अपनी मृत्यु के पहले भी सोच ही रहे थे। लेकिन उनके चिन्तन की दिशा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि वह जीवित रहते तो एक बार फिर वह किसान वर्ग को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने के उस नतीजे पर ही पहुँचते जिस पर वे 1918 के मध्य में पहुँचे थे। और इस विभेदीकरण के साथ ही

सामूहिकीकरण की मुहिम को चलाया जा सकता था। **लेनिन ने एक बार कहा था कि आप एक पूरे वर्ग को मूर्ख नहीं बना सकते।** उसी प्रकार पूरी की पूरी मँझोली किसानी को समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी नहीं किया जा सकता है। समाजवादी कार्यक्रम पर निम्न मँझोले किसानों के वर्ग के बड़े हिस्से को सहमत किया जा सकता है जो कि अपनी मेहनत के बूते जीता है; लेकिन उच्च मध्यम किसानों का छोटा हिस्सा ही समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो सकता है।

'नेप' की नीति की तार्किक परिणति यही हो सकती थी कि एक ऐसा दौर आता जब कि सोवियत सत्ता और समाजवाद को बचाने के लिए सामूहिकीकरण की नीति को लागू करना ही पड़ता, जिसमें कि ग़रीब किसानों और निम्न मध्यम किसानों के वर्ग को मुख्य तौर पर साथ में लेना होता। लेनिन ने 'नेप' के पूरे दौर में सोवियत सर्वहारा सत्ता के सतत् सुदृढ़ीकरण पर विशेष बल दिया था ताकि सही रणनीतिक क्षण में नये समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) को आयोजित किया जा सके। लेनिन के अन्तिम दौर के लेखन से ये सारी चीज़ें एकदम स्पष्ट तौर पर सामने नहीं आती हैं। **लेकिन अगर लेनिन के इस विषय पर लेखन को समग्रता में और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जाय तो उसे सन्दर्भित करने और उनके चिन्तन की दिशा को समझने में मदद मिलती है।** 1919 से 1923 तक लेनिन के लेखन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक सर्वहारा यथार्थवादी क्रान्तिकारी के तौर पर वह रूसी क्रान्ति की जटिल स्थिति को समझ रहे थे और इसी परिप्रेक्ष्य में मध्यम किसानों से संश्रय कायम करने की बात उन्होंने कही है। उनके लिए सबसे प्रमुख बात थी सर्वहारा राजनीतिक सत्ता को कायम रखना और अन्य देशों में सर्वहारा क्रान्तियाँ न होने की सूरत में सधे हुए कदमों से रूस में समाजवाद के निर्माण की ओर आगे बढ़ना। निश्चित तौर पर, लेनिन उन समस्याओं का समाधान पहले ही नहीं पेश कर सकते थे जो कि सोवियत सत्ता को 1927 से 1930 के बीच में झेलनी पड़ीं, जिसका कारण था 'नेप' की नीतियों का ज़रूरत से ज़्यादा खिंच जाना और 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' की प्रक्रिया को सही समय पर न रोकना। इसी के कारण 'नेपमैन' का वर्ग सुदृढ़ीकृत हुआ, पार्टी में उसके विचारधारात्मक और राजनीतिक प्रतिनिधि पैदा हुए और 1929 आते-आते उन्होंने सोवियत सत्ता के लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया।

1930 में सामूहिकीकरण के अभियान के शुरू होने के बाद, देर से ही सही, इस समस्या का सही दिशा में समाधान स्तालिन ने शुरू किया। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार यह एक भयंकर भूल थी और 'नेप' की नीतियों को ही जारी रखा जाना चाहिए था, ताकि किसानों के पूरे वर्ग के साथ मज़बूत गठजोड़ बना रहे, जो कि बकौल बेतेलहाइम लेनिन की नीति थी! **यहाँ पर बेतेलहाइम लगभग वही तर्क देते हैं जो कि संशोधनवादियों ने बार-बार दिये हैं। मिसाल के तौर पर, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की बीसवीं कांग्रेस में माकपा के संशोधनवादियों ने 'नेप' की नीतियों का क्लासिकीय समाजवादी नीतियों के रूप में नैसर्गिकीकरण करने का प्रयास किया था। चीन में भी संशोधनवादियों ने ऐसा ही किया था। किसान प्रश्न पर बेतेलहाइम नरोदवादी-किसानवादी दृष्टिकोण से शुरुआत करते हैं और संशोधनवादी अर्थशास्त्र पर जाकर ठहरते हैं।**

यह बेतेलहाइम का नरोदवादी-किसानवाद ही है जिसे वह "माओवाद" के तौर पर पेश करते हैं। इसी पहुँच के कारण गृहयुद्ध के दौर में ज़बरन फसल वसूली की समस्या की चर्चा

करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि मँझोले किसानों के समर्थन के बिना सोवियत सत्ता श्वेत गार्डों की सेनाओं से नहीं जीत सकती थी। **लेकिन बेतेलहाइम इस ऐतिहासिक तथ्य को नहीं बताते कि अधिकांश मामलों में मँझोले किसान बोल्शेविकों के समर्थन में तब आये थे, जब उन्होंने श्वेत जनरलों के शोषण, दमन और उत्पीड़न को देख लिया था। ई.एच. कार** ने किसानों के द्वारा तमाम जगहों पर पाला बदलने का दिलचस्प ब्यौरा दिया है। उस दौर की घटनाओं का चित्रण करने वाले रूसी उपन्यासों में भी इसकी चर्चा मिलती है। बोल्शेविकों के पक्ष में आना और उनका समर्थन करना बहुसंख्यक मँझोले और विशेष तौर पर खाते-पीते मँझोले किसानों का नैसर्गिक वर्गीय व्यवहार नहीं था। बेतेलहाइम भी मानते हैं कि मँझोले किसानों का दोहरा चरित्र होता है और इसीलिए लेनिन ने 1919 में कहा था कि फसल वसूली की नीति को मँझोले किसानों के इस दोहरे चरित्र को ध्यान में रखते हुए दो तरह से लागू करना होगा। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 1919 में आठवीं कांग्रेस में मध्यम किसान के प्रति रुख़ को लेकर लेनिन की अवस्थिति का पूरा सन्दर्भ क्या था। लेनिन ने बार-बार स्पष्ट किया था कि हम मँझोले किसानों पर समाजवाद को थोपेंगे नहीं लेकिन उसे भी हम उजरती श्रम का शोषण करने की आज़ादी नहीं देंगे। 'नेप' के दौर में पूँजीवादी शक्तियों को नियन्त्रित तरीके से छूट दी गयी। इस दौर में मध्यम किसानों के पूरे वर्ग का विभेदीकरण अवश्यम्भावी था, यानी कि उसके एक हिस्से का बाज़ार में पिछड़ कर ग़रीबी में जाना तो एक छोटे-से हिस्से का एक नये कुलक वर्ग के रूप में उभरना। इसके साथ ही गाँवों में वर्ग संघर्ष तीव्रतर होता जायेगा क्योंकि धनी किसानों का वर्ग उजरती श्रम के शोषण की माँग करेगा। इस नये वर्ग संघर्ष के साथ ही नये समाजवादी आक्रमण की ज़मीन तैयार होगी। इस दौर में भी एक मँझोली किसानी होगी और उसके बड़े हिस्से को पार्टी को जीतना होगा या तटस्थ बनाना होगा। इस नये वर्ग संघर्ष की परिणति अन्ततः कुलकों और धनी किसानों वर्ग के एक वर्ग के तौर पर उन्मूलन और समाजवादी सामूहिकीकरण के रूप में ही हो सकती है। बेतेलहाइम लेनिन के इस पूरे दृष्टिकोण का मनमाने तरीके से विकृतिकरण करते हैं और स्तालिन के दौर में सामूहिकीकरण अभियान के शुरू किये जाने को लेनिनवादी नीति का परित्याग मानते हैं।

बहरहाल, बेतेलहाइम मानते हैं कि 1918 में गृहयुद्ध के शुरू होने के बाद ज़बरन फसल वसूली के अतिरिक्त सोवियत सत्ता के पास कोई रास्ता नहीं बचा था। लेकिन आगे वह यह जोड़ देते हैं कि जिस रूप में ज़ोर-ज़बरदस्ती हुई उसका एक कारण बोल्शेविकों और किसान वर्ग के बीच का सम्बन्ध भी था। यहाँ एक बार फिर धनी और उच्च मध्यम किसानों को कठघरे से बाहर कर दिया गया है और ज़ोर-ज़बरदस्ती की घटनाओं के लिए केवल बोल्शेविक पार्टी को ज़िम्मेदार ठहरा दिया गया है। **इस वर्ग की टटपुँजिया प्रवृत्ति के बारे में बेतेलहाइम ख़ामोश हैं, जिसके कारण वह बिना कुछ दिये कुछ भी लेने को तो तैयार होता है लेकिन बिना कुछ लिये कुछ भी देने को तैयार नहीं होता है।** यह सोवियत सत्ता थी जिसने इस वर्ग को भूमि का स्वामी बनाया था। लेकिन इसके बावजूद श्वेत गार्डों से भुखमरी और अकाल झेलते हुए लड़ रहे लाल सैनिकों और मज़दूरों को बेशी उत्पादन देने के लिए यह वर्ग तैयार नहीं था, हालाँकि सोवियत सत्ता उनके हक़ के लिए भी लड़ रही थी। ज़बरन फसल वसूली के दौरान भी बोल्शेविकों ने किसानों पर से दबाव कम करने के सारे प्रयास किये लेकिन गृहयुद्ध के जारी रहते हुए वे ऐसा करने में बहुत सफल नहीं हो पाये। इसके कारण 1920 का अन्त होते-होते यहाँ-वहाँ कुछ छोटे-बड़े किसान विद्रोह भी हुए। क्रोंस्टाट नौसेना विद्रोह भी वर्ग चरित्र के अनुसार एक किसान विद्रोह ही था। इसी के बाद

लेनिन ने 'नयी आर्थिक नीतियों' को शुरू करने का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार पूँजीवादी शक्तियों को नियन्त्रित छूट प्रदान की गयी। लेनिन ने इसे रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना कहा। लेकिन बेतेलहाइम इसे पार्टी की किसान प्रश्न पर कार्यदिशा को दुरुस्त करने का नाम देते हैं!

'नयी आर्थिक नीतियों' के तहत आये बदलावों की व्याख्या में बेतेलहाइम तथ्यों की कई ग़लतियाँ करते हैं। मिसाल के तौर पर, वह कहते हैं कि 1922 और 1923 के कृषि-सम्बन्धी विधेयकों ने *मीर* को मान्यता दे दी और उन्हें भूमि संघ का नाम दे दिया। **यह तथ्य सटीक नहीं है।** यह सही है कि इन विधेयकों ने कृषि कम्यूनों, आर्तेलों के साथ-साथ *मीर* को भी मान्यता प्रदान की जिसके तहत भूमि के भोगाधिकार को संचालित किया जाता था। लेकिन इस कानूनी मान्यता के साथ *मीर* के कार्य करने के तरीकों को सोवियत राज्य ने विनियमित भी किया। मिसाल के तौर पर, *मीर* से अलग होकर वैयक्तिक तौर पर खेती करने के अधिकार पर पहले जो पाबन्दियाँ थीं, सोवियत राज्य ने उन्हें समाप्त किया। बेतेलहाइम का कहना सही है कि *मीर* में आम तौर पर धनी किसानों का वर्चस्व होता था और उसकी विधायिका या पंचायत, जिसे *स्खोद* कहते थे, में प्रधान अक्सर कोई धनी किसान ही हुआ करता था। इसके कारण कई बार *मीर* ग़रीब किसानों से यह कहकर उनकी ज़मीन ले लेता था कि वह उस पर खेती नहीं कर पा रहा है। यह भी सही है कि 1922 और 1923 के विधेयकों ने बहुत-सी पाबन्दियों के साथ पट्टे पर ज़मीन देने और उजरती श्रम को लगाने की इजाज़त दी। लेकिन उजरती श्रम वही किसान लगा सकता था जो कि ज़मीन पर मज़दूर की स्थितियों में ही काम भी करता हो। यह सभी कदम 'नयी आर्थिक नीतियों' के तहत उठाये ही जाने थे। लेकिन *मीर* के तहत आम तौर पर ग़रीब किसान और ख़राब हालत में चले जाते थे, जबकि धनी और खाते-पीते मँझोले किसान और बेहतर हालत में। **बेतेलहाइम स्वयं मानते हैं कि सामूहिकीकरण तक यह स्थिति बनी रही।** इसके बावजूद वह सामूहिकीकरण को लेनिनवादी नीति से प्रस्थान मानते हैं और 'नेप' को समाजवाद की नैसर्गिक नीति मानते हैं! इसका कारण समझ नहीं आता।

गृहयुद्ध के बाद किसानों की स्थिति की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम एक बार यह स्वीकार करते हैं कि किसानों की स्थिति में गिरावट केवल वस्तुगत कारकों के कारण नहीं जारी रही। इसके लिए स्वयं मँझोले किसानों की वर्ग प्रकृति भी ज़िम्मेदार थी जो कि शहरों और लाल सेना और यहाँ तक कि उन क्षेत्रों के किसानों के लिए भी अतिरिक्त उत्पादन करने को तैयार नहीं थे, जहाँ फसल किन्हीं वजहों से ख़राब हो गयी थी। वे उतनी ही बुआई करते थे जितनी उनकी ज़रूरत होती थी। **बेतेलहाइम यह मानते हुए भी कि किसानों का टटपुँजिया वर्ग चरित्र काफ़ी हद तक उनकी और सोवियत रूस की समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार था, अन्त में सारा ठीकरा बोल्शेविक पार्टी के सिर फोड़ देते हैं और दावा करते हैं कि चूँकि बोल्शेविक पार्टी का किसानों में नेतृत्व केवल राजनीतिक नेतृत्व था, न कि विचारधारात्मक नेतृत्व, इसलिए किसानों का व्यवहार वैसा बना रहा।** अगर पार्टी का विचारधारात्मक नेतृत्व किसानों के बीच मौजूद होता तो उनके इस वर्ग चरित्र को बदला जा सकता था। यह मार्क्सवादी सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत जाने वाली दलील है कि किसी समूचे वर्ग के व्यवहार को उस वर्ग की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रकृति और संरचना को बदले बग़ैर, यानी कि उस वर्ग को ही ढाँचागत तौर पर बदले बग़ैर बदला जा सकता है। **यह शुद्ध हेगेलीय भाववाद है, जिसका प्रदर्शन बेतेलहाइम अपनी इस रचना में**

बार-बार करते हैं। ऊपर से वह दावा करते हैं कि चीन में किसान वर्ग को पार्टी के विचारधारात्मक नेतृत्व ने बदल दिया था और चीनी उदाहरण इस बात का सिद्ध करता है। इस दावे की वैधता की पड़ताल अलग से चर्चा का विषय है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि चीनी क्रान्ति की मंज़िल, उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ और दिक् व काल में ऐसे बुनियादी अन्तर हैं कि इस प्रकार का सादृश्य निरूपण मूर्खतापूर्ण होगा। मध्यम किसानों के टटपुँजिया वर्ग चरित्र के लिए अपनी क्षमा-याचना को बेतेलहाइम आगे भी जारी रखते हैं। वह दावा करते हैं कि मध्यम किसान जो भी बेशी उत्पादन बेचता था वह केवल उसके उपभोग, उत्पादक व "ग़ैर-उत्पादक" आवश्यकताओं के लिए था, मुनाफ़े के लिए नहीं! यानी रूसी मँझोले किसानों में मुनाफ़ा कमाने, धनी किसान बनने की चाहत रखने और पूँजी संचय करने जैसी पूँजीवादी प्रवृत्तियाँ नहीं थीं और उसके लिए खेती केवल उपभोग का मसला था! यह ऐतिहासिक तथ्यों का भयंकर विकृतिकरण है। कुछ ही पंक्तियों के बाद बेतेलहाइम अलग से यह स्वीकार भी करते हैं कि रूसी मध्यम किसान आबादी में धनी किसान बनने की बुर्जुआ चाहत मौजूद थी। लेकिन वह इस बात का ज़िक्र नहीं करते कि धनी किसानों के अलावा मध्यम किसानों का भी एक हिस्सा उतनी ही निर्ममता से उजरती श्रम का शोषण करता था। साथ ही, यह मध्यम किसान आबादी *मीर* की विधायिका *स्खोद* में अधिकांशतः धनी किसानों के समर्थन में खड़ी होती थी। सोवियत सत्ता के सुदृढ़ीकरण के बाद भी इन धनी व उच्च मध्यम किसानों द्वारा ग़रीब किसानों के आर्थिक शोषण और उन पर राजनीतिक प्रभुत्व ने नये रूप ग्रहण कर लिये, समाप्त नहीं हुए। यह स्थिति सामूहिकीकरण तक बनी रही।

संक्षेप में कहें, तो किसान प्रश्न पर बेतेलहाइम लेनिन और माओ की शिक्षाओं से बहुत दूर खड़े हैं। वे ज़बरन अपनी अवस्थिति को माओवाद का जामा पहनाना चाहते हैं। लेकिन रूस और चीन के समाजवादी प्रयोगों और लेनिन व माओ के लेखन से वाक़िफ़ कोई भी पाठक समझ सकता है कि बेतेलहाइम की पूरी अवस्थिति "अति-माओवाद" के भेस में वास्तव में संशोधनवाद, नवनरोदवाद, सिस्मोन्दीवाद, अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और हेगेलीय भाववाद का मिश्रण है।

3. तीसरा भागः सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरणों का रूपान्तरण

बेतेलहाइम मानते हैं कि बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत रूस के उत्पादन सम्बन्धों में बहुत मामूली बदलाव ही आया। इसका कारण यह था कि अभी सतत् क्रान्ति के कार्यभार को पूरा नहीं किया गया था जिससे कि तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ ख़त्म होतीं और अधिरचना का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किया जाता। इस कार्यभार को पूरा करने के लिए हिरावल पार्टी के निरन्तर राजनीतिक और विचारधारात्मक नेतृत्व और मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार यह कार्यभार बोल्शेविक पार्टी सही तरीके से अंजाम नहीं दे सकी, जिसके मुख्य कारण वस्तुगत थे, लेकिन मनोगत कारक भी थे।

बेतेलहाइम मानते हैं कि इस कार्यभार के पूरा न हो पाने के कारण सोवियत रूस में राज्य के उपकरणों में कुछ ऐसे परिवर्तन हो गये जो कि बाद में घातक सिद्ध हुए। **बेतेलहाइम के इस पूरी तर्क प्रणाली की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह बुर्जुआ राज्य सत्ता के ध्वंस, सर्वहारा राज्य सत्ता की स्थापना, उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व के**

उन्मूलन को उत्पादन सम्बन्धों में बुनियादी परिवर्तन नहीं मानते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इस परिवर्तन के बाद अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को ख़त्म करने की आवश्यकता बनी रहती है, ताकि बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक रूप से ध्वस्त किया जा सके और बुर्जुआ अधिकारों और बुर्जुआ श्रम विभाजन को समाप्त किया जा सके। लेकिन यह कहना कि राज्य सत्ता के प्रश्न का हल किया जाना और निजी स्वामित्व के उन्मूलन से उत्पादन सम्बन्धों में केवल मामूली परिवर्तन हुआ, बेतुके नतीजों तक ले जाता है। उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के काम में प्राथमिक और मूलभूत कार्य को मामूली क़रार देने से मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्त विकृत होते हैं और बेतेलहाइम यही करते हैं। अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति के माओ के सिद्धान्त को इस तरह से लागू किया जायेगा, निश्चित रूप से माओ ने कभी ऐसा नहीं सोचा था। बोल्शेविक क्रान्ति ने जो किया वह बुनियादी पूर्वशर्त को पूरा करना था और उत्पादन सम्बन्धों के सबसे अहम पहलू, यानी कि स्वामित्व के सम्बन्धों का रूपान्तरण करना था। इसके बग़ैर अधिरचना में सतत् क्रान्ति का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है।

आगे बेतेलहाइम दावा करते हैं कि बोल्शेविक क्रान्ति के तुरन्त बाद सोवियत राज्यसत्ता ने जो रूप धारण किया वह लेनिन की 'राज्य और क्रान्ति' की अवधारणा से काफ़ी अलग था। यह बात सच है। लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि बोल्शेविक क्रान्ति के दो वर्षों के अनुभव के बाद लेनिन ने स्वयं स्पष्ट किया था कि 'राज्य और क्रान्ति' में लेनिन ने जिस प्रकार की सर्वहारा सत्ता की कल्पना की थी और उसके स्थापना के लिए आवश्यक जिस कालावधि की अपेक्षा की थी, उसमें काफ़ी परिवर्तन की ज़रूरत है। यह वास्तव में बौद्धिक बेईमानी है। 'राज्य और क्रान्ति' में लेनिन का मानना था कि पेरिस कम्यून जैसी मज़दूर सत्ता की स्थापना करने में कुछ ही दिनों का समय लगेगा क्योंकि बुनियादी गणित समझने वाला कोई भी मज़दूर राज्य सत्ता के कार्यकलापों को शीघ्र ही स्वायत्त रूप से सम्भाल लेगा। लेकिन आगे लेनिन ने अपने इस आकलन को स्वयं ग़लत बताया और स्पष्ट किया कि मज़दूर वर्ग तकनीकी कुशलताओं के आधार पर नहीं बल्कि सही राजनीतिक वर्ग दृष्टि के बूते राज्य सत्ता के कार्यकलापों को सम्भाल सकता है और उन्नत से उन्नत देश में मज़दूर वर्ग टटपुँजिया विचारों के प्रभाव में है, कहीं ज़्यादा तो कहीं कम। ऐसे में, पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण होगी और उसे लम्बे समय तक संस्थाबद्ध नेतृत्व प्रदान करना होगा। इसके बिना सर्वहारा अधिनायकत्व कुछ महीनों भी नहीं टिक सकता है। **बेतेलहाइम राज्य के प्रश्न पर लेनिन के चिन्तन में हुए परिवर्तनों को जानबूझकर नज़रन्दाज़ करते हैं क्योंकि राज्य के प्रश्न पर लेनिन के उत्तरवर्ती चिन्तन को उन्होंने अपनी रचना में अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वयं उद्धृत किया है।**

बेतेलहाइम अन्त में दावा करते हैं कि लेनिन को सोवियतों से सोवियतों की कांग्रेसों, सोवियतों की कांग्रेसों से वीटीएसआईके, वीटीएसआईके से सोवनार्कोम और फिर सोवनार्कोम से पार्टी के हाथों में सत्ता के केन्द्रीकरण पर बहुत अफ़सोस था। **यह बात भी तथ्यतः ग़लत है।** बेतेलहाइम एक अन्य स्थान पर स्वयं मानते हैं कि लेनिन ने सर्वहारा सत्ता के निकायों के तौर पर कभी भी सोवियतों का आदर्शीकरण नहीं किया था और सोवियतों के प्रभावी वर्ग चरित्र के आधार पर ही उन्होंने सोवियतों को सर्वहारा सत्ता के प्रमुख निकाय माना था या फिर मानने से इंकार किया था। लेनिन और अन्य प्रमुख बोल्शेविक नेताओं ने 1919 से ही बार-बार स्पष्ट किया था कि पार्टी और राज्य के संलयन (fusion) से बचा नहीं जा सकता है और

इससे बचने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। **लेकिन बेतेलहाइम इन सारे सन्दर्भों को अपनी सुविधानुसार पेश करते हैं और अपनी सुविधानुसार ग़ायब कर देते हैं।**

इसके बाद बेतेलहाइम अन्य बुर्जुआ व निम्न-बुर्जुआ पार्टियों के दमन का ब्यौरा देते हैं और बताते हैं कि कैडेट पार्टी को छोड़कर अन्य टटपुँजिया पार्टियों व राजनीतिक समूहों जैसे समाजवादी-क्रान्तिकारी, वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी और अराजकतावादियों के प्रति बोल्शेविक पार्टी का रुख़ शुरू से दमन का नहीं था। बोल्शेविक पार्टी उनके प्रति अपना रुख़ इस बात से तय करती थी कि उनका रुख़ सोवियत सत्ता के प्रति क्या है। कुछ वर्षों तक तो समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी और विशेष तौर पर किसान प्रश्न पर उनसे अलग हुई वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने सोवियतों में यहाँ तक कि सरकार में शिरक़त भी की। लेकिन अलग-अलग समय पर अलग-अलग विवादों के कारण इन पार्टियों ने सोवियत सत्ता के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ अख़्तियार किया और फिर सोवियत सत्ता को उन पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। यही बात इन पार्टियों के मुखपत्रों व प्रेस पर भी लागू हुई, जिन्हें कुछ देर से ही सही, मगर प्रतिबन्धित कर दिया गया। इनमें से कुछ, मिसाल के तौर पर वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी सोवियत सत्ता के विरुद्ध आतंकवादी कार्रवाइयों को भी अंजाम दे रहे थे। सोवियत सत्ता ने आख़िरी विकल्प के तौर पर प्रतिबन्ध लगाया। मेंशेविकों को भी बाद में सोवियत तन्त्र से बाहर कर दिया गया था, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट तौर पर प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लिया था। बेतेलहाइम का यह कहना भी सही है कि अच्छे-ख़ासे समय तक सोवियत सत्ता ने इन पार्टियों पर औपचारिक तौर पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया था, लेकिन उनकी गतिविधियों पर इस प्रकार की पाबन्दियाँ लगायीं थीं कि उनके लिए अस्तित्वमान रहना सम्भव नहीं रह गया था। 1921 आते-आते सभी बुर्जुआ व टटपुँजिया पार्टियाँ सोवियत राज्य तन्त्र से बाहर हो चुकी थीं, चाहे उन पर औपचारिक प्रतिबन्ध लगाया गया हो या नहीं। बेतेलहाइम मानते हैं कि लेनिन का दृष्टिकोण शुरू में ही प्रतिबन्ध लगाने का नहीं था बल्कि यह था कि अगर कोई पार्टी सोवियत सत्ता का विरोध नहीं करती तो पहले उसे सोवियतों के कार्यकलापों में हिस्सेदारी करने दी जाय, अगर वह प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियों में संलग्न हो तो उसे बाहर कर दिया जाय, उसके ख़िलाफ़ खुला विचारधारात्मक संघर्ष चलाया जाय। लेकिन ऐसा करने पर भी अन्त में वही पार्टी सोवियतों और राज्य सत्ता के तन्त्र में बाकी बचेगी जो कि पूरी तरह से सर्वहारा सत्ता का समर्थन करती है, उसका नेतृत्व करती है और उसका मार्गदर्शन करती है, यानी कि बोल्शेविक पार्टी और इस प्रकार से सोवियत समाजवादी तन्त्र को अन्ततः एक एक-पार्टी व्यवस्था में तब्दील होना ही था। यह ब्यौरा कमोबेश सही है। **लेकिन इससे लेनिन जो राजनीतिक निचोड़ निकाला उसके बारे में बेतेलहाइम कहीं चर्चा नहीं करते।**

लेनिन ने बोल्शेविक क्रान्ति के बाद समाजवादी जनवाद के व्यवहार का निचोड़ निकाला और इस नतीजे पर पहुँचे कि सर्वहारा जनवाद का अस्तित्व-रूप (modus vivendi) एक-पार्टी व्यवस्था ही हो सकती है और बुर्जुआ जनवाद की क्लासिकीय व्यवस्था (हालाँकि अपवादस्वरूप अस्तित्व के संकटों के दौर में यह फासीवादी एक-पार्टी तन्त्र में तब्दील हो सकता है, लेकिन यह बुर्जुआ जनवाद का सामान्य और दीर्घकालिक अस्तित्व-रूप नहीं हो सकता है) बहुपार्टी संसदीय व्यवस्था ही हो सकती है। इसका कारण सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के अन्तर में और उनके बीच होने वाले वर्ग संघर्ष के रूप हैं। बुर्जुआ वर्ग एक वर्ग के तौर पर आपसी प्रतिस्पर्द्धा और मुनाफे की औसत दर द्वारा संगठित होता है। अपनी प्रकृति से ही उसे कई राजनीतिक पार्टियों की आवश्यकता

होती है। हम इसमें एक दूसरा कारण जोड़ सकते हैं, जो कि पहले कारण से ही निगमित होता है। पूँजीवाद भी अपनी पूर्ववर्ती वर्ग व्यवस्थाओं के समान शोषित बहुसंख्या पर शोषक अल्पसंख्या का शासन है, लेकिन एक मायने में यह अन्य पूर्ववर्ती वर्ग व्यवस्थाओं से भिन्न होता है। पूँजीपति वर्ग का शासन महज़ शुद्ध प्रभुत्व (dominance) पर नहीं बल्कि वर्चस्व (hegemony) पर आधारित होता है। पूँजीपति वर्ग जनसमुदायों से सहमति लेकर शासन करता है, हालाँकि यह सहमति वर्चस्वकारी प्रणालियों द्वारा उत्पादित व पुनरुत्पादित की जाती है। ऐसे में, पूँजीवाद के लिए एक बहुपार्टी संसदीय जनतन्त्र ही सबसे सही अस्तित्व-रूप हो सकता है। **एक पार्टी तन्त्र पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व के तन्त्र को बेहद कमज़ोर, क्षणभंगुर और लघुजीवी बना देगा।** ऐसे में, सरकार में पार्टियों की (आम तौर पर) आवर्ती चक्रीय अदला-बदली पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक वर्चस्व को आंशिक तौर पर पुनर्नवीकृत कर देती है। **पूँजीपति वर्ग के शासन की तुलना में सर्वहारा वर्ग का शासन गुणात्मक रूप से भिन्न होता है।** समाजवाद पहली वर्ग व्यवस्था है जो शोषक अल्पसंख्या पर शोषित बहुसंख्या के शासन द्वारा पहचानी जाती है। सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद भी आपसी प्रतिस्पर्द्धा द्वारा संघटित व संगठित नहीं होता है, बल्कि वह प्रतिस्पर्द्धा जो कि पूँजी का तर्क उस पर थोप देता है, वह उसके संघटन और संगठन को बाधित करता है। यह जैविक व अजैविक उत्पादन व पुनरुत्पादन के समाजीकरण व सामान्यीकरण के ज़रिये एक वर्ग के तौर पर संघटित व संगठित होता है और वर्ग सामूहिकता ही उसके संघर्ष और विजय की पूर्वशर्त होती है। जब तक यह राजनीतिक वर्ग चेतना उसके भीतर नहीं होती है, तब तक न सिर्फ़ शासक वर्ग के तौर पर स्वयं को संगठित कर पाने में असमर्थ होता है, बल्कि वह एक शासित वर्ग के तौर पर प्रतिरोध का युद्ध संगठित करने में भी असमर्थ होता है। **यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग की कई कम्युनिस्ट पार्टियाँ नहीं हो सकती हैं।** मज़दूर वर्ग की कई पार्टियों में से भी सही कम्युनिस्ट पार्टी एक ही हो सकती है। **और यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक-पार्टी व्यवस्था का रूप ही ले सकता है, बहु-पार्टी संसदीय लोकतन्त्र का नहीं।** बोल्शेविक क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी के पास यह शिक्षा बने-बनाये रूप में मौजूद नहीं थी, बल्कि क्रान्ति के बाद सर्वहारा अधिनायकत्व के कुछ वर्षों के अनुभवों के बाद ही लेनिन इस बात को अनुभवों से निःसृत कर सके।

एक-पार्टी तन्त्र का अर्थ यह नहीं है कि सर्वहारा जनवाद चर्चाओं, बहसों और विचारधारात्मक संघर्षों की आज्ञा नहीं देता है, जैसा कि बुर्जुआ प्रचार-तन्त्र हमें बताता रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ बहसें और संघर्ष बहुदलीय संसद या विधानसभा की व्यर्थ वितण्डा नहीं होती। यहाँ इन बहसों की जगह कम्यून/सोवियतें या जन-सत्ता के अन्य सम्भव निकाय होते हैं, जहाँ बुर्जुआ विचारों और सर्वहारा विचारों के बीच का संघर्ष क्रान्ति के कई वर्षों बाद तक भी जारी रहता है। इन बहसों में पार्टी व ग़ैर-पार्टी तत्व हिस्सेदारी करते हैं और यहीं पर पार्टी के राजनीतिक कार्य और सांगठनिक कार्य के अहम प्रश्न भी उपस्थित होते हैं। सोवियत संघ में यह प्रक्रिया कहाँ तक चल पायी या नहीं चल पायी, यह अभी हमारी चर्चा का विषय नहीं है। अभी बस इतना कहा जा सकता है कि निश्चित तौर पर सोवियतों व अन्य जन निकायों का राजनीतिक जीवन 1920 के दशक के अन्त से सुषुप्त होना शुरू हो गया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पहले तक इसकी स्थिति काफ़ी ख़राब हो चुकी थी। **इसके कुछ वस्तुगत और कुछ आत्मगत कारण थे, और बेतेलहाइम के विपरीत, हम मानते हैं कि इसमें मनोगत कारण प्रमुख थे।** लेकिन बेतेलहाइम ने इसके जो कारण प्रस्तुत किये हैं, वे

निश्चित तौर पर किसी मार्क्सवादी विश्लेषण का नतीजा नहीं हैं। **मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम का मानना है कि अन्य बुर्जुआ व टटपुँजिया पार्टियों की मौजूदगी और उनके द्वारा आलोचना से बोल्शेविक पार्टी को मदद मिलती। बेतेलहाइम विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्षों की जीवन्तता और प्राणशक्ति के स्रोत पार्टी के भीतर नहीं बल्कि पार्टी के बाहर तलाशते हैं। इस अवस्थिति में यह अन्तर्निहित है कि पार्टी एक राजनीतिक एकाश्म (monolith) है।** यही अवस्थिति 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास जैसे व अन्य कई अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों ने अपनायी है। यह समझ केवल राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक बेहद दरिद्र गैर-मार्क्सवादी समझदारी को ही दिखलाती है। लेनिनवादी अवस्थिति यह है कि पार्टी को जनसमुदायों से जीवन्त रिश्ता बनाये रखना चाहिए, उनसे सीखना चाहिए और फिर उन्हें सिखाना चाहिए, अपने आपको जनसमुदायों के बीच आलोचना हेतु प्रस्तुत करना चाहिए, पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष को सही ढंग से संचालित करना चाहिए, सभी विचारधारात्मक व राजनीतिक मसलों को समूचे काडरों के बीच व साथ ही जनसमुदायों के बीच खुला कर देना चाहिए। हमारा मानना है कि इस प्रकार के राजनीतिक खुलेपन से पार्टी की एक एकाश्म की छवि खण्डित होती है, जो वास्तव में पार्टी के राजनीतिक व विचारधारात्मक वर्चस्व को सशक्त बनाती है न कि कमज़ोर करती है। इस राजनीतिक खुलेपन के साथ पार्टी तय नुक़्तों पर और बहुसंख्या द्वारा तय कार्यदिशा को लौह-अनुशासन के साथ लागू करती है। पार्टी यदि इन बुनियादी उसूलों को लागू नहीं करती है, तो निश्चित तौर पर स्थिति गम्भीर हो सकती है। लेकिन इसका जो समाधान बेतेलहाइम और उनका अनुसरण करते हुए 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' जैसे अन्य अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी सुझा रहे हैं, वह रूप और संरचना के धरातल पर समस्याओं को देख रहा है और उसी स्तर पर उसका एक रूपवादी-संरचनावादी समाधान सुझा रहा है, जबकि मसला सारतत्व का है। यह एक सतत् राजनीतिक वर्ग संघर्ष का मसला है, जिसे सतत् राजनीतिक वर्ग संघर्ष से ही हल किया जा सकता है। इसे हल करने का कोई हक़ीम लुकमान का नुस्खा नहीं है। **सर्वहारा जनवाद/अधिनायकत्व का अस्तित्व रूप एक-पार्टी व्यवस्था ही हो सकती है और इसके कारणों को समझने के लिए आपको सामान्य राजनीतिक विमर्श से आगे बढ़कर राजनीतिक अर्थशास्त्र के स्तर पर जाना होगा।**

सोवियतों का क्रान्ति के बाद कम जीवन्त होते जाना एक सच्चाई था। 1917 से 1921 तक इस बाबत पार्टी ज़्यादा कुछ नहीं कर सकती थी। ई.एच. कार और **मॉरिस डॉब** भी इस प्रक्रिया का चित्रण करते हैं, जिसके तहत सोवियतों के हाथ से नियन्त्रण सोवियतों की कार्यकारी समितियों, कार्यकारी समितियों से केन्द्रीय सरकारी निकायों और अन्त में केन्द्रीय सरकारी निकायों से पार्टी के हाथ में चला गया। इसमें एक पहलू की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। पार्टी के हाथ में राजनीतिक नियन्त्रण होने और पार्टी द्वारा सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण होने की भूमिका को निभाये जाने से लेनिन को कोई दिक्कत नहीं थी; उल्टे उनका यह मानना था कि यह बिल्कुल नैसर्गिक है। इस बहस पर हम लेनिन के विचारों को 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्टशन' की आलोचना रखते हुए विस्तार से रख चुके हैं। जो बात दिक्कततलब थी वह यह थी कि पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण और संस्थाबद्ध नेतृत्व की भूमिका को निभाते हुए सोवियतों के स्तर पर, कम्यूनों के स्तर पर और जनता की सत्ता के अन्य निकायों के स्तर पर अपने संस्थाबद्ध नेतृत्व की अपरिहार्यता को समाप्त भी करती जाती है, यानी कि वह सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक निर्णय लेने और सत्ता

सम्भालने के कार्यभार में राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्षों और सांगठनिक कार्यों के ज़रिये सक्षम बनाती जाती है और 1917 से 1921 के बीच पार्टी गृहयुद्ध की आपात-स्थितियों में इस कार्यभार को पूरा नहीं कर सकती थी। लेकिन निश्चित तौर पर इस कार्यभार पर पार्टी की निगाह थी। 1921 के बाद क्या पार्टी इस कार्य को सही तरीके से अंजाम दे पायी? नहीं! इसका कारण यह था कि 1921 के बाद भी स्थितियाँ तुरन्त सम्भली नहीं थीं। और उसके अलावा पार्टी के भीतर स्वयं एक प्रकार की अर्थवादी प्रवृत्ति हावी होने लगी थी, विशेष तौर पर लेनिन के स्वास्थ्य कारणों के चलते निष्क्रिय होने और फिर उनकी मृत्यु के बाद। एक ओर पार्टी के नेतृत्व के भीतर स्वयं अर्थवादी और उत्पादनवादी (productivist) रुझानें थीं और वहीं दूसरी ओर पार्टी के भीतर जारी भयंकर राजनीतिक-सांगठनिक संघर्ष, षड्यन्त्रों और खुली बुर्जुआ कार्यदिशाओं के विरुद्ध संघर्ष ने पार्टी नेतृत्व और विशेष तौर पर स्तालिन को इन प्रवृत्तियों पर ठहरकर सोचने का अवसर ही नहीं दिया। पार्टी के भीतर के राजनीतिक संकट के अलावा 1926-27 आते-आते सोवियत अर्थव्यवस्था 'नेप' की नीतियों के उत्तरजीवन के कारण संकटग्रस्त हो चुकी थी। 1929 में आपात कदमों और 1930 के सामूहिकीकरण अभियान की शुरुआत के दौरान भी पार्टी और पूरा देश भयंकर उथल-पुथल से गुज़रते रहे। इस पूरे दौर में पार्टी के नेतृत्व में समाजवाद ने तमाम आर्थिक समस्याओं को तो हल किया; जनसमुदायों के जीवन स्तर में गुणात्मक सुधार ला दिया और ज़बरदस्त विकास हुआ, लेकिन साथ ही जनसमुदाय और सोवियत व अन्य ऐसे निकाय राजनीतिक तौर पर निष्क्रिय होते गये। इसके अलावा आर्थिक धरातल पर भी बुर्जुआ श्रम विभाजन और बुर्जुआ अधिकार सूक्ष्म रूपों में सुदृढ़ होते गये। जर्मनी में हिटलर के सत्ता में आने के कुछ समय बाद ही सोवियत संघ भी युद्ध मशीनरी के निर्माण में लग गया और द्वितीय विश्वयुद्ध में अप्रतिम शौर्य और त्याग दिखलाते हुए सोवियत जनता ने समाजवाद की हिफ़ाज़त की। द्वितीय विश्वयुद्ध के समापन के कुछ वर्षों में ही सोवियत जनता ने पुनर्निर्माण के कार्यभार को भी पूरा किया। इस पूरे कार्य में स्तालिन ने प्रत्यक्ष नेतृत्व दिया। 1948-49 तक सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों की समस्याओं पर आलोचनात्मक चिन्तन करने का अवसर स्तालिन को ठीक से नहीं मिल सका। 1948 से लेकर मृत्यु तक स्तालिन के चिन्तन की दिशा काफ़ी हद तक सही थी और सोवियत समाजवाद की समस्याओं के बारे में उनका चिन्तन काफ़ी विकसित भी हुआ था। लेकिन यह भी मानना होगा कि स्तालिन के चिन्तन में स्वयं कुछ अर्थवादी और यान्त्रिक रुझान पहले से मौजूद थे, हालाँकि स्तालिन का चिन्तन लगातार इन रुझानों को दूर करने की दिशा में भी बढ़ रहा था। बेतेलहाइम सोवियतों के राजनीतिक तौर पर निष्क्रिय होने की परिघटना का पूरे सन्दर्भ के साथ विश्लेषण नहीं करते हैं। नतीजतन, उनका विश्लेषण अन्त में हर समस्या के लिए पार्टी और पार्टी नेतृत्व को ज़िम्मेदार ठहरा देता है, हालाँकि अन्त में वस्तुगत कारकों के प्रधान होने के बारे में वह एक वाक्य जोड़ देते हैं।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि क्रान्ति के बाद राज्य की मशीनरी पार्टी से स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करने लगी थी। चूँकि राज्य मशीनरी में तमाम बुर्जुआ विशेषज्ञ थे इसलिए पार्टी और सरकार के तमाम निर्देशों के बावजूद वह स्वायत्त तरीके से काम करती थी। इस बात में केवल आंशिक सच्चाई है। निश्चित तौर पर, राज्य मशीनरी में बुर्जुआ विशेषज्ञों की मौजूदगी के कारण पार्टी और सरकार के लिए उस पर पूरी तरह नियन्त्रण रख पाना एक समस्या थी। लेकिन बेतेलहाइम स्वयं भी मानते हैं कि इस समस्या पर पार्टी की निगाह थी और बीच-बीच में पार्टी राज्य मशीनरी के लिए नियन्त्रण कमिसारियत और मज़दूर-किसान

जाँच समितियों जैसे उपकरणों द्वारा इस समस्या को हल करने का भी प्रयास किया। लेकिन यह समस्या समाजवाद के विकास की आरम्भिक मंज़िलों में और विशेष तौर पर गृहयुद्ध की आपात स्थितियों में सही ढंग से हल नहीं की जा सकती थी। जिन कारणों से एक पूर्ण रूप से नयी राज्य मशीनरी का निर्माण तुरन्त नहीं हो सकता था, उन्हीं कारणों से एक पूर्ण रूप से नयी समाजवादी लाल सेना का निर्माण भी पूरी तरह से तुरन्त नहीं हो सकता था। बेतेलहाइम कहते हैं रेड गार्ड्स का चरित्र राजनीतिक था लेकिन वह बहुत छोटा सैन्य निकाय था। गृहयुद्ध ने पुरानी सेना के उपकरण को अनुकूलित कर समाजवादी राज्य की रक्षा के कार्य में उसे लगाने को एक बाध्यता बना दिया था। रेड गार्ड्स को इसी सेना में शामिल कर दिया गया। इस नये सैन्य निकाय में पुराने सैन्य अधिकारी थे, जो कि सेना को नियन्त्रित करते थे और युद्ध में नेतृत्व देते थे। लेकिन इनके ऊपर पार्टी द्वारा नियुक्त एक पार्टी कमिसार भी होता था। लेकिन सैन्य व तकनीकी मसलों में नये व पुराने अधिकारियों की राय सर्वोच्च होती थी। बेतेलहाइम इसे बोल्शेविक पार्टी का तकनीकवादी अप्रोच बताते हैं और दावा करते हैं कि जनसमुदायों पर कम भरोसा रखने की यह प्रवृत्ति त्रात्स्की द्वारा और ज़्यादा बढ़ायी गयी। अधिकारी चुने नहीं जाते थे और सेना के भीतर पदानुक्रम का बोलबाला था। इसलिए बेतेलहाइम के अनुसार लाल सेना 'लाल' केवल इसलिए थी क्योंकि वह सर्वहारा अधिनायकत्व के मातहत थी। यहाँ भी बेतेलहाइम की बात में सत्यांश है। लेकिन इन बातों में लाल सेना का जो मॉडल बेतेलहाइम पेश कर रहे हैं, वह भी समाजवादी संक्रमण की शुरुआती मंज़िलों में शायद ही हक़ीकत में उतारा जा सकता है। दूसरी बात यह कि त्रात्स्की द्वारा लाल सेना के भीतर लागू की गयी दक्षिणपन्थी नीति के कुछ कारण समाजवादी संक्रमण के बारे में त्रात्स्की की अवधारणा में थे, तो कुछ कारण उस समय की वस्तुगत परिस्थिति में भी थे। इतना स्पष्ट है और बेतेलहाइम भी इसे अन्त में मानते हैं कि लाल सेना जिस रूप में संगठित हुई, गृहयुद्ध के दौर में उसके अलावा कुछ भी सम्भव नहीं था। जहाँ राज्य मशीनरी के अन्य निकायों में सोवियत सत्ता को बुर्जुआ विशेषज्ञों की आवश्यकता थी, तो वहीं सेना के भीतर भी उसे बुर्जुआ विशेषज्ञों की आवश्यकता थी। जिस प्रकार राज्य के अन्य अंगों में बुर्जुआ विशेषज्ञों को विशेषाधिकार देने पड़े, उसी प्रकार लाल सेना में भी उन्हें विशेषाधिकार देने पड़े। मूल बात उस समय इन विशेषाधिकारों और बुर्जुआ तत्वों को सर्वहारा अधिनायकत्व के नियन्त्रण में रखना था। यह कार्य बोल्शेविक सत्ता ने कमोबेश पूरा किया।

लेकिन चाहे कोई भी स्थिति हो, समाजवादी राज्यसत्ता को लम्बे समय तक एक स्थायी सेना की आवश्यकता होगी; उसे इस स्थायी सेना में एक संरचना की भी आवश्यकता होगी, जिसे आप पदानुक्रम भी कह सकते हैं, लेकिन निश्चित तौर पर वह पदानुक्रम पूँजीवादी सेना के पदानुक्रम से भिन्न होगा। बेतेलहाइम का यह कहना दुरुस्त है कि लाल सेना ने बहादुरी के साथ गृहयुद्ध में श्वेत सेनाओं का मुकाबला किया क्योंकि भूस्वामियों और पूँजीपतियों के विरुद्ध वह क्रान्ति के साथ खड़ी थी और इसलिए यह एक जनता की सेना थी, लेकिन सर्वहारा सेना नहीं। क्योंकि यह बोल्शेविकों के राजनीतिक नेतृत्व के तहत थी, लेकिन विचारधारात्मक नेतृत्व के तहत नहीं। लेकिन यह अपेक्षा ही अपने आपमें अयथार्थवादी है कि 1918 में एक सोवियत रूस के पास एक स्थायी सर्वहारा सेना मौजूद होती। अगर पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को हटाकर लाल सेना और पार्टी द्वारा उसके राजनीतिक व विचारधारात्मक नेतृत्व का विश्लेषण किया जाय तो उसका कोई अर्थ नहीं होगा।

लाल सेना की तरह ही चेका का बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण भी यथार्थवादी

और ऐतिहासिक नहीं बल्कि भाववादी है। चेका का जन्म सैन्य क्रान्तिकारी समिति से हुआ था और वह कालान्तर में प्रतिक्रान्तिकारी बुर्जुआ शक्तियों के विरुद्ध लाल आतंक का प्रमुख उपकरण बनी। बेतेलहाइम यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि चेका की गतिविधियों और लेनिन की कार्यदिशा में अन्तरविरोध था। यह सच है कि गृहयुद्ध के दौरान चेका की गतिविधियाँ कई बार अतिरेकपूर्ण छोरों तक गयीं। लेकिन गृहयुद्ध के दौर में और कुछ भी सम्भव नहीं था। सर्वहारा सत्ता पर अस्तित्व का संकट था और उसे बचाना बोल्शेविक पार्टी की पहली प्राथमिकता थी। चेका की जवाबदेही सीधे सोवनार्कोम के प्रति थी। गृहयुद्ध के ख़त्म होने के बाद चेका की जगह जी.पी.यू. (राजकीय राजनीतिक प्रशासन) ने ली। जी.पी.यू. की स्थापना के बाद खुफ़िया पुलिस की गतिविधियाँ बेहतर राजनीतिक नियन्त्रण के तहत जारी रहीं। **ई.एच. कार** भी इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन बेतेलहाइम इससे इंकार करते हैं और दावा करते हैं कि बाद में इस उपकरण का प्रयोग पार्टी के भीतर विरोध को कुचलने में भी किया जाने लगा था और इसकी गतिविधियाँ ज्यादा से ज़्यादा पार्टी के नियन्त्रण आयोग से मिश्रित होने लगी थीं और यह लेनिन की समझदारी के विपरीत था। **पहली बात तो यह है कि 1917 से 1923 के बीच चेका/जी.पी.यू. का प्रयोग पार्टी के भीतर विरोध को कुचलने के लिए किया गया हो, इसका बेतेलहाइम कोई सन्दर्भ नहीं पेश करते हैं और दूसरी बात यह कि लेनिन की समझदारी क्या थी और वह किस रूप में इस उपकरण के कार्य-कलाप के विरुद्ध थी, इसका भी बेतेलहाइम कोई सन्दर्भ नहीं पेश करते हैं।** लेनिन ने इस उपकरण की अतिरेकपूर्ण कार्रवाइयों की ओर ध्यानाकर्षित किया था और उसकी आलोचना भी की थी और पार्टी के भीतर इस समस्या के समाधान के लिए चर्चा भी हुई थी। लेकिन यह कहना एक अलग बात है कि चेका का गठन व गतिविधियाँ लेनिन की कार्यदिशा के विपरीत या विरुद्ध थीं।

बेतेलहाइम आगे लिखते हैं कि पार्टी क्रान्ति के पहले ज़्यादा चुस्त-दुरुस्त और मज़बूत थी। क्रान्ति के बाद पार्टी को सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण के तौर पर राज्यसत्ता के कार्यकलाप सम्भालने थे। चूँकि इन कार्यकलापों को अंजाम देने के लिए पार्टी के पास पर्याप्त राजनीतिक कार्यकर्ता मौजूद नहीं थे, इसलिए उसे बुर्जुआ विशेषज्ञों को अधिक वेतन और सुविधाओं के साथ काम पर रखना पड़ा। इसके अलावा, पार्टी में भारी संख्या में नये सदस्य शामिल हुए। 1921-22 तक पार्टी की सदस्यता में लगातार बढ़ोत्तरी हुई, जिसके बाद पार्टी ने शुद्धीकरण अभियान चला कर अवांछित तत्वों की कटाई-छँटाई की। **बेतेलहाइम के अनुसार पार्टी के चरित्र में कुछ अवांछनीय परिवर्तन क्रान्ति के बाद के दौर में हुए। उनके लिए इन परिवर्तनों के लिए जो चीज़ सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार थी वह था सरकार के काम-काज में पार्टी की जीवन्त भागीदारी।** चूँकि राज्य मशीनरी का चरित्र बेतेलहाइम के अनुसार मुख्य तौर पर बुर्जुआ था, इसलिए पार्टी की इसमें जीवन्त भागीदारी उसकी राजनीतिक सेहत के लिए उपयुक्त नहीं थी। **यह पूरा तर्क कई स्तरों पर ग़लत है।**

पहली बात तो यह कि किसी भी देश में क्रान्ति के बाद बुर्जुआ सत्ता के ध्वंस और सर्वहारा सत्ता के निर्माण का यह अर्थ कतई नहीं होता कि तत्काल किसी शुद्ध-बुद्ध सर्वहारा सत्ता का निर्माण हो जाता है। किसी भी देश में शायद ही ऐसा सम्भव हो। दूसरी बात यह कि यदि सर्वहारा राज्यसत्ता तमाम नौकरशाहाना और बुर्जुआ विकृतियों के साथ अस्तित्व में आयेगी, तो पार्टी क्या करेगी? निश्चित तौर पर, वह राज्यसत्ता की मशीनरी के संचालन में जीवन्त भागीदारी करेगी और साथ ही उसे संस्थाबद्ध नेतृत्व प्रदान करेगी। इसके अलावा आप उस

राज्यसत्ता के मूलत: और मुख्यत: सर्वहारा चरित्र को भला कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं? **राज्यसत्ता के कार्यकलाप बेतेलहाइम के लिए वह ख़तरनाक डगर है जिस पर चलने से पार्टी का *आदर्श खण्डित हो जायेगा* या उसकी शुद्धता ख़राब हो जायेगी।** ज़ाहिर है कि बोल्शेविक पार्टी ने राज्यसत्ता की मशीनरी पर सर्वहारा वर्ग के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए राज्यसत्ता के कार्यकलापों में संस्थाबद्ध और जीवन्त भागीदारी की और यह एक बिल्कुल दुरुस्त कदम था। ज़रा कल्पना करें यदि पार्टी ऐसा न करती तो क्या होता? दूसरी बात जो कि बेतेलहाइम यहाँ नहीं देख पा रहे हैं वह यह है कि पार्टी के राजनीतिक संगठनकर्ताओं द्वारा राज्य के कार्यकलापों के भागीदारी का असर दो-तरफ़ा था। इस असर में निश्चित तौर पर पार्टी का असर निर्णायक था। पार्टी द्वारा राज्यसत्ता के कार्यकलापों में भागीदारी ने बहुत से नये सर्वहारा तत्व भी तैयार किये और बहुत से लोगों ने राज्यसत्ता के कार्यकलापों में बोल्शेविकों की ईमानदारी नीतियों को देखकर अपना पक्ष बदल लिया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राज्यसत्ता के कार्यकलापों में भागीदारी ने पार्टी के भीतर भी विजातीय वर्ग प्रवृत्तियों को जन्म दिया ही होगा। लेकिन समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी समाज में ही रहेगी और यदि वह राज्यसत्ता के कार्यकलापों में कोई हिस्सेदारी न भी करे तो भी विजातीय वर्ग प्रवृत्तियाँ अन्य स्रोतों से पार्टी में घुसपैठ करेंगी। **प्रश्न सतत् आत्मालोचनात्मकता और संघर्ष का है न कि इस बात का कि पार्टी के लिए कोई ऐसा स्थान ढूँढ लिया जाय जहाँ से वह विजातीय प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए बिना क्रान्ति का निर्देशन कर सके।** इसलिए सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद पार्टी ने वही किया जो वह कर सकती थी और उसे करना चाहिए था और निश्चित तौर पर इस दौर में पार्टी ने कई ग़लतियाँ भी कीं, लेकिन राज्यसत्ता के कार्यकलाप में प्रत्यक्ष और संस्थाबद्ध भागीदारी अपने आप में कोई ग़लती नहीं थी, जैसा कि बेतेलहाइम हमें यकीन दिलाना चाहते हैं।

बेतेलहाइम का यह प्रेक्षण दुरुस्त है कि क्रान्ति के बाद तमाम गाँवों और छोटे शहरों में पार्टी का कोई व्यापक सामाजिक आधार या सांगठनिक ढाँचा नहीं था। इन जगहों पर सोवियतें भी या तो मौजूद नहीं थीं या उनका नाममात्र का अस्तित्व था। जहाँ कहीं सोवियतें थीं वहाँ भी उसका प्रशासनिक ढाँचा बुर्जुआ तत्वों से भरा हुआ था। ऐसे में, पार्टी ने बड़े औद्योगिक और शहरी केन्द्रों से मँझे हुए राजनीतिक कार्यकर्ताओं को पार्टी इकाई और साथ ही सोवियतों के कामों के संचालन के लिए भेजा। चूँकि बहुत-सी जगह कोई पार्टी इकाई विकसित नहीं हुई थी, इसलिए ये बोल्शेविक संगठनकर्ता कतारों द्वारा चौकसी से स्वतन्त्र थे। ऊपर से उनके पार्टी संगठनकर्ता के कार्य और सरकारी कार्य आपस में मिश्रित हो गये। इसके कारण पार्टी के भीतर नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। साथ ही, पार्टी के पास न तो पहले से पर्याप्त ऐसे संगठनकर्ता थे जो इन कार्यों को सम्भाल सकें और न ही 1921 से पहले पार्टी को ऐसे नये राजनीतिक संगठनकर्ताओं को तैयार करने का वक़्त मिला। इन ऐतिहासिक सीमाओं के कारण सर्वहारा राज्यसत्ता में बुर्जुआ विकृतियाँ और नौकरशाहाना विरूपताएँ पैदा हो रही थीं। पार्टी कई बार राज्य मशीनरी से वांछित कार्यभारों को पूरा करवा पाने में अक्षम रहती थी। लेनिन ने 11वीं पार्टी कांग्रेस में इस ख़तरे की ओर इशारा किया था कि अगर पार्टी राज्यसत्ता पर पूर्ण नियन्त्रण कायम नहीं करती तो फिर सर्वहारा राज्यसत्ता के भीतर से बुर्जुआ तख़्तापलट की सम्भावना बढ़ती जायेगी। वास्तव में, कुछ अप्रवासी रूसी बुर्जुआ समूह थे जो कि सचेतन तौर पर सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर अपने तत्वों को घुसा रहे थे। इनमें सबसे प्रमुख था **उस्त्र्यालेव स्मेनोवेख** का समूह जिसका मानना था कि बोल्शेविक

क्रान्ति ने रूस में एक नये आक्रामक, राष्ट्रवादी पूँजीवाद की स्थापना की ज़मीन तैयार की है। लेकिन ऐसा नहीं था कि पार्टी का सोवियत सत्ता के समक्ष खड़े इन ख़तरों पर ध्यान नहीं था। लेनिन ने ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस के अलावा उस दौर के अपने लेखन में भी बार-बार इन ख़तरों की ओर इशारा किया था। साथ ही, लेनिन ने संस्कृति और राजनीतिक शिक्षा के सवाल पर भी इस दृष्टिकोण से बल दिया था। वास्तव में, **बुखारिन** की उस दौर की एक रचना **'सर्वहारा क्रान्ति और संस्कृति'** में हमें सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त के कुछ बीज देखने को मिल सकते हैं। पार्टी और उसका शीर्ष नेतृत्व सर्वहारा राज्यसत्ता में मौजूद बुर्जुआ विकृतियों और उनके स्रोतों के बारे में निरन्तर सोच रहा था। लेकिन कम-से-कम गृहयुद्ध के अन्त और 'नेप' की समाप्ति तक पार्टी के पास इस समस्या के समाधान की दिशा में कोई विशेष प्रभावी कदम उठाने का अवसर नहीं था। **मूल बात यह है, जिस पर बेतेलहाइम ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है, कि पार्टी इन समस्याओं के प्रति बेहद सचेत थी और उन पर सोच रही थी। दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम के पूरे ब्यौरे से ऐसा लगता है कि ये समस्याएँ इसलिए पैदा हुईं क्योंकि पार्टी ने राज्यसत्ता और शासन के कार्यकलापों में भागीदारी करनी शुरू कर दी।** यह समझदारी कतई ग़लत है। पार्टी ने राज्यसत्ता और शासन के कार्यकलापों में भागीदारी करके बिल्कुल सही किया और किसी भी देश में क्रान्ति के बाद के लम्बे दौर में राज्यसत्ता के चरित्र को सर्वहारा बनाये रखने के लिए किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी को यह करना ही होगा; ज़ाहिर है कि उन्नत पूँजीवादी देशों में समाजवादी सत्ता के लिए यह दौर अपेक्षाकृत छोटा होगा और पिछड़े व उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी देशों में ज़्यादा। राज्यसत्ता के कार्यकलापों से राजनीतिक सतीत्व और शुचिता के खण्डित हो जाने का भय बेतेलहाइम को बिना वजह ही सता रहा है। इस ग़लत विश्लेषण के कारण वह समस्याओं के सही मूल और स्रोत की तलाश नहीं कर पाते। हम यहाँ अभी इस बात पर चर्चा नहीं कर सकते कि 1921 के बाद और विशेष तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद पार्टी कहाँ तक इस समस्या के समाधान की दिशा में काम कर पायी। लेकिन इतना स्पष्ट है बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत कार्य-कारण सम्बन्ध सही नहीं है।

बोल्शेविक पार्टी में आन्तरिक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि क्रान्ति के बाद इनमें भारी बदलाव आया। क्रान्ति के पहले बोल्शेविक पार्टी में खुली राजनीतिक बहसों और चर्चाओं की संस्कृति थी। अल्पसंख्या भी अपने विचारों को खुले तौर पर अभिव्यक्त कर सकती थी और यहाँ तक कि अपने अलग प्रकाशन भी निकाल सकती थी। राजनीतिक व विचारधारात्मक बहसों में पार्टी नेतृत्व की ओर से कभी कोई रोक-टोक नहीं होती थी। लेकिन विशेष तौर पर 1918 के बाद यह स्थिति बदलने लगी। गृहयुद्ध की आपात स्थितियों ने पार्टी को एक व्यापक सांगठनिक ढाँचा तैयार करने के लिए बाध्य किया। बेतेलहाइम इन परिवर्तनों को शक़ की निगाह से देखते हैं। उनके अनुसार इन परिवर्तनों के कारण पार्टी के भीतर आन्तरिक जनवाद खण्डित हुआ। **बेतेलहाइम का तर्क यहाँ अनैतिहासिक है।** सबसे पहली बात तो यह कि बेतेलहाइम क्रान्ति को अंजाम देने में लगी पार्टी और क्रान्ति के बाद सर्वहारा राज्यसत्ता को सम्भालने और शासन चलाने वाली पार्टी के बीच के फर्क को समझने में पूरी तरह से नाकाम रहते हैं। लेनिनवादी पार्टी सिद्धान्त किसी धार्मिक ग्रन्थ का अपरिवर्तनीय सिद्धान्त नहीं था। पार्टी का सांगठनिक सिद्धान्त बोल्शेविक पार्टी के विकास के पूरे इतिहास के अलग-अलग दौरों की अलग-अलग विशिष्टताओं और उनके सामान्य समाहार के आधार पर विकसित होता रहा था। और क्रान्ति के बाद के दौर के

अनुभवों के आधार पर इसमें उत्तरोत्तर विकास हुआ। हम किन्हीं परिवर्तनों को ग़लत ठहरा सकते हैं। लेकिन जिस आधार पर बेतेलहाइम किसी भी परिवर्तन को ग़लत ठहरा रहे हैं वह अनैतिहासिक है। क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर गृहयुद्ध के कठिन दौर में पार्टी को सर्वहारा राज्यसत्ता को निर्मित करने, उसे चलाने और विकसित करने के कार्यभार को अंजाम देना था। पार्टी के पास क्रान्ति की योजना तैयार करने और उसे अंजाम देने के लिए एक मँझे हुए संगठनकर्ताओं का समूह था, लेकिन शासन-प्रशासन सम्भाल सकने वाले राजनीतिक संगठनकर्ताओं की पार्टी के पास बेहद कमी थी। **इन परिवर्तनों के मद्देनज़र पार्टी की आठवीं कांग्रेस में पार्टी ने अपने आन्तरिक ढाँचे में कई अहम बदलाव किये।** एक नयी केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ; एक पोलित ब्यूरो का निर्माण किया गया ताकि जब केन्द्रीय कमेटी सत्र में न हो तो अहम राजनीतिक, सांगठनिक और शासन-सम्बन्धी निर्णय लिये जा सकें; बाद में, एक सांगठनिक ब्यूरो (ऑर्ग-ब्यूरो) का भी गठन किया गया ताकि क्रान्ति के बाद के दौर में जब कि पार्टी शासन में थी और खुली हुई थी, तो पार्टी के सांगठनिक मसलों को सुचारू रूप से निपटाया जा सके; यह सांगठनिक ब्यूरो स्वयं एक राजनीतिक निकाय था, जिसे सबसे अनुभवी और विवेकवान बोल्शेविक सम्भालते थे; इसके बाद केन्द्रीय कमेटी के एक सेक्रेटैरियट (सचिवालय) का निर्माण किया गया। बाद में, अप्रैल 1922 में इसी निकाय से पार्टी के महासचिव के पद का उद्‌भव हुआ। सांगठनिक मसलों को चुस्त-दुरुस्त तरीके से संचालित करने के लिए एक व्यापक संरचना विकसित हुई, पार्टी के कार्यकर्ताओं का एक पूरा डेटाबेस तैयार किया गया। बेतेलहाइम इन सभी परिवर्तनों से भयाक्रान्त हैं। उनका मानना है कि इससे पार्टी का आन्तरिक जीवन अधिक से अधिक नौकरशाहाना होता गया। यह सच है कि अगर पार्टी जनसमुदायों के साथ जीवन्त रिश्ता नहीं रखती है और अगर वह सभी राजनीतिक-विचारधारात्मक मसलों को खुला नहीं करती है, तो इस विराट ढाँचे के एक नौकरशाहाना ढाँचे में तब्दील होने का ख़तरा मौजूद रहेगा। **लेकिन यह समस्या एक क्रान्तिकारी जनदिशा को कायम रखने की और समाजवादी संक्रमण की एक सही समझदारी की समस्या है, न कि किसी विशेष संरचना की।** निश्चित तौर पर, किसी भी पार्टी को क्रान्ति के बाद के दौर में जब कि बुर्जुआ वर्ग अनगिनत तरीकों से समाजवाद को गिराने, भीतर से पतित करने और तोड़-फोड़ की गतिविधियाँ संचालित करता है, एक व्यापक सांगठनिक ढाँचे की आवश्यकता होगी। इससे बचा नहीं जा सकता है। लेकिन यह सांगठनिक ढाँचा अपने आपमें नौकरशाही का स्रोत नहीं बन सकता, बशर्ते कि पार्टी ही जनता से कट जाये। अगर यह पूरा सांगठनिक ढाँचा पार्टी के विचारधारात्मक-राजनीतिक नियन्त्रण में कार्य करता है और अगर पार्टी एक सही जनदिशा को लागू करती है, तो इस ढाँचे से अपने आप में कोई समस्या नहीं उत्पन्न होती है। क्रान्ति के बाद के दौर में, पोलित ब्यूरो व ऑर्ग ब्यूरो केन्द्रीय कमेटी के विचारधारात्मक व राजनीतिक नियन्त्रण में ही काम कर रहे थे। वे स्वायत्त या स्वतन्त्र नहीं थे।

दूसरी बात, जो कि बेतेलहाइम भूल जाते हैं वह यह है कि इन सभी पार्टी संगठनों में लगभग समान लोग ही थे। यानी कि केन्द्रीय कमेटी के अलग-अलग सदस्यों को मिलाकर ही ये ब्यूरो और सचिवालय तैयार किये गये थे। इसलिए किसी भी रूप में इन सांगठनिक निकायों का केन्द्रीय कमेटी के राजनीतिक नियन्त्रण से बाहर हो जाना सम्भव नहीं था। ये निकाय पार्टी के राजनीतिक निकाय थे, न कि ऊपर से और बाहर से थोपी गयी नौकरशाहाना संरचनाएँ। इनकी पार्टी के सर्वोच्च नेतृत्व के प्रति जवाबदेही थी और पार्टी कांग्रेसों, सम्मेलनों

व महाधिवेशनों के दौरान पार्टी की कतारों के समक्ष केन्द्रीय कमेटी की जवाबदेही थी। इस पूरी प्रणाली का कार्य कभी भी बेदाग़ और सटीक नहीं हो सकता है। इस प्रणाली के लगातार सही तरीके से काम करने को सुनिश्चित करने के लिए एक सतत् आत्मालोचनात्मकता और क्रान्तिकारी जनदिशा की आवश्यकता होती है। यह कार्य लेनिन के दौर में और उनके बाद किस हद तक बोल्शेविक पार्टी सही तरीके से अंजाम दे पायी, यह हम इतिहास के उस दौर की चर्चा करने वाले सम्बन्धित अध्याय में करेंगे। **लेकिन बेतेलहाइम समस्याओं के कारणों को संरचनाओं में ढूँढते हैं, न कि राजनीति और विचारधाराओं में।**

समाजवादी संक्रमण के दौरान वर्ग संघर्ष के नये, जटिल और दुरूह रूपों के मद्देनज़र पार्टी और सर्वहारा राज्य को विभिन्न संरचनाओं को विकसित करना ही पड़ेगा। लेकिन बेतेलहाइम पार्टी अनुशासन या राज्यसत्ता की हरेक संरचना को एक टटपुँजिया अविश्वास के साथ देखते हैं। पार्टी हर उपस्थित होने वाले मसले के लिए समूची कतारों से या व्यापक जनसमुदायों से परामर्श नहीं कर सकती है। ऐसे में, पार्टी विचार-विमर्श क्लब बन जायेगी। इसलिए पार्टी को मसलों के निपटारे के लिए एक जनवादी केन्द्रीयतावादी संरचना तैयार करनी होगी। यह संरचना स्थैतिक नहीं हो सकती है। इसके बुनियादी उसूल समान होंगे, मगर रूप और संरचना के धरातल पर बदलते ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ इसमें निश्चित ही बदलाव होंगे। लेकिन बेतेलहाइम के लिए ऐसा कोई भी बदलाव नौकरशाहाना प्रवृत्तियों की ओर ले जाता है। अपने तर्क को सही साबित करने के लिए वह लेनिन को उद्धृत करते हैं, जहाँ लेनिन नौकरशाही के ख़तरों की बात करते हैं। लेनिन ने निश्चित तौर पर इस ख़तरे की ओर बार-बार इशारा किया था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि लेनिन पार्टी संगठन की नयी संरचनाओं में उसका स्रोत देखते थे। अगर ऐसा होता तो लेनिन इन संरचनाओं के निर्माण का ही विरोध करते, क्योंकि ये संरचनाएँ उनके जीवन काल में और उनकी सहमति और कई बार उन्हीं के प्रस्ताव पर बनायी गयी थीं। लेकिन बेतेलहाइम एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं जिसमें कि ऑर्ग ब्यूरो और सचिवालय केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के नियन्त्रण से बाहर हो गये थे। हम पहले ही बता चुके हैं कि इन सभी निकायों के सदस्य कुछ-कुछ अन्तर से समान थे। ऐसे में, बेतेलहाइम का दावा आधारहीन है। साथ ही, बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि ऑर्ग ब्यूरो व सचिवालय चुने हुए निकाय नहीं थे। लेकिन यह बात तो पोलित ब्यूरो पर भी लागू की जा सकती है। वास्तव में, इन सभी निकायों को पार्टी कांग्रेस द्वारा चुनी गयी केन्द्रीय कमेटी ने नियुक्त किया था। **लेकिन ऑर्ग ब्यूरो व सचिवालय पर विशिष्ट तौर निशाना साधने के पीछे बेतेलहाइम के कारण अलग हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों निकायों की मुख्य ज़िम्मेदारी स्तालिन को सौंपी गयी थी।** और बेतेलहाइम आगे यही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन के जीवन-काल में वस्तुगत परिस्थितियों के दबाव में जो ग़लतियाँ हुई हों, उनको छोड़ दें तो लेनिन लगभग उसी कार्यदिशा का अनुसरण कर रहे थे, जो बेतेलहाइम के अनुसार माओ ने प्रतिपादित की थी (कालानुक्रम की परवाह न करें क्योंकि बेतेलहाइम को पढ़ते हुए ऐसा करना मुश्किल है)! और गड़बड़ी तब शुरू हुई जब पार्टी के आन्तरिक जीवन में स्तालिन वर्चस्वकारी स्थिति में पहुँच गये। यह बात सही है कि 1919 से 1921 के दौरान ऑर्ग ब्यूरो व सचिवालय के ज़रिये कई विरोधी कार्यदिशाओं का पार्टी के भीतर दमन हुआ। लेकिन यह प्रक्रिया लेनिन की जानकारी के बाहर चल रही हो, ऐसा नहीं था। और दूसरी बात यह है कि विरोधी लाइनों को दबाये जाने की ये घटनाएँ एक व्यापक तौर पर जारी प्रक्रिया का हिस्सा थीं, जो कि पार्टी और सर्वहारा राज्यसत्ता पर वस्तुगत

परिस्थितियों द्वारा थोप दी गयीं थीं।

दसवीं कांग्रेस में लेनिन ने स्वयं पार्टी के भीतर गुट बनाने पर प्रतिबन्ध लगाने की बात कही थी, जिसका अर्थ था कि पार्टी के भीतर कोई समूह अपने अलग आन्तरिक अनुशासन के साथ अस्तित्वमान नहीं रह सकता है; यह पार्टी के भीतर पार्टी होने जैसा होगा। लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के कॉमरेडों को स्पष्ट शब्दों में बताया कि समाजवाद चारों ओर से संकट से घिरा हुआ है और पार्टी में जनवादी तौर पर कार्यदिशा निर्धारित होने की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है; यदि इसके बाद भी कोई संघर्ष चलाये जाने का आग्रह है तो आप संगीनें उठायें और मोर्चे पर संघर्ष चलायें। बेतेलहाइम के मुताबिक, गुट बनाने पर पाबन्दी अस्थायी थी। **लेकिन दसवीं कांग्रेस में पारित 'पार्टी एकता पर प्रस्ताव' में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो इसे अस्थायी बताता हो।** स्पष्ट है कि बेतेलहाइम का वास्तविक निशाना स्तालिन हैं और इसीलिए लेनिन की मृत्यु तक बोल्शेविक पार्टी में हुए परिवर्तनों और उसके द्वारा अपनायी गयी नीतियों की आलोचना करने के लिए बेतेलहाइम को बार-बार द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ता है और तथ्यों की उलट-फेर करनी पड़ती है।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि पार्टी के भीतर उपरोक्त परिवर्तनों के कारण पार्टी की आन्तरिक संस्कृति में फरमानशाही, नौकरशाही और ग़ैर-जनवादी कार्यशैली का बोलबाला हो गया और इसने बहसों, चर्चाओं आदि का माहौल ख़त्म कर दिया। पार्टी के कार्यकर्ता सवाल उठाना, विश्लेषण करना और सोचना भूल गये और पार्टी और राज्यसत्ता के आज्ञाकारी दास बन गये और इन परिवर्तनों के फलस्वरूप जो पूरा विराट पार्टी-राज्य उपकरण पैदा हुआ, उसे ही *अपराचिकी (apratchiki)* कहा गया। यहाँ बेतेलहाइम माओ का अनुसरण करने का स्वाँग करते-करते सिमोन वील और नव-त्रात्स्कीपंथियों की कतार में जा खड़े होते हैं। गृहयुद्ध के जारी रहते हुए भी, जबकि बोल्शेविक पार्टी प्राणान्तक आन्तरिक संकटों से जूझ रही थी और पार्टी की मशीनरी को अधिक से अधिक चुस्त-दुरुस्त बना रही थी, पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने पार्टी के भीतर जनवाद के प्रश्न पर दो प्रस्ताव पारित किये थे। उस दौर में यह अपने आप में यह दर्शाता था कि पार्टी के भीतर एक जीवन्त राजनीतिक जीवन की स्थापना पार्टी नेतृत्व के निगाह में थी। उस दौर में पार्टी इतना ही कर सकती थी। यह कहना कतई तथ्यों के साथ बदसलूकी होगा कि पार्टी के भीतर जनवाद ख़त्म हो गया था, काडर पार्टी व राज्य के दासत्वपूर्ण उपकरण के समान हो गया था, बहस चलाना और विश्लेषण करना भूल गया था। यदि ऐसा होता तो 1921 के पहले और बाद में पार्टी के भीतर बार-बार घोषित व अघोषित विरोध पक्षों का निर्माण नहीं होता। यह कहना भी ग़लत होगा कि पार्टी के भीतर ग़ैर-जनवादी कार्यशैली और फरमानशाही का बोलबाला हो गया था। गृहयुद्ध के दौरान सोवियत सत्ता के अस्तित्व को बचाने के लिए पार्टी के भीतर निर्णय लेने की प्रक्रिया में कई बार जनवादी पद्धति को दरकिनार ज़रूर किया गया था, लेकिन यह उन आपात स्थितियों की ही विशिष्टता थी, न कि बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक जीवन का सामान्य गुण।

बेतेलहाइम नौकरशाही के अपने विश्लेषण में भी एक ग़ैर-मार्क्सवादी अवस्थिति पर खड़े हैं जो कि सिमोन वील व ब्रूनो रिज़्ज़ी की अवस्थिति से कुछ समानता रखती है। **उनके अनुसार, नौकरशाही बुर्जुआ प्रवृत्तियों और प्रथाओं के कारण नहीं पैदा हुई बल्कि बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ और प्रथाएँ नौकरशाही के कारण पैदा हुई।** समाजवादी संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष नये रूपों में जारी रहता है और कई मायनों में पहले से ज़्यादा तीव्र हो जाता है। समाज में जारी वर्ग संघर्ष पार्टी और राज्यसत्ता में भी

अभिव्यक्त होता है। बुर्जुआ अधिकारों और श्रम विभाजन की मौजूदगी नौकरशाही की प्रवृत्तियों को जन्म देती है। **अगर नौकरशाही को बुर्जुआ प्रवृत्तियों व प्रथाओं का स्रोत मानें, तो फिर नौकरशाही का स्रोत क्या होगा?** इस नौकरशाही के स्रोत को बेतेलहाइम पार्टी व राज्य के भीतर एक ऐसे समूह के पैदा होने में देखते हैं जो कि प्रभुत्वशाली वर्ग और शासित वर्ग दोनों से ही स्वतन्त्र होने लगता है। यह ठीक वही विश्लेषण है जो कि तमाम ग़ैर-मार्क्सवादी विश्लेषकों ने रखा है। इस विश्लेषण में बेतेलहाइम इतना मार्क्सवाद जोड़ देते हैं कि वह अन्त में नौकरशाही को एक नया वर्ग या एक नया सामाजिक संस्तर नहीं घोषित करते, बल्कि एक नये वर्ग के उद्भव, यानी कि राजकीय बुर्जुआ वर्ग के उद्भव का कारण बताते हैं। लेकिन फिर भी नौकरशाही के उद्भव और विकास का उनका विश्लेषण वह विश्लेषण नहीं है जो कि लेनिन और माओ ने प्रस्तुत किया था। **यह विश्लेषण त्रात्स्की व रैकोव्स्की द्वारा पेश किये गये विश्लेषण के नज़दीक पड़ता है और साथ ही इस पर सिमोन वील व ब्रूनो रिज्जी जैसे बुद्धिजीवियों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।** लेनिन और माओ ने नौकरशाही की समस्या के उत्स उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्व में तलाशे थे और स्पष्ट किया था कि बुर्जुआ श्रम विभाजन, बुर्जुआ अधिकारों और साथ ही अधिरचना के क्षेत्र में बुर्जुआ विचारधारा के प्रभाव बने रहते हुए, नौकरशाही के बार-बार पैदा होने का ख़तरा लगातार बना रहेगा। ऊपरी तौर पर, विशेष तौर पर जहाँ पर बेतेलहाइम माओ या लेनिन के विचारों की बात करते हैं, वहाँ वह भी नौकरशाही के विषय में इन्हीं विचारों को स्वीकार करते हैं। लेकिन जहाँ वह स्वतन्त्र तौर पर सोवियत रूस में राज्य व पार्टी में नौकरशाहाना प्रवृत्तियों के पैदा होने की चर्चा करते हैं, वहाँ उनका विश्लेषण मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण से काफ़ी दूर जा खड़ा होता है और एक बार फिर से समस्या के मूल की तलाश संरचनाओं में करता है।

बोल्शेविक पार्टी की सदस्यता के सामाजिक संघटन और आकार में क्रान्ति के बाद आने वाले परिवर्तनों को लेकर बेतेलहाइम जो तर्क रखते हैं, उस पर कोई भी पाठक सोचने लगता है कि आख़िर बोल्शेविक पार्टी क्या करती जिसकी बेतेलहाइम आलोचना नहीं करते! बेतेलहाइम कहते हैं कि 1919 के बाद पार्टी की सदस्यता में भारी बढ़ोत्तरी हुई और तमाम बुर्जुआ और टटपुँजिया तत्व पार्टी में घुस गये। लेकिन इसके साथ बेतेलहाइम इस बात पर सन्देह प्रकट करते हैं कि इसके कारण पार्टी सदस्यता में मज़दूर वर्ग के काडर बहुसंख्या में नहीं रह गये। **पहली बात तो यह कि यह तथ्यतः ग़लत है।** अगर ठोस तथ्यों पर निगाह डालें तो पता चलता है कि शुद्धीकरण अभियानों के पहले औद्योगिक प्रान्तों में पार्टी सदस्यता में सर्वहारा वर्ग का हिस्सा 47 प्रतिशत था, जो कि बाद में मामूली सी बढ़ोत्तरी के साथ 53 प्रतिशत हो गया था, जबकि ग्रामीण का कृषि प्रान्तों में पहले मज़दूरों व ग़रीब किसानों का हिस्सा 31 प्रतिशत था जो बाद में बढ़कर 48 प्रतिशत हो गया। लेकिन कुल मिलाकर शुद्धीकरण अभियानों के पहले और बाद में सर्वहारा सदस्यता के प्रतिशत में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ था। दूसरी बात यह है कि सर्वहारा सदस्यों की संख्या निरपेक्ष तौर पर लगातार बढ़ी थी। लेकिन क्रान्ति के बाद किसानों के बीच पार्टी की सदस्यता तेज़ी से बढ़ी। इसके कारण हिस्सेदारी के प्रतिशत को देखकर ऐसा लग सकता है कि सर्वहारा तत्वों की संख्या घटी है। 1921 से 1923 तक सर्वहारा तत्वों के हिस्सेदारी का प्रतिशत भी बढ़ा। **जिस देश में किसान 80 प्रतिशत से ज़्यादा हों और मज़दूर वर्ग बमुश्किल तमाम 10 प्रतिशत हो, वहाँ पार्टी सदस्यता में अगर 1923 में 45 प्रतिशत मज़दूर, 25 प्रतिशत किसान और**

लगभग 30 प्रतिशत पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के लोग हों, तो क्या यह कहा जा सकता है कि पार्टी का सर्वहारा चरित्र कमज़ोर हुआ है? पहले शुद्धीकरण अभियान के पहले भी और बाद में भी पार्टी सदस्यता का सबसे बड़ा हिस्सा सर्वहारा वर्ग था और बाद में भी सबसे बड़ा हिस्सा सर्वहारा वर्ग का ही था, बस कुछ परिमाणात्मक परिवर्तन हुए थे। यह ज़रूर सच है कि जो टटपुँजिया तत्व 1919 के बाद पार्टी में भर्ती हुए थे, उनमें से अधिकांश सदस्यता के योग्य नहीं थे और वास्तव में मार्च 1919 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में ही केन्द्रीय कमेटी के एक सदस्य नोगिन ने इन नये सदस्यों के ग़ैर-सर्वहारा चरित्र के बारे में एक बयान दिया था। कांग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव में स्पष्ट किया कि जल्द ही पार्टी और राज्य के निकायों में एक अहम शुद्धीकरण किया जायेगा। इससे साफ़ पता चलता है कि जो परिमाणात्मक अन्तर भी पैदा हुए थे पार्टी उनके प्रति सचेत थी और पहला अवसर मिलते ही पार्टी ने शुद्धीकरण करके इस समस्या के समाधान के लिए कदम उठा दिये थे। लेकिन बेतेलहाइम इन शुद्धीकरण अभियानों से भी नाराज़ हैं! **उनका कहना है कि चूँकि ये शुद्धीकरण सीधे जनसमुदायों द्वारा नहीं किये गये बल्कि पार्टी नेतृत्व द्वारा किये गये, इसलिए इनसे पार्टी में नौकरशाही की जड़ें और मज़बूत हुईं। यह ग़ज़ब का तर्क है।**

यहाँ हम एक बार फिर से स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कि बेतेलहाइम 1974 में लिखी गयी इस रचना में माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में किस प्रकार लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्त के बुनियादी तत्वों को भी भूल गये हैं। यहाँ बेतेलहाइम 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान पार्टी में मज़बूत हो चुके बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त करने की माओवादी नीति को बोल्शेविक पार्टी पर लागू करना चाह रहे हैं, जिसमें अभी ऐसा कोई बुर्जुआ हेडक्वार्टर नहीं निर्मित हुआ था। **निश्चित तौर पर, पार्टी नेतृत्व ही शुद्धीकरण अभियान चलायेगा न कि आम जनसमुदाय, बशर्ते कि बुर्जुआ हेडक्वार्टर द्वारा पार्टी का चरित्र ही बदल दिये जाने का स्पष्ट और सामने उपस्थित ख़तरा न हो। 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान पार्टी और राज्य के अधिकारियों की सीधे जनता द्वारा आलोचना और उनके विरुद्ध शुद्धीकरण अभियान किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी की शुद्धीकरण की आम नीति नहीं हो सकती है।** अगर 1919 के सोवियत रूस में तथाकथित जनसमुदायों (जिनमें मँझोले किसान जनसमुदायों की बहुलता थी और जो उस समय बोल्शेविकों और समूची सर्वहारा सत्ता के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ अपनाये हुए थे) द्वारा पार्टी का शुद्धीकरण करवाया जाता तो शायद केन्द्रीय कमेटी के अधिकांश उम्दा बोल्शेविक ही पार्टी के बाहर हो जाते, जिनमें सम्भवत: लेनिन, त्रात्स्की और स्तालिन भी शामिल होते!

शुद्धीकरण अभियानों के बाद पार्टी में ताज़ा भर्ती अभियानों पर भी बेतेलहाइम को आपत्ति है। उन्हें इस बात पर भी आपत्ति है कि अधिकांश पार्टी सदस्यों को पार्टी व राज्य की अहम ज़िम्मेदारियाँ सौंप दी गयी थीं, और उन्हें इस बात पर भी एतराज़ है कि राज्य मशीनरी में बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी बनी हुई थी! बेतेलहाइम इस बात पर आँसू बहाते हैं कि राज्य मशीनरी का चरित्र विशिष्ट रूप से सर्वहारा नहीं था, लेकिन जब पार्टी ने सर्वहारा तत्वों को राज्य मशीनरी के कामकाज सम्भालने के लिए तैयार किया और राज्य मशीनरी का सर्वहाराकरण करने का अभियान शुरू किया तो इस पर भी बेतेलहाइम यह कहकर उंगली उठाते हैं कि सवाल सर्वहारा वर्ग से आने वाले लोगों की संख्या या हिस्सेदारी का नहीं बल्कि राज्य मशीनरी में किसी भी वर्ग से आने वाले लोगों के सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण का है। लेकिन फिर वह यह नहीं बताते कि पार्टी और राज्य मशीनरी में जिन

राजनीतिक संगठनकर्ताओं को ज़िम्मेदारियाँ सौंपी गयी थीं, उनका विश्व दृष्टिकोण क्या था? लेनिन का पार्टी में भर्ती और काडर के प्रशिक्षण के बारे में स्पष्ट दृष्टिकोण था कि पार्टी को ऐसे किसी भी सामाजिक संस्तर से भर्ती करनी चाहिए जहाँ से मार्क्सवादियों को भर्ती कर उन्हें पार्टी कार्यकर्ता के रूप में प्रशिक्षित किया जा सकता है। पंक्तियों के बीच मौजूद अर्थों को पकड़ने वाला कोई भी पाठक देख सकता है कि बेतेलहाइम के विश्लेषण की कोई धुरी नहीं है। उनके नतीजे तय हैं और उन नतीजों पर पहुँचने के लिए वह ऐतिहासिक तथ्यों जैसी मामूली चीज़ों पर ध्यान नहीं देते! **उनका नतीजा यह है कि 1918 से ही सोवियत रूस में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बीज पड़ गये थे। यही कारण है कि बेतेलहाइम सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के समय निर्धारण (यानी कि बीसवीं कांग्रेस की घटना) के बारे में लगभग हमेशा चुप रहते हैं। इसका कारण यह है कि बेतेलहाइम के लिए यह प्रक्रिया 1918 में ही शुरू हो गयी थी और 1930 के दशक में यह मुख्य तौर पर पूरी हो चुकी थी।** इन अनैतिहासिक नतीजों को सिद्ध करने के लिए बेतेलहाइम बार-बार माओ और चीनी उदाहरण को बीच में घसीट लाते हैं, जो कि माओ की शिक्षाओं का विकृतिकरण ही करता है। अपनी इसी पहुँच और पद्धति से बेतेलहाइम सदस्यता के प्रश्न पर इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि 1919-20 में ही पार्टी में बिना सोचे-समझे भर्ती और पार्टी की नौकरशाह मशीनरी (जिसके शीर्ष पर उनके अनुसार स्तालिन थे!) द्वारा शुद्धीकरण के कारण पार्टी के काडरों का सर्वहारा चरित्र खण्डित हुआ, उनका सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण क्षरित हुआ और पार्टी का सर्वहारा चरित्र अधिक से अधिक क्षणभंगुर और खोखला होता गया और अन्ततः उसके भीतर नौकरशाही मज़बूत होती गयी। ऐतिहासिक तथ्य भाड़ में जायें! आगे अपने नतीजों के सहीपन को सिद्ध करने के लिए बेतेलहाइम लेनिन के आख़िरी दौर के कुछ पत्रों का हवाला देते हैं जिसमें उन्होंने स्तालिन और त्रात्स्की के बीच अन्तरविरोध को पार्टी की एकता के लिए ख़तरनाक बताया था और एक बार फिर से पार्टी में सर्वहारा तत्वों की हिस्सेदारी को और ज़्यादा बढ़ाने पर ज़ोर दिया था, हालाँकि इन पत्रों से ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता जो बेतेलहाइम सिद्ध करना चाहते हैं।

पुस्तक के पहले खण्ड के तीसरे हिस्से के तीसरे अध्याय में बेतेलहाइम उस प्रक्रिया की व्याख्या करने के दावा करते हैं जिसके तहत उनके अनुसार सर्वहारा अधिनायकत्व की राज्य मशीनरी ने स्वतन्त्रता व स्वायत्तता हासिल कर ली। **बेतेलहाइम की राज्यसत्ता द्वारा पार्टी से और सर्वहारा वर्ग से स्वायत्तता हासिल कर लेने की पूरी अवधारणा, जैसा कि हम दिखला चुके हैं, कतई मार्क्सवादी नहीं है। यह वर्ग विश्लेषण से प्रस्थान है। अगर राज्य मशीनरी बुर्जुआ वर्ग की सेवा नहीं कर रही थी और वह सर्वहारा वर्ग से भी स्वायत्त हो गयी थी, तो फिर उसका वर्ग चरित्र क्या था?** इस पूरी अवधारणा में सर्वहारा राज्यसत्ता के एक आदर्श-रूप की अपेक्षा भी अन्तर्निहित है। सबसे अच्छी स्थिति में भी उन्नत से उन्नत देश में समाजवादी संक्रमण के लम्बे दौर तक सर्वहारा राज्यसत्ता तमाम बुर्जुआ व नौकरशाहाना विकृतियों और विरूपताओं के साथ ही अस्तित्वमान रहेगी। बल्कि कह सकते हैं कि सर्वहारा राज्यसत्ता का ऐसा कोई दौर नहीं होगा जब वह इन विकृतियों और विरूपताओं से पूरी तरह मुक्त होगी। जिस दिन ऐसा होगा वह राज्यसत्ता वास्तव में 'राज्यसत्ता' नहीं रह जायेगी! लेकिन बेतेलहाइम को अगर ऐसी शुद्ध-बुद्ध सर्वहारा राज्यसत्ता नहीं मिलती तो वह यह निर्णय सुना देते हैं कि अब इस राज्यसत्ता की चारित्रिक आभिलाक्षणिकता सर्वहारा अधिनायकत्व नहीं रह गयी है, जैसा कि इस अध्याय में उन्होंने किया है! **हर जगह उनके विश्लेषण का पैमाना**

'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के सबसे उथल-पुथल वाले दौर की चीनी पार्टी और चीनी राज्यसत्ता हैं, जो उस भयंकर उथल-पुथल के दौर में एक पूर्ण राज्यसत्ता और एक पूर्ण पार्टी के रूप में मौजूद ही नहीं थे! चीनी उदाहरण की एक विचारधारात्मक रूप से प्रसंसाधित छवि (ideologically processed image) बेतेलहाइम के पूरे विश्लेषण पर एक छाया की तरह मौजूद रहती है।

बेतेलहाइम इस अध्याय की शुरुआत सोवियतों को सत्ता देने के प्रश्न पर लेनिन की अवस्थिति के विनियोजन के साथ करते हैं। वह कहते हैं कि लेनिन उस राज्यसत्ता से सत्ता छीन कर सोवियतों को देना चाहते थे जो कि ज़ारवादी और बुर्जुआ राज्यसत्ताओं की खिचड़ी थी। **लेकिन यहाँ भी ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बदसलूकी की गयी है।** लेनिन इस राज्य मशीनरी के मौजूद होने का लेकर ज़्यादा चिन्तित नहीं थे, बल्कि वह इसकी मौजूदगी के पक्षधर थे। उनके लिए असली समस्या थी इस राज्य मशीनरी के संचालन और पर्यवेक्षण के लिए पर्याप्त पार्टी संगठनकर्ताओं की कमी, क्योंकि सर्वहारा अधिनायकत्व को बरक़रार रखने के लिए समाजवाद को इस राज्य मशीनरी की ज़रूरत थी। लेनिन ने "वामपन्थी" कम्युनिस्टों को क़रारा जवाब दिया था जो कि यह दलील दे रहे थे कि समाजवादी क्रान्ति के बाद तो राज्य के 'अराज्य' में तब्दील होने का पहलू हावी हो जाना चाहिए लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति के बाद तो राज्य और भी मज़बूत हो गया है। लेनिन ने कहा था कि समाजवादी संक्रमण के लम्बे दौर तक सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग पर अधिनायकत्व को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए एक शक्तिशाली राज्यसत्ता की आवश्यकता होगी, खुफिया पुलिस की आवश्यकता होगी, सज़ाओं और मृत्युदण्ड की भी आवश्यकता होगी। यह सच है कि एक सशक्त राज्यसत्ता की मौजूदगी नौकरशाहाना प्रवृत्तियों के जोखिम को पैदा करेगी, लेकिन असल समस्या ही यही है कि पार्टी अपने सतत्, सचेतन और संस्थाबद्ध राजनीतिक व विचारधारात्मक नेतृत्व के ज़रिये राज्यसत्ता के सर्वहारा चरित्र को बरक़रार रखे। यह कोई ऐसा कार्यभार नहीं है जो किन्हीं कार्यकारी निर्णयों से निपट जाये। यह समाजवादी संक्रमण के दौरान सतत् जारी प्रक्रिया है, एक सतत् संघर्ष का प्रश्न है। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन की पूरी अवस्थिति का विनियोजन करते हैं और लेनिन को सोवियतों को सत्ता *हस्तान्तरित* करने का पक्षधर व्यक्ति बना देते हैं। लेनिन इस बात को मानते थे कि सोवियतों में जनसमुदायों के राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रशिक्षण को उस मंज़िल तक पहुँचाया जाय कि समस्त सरकारी कार्यों को उन्हें क्रमिक प्रक्रिया में हस्तान्तरित किया जा सके। लेकिन अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले तक भी लेनिन इस सच्चाई से वाक़िफ़ थे कि सोवियतें फिलहाल पार्टी व राज्यसत्ता के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप व नेतृत्व के बिना इन कार्यों को अंजाम देने के लिए तैयार नहीं हैं। संकट यह था कि सोवियतें अभी इन कार्यों को नहीं सम्भाल सकती थीं और राज्य मशीनरी कई बार पार्टी के नेतृत्व और निर्देशों को नज़रन्दाज़ करती थी। इस संकट का कोई तात्कालिक समाधान पार्टी के पास मौजूद नहीं था क्योंकि यह उस समय सम्भव ही नहीं था। रूसी क्रान्ति की ऐतिहासिक समस्याओं की हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं। इतिहास द्वारा प्रस्तुत सीमाओं में पार्टी ने जो किया वह आश्चर्यजनक लगता है। सोवियत रूस में समाजवादी संक्रमण के इतिहास का अध्ययन महज़ सैद्धान्तिक आदर्श-रूपों (ideal types) से तुलना करके नहीं किया जा सकता, बल्कि यथार्थवादी तरीके से ही किया जा सकता है क्योंकि आदर्शवादी अपेक्षाओं, मंशाओं और वास्तविक सम्भावनाओं और सीमाओं के बीच द्वन्द्व बना ही रहता है।

बेतेलहाइम का पूरा विश्लेषण द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि यान्त्रिक भाववादी है।

बेतेलहाइम इन समस्याओं के कारण पैदा होने वाले संकट को ऐतिहासिक सन्दर्भ में नहीं देखते और अन्त में इसका ठीकरा पार्टी और विशेष तौर पर स्तालिन के सिर पर फोड़ देते हैं। यह वास्तव में स्तालिन की ग़लतियों का भी एक सही विश्लेषण करने से पाठक को रोक देता है और उसके स्थान पर एक छद्म विश्लेषण दे देता है। **और इस छद्म विश्लेषण के निशाने पर वास्तव में स्तालिन नहीं बल्कि लेनिन और समूची बोल्शेविक पार्टी है।** लेकिन लेनिन पर सीधा हमला करने की बजाय बेतेलहाइम अन्त में यह नतीजा निकालते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व लगातार कमज़ोर होता गया और लेनिन की मृत्यु के समय तक सर्वहारा अधिनायकत्व मूलतः और मुख्यतः समाप्त हो रहा था क्योंकि सत्ता सोवियतों को नहीं सौंपी गयी! 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास भी यही रोना रो रहे हैं! और सुजीत दास ही क्यों "अति-माओवाद" के विभिन्न संस्करणों, अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, "वामपन्थी" कम्युनिज़्म, 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थितियों, 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' समूह की अवस्थितियों, टोनी क्लिफ-मार्का त्रात्स्कीपन्थ के शिकार तमाम लोगों का यही स्यापा है। इन सारे विश्लेषणों की ख़ासियत वही यांत्रिक भाववाद व मनोगतवाद है, जिसके आदर्श सोवियत रूस का इतिहास पढ़ते समय बार-बार खण्डित हो जाते हैं!

बेतेलहाइम का मानना है कि राज्य मशीनरी ने स्वायत्तता हासिल कर लेने का वस्तुगत आधार था। **उनके अनुसार यह वस्तुगत कारण यह था कि रूसी क्रान्ति 1923 तक मूलतः जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में थी** (पृ. 332, खण्ड-1)! हम बेतेलहाइम के इस तर्क का पहले ही जवाब दे चुके हैं और उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। एक तरफ़ बेतेलहाइम क्रान्ति के मूलतः जनवादी मंज़िल में होने का दावा करते हैं और वहीं दूसरी ओर वह सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच जारी वर्ग संघर्ष की बात करते हैं! यह हास्यास्पद है। क्योंकि अगर ऐसा होता तो बुर्जुआ वर्ग का कोई न कोई हिस्सा सर्वहारा वर्ग का रणनीतिक मित्र होता! मिसाल के तौर पर, यहाँ धनी किसानों का वर्ग और छोटा पूँजीपति वर्ग क्रान्ति का मित्र होता! जबकि लेनिन ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि इस समय हमारा प्रमुख दुश्मन बड़े पैमाने का राजकीय पूँजीवाद नहीं है (बशर्ते कि वह सर्वहारा अधिनायकत्व के मातहत हो) बल्कि हमारा सबसे ख़तरनाक दुश्मन टटपुँजिया वर्ग है। **'नेप' के दौर में मँझोले किसानों के साथ बने मोर्चे का भी प्रधान चरित्र रणकौशलात्मक था, न कि रणनीतिक। ज़ाहिर है, बेतेलहाइम राज्यसत्ता के स्वतन्त्र हो जाने के अपने बेतुके दावे को सिद्ध करने के लिए कई और बेतुकी दलीलें देने को मजबूर हो जाते हैं।** सोवियत राज्यसत्ता को जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा उसका मुख्य कारण यह नहीं था कि खेती के क्षेत्र में बोल्शेविक क्रान्ति को किसान आबादी के राजनीतिक तौर पर समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी न होने के कारण जनवादी कार्यभारों को पूरा करना पड़ा। इन चुनौतियों का मूल कारण यह था कि 1917 से लेकर 1920 के दशक के पूर्वार्द्ध तक सोवियत सत्ता को अपने अस्तित्व के लिए लड़ना पड़ा। इस अस्तित्व की लड़ाई को जीतने में कुंजीभूत कड़ी थी लम्बे समय तक 'स्मिच्का' यानी कि मज़दूर-किसान संश्रय को बचाये रखना। **इन अनिवार्यता के पहलू ने सोवियत सर्वहारा राज्यसत्ता के लिए बहुत सी दिक्कतें पैदा कीं और इसे मजबूर किया कि हर नये समाजवादी आक्रमण के पहले रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे लिये जायें और शक्ति संचित की जाये। इसने सोवियत रूस में समाजवाद के निर्माण के हर पहलू को ही प्रतिकूल तौर पर प्रभावित किया।**

ग्रामीण आबादी और बोल्शेविक पार्टी के बीच सम्बन्धों के बारे में बेतेलहाइम ठीक ही

कहते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में बोल्शेविक पार्टी की पकड़ ज़्यादा गहरी नहीं थी और ग्रामीण आबादी में ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग और टटपुँजिया वर्ग का राजनीतिक और विचारधारात्मक वर्चस्व था। पार्टी के पास मँझोले किसानों को सहमत करने की या फिर उन्हें तटस्थ करने की राजनीतिक क्षमता अभी नहीं थी। और साथ ही राज्य मशीनरी को सम्भालने के लिए पर्याप्त राजनीतिक कार्यकर्ता न होने के कारण पार्टी को उसमें पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों की भी सेवा लेनी पड़ी। इन दो कारणों के चलते, बेतेलहाइम के अनुसार, राज्य की मशीनरी और व्यापक जनसमुदायों के बीच एक अविश्वास पैदा हुआ। **यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर से बिना किसी ऐतिहासिक सन्दर्भ को पेश किये अपने मनचाहे नतीजों पर मनमाने तरीके से पहुँच जाते हैं।** यहाँ भी पार्टी की ग्रामीण आबादी में कम उपस्थिति और राज्य मशीनरी में बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी को पार्टी व राज्य तथा किसान जनसमुदायों के बीच घर्षण पैदा होने का कारण ठहराया गया है। इसका अर्थ यह है कि अगर पार्टी की ग्रामीण आबादी के भीतर अपेक्षाकृत ज़्यादा मौजूदगी होती और पूरी राज्य मशीनरी सर्वहारा तत्वों से भरी होती तो फिर व्यापक किसान आबादी और सर्वहारा राज्यसत्ता के बीच कोई अविश्वास या घर्षण न मौजूद होता। जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं, बेतेलहाइम मँझोले और खाते-पीते मँझोले किसानों के वर्ग चरित्र पर कहीं आलोचनात्मक तौर पर विचार नहीं करते। उनके लिए यह पूरा वर्ग क्रमिक प्रक्रिया में समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत किया जा सकता था और अगर वह नहीं किया जा सका तो इसके लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी और राज्य मशीनरी ज़िम्मेदार थी! दूसरी बात यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी की मौजूदगी तेज़ी से बढ़ी थी, जिसे कि बेतेलहाइम भी मानते हैं, हालाँकि यह मौजूदगी क्रान्ति के बाद बढ़ना उनके लिए पर्याप्त नहीं है। तीसरी बात यह कि राज्य मशीनरी का चरित्र बुर्जुआ था, इस बात को उन्होंने अपनी रचना के पहले खण्ड का अन्त होते-होते एक स्वाभाविक तथ्य या आकाशवाणी के समान बना दिया है। इस विषय में भी हम पहले ही दिखला चुके हैं कि बेतेलहाइम का इस बारे में विश्लेषण (यदि उसे विश्लेषण कहा जा सके) और नतीजे बिल्कुल ग़लत और अनैतिहासिक हैं। राज्य मशीनरी का चरित्र प्रथमत: इस बात से निर्धारित होता है कि कौन-सा वर्ग अपने हिरावल/अगुवा दस्ते के ज़रिये उसे नियन्त्रित कर रहा है; सोवियत सर्वहारा राज्य ने यदि आपात स्थितियों में बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवा ली तो इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि उस राज्य मशीनरी का चरित्र ही प्रमुखत: बुर्जुआ हो गया! यह ज़रूर है कि आपात स्थितियों में बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवा लेने की बाध्यता ने पार्टी और सर्वहारा राज्य के लिए राज्य की मशीनरी पर नियन्त्रण को सतत् बनाये रखने को एक चुनौतीपूर्ण कार्यभार में तब्दील कर दिया। पार्टी के लिए यह चुनौती लम्बे समय तक बनी रही। **गोरान थरबॉर्न** ने अपनी पुस्तक **'व्हाट डज़ दि रूलिंग क्लास डू व्हेन इट रूल्स'** में बेतेलहाइम की एक सही आलोचना रखी है, हालाँकि इस पुस्तक के अन्य कई तर्कों से सहमत होना कठिन है। **थरबॉर्न कहते हैं कि बेतेलहाइम एक आदर्श स्थिति की कल्पना करते हैं और उसके बाद यथार्थ को उस कल्पित आदर्श स्थिति की कसौटी पर परखने लगते हैं। जब पार्टी बेतेलहाइम द्वारा कल्पित/अपेक्षित आदर्श स्थिति पर खरी नहीं उतरती तो वह पार्टी को खरी-खोटी सुनाने लगते हैं। और तो और जिस आदर्श स्थिति की कल्पना बेतेलहाइम करते हैं वह एक सही द्वन्द्वात्मक आदर्श स्थिति है भी नहीं बल्कि एक मनोगत भाववादी आदर्श स्थिति है!** बेतेलहाइम पार्टी की ग़लतियों के बारे में चलते-चलते यह कहते हैं और इस प्रक्रिया में अपने आपको माओ का सच्चा अनुयायी दिखलाने का प्रयास करते हैं कि

बोल्शेविक पार्टी से ग़लतियाँ होना लाज़िमी था क्योंकि 'सही विचार आसमान से नहीं टपकते'! बोल्शेविक पार्टी के पास कोई पुराना अनुभव नहीं था और इसलिए उसे असफल प्रयोगों से ही सीखना था! सही बात है! **लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि बोल्शेविक पार्टी ने केवल असफल प्रयोग किये, जिससे बस आज नकारात्मक शिक्षा ली जा सकती है, जैसा कि बेतेलहाइम की रचना पढ़ते हुए आपको लगने लगता है! जब बेतेलहाइम विशिष्ट तौर पर पार्टी की सैद्धान्तिक ग़लतियों की बात करते हैं तो उनके "माओवाद" की कलई खुल जाती है।**

बेतेलहाइम वस्तुगत कारकों को मुख्य तौर पर ज़िम्मेदार रखते हुए भी यह दलील देते हैं कि पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण का रुझान मौजूद था और यह वास्तव में द्वितीय इण्टरनेशनल की विरासत थी। यह पूरा तर्क भयंकर रूप से ग़लत और अनैतिहासिक है। वास्तव में, काऊत्स्की के नेतृत्व में द्वितीय इण्टरनेशनल द्वारा बोल्शेविक पार्टी की जो आलोचनाएँ पेश की गयी थीं, उनमें से एक आलोचना यह भी थी कि पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण का रुझान है। **वास्तव में, यहाँ बेतेलहाइम का निशाना द्वितीय इण्टरनेशनल नहीं बल्कि लेनिन की 'क्या करें?' की थीसिस है,** हालाँकि एक जगह पर बेतेलहाइम 'क्या करें?' से एक उद्धरण भी पेश करते हैं! **बेतेलहाइम की पूरी थीसिस देखिये: बोल्शेविक पार्टी की कई सैद्धान्तिक अवधारणाएँ ग़लत थीं, क्योंकि वह एक सैद्धान्तिक रूप से ग़लत स्रोत से निकली थी, यानी कि द्वितीय इण्टरनेशनल (यहाँ द्वितीय इण्टरनेशनल के इतिहास के साथ भी नाइंसाफ़ी की गयी है क्योंकि काऊत्स्की और द्वितीय इण्टरनेशनल का एक सकारात्मक इतिहास भी था और पार्टी सिद्धान्त को विकसित करने में एक समय इनका एक अहम योगदान था); चूँकि बोल्शेविक पार्टी एक अशुद्ध स्रोत से निकली थी इसलिए वह इस स्रोत से विरासत में प्राप्त अशुद्ध विचारों से निजात नहीं पा सकी; ये अशुद्ध विचार थे पार्टी में केन्द्रीयता का सिद्धान्त जो कि जनवादी नहीं था और साथ ही राज्यसत्ता में केन्द्रीकरण का सिद्धान्त जो कि जनसमुदायों को अपने अनुभवों से नहीं सीखने देता था; इसका कारण यह था कि बोल्शेविक क्रान्ति मुख्य तौर पर जनवादी क्रान्ति के मंज़िल में थी और इसलिए कई मामलों में उसकी समानता फ्रांसीसी क्रान्ति से थी; फ्रांसीसी क्रान्ति से समानता की ओर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने ध्यानाकर्षित किया था; इन समानताओं में एक प्रमुख समानता थी जैकोबिनवाद की प्रवृत्ति और बोल्शेविक पार्टी में यही प्रवृत्ति थी; इस प्रवृत्ति के कारण ही बोल्शेविक पार्टी ने सोवियतों को सुषुप्त बना दिया, उनके राजनीतिक जीवन को कमज़ोर बना दिया। इस प्रकार बेतेलहाइम की थीसिस अपने राजनीतिक निर्वाण पर पहुँचती है। वह रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की शुरुआती अवस्थिति के आधार पर अपने आपको सही ठहराने का प्रयास करते हैं जिन अवस्थितियों को स्वयं रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने बाद में त्याग दिया था, जैसा कि हमने तीसरे अध्याय में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग द्वारा बोल्शेविक पार्टी की आलोचना पर चर्चा करते हुए दिखलाया था।**

अपने वैधीकरण के दूसरे स्रोत के तौर पर बेतेलहाइम चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी समाजवादी प्रयोगों का इस्तेमाल करते हैं। हालाँकि, बाद में चीनी प्रयोग के बारे में भी बेतेलहाइम इसी भाषा और इसी अन्दाज़ में लिखते हैं। इसका कारण यह है कि बेतेलहाइम के पूरे चिन्तन में अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, "वामपन्थी" कम्युनिज़्म, नवत्रात्स्कीपन्थ, ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, स्वत:स्फूर्ततावाद और हेगेलीय भाववाद व मनोगतवाद की

प्रवृत्तियाँ उनकी 1974 की इस रचना में ही स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती हैं। **चीनी क्रान्ति के उस क्षण (moment) से बेतेलहाइम प्रभावित हैं, जिस क्षण में कम-से-कम प्रतीतिगत तौर पर हम पार्टी के सिद्धान्त को खण्डित होता देख सकते हैं और संयोग से यही वह क्षण था जब सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद विश्व के पैमाने पर और सोवियत संशोधनवादी पार्टी सोवियत संघ के भीतर उन कुकर्मों का अंजाम दे रहे थे, जिन्हें बाद में 'पार्टी-राज्य' के ऊपर थोप दिया गया।** बेतेलहाइम का निशाना वास्तव में लेनिनवादी पार्टी सिद्धान्त और समाजवादी संक्रमण व निर्माण के बारे में लेनिनवादी समझदारी है, जिसमें निश्चित तौर पर, केन्द्रीयता और केन्द्रीकरण का एक अहम स्थान है। विश्लेषण की अपनी एक गति होती है और जैसा कि एक बार थियोडोर अडोर्नो ने कहा था, किसी भी अध्ययन या शोध के उद्देश्य पहले से कुछ भी तय हों, वास्तव में वे अध्ययन की प्रक्रिया में निर्धारित होते हैं। बेतेलहाइम की रचना पर भी यह बात काफ़ी हद तक लागू होती है। लेनिन की आलोचना करना उनका लक्ष्य या उद्देश्य कहीं नहीं था; लेकिन यदि पहुँच और पद्धति अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी" कम्युनिस्ट, स्वत:स्फूर्ततावादी और भाववादी मनोगतावादी हो, तो फिर सोवियत रूस के इतिहास का अध्ययन अन्ततः लेनिन की आलोचना तक ही ले जायेगा। **यही कारण है कि अपनी रचना के पहले खण्ड के अन्त तक जाते-जाते ही बेतेलहाइम के निशाने पर लेनिन आ जाते हैं और उन पर अति-केन्द्रीयतावाद, जैकोबिनवाद, राज्यवाद आदि के आरोप मढ़ दिये जाते हैं।**

4. चौथा भागः बोल्शेविक पार्टी के भीतर विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्ष

इस खण्ड की शुरुआत बेतेलहाइम लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के बीच एक खाई बनाते हुए करते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार लेनिन के अन्दर जनसमुदायों की बात को सुनने की प्रवृत्ति, गहरी सैद्धान्तिक समझदारी और धारा के विरुद्ध जाने का साहस था। यह बात सही है कि लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के बीच एक अन्तर था, लेकिन यह अन्तर वही अन्तर था जो कि सामान्य तौर पर नेतृत्व देने वाले और नेतृत्व प्राप्त करने वाले के बीच होता है। ऐसा नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी सैद्धान्तिक प्रशिक्षण और जनसमुदायों से रिश्ता कायम करने में अल्पविकसित थी। और यह कहना भी बोल्शेविक पार्टी के पूरे इतिहास के साथ तोड़-मरोड़ करना होगा कि रूसी क्रान्ति और उसके बाद जो कुछ सकारात्मक हुआ उसके ज़िम्मेदार लेनिन थे, जबकि जो कुछ नकारात्मक हुआ उसके लिए बाकी पार्टी ज़िम्मेदार थी। बोल्शेविक पार्टी ने क्रान्ति को संगठित करने और उसके बाद समाजवाद के निर्माण की प्रक्रिया में सामूहिक नेतृत्व प्रदान किया, जिसमें निश्चित तौर पर लेनिन की अग्रणी भूमिका थी। लेकिन लेनिन और शेष पार्टी नेतृत्व के बीच पहुँच और पद्धति के प्रश्न पर इस प्रकार की खाई पैदा करना, बेतेलहाइम की उसी प्रवृत्ति को उजागर करता है जिसे हमने पहले 'महान नेता अन्धभक्ति' (great leader fetishism) का नाम दिया था। **इस प्रवृत्ति के पीछे वास्तविक निशाना बोल्शेविज़्म है, जैसा कि बेतेलहाइम के उत्तरवर्ती विश्लेषण से साफ़ हो जाता है।**

बेतेलहाइम पार्टी के भीतर कार्यदिशाओं के संघर्ष की चर्चा शुरू करने से पहले विभिन्न वर्गों के साथ पार्टी के बदलते सम्बन्धों पर चर्चा करते हैं। चूँकि मँझोले किसानों से रिश्ते का

प्रश्न सबसे अहम था, इसलिए सबसे पहले किसान प्रश्न पर चर्चा की जाती है। बेतेलहाइम अपने पुराने तर्कों को दुहराते हुए दावा करते हैं कि 1918 में ही ग़रीब किसान समितियों का निर्माण एक वक़्त से पहले उठाया गया कदम था और यही कारण था कि इन समितियों से पार्टी को जो उम्मीद थी, वह उम्मीद वे पूरा नहीं कर सकीं। **यहाँ बेतेलहाइम यह नहीं बतलाते हैं कि इन समितियों के निर्माण का प्रस्ताव लेनिन का था!** बहरहाल, इस प्रश्न पर बेतेलहाइम तथ्यों को दरकिनार करके बात करते हैं। लेनिन का मानना था कि क्रान्ति के ठीक बाद भूमि-सम्बन्धी आज्ञप्ति में पार्टी को समाजवादी-क्रान्तिकारियों का रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम लागू करना पड़ा था, क्योंकि आर्थिक तौर पर विभेदीकृत होने के बावजूद दो कारणों से रूसी किसान आबादी अभी राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत नहीं थी। पहला कारण था प्रशियाई पथ से हुए युंकर शैली के भूमि सुधारों का परिपक्व न होना और किसानों में इस वजह से ज़मीन की भूख का पर्याप्त मात्रा में मौजूद होना और दूसरा कारण था किसानों के बीच बोल्शेविक पार्टी को अपना आधार विकसित करने का अवसर ही नहीं मिला था, और प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत के साथ रूस में राजनीतिक संकट गहरा गया था और क्रान्तिकारी स्थिति पैदा हो गयी थी। यही कारण था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति को गाँवों में जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाना पड़ा। इस मंज़िल में पूरी किसान आबादी को साथ लेना ज़रूरी था और लेनिन की यह कार्यदिशा उसी समय से थी जब उन्होंने 'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' नामक अपनी प्रसिद्ध रचना लिखी थी। लेनिन की यह पहुँच भी पहले से ही स्पष्ट थी कि जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के बाद तत्काल पार्टी को किसान आबादी में राजनीतिक दो-फाड़ करनी होगी और ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी को साथ लेकर और मँझोली किसान आबादी को कम-से-कम तटस्थ बनाते हुए समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना होगा। इसी सोच के तहत गृहयुद्ध के शुरू होने से पहले ही लेनिन ने इस दिशा में सोचना और लिखना शुरू कर दिया था।

दूसरा सवाल यह है कि क्या ग़रीब किसान समितियाँ अपने अपेक्षित कार्यभार को पूरा कर सकीं? बेतेलहाइम का जवाब इसमें मुख़्तसर है–नहीं! लेकिन स्वयं लेनिन और बोल्शेविक पार्टी का यह मूल्यांकन नहीं था। निश्चित तौर पर, ग़रीब किसान समितियों ने उन सारे कार्यभारों को पूरा नहीं किया जिनके लिए उनका निर्माण किया गया था। इसका एक कारण यह भी था कि गृहयुद्ध ने उनके ऊपर तमाम तात्कालिक आपात कार्य भी लाद दिये थे। लेकिन वह अपने राजनीतिक कार्यभारों को अन्य कई कारणों से भी पूरी तरह से पूर्ण नहीं कर पायीं। इन समितियों ने गृहयुद्ध के दौरान गाँवों में कुलकों और धनी किसानों के प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध निश्चित तौर पर एक प्रतिशक्ति का निर्माण किया। इन समितियों ने ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को संगठित किया और उनके बीच बोल्शेविक पार्टी का ज़बरदस्त आधार तैयार किया। 1918 से 1919 के बीच किसानों के बीच बोल्शेविक पार्टी का आधार और सदस्यता बढ़ने के पीछे सबसे बड़ा कारक गाँवों की सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी का इन समितियों के तहत संगठित होना भी था। लेकिन ज़बरन फसल वसूली के कार्यभार को पूरा करते हुए इन समितियों के प्रहारों के दायरे में मँझोले किसान भी आ गये। इसके पीछे एक बड़ा कारण यह था कि गाँवों में ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को संचालित करने के लिए पार्टी के पास पर्याप्त बोल्शेविक संगठनकर्ता नहीं थे। प्रत्यक्ष राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में ग़रीब किसान समितियाँ कई बार अतिरेकपूर्ण कार्यवाहियाँ करती थीं। इनके कारण मँझोले किसानों का वर्ग, जो कि भूमि सुधारों के बाद अब किसान आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा था,

कुलकों और धनी किसानों से अन्तरविरोधों के बावजूद पार्टी से अलगावग्रस्त होता गया। **कोम्बेडी** (ग़रीब किसान समिति) ने अपना कार्य तो किया लेकिन साथ ही अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ कीं जिससे कि किसानों का वह हिस्सा मौन असहयोग और बाद में बोल्शेविकों से शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध की तरफ़ गया जिसे कि तटस्थ बनाना था। बेतेलहाइम का कहना है कि कोम्बेडी का प्रयोग इसलिए असफल हो गया क्योंकि यह वक़्त से पहले किया गया; रूसी क्रान्ति अभी जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में थी और इसलिए पूरी किसानी को साथ लेने की कार्यदिशा को अपनाया जाना चाहिए था। यही कारण था कि दिसम्बर 1918 में इन समितियों को किसान सोवियतों में मिला दिया गया। साथ ही, बेतेलहाइम यह भी दावा करते हैं कि लेनिन अभी किसानों के बीच राजनीतिक वर्ग विभाजन पैदा करने के पक्ष में नहीं थे। ये सारे दावे तथ्यत: ग़लत हैं। लेनिन ने सातवीं पार्टी कांग्रेस में मार्च 1918 में ही कहा था:

"कृषि प्रश्न को इन अर्थों में रूपान्तरित करना होगा कि हम छोटे किसानों के आन्दोलन के पहले कदमों के साक्षी बन रहे हैं, जो सर्वहारा के पक्ष में आना चाहते हैं, जो समाजवादी क्रान्ति में मदद करना चाहते हैं, जो अपने तमाम पूर्वाग्रहों के बावजूद, अपनी तमाम पुरानी आस्थाओं के बावजूद समाजवाद में संक्रमण के कार्यभार में मदद करना चाहते हैं...किसानों ने न केवल कथनी में नहीं बल्कि करनी में भी दिखलाया है कि यह उस सर्वहारा वर्ग की समाजवाद को हक़ीकत में तब्दील करने में सहायता करना चाहते हैं, जिसने सत्ता जीती है।" (ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-2 में उद्धृत, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 51, *अनुवाद हमारा*) मई 1918 में लेनिन ने फिर से कहा, **"हमें ग़रीबों को, यानी कि आबादी की बहुसंख्या या अर्द्धसर्वहारा को सचेतन सर्वहारा हिरावल के इर्द-गिर्द संगठित करना होगा।"** (वही) **यहाँ ग़ौरतलब है कि अभी गृहयुद्ध शुरू नहीं हुआ था, तभी लेनिन किसानों के बीच राजनीतिक वर्ग विभेदीकरण पैदा करने की नीति की शुरुआत की बात कर रहे थे।** जैसा कि **ई.एच. कार** ने दिखलाया है, बोल्शेविकों के एजेण्डे में यह कार्य क्रान्ति के तुरन्त बाद से ही था, जिसे ग्रामीण क्षेत्रों में सीमित राजनीतिक व सांगठनिक मौजूदगी के कारण वे शुरू नहीं कर पाये थे। यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि खाते-पीते मँझोले और धनी किसानों ने बोल्शेविक सत्ता के ज़रिये भूमि हासिल करने के बावजूद सोवियत सत्ता से असहयोग शुरू कर दिया था। ई.एच. कार बताते हैं कि लेनिन ने उन किसानों के प्रति "खाद्य तानाशाही" लागू करने की वकालत की थी, जो अनाज छिपा रहे थे और जमाखोरी कर रहे थे, जबकि शहरों में और साथ ही उन गाँवों में ग़रीब आबादी भुखमरी का शिकार थी, जहाँ फसलें ख़राब हो गयी थीं। गृहयुद्ध ने स्थिति को और ख़राब कर दी जिसके बाद 11 जून 1918 की एक आज्ञप्ति के ज़रिये कोम्बेडी, यानी ग़रीब किसान समितियों का निर्माण शुरू हुआ। कुलकों, धनी किसानों और उजरती श्रम का शोषण करने वाले खाते-पीते किसानों के अलावा हर ग्रामीण नागरिक इन समितियों में चुने जाने का अधिकारी था। **ई.एच. कार** ने दिखलाया है कि इन समितियों के गठन को लेनिन बेहद अहम मानते थे। (देखें पृ. 50-55, वही) लेनिन ने बताया कि थोड़ी देर से सही लेकिन देश के गाँवों ने इन समितियों के गठन के साथ अपने 'अक्टूबर' का अनुभव करना शुरू किया था। लेनिन ने कहा था इन समितियों के गठन का **"इतिहास के मोड़ बिन्दु के रूप में महान महत्व है, खास तौर पर हमारी क्रान्ति के निर्माण और विकास की पूरी प्रक्रिया में।"**

ई.एच. कार ने ठीक ही कहा है कि समाजवादी आक्रमण (socialist offesive) गृहयुद्ध के पहले ही शुरू कर दिया गया था। लेकिन गृहयुद्ध ने इस पूरी प्रक्रिया की

गति तेज़ करने की बाध्यता बोल्शेविकों पर थोप दी। इसके कारण यह प्रक्रिया नैसर्गिक तरीके से आगे बढ़ने की बजाय विकृत हो गयी और युद्ध की तात्कालिक ज़रूरतों ने इस प्रक्रिया का सही राजनीतिक ढंग से संचालन करने का अवसर बोल्शेविक पार्टी को नहीं दिया। त्रात्स्की और बुखारिन की ग़लती यह थी कि उन्होंने युद्ध द्वारा थोपी गयी आपात आवश्यकताओं के दबाव में समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया को ज़रूरत से तेज़ गति से विकसित करने को समाजवाद के विकास का आम नियम बनाने की दलील पेश की। "युद्ध कम्युनिज़्म" और गृहयुद्ध के दौरान तमाम अतिरेकपूर्ण भूलें हुईं, जिनमें से निश्चित तौर पर कुछ वस्तुगत सीमाओं के कारण हुईं थीं। लेकिन त्रात्स्की की ग़लत अवधारणाओं के कारण भी तमाम भूलें हुईं और कई नीतियों के ग़लत तरीके से संचालन में इनका भी इसमें योगदान था। बहरहाल, "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई मनोगत भूलों और वस्तुगत संकट के कारण 1921 में पार्टी को विशेष तौर पर गाँवों रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने पड़े और खाते-पीते मँझोले किसानों तक को मुक्त व्यापार और मुनाफ़ा कमाने की और यहाँ तक कि कुछ कठिन शर्तों को पूरा करने पर सीमित रूप से उजरती श्रम के शोषण की भी इजाज़त देनी पड़ी। लेकिन बेतेलहाइम के लिए यह प्रक्रिया किसान प्रश्न पर बोल्शेविकों द्वारा सही अवस्थिति को अपनाने के समान था। **उनके लिए नयी आर्थिक नीतियाँ रणनीतिक तौर पर पीछे कदम हटाना नहीं था, बल्कि समाजवादी निर्माण की स्वाभाविक और सामान्य नीति थी! और त्रासद बात यह है कि अपनी इस संशोधनवादी कार्यदिशा को वह लेनिन पर आरोपित कर देते हैं!**

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि ग़रीब किसान समितियाँ असफल रहीं और लेनिन व अन्य बोल्शेविक इसके पक्ष में नहीं थे। इसके बारे में वह कोई तथ्यात्मक ब्यौरा नहीं देते। कारण यह है कि सच्चाई इसके बिल्कुल विपरीत थी। इस सच्चाई का तिथिवार तथ्यात्मक ब्यौरे के लिए पाठक ई.एच. कार की पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन' के खण्ड-2 के पृष्ठ 157 से 172 को सन्दर्भित कर सकते हैं। सच्चाई यह है कि ग़रीब किसान समितियों को किसी राजनीतिक या विचारधारात्मक कारण के लिए भंग नहीं किया गया। उन्हें केवल मँझोले किसानों को एक मित्रता का सन्देश भेजने के लिए भंग किया गया था। वास्तव में, उन्हें भंग भी नहीं किया गया था। उन्हें अधिकांशतः स्थानीय सोवियत में शामिल कर दिया गया था। और इसके नुक़सान से ज़्यादा फ़ायदे थे। ग़रीब किसान समितियों के आन्दोलन के मज़बूत होने के साथ इन समितियों के अर्द्धसर्वहारा यह माँग भी उठाने लगे कि स्थानीय किसान सोवियत के सारे कार्यभार और अधिकार उन्हें सौंप दिये जाने चाहिए। इसके साथ गाँवों में सत्ता के दो केन्द्र विकसित होने लगे। मँझोले किसान की बहुसंख्या सोवियतों में थी। इसलिए बोल्शेविक पार्टी ने सत्ता के इन दोनों केन्द्रों को मिश्रित कर दिया। इससे स्थानीय किसान सोवियतों का चरित्र भी कुछ बदला और इसके साथ ही उनमें वर्ग संघर्ष की एक प्रक्रिया भी शुरू हुई। साथ ही, गृहयुद्ध के दौरान स्थानीय किसान सोवियतों में शामिल हुए तमाम ग़रीब किसानों ने मुखबिरों की भूमिका भी अपनायी। उनके कारण कुलकों और खाते-पीते किसानों से फसल वसूली में भी काफ़ी मदद मिली। लेकिन इसके बाद भी फसल वसूली में अतिरेक होते रहे और इसके कारण मँझोले किसानों की आबादी का बड़ा हिस्सा बोल्शेविकों से दूर हुआ। इसके कारण 1921 आते-आते सोवियत सत्ता के अस्तित्व के लिए ख़तरा पैदा हो गया था। इस हानि को पूरा करने के लिए नयी आर्थिक नीतियों के साथ कुछ कदम पीछे हटाने पड़े और मध्यम किसानों और खाते-पीते किसानों तक को व्यापार की आज़ादी देनी पड़ी। **लेकिन ग़रीब किसान समितियों**

के गठन का 1918 के मध्य में लिया गया फैसला बिल्कुल सही था और अपरिपक्व कतई नहीं था। न ही इन समितियों को पूर्ण असफल प्रयोग कहा जा सकता है, जैसा कि बेतेलहाइम दिखलाना चाहते हैं। ग़रीब किसान समितियों के गठन के इतिहास और उसके विषय में लेनिन के विचारों के बारे में बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा ख़राब इतिहास-लेखन और तयशुदा नतीजों पर पहुँचने के लिए तथ्यों के विकृतिकरण का प्रातिनिधिक उदाहरण है।

ज़बरन फसल वसूली की गृहयुद्ध के दौर की नीति के बारे में भी बेतेलहाइम खाते-पीते मँझोले किसानों का बचाव करने के लिए तथ्यों के साथ खिलवाड़ करते हैं। उनका कहना है कि गृहयुद्ध के दौरान ज़बरन फसल वसूली के अलावा सोवियत सत्ता के पास कोई और विकल्प नहीं था और साथ ही किसान भी इस ज़बरन फसल वसूली के लिए गृहयुद्ध के जारी रहते तैयार थे! यह क्या तर्क है? **अगर बहुसंख्यक किसान (यानी कि मँझोले किसानों की व्यापक बहुसंख्या क्योंकि 1918 में सोवियत राज्यसत्ता के अनुमान के मुताबिक रूसी किसान आबादी का 50 प्रतिशत मँझोले किसान थे) ज़बरन फसल वसूली के लिए तैयार थी, तो वह फसल वसूली 'ज़बरन' कैसे हुई?** फिर तो किसानों को सरकार द्वारा तय फसल कर या फसल अधिशेष स्वयं सोवियत सत्ता को दे देना चाहिए था, फसल वसूली के लिए ग़रीब किसान समितियाँ और खाद्य ब्रिगेड बनाने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? बेतेलहाइम दावा करते हैं कि यह स्थिति 1920 से बदलना शुरू हो गयी जब किसानों ने इसका कई बार हिंस्र तरीके से विरोध करना शुरू किया क्योंकि उन्हें लगने लगा था कि गृहयुद्ध के समापन के साथ फसल वसूली बन्द हो जानी चाहिए! अपनी गल्पकथा को आगे बढ़ाते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि ज़बरन फसल वसूली उसके बाद भी जारी रही क्योंकि उस समय "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लत अवधारणाएँ पार्टी पर हावी थीं। इसमें वह लेनिन को भी समेटते हुए कहते हैं कि लेनिन ने भी बुखारिन की रचना **'दि इकोनॉमिक्स ऑफ दि ट्रांज़िशनल पीरियड'** की प्रशंसा कर रहे थे और मान रहे थे कि समाजवादी सत्ता को क्रान्ति के ढुलमुल मित्र वर्गों के कुछ हिस्सों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती करनी पड़ सकती है। लेनिन ने अपने इस विचार को कभी बदला नहीं था, जैसा कि बेतेलहाइम हमें बाद में यक़ीन दिलाने का प्रयास करते हैं। लेनिन ने 1921 की रूसी क्रान्ति की विशिष्ट स्थितियों में इस बात पर ज़ोर दिया था कि मँझोले किसान वर्ग के साथ अभी लम्बे समय तक मज़बूत मोर्चा बनाना पड़ेगा भले ही उसकी एवज़ में उसे तमाम बुर्जुआ रियायतें भी क्यों न देनी पड़ें। **लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर लेनिन इस बिन्दु पर स्पष्ट थे कि मध्यम किसानों के एक हिस्से के साथ सर्वहारा सत्ता को कुछ ज़ोर-ज़बरदस्ती करनी पड़ेगी, विशेष तौर पर वह हिस्सा जो उजरती श्रम का शोषण करना है और लाभ कमाता है। निश्चित तौर लेनिन बुखारिन के इस विचार से सहमत नहीं थे कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के ज़रिये कम्युनिज़्म में संक्रमण सम्भव है, लेकिन साथ ही लेनिन सैद्धान्तिक तौर पर यह मानते थे कि समाजवादी राज्य टटपुँजिया वर्गों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती कर सकता है, चाहे यह 1921 के रूस में सम्भव हो या न हो।** लेकिन बेतेलहाइम की रचना पढ़कर लेनिन की पूरी अवस्थिति को समझना असम्भव है। न तो लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की अवस्थिति पर खड़े थे और न ही वे बेतेलहाइम जैसी नवनरोदवादी किसानवादी अवस्थिति पर खड़े थे। **मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम 'नयी आर्थिक नीतियों' की शुरुआत को "युद्ध कम्युनिज़्म" के अन्त पर लेनिन द्वारा आत्मालोचना और अपनी ग़लतियों को सुधारने के तौर पर पेश**

करते हैं। यह तथ्यों के साथ बदसलूकी है। **लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई उन ग़लतियों पर पार्टी ओर से एक आत्मालोचना पेश कर रहे थे, जिनमें से अधिकांश ग़लतियों से बच पाना गृहयुद्ध के दौर में असम्भव था; साथ ही, लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की कार्यदिशा की आलोचना पेश कर रहे थे जिनके कारण कुछ ऐसी ग़लतियाँ भी हुईं जिनसे बचा जा सकता था।** पार्टी वर्ग शक्तियों के सन्तुलन का सही आकलन बनाने में असफल रही थी और कुछ ऐसी ग़लतियाँ हुईं जिनके कारण मध्यम किसानों को जीतने और तटस्थ बनाने की बजाय सर्वहारा वर्ग ने उससे शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध पैदा कर लिये थे। यह पूरी आलोचना उस दौर के विशिष्ट अन्तरविरोधों को हल करने में बोल्शेविक पार्टी द्वारा हुई ग़लतियों पर केन्द्रित थी, न कि किसान प्रश्न पर लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के सामान्य चिन्तन की। लेकिन बेतेलहाइम इसे ऐसे पेश करते हैं मानो लेनिन के विचारों में किसान प्रश्न पर कोई निर्णायक विच्छेद या प्रस्थान हुआ हो और उन्होंने किसान प्रश्न पर ग़लत चिन्तन को दुरुस्त कर समाजवादी निर्माण के दौरान इस प्रश्न को हल करने की आम दिशा में कोई परिवर्तन कर दिया हो। यही कारण है कि बेतेलहाइम, चीनी संशोधनवादियों, रूसी संशोधनवादियों व हमारे भारत में माकपा-मार्का संशोधनवादियों के समान 'नयी आर्थिक नीति' को समाजवादी निर्माण पर चिन्तन में एक भारी इज़ाफ़ा मानते हैं, हालाँकि लेनिन स्वयं इसे रूस में समाजवादी संक्रमण की विशिष्ट स्थितियों में रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने की संज्ञा देते थे। इसके पीछे लेनिन की सोच यह थी कि गृहयुद्ध के दौर की समाप्ति के बाद सर्वहारा सत्ता को साँस लेने और अगले समाजवादी आक्रमण के लिए शक्ति और ऊर्जा जुटाने के लिए वक़्त की ज़रूरत है। इस दौर में सर्वहारा अधिनायकत्व को कायम रखना पहली प्राथमिकता है और उसके लिए मध्यम किसानों को कुछ बुर्जुआ छूटें भी देनी पड़ती हैं, तो दी जानी चाहिए। साथ ही इस दौर में सर्वहारा सत्ता को अधिक से अधिक मध्यम किसानों को जीतना होगा और सही अवसर पर किसानों के बीच राजनीतिक दो-फाड़ करने और फिर सामूहिकीकरण की ओर आगे बढ़ने के साथ नये समाजवादी आक्रमण की शुरुआत करनी होगी। ज़ाहिर है कि 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' के रूपक का अर्थ ही यही था कि इस दौर के बाद कदम आगे बढ़ाने थे। लेकिन बेतेलहाइम की गल्प कथा अलग लीक पर ही चलती है।

बेतेलहाइम मानते हैं कि मज़दूर वर्ग के व्यापक हिस्से गृहयुद्ध की आपात स्थितियों में लगातार पार्टी के साथ खड़े थे और उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही था, जो भूख और युद्ध से पैदा हुई श्रान्ति के कारण पार्टी से दूर हुआ था। इस दूर हुए हिस्से को भी पार्टी ने अपने काबिल प्रचारकर्ताओं द्वारा चलाये गये प्रचार अभियानों के ज़रिये वापस जीत लिया था। लेकिन साथ ही बेतेलहाइम यह दावा भी करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी हर-हमेशा लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों का पालन नहीं कर पाती थी, हालाँकि इसके लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार थीं। उनके अनुसार लेनिनवादी उसूल वही हैं जिन्हें बाद में माओ ने 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान प्रतिपादित किया था, यानी, पूरे मज़दूर वर्ग को सहमत करना, उन्हें अपने अनुभवों से सीखने देना, आदि। लेकिन यहाँ बेतेलहाइम सांगठनिक उसूलों के बारे में लेनिन और साथ ही चीनी पार्टी की बुनियादी समझदारी का उदारतावादी विनियोजन करते हैं। ज़ाहिर है कि किसी भी हिरावल पार्टी का यह कार्यभार होता है कि वह वर्ग को शिक्षित करे, उसका मार्गदर्शन करे, उसे अपने अनुभवों से सीखने दे। लेकिन निश्चित तौर पर पार्टी वर्ग के सबसे उन्नत तत्वों के दस्ते और सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण के मूर्त रूप के तौर पर

हमेशा वर्ग के मिज़ाज का अनुसरण नहीं करती है। न ही वह हर स्थिति में पूरे वर्ग की राय ले सकती है। **वास्तव में, स्वयं मज़दूर वर्ग भी पार्टी से ऐसी उम्मीद नहीं करता। ऐसी उम्मीद आम तौर पर टटपुँजिया बुद्धिजीवी ही पार्टी से करते हैं!** इसलिए लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों और उसकी नेतृत्व की शैली के प्रश्न पर लेनिन के चिन्तन को सम्पूर्णता में देखना है, तो हमें उस बहस में लेनिन के कथनों को देखना चाहिए जिसमें वह बोल्शेविक पार्टी के उन आलोचकों का जवाब दे रहे थे जिनका यह कहना था कि बोल्शेविक पार्टी ने रूसी सर्वहारा वर्ग को प्रतिस्थापित कर दिया है, या पार्टी वर्ग के ऊपर शासन करने लगी है, वगैरह। इनमें से कुछ को हमने तीसरे अध्याय में पेश किया है।

नेतृत्व की जिस शैली की बात बेतेलहाइम कर रहे हैं, इतिहास किसी भी हिरावल पार्टी को उस रूप में नेतृत्व करने का विलासितापूर्ण विशेषाधिकार नहीं देता है, चाहे वैसा कोई गृहयुद्ध न भी हो, जिसका सामना रूसी क्रान्ति और रूसी सर्वहारा सत्ता को अपनी शैशवावस्था में ही करना पड़ा। बेतेलहाइम लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्तों का भी अपनी चिर-परिचित शैली में आदर्शीकरण करते हैं और वास्तविक व्यवहार में बोल्शेविक पार्टी के उस आदर्शीकृत पैमाने पर खरे न उतरने पर यह फैसला देते हैं कि बोल्शेविक पार्टी हर-हमेशा लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों को लागू नहीं कर पायी!

पार्टी के भीतर राजनीतिक व विचारधारात्मक संघर्ष की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि जनवादी केन्द्रीयता का लेनिनवादी उसूल यह है कि अधिकतम सम्भव बहस और चर्चाओं के बाद कार्यदिशा का निर्धारण और कार्यदिशा के निर्धारित हो जाने के बाद अधिकतम सम्भव अनुशासन के साथ उसका कार्यान्वयन। लेकिन उनका मानना है कि यह उसूल क्रान्ति के कुछ वर्षों बाद तक ही लागू हो पाया। इस दावे की असलियत पर हम आगे विचार करेंगे। लेकिन सबसे पहले बेतेलहाइम द्वारा स्तालिन को ग़लत रोशनी में पेश करने के लिए तथ्यों के साथ की गयी बदसलूकी की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है।

फरवरी से अक्टूबर के बीच पार्टी में जारी दो लाइनों के संघर्ष की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि स्तालिन और कामेनेव 'राष्ट्र की रक्षा' की कार्यदिशा को अपनाते हुए बुर्जुआ आरज़ी सरकार का समर्थन कर रहे थे, जबकि लेनिन की कार्यदिशा इस बुर्जुआ आरज़ी सरकार के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति की शुरुआत करने की थी। यह तथ्य बिल्कुल ग़लत है। यह सही है कि लेनिन के रूस आने और 'अप्रैल थीसिस' के प्रकाशन के पहले बोल्शेविक पार्टी में आरज़ी सरकार के प्रति रुख़ को लेकर भ्रम की स्थिति बनी हुई थी। लेकिन बोल्शेविक नेतृत्व में केवल एक प्रमुख नेता राष्ट्र-रक्षा और आरज़ी सरकार के खुले समर्थन की बात कर रहा था, वह थे कामनेव। स्तालिन ने लेनिन की 'अप्रैल थीसिस' आने के समय तक आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ समाजवादी क्रान्ति की कार्यदिशा को नहीं अपनाया था। उनकी कार्यदिशा यह थी कि फिलहाल आरज़ी सरकार का समर्थन भी नहीं किया जाना चाहिए और उसके विरुद्ध आम बग़ावत की बात करना भी अपरिपक्वता होगी। **स्तालिन और कामनेव, दोनों ही 'प्राव्दा' के सम्पादक मण्डल में थे, जिसमें कि कामनेव अकेले आरज़ी सरकार के समर्थन की बात कर रहे थे और स्तालिन व मुरानोव ने इस अवस्थिति का पुरज़ोर विरोध किया था।** स्तालिन का मानना था कि युद्ध में रूस की भागीदारी को जारी रखने के प्रश्न पर आरज़ी सरकार की मुख़ालफ़त की जानी चाहिए और केवल उन मुद्दों पर आरज़ी सरकार को बाशर्त समर्थन दिया जाना चाहिए जिन पर आरज़ी सरकार मज़दूर वर्ग को लाभ पहुँचाने वाले कदम उठा रही है। इस कार्यदिशा के पीछे स्तालिन

की सोच यह थी कि पार्टी अपने लिए कुछ मोहलत ले और इस बीच 'ज़िम्मरवॉल्ड-कियेन्थेल' लाइन के समर्थन में खड़े सभी सामजिक-जनवादियों को एकजुट करे और उसके बाद समाजवादी क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़े। **लेकिन स्तालिन फरवरी से लेकर अक्टूबर तक एक बार भी राष्ट्र-रक्षा की कार्यदिशा के पक्ष में नहीं थे, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं। इसके पक्ष में वह कोई प्रमाण भी नहीं रखते। यह स्तालिन के विषय में इतिहास का विकृतिकरण नहीं तो और क्या है?** इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्तालिन की अवस्थिति इस प्रश्न पर एक सटीक अवस्थिति नहीं थी। लेकिन इसका एक कारण यह भी था कि लेनिन के रूस वापस आने से पहले अभी बोल्शेविक पार्टी में कोई भी इस स्पष्ट अवस्थिति पर नहीं था कि फरवरी क्रान्ति के बाद दोहरी सत्ता के पैदा होने के साथ समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आ चुकी है। लेकिन जहाँ तक आरज़ी सरकार के बिना शर्त समर्थन का प्रश्न है, कामनेव को छोड़कर किसी भी मुख्य बोल्शेविक नेता की यह अवस्थिति नहीं थी। स्तालिन पर यह दोष मढ़ना एक झूठ का प्रचार करना है। स्तालिन ने बाद में अपनी ग़लत अवस्थिति के लिए आत्मालोचना करते हुए इसके कारणों की चर्चा इस प्रकार की थी:

"पार्टी–पार्टी की बहुसंख्या ने–...शान्ति के प्रश्न पर सोवियतों द्वारा आरज़ी सरकार पर दबाव बनाने की नीति अपनायी थी, और इसने सर्वहारा वर्ग और किसानों की तानाशाही के पुराने नारे से सोवियतों को सत्ता हस्तान्तरित करने के नये नारे की ओर कदम बढ़ाने का निर्णय तुरन्त नहीं लिया था। इस आधी-अधूरी नीति का इरादा था कि सोवियतों को शान्ति के ठोस प्रश्नों पर आरज़ी सरकार की साम्राज्यवादी प्रकृति को पहचानने और अपने आपको उससे अलग करने का अवसर मिले। लेकिन यह भयंकर रूप से ग़लत अवस्थिति थी क्योंकि यह शान्तिवादी विभ्रम को जन्म देती थी, रक्षावाद की लहर को ईंधन देती थी और जनसमुदायों के क्रान्तिकारी उभार को बाधित करती थी। मेरी यह ग़लत अवस्थिति अन्य पार्टी कॉमरेडों के साथ साझा थी और अप्रैल के मध्य में मैंने इसे पूर्ण रूप से त्याग दिया था जब मैंने लेनिन की थीसीज़ को अपना लिया था।" (ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-23'** खण्ड-1 में उद्धृत, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 76-77, *अनुवाद हमारा*) कार ने यह भी बतलाया है कि 'प्राव्दा' के सम्पादकीय मण्डल में जारी चर्चाओं में स्तालिन और मुरानोव ने राष्ट्र-रक्षा और आरज़ी सरकार के समर्थन का पुरज़ोर विरोध किया था (देखें पृ 76, *वही*)। स्तालिन द्वारा बाद में पेश की गयी आत्मालोचना पर भी बेतेलहाइम आपत्ति करते हैं क्योंकि स्तालिन ने इस आत्मालोचना में इस तथ्य का ज़िक्र किया था कि पार्टी के अधिकांश लोग लेनिन के आने से पहले समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की कार्यदिशा को अपनाने का साहस नहीं जुटा पाये थे। सामान्य तौर पर कहें तो अपनी इस रचना के पहले खण्ड में बेतेलहाइम एक ओर अगले खण्डों पर स्तालिन पर खुले हमले की ज़मीन तैयार करते हैं और दूसरी ओर वे हर सही लेनिनवादी कार्यदिशा को स्तालिन का आविष्कार बताते हुए उस पर हमला करते हैं। इस प्रक्रिया में न तो वह स्तालिन की ग़लतियों की सही पहचान और पड़ताल कर पाते हैं और न ही लेनिनवादी कार्यदिशा को पुष्ट कर पाते हैं। बल्कि सही कहें तो वह माओवादी कार्यदिशा का भी ग़लत विनियोजन करते हुए अपनी अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वामपन्थी" अवस्थितियों को माओ की कार्यदिशा के रूप में पेश करने का प्रयास करते हैं।

बेतेलहाइम संक्षेप में क्रान्ति के बाद समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों के साथ

साझा सरकार बनाने के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी में चली बहस और फिर ब्रेस्त-लितोव्स्क संधि को लेकर चली बहस की चर्चा करते हैं। इसमें साझा सरकार के प्रश्न पर चली बहस के प्रश्न पर बेतेलहाइम चलते-चलते बताते हैं कि ज़िनोवियेव, कामनेव और राइकोव साझा सरकार के पक्ष में थे, जबकि लेनिन एक पार्टी यानी कि बोल्शेविक पार्टी की सरकार के पक्ष में थे। यहाँ यह ब्यौरा चलते-चलते आया है लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि स्वयं उनका एक-पार्टी व्यवस्था पर क्या विचार है। हम ऊपर बता चुके हैं कि बेतेलहाइम का यह विचार था कि एक-पार्टी व्यवस्था की बजाय अगर सोवियत रूस में बहु-पार्टी व्यवस्था अपनायी गयी होती तो बोल्शेविक पार्टी के भीतर विच्युतियों और विचलनों के पैदा होने की कम गुंजाइश होती क्योंकि बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ पार्टियों द्वारा होने वाली आलोचना से बोल्शेविक पार्टी को सहायता मिलती! यही वह विचार है जिसे कई अन्य मेंशेविक और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों ने रखा था और जिसे आज के दौर में 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास जैसे राजनीतिक नौदौलतिये ले उड़े हैं और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त पर डगमगाये तमाम कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी समूह भी अपना रहे हैं। त्रासद है कि इस विषय में लेनिन के चिन्तन से या तो ऐसे लोग नावाकिफ़ हैं या फिर उसे सही ढंग से समझने में नाकाम रहे हैं। इसके बाद बेतेलहाइम ब्रेस्त-लितोव्स्क के बाद पार्टी के भी "वामपन्थी" कम्युनिस्ट गुट के निर्माण और उनसे चले संघर्ष का ब्यौरा देते हैं।

"वामपन्थी" कम्युनिस्टों से लेनिन का संघर्ष 1918 के शुरु में आरम्भ हुआ। इस गुट के नेताओं में बुखारिन व ओसिंस्की प्रमुख थे। इनका मानना था कि उन बुर्जुआ विशेषज्ञों के साथ सोवियत सत्ता का समझौता ग़लत था जो सोवियत सत्ता से बाशर्त सहयोग के लिए तैयार थे। उनका मानना था कि बुर्जुआ विशेषज्ञों को मिले विशेषाधिकार और साथ ही श्रम अनुशासन की नीति उन्हें मज़दूरों को दास बना देगी। उनके अनुसार, यदि मज़दूर अभी स्वयं समाजवाद के निर्माण के लिए तैयार नहीं हैं तो फिर उनके लिए *कोई और* समाजवाद का निर्माण नहीं कर सकता है। वे लेनिन की सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की नीति के ख़िलाफ़ थे। लेकिन लेनिन का मानना था कि समाजवाद का निर्माण रूसी क्रान्ति के सामने उपस्थित तात्कालिक प्रश्न नहीं है। तात्कालिक प्रश्न है टटपुँजिया बिखरे हुए उत्पादन की जगह बड़े पैमाने के उत्पादन की शुरुआत करना। इस कार्यभार में मज़दूर वर्ग स्वयं को सक्षम सिद्ध नहीं कर पाया था, जैसा कि कारखाना समितियों के प्रयोग से सिद्ध हुआ था। लेनिन का विचार था कि टटपुँजिया उत्पादन और मज़दूर वर्ग के अच्छे-ख़ासे में प्रभावी टटपुँजिया मनोवृत्ति का ख़ात्मा पहला तात्कालिक कार्यभार है और इसके लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की नीति सबसे मुफ़ीद है। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि जब तक सर्वहारा अधिनायकत्व सुरक्षित है, तब तक राजकीय पूँजीवाद से भयाक्रान्त होने की कोई आवश्यकता नहीं है और इसी के ज़रिये रूसी मज़दूर वर्ग समाजवाद के निर्माण के लिए तैयार होगा। इतिहास ने लेनिन की अवस्थिति को सही सिद्ध किया। मार्च 1918 में सातवीं पार्टी कांग्रेस में "वामपन्थी" कम्युनिस्ट गुट को निर्णायक रूप से परास्त कर दिया गया। लेकिन बेतेलहाइम कहते हैं कि इस समूह ने नौकरशाहाना केन्द्रीयता का प्रश्न उठाया था और बाद के तमाम विरोधी गुटों ने बार-बार इस प्रश्न को उठाया। यहाँ बेतेलहाइम इशारा करते हैं कि यह प्रश्न पार्टी में बार-बार इसलिए उठता रहा क्योंकि यह एक वैध प्रश्न था और पार्टी जनवादी केन्द्रीयता के उसूल से धीरे-धीरे प्रस्थान कर रही थी। लेकिन लेनिन की अवस्थिति यह थी कि यह प्रश्न तमाम गुटों ने उठाया क्योंकि पार्टी और साथ ही मज़दूर वर्ग के एक

हिस्से में टटपुँजिया रूमानी सोच और भाववादी दृष्टिकोण प्रभावी था, जोकि रूस में समाजवादी निर्माण के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने में नाकाम था। **बेतेलहाइम अपने अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वामपन्थी" दृष्टिकोण को आने से रोक नहीं पाते। बेतेलहाइम चलते-चलते यह भी कहते हैं कि "वामपन्थी" कम्युनिस्टों का प्रभाव कांग्रेस के बाद पार्टी में इसलिए भी घट गया क्योंकि पार्टी नेतृत्व ने सांगठनिक तरीकों को अपना कर काडरों का इस तरह से पार्टी के भीतर स्थानान्तरण किया कि उनका प्रभाव ख़त्म हो गया! यानी कि इस विरोधी गुट को हराने के लिए लेनिन ने सांगठनिक ज़रियों का इस्तेमाल किया, न कि राजनीतिक संघर्ष का। "वामपन्थी" कम्युनिस्टों की अवस्थितियों से बेतेलहाइम की हमदर्दी छिपाये नहीं छिपती है।** लेकिन चूँकि इस दौर में बेतेलहाइम को लेनिन और उनके नेतृत्व वाली बोल्शेविक पार्टी के पक्ष में भी कुछ बातें कहनी हैं, इसलिए वह अन्त में जोड़ देते हैं कि इस गुट से संघर्ष का इतिहास दिखलाता है कि बोल्शेविक पार्टी में अभी भी खुले विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष का 'स्पेस' था और उसके अन्दर आत्मालोचनात्मक क्षमता थी। इस टिप्पणी के पीछे भी बेतेलहाइम की भावी कार्ययोजना है। यह कार्ययोजना है 1921 की दसवीं पार्टी कांग्रेस में गुटों के निर्माण पर पाबन्दी और ख़ास तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद और स्तालिन के पार्टी के नेतृत्व में स्थापित होने के बाद बोल्शेविक पार्टी की यह आलोचना करना कि इस दौर के बाद बोल्शेविक पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता की जगह नौकरशाहाना केन्द्रीयता ने ले ली और बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष का 'स्पेस' समाप्त हो गया, पार्टी जनसमुदायों से रिश्ता खो बैठी, वगैरह।

●

इसके बाद बेतेलहाइम "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में पार्टी के भीतर चले विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्षों पर चर्चा करते हैं। इसमें सबसे पहले वह राष्ट्रीयता के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर मौजूद बहस पर विचार करते हैं। यहाँ पर हम बेतेलहाइम द्वारा सोवियत इतिहास के विकृतिकरण का एक प्रातिनिधिक नमूना देखते हैं। बेतेलहाइम यह दिखलाना चाहते हैं कि स्तालिन की कार्यदिशा राष्ट्रीयता के प्रश्न पर लेनिन से अलग थी। जहाँ लेनिन राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को पूर्ण रूप से लागू करना चाहते थे, वहीं स्तालिन महान रूसी राष्ट्रीय कट्टरपन्थ के शिकार थे! **यह साबित करने के चक्कर में बेतेलहाइम ने तथ्यों का ऐसा घालमेल किया है कि कोई भी गम्भीर इतिहासकार बेतेलहाइम के पूरे इतिहास-लेखन की भरोसेमन्दी पर गहरा शक़ करेगा। आइये देखें कि बेतेलहाइम ने किस प्रकार न सिर्फ़ विभिन्न तथ्यों को सन्दर्भ से काटकर गड्ड-मड्ड कर दिया है, बल्कि सिरे से ग़लत तथ्य भी पेश किये हैं।**

बेतेलहाइम लिखते हैं कि यूक्रेन में एक बोल्शेविक नेता स्क्राइपनिक के नेतृत्व में अप्रैल 1918 में एक सोवियत गणराज्य का गठन हुआ और इसके गठन के बाद स्क्राइपनिक ने स्तालिन द्वारा अलग यूक्रेनी सोवियत गणराज्य के स्थापना का कड़ा विरोध किया; बेतेलहाइम यह भी दावा करते हैं कि स्तालिन ने यह विरोध इस यूक्रेनी सोवियत गणराज्य के स्थापना के बाद तत्काल लेनिन द्वारा भेजे गये बधाई सन्देश के बावजूद किया! **अब अगर आप इस घटना को सोवियत रूस के इतिहास में ढूँढेंगे तो आपको बड़ी भारी निराशा हाथ लगेगी क्योंकि यूक्रेन में अप्रैल 1918 में किसी सोवियत गणराज्य के स्थापना की घोषणा नहीं हुई थी!** यूक्रेन में तीन बार सोवियत गणराज्य की स्थापना के प्रयास हुए और तीसरा प्रयास सफल

हुआ। इसका ब्यौरा हम अभी थोड़ी देर में देंगे लेकिन प्रश्न यह उठता है कि बेतेलहाइम को यह विचित्र सूचना कहाँ से मिली? जब आप उनकी सन्दर्भ टिप्पणियों को देखते हैं, तो आपको पता चलता है। **बेतेलहाइम को यह सूचना रॉय मेदवेदेव की कुख्यात पुस्तक *लेट हिस्ट्री* जज से मिलती है!** अगर आप इस तथ्य को सोवियत रूस के सबसे भरोसेमन्द और प्रातिनिधिक इतिहास-लेखन में खोजेंगे, जैसे कि ई.एच. कार, मॉरिस डॉब आदि तो आपको यह कहीं नहीं मिलेगा। अब यूक्रेन में सोवियत गणराज्य की स्थापना पर आते हैं। बोल्शेविक क्रान्ति के तुरन्त बाद नवम्बर में ही यूक्रेन की बुर्जुआ संसद राडा ने यूक्रेन को एक अलग गणराज्य घोषित कर दिया। इस बुर्जुआ यूक्रेनी सरकार का प्रधानमन्त्री था विनीचेंको और सैन्य मन्त्री था जनरल पेत्ल्यूरा। यूक्रेन में सोवियतें भी पैदा हो चुकी थीं यूक्रेन की बुर्जुआ सरकार ने गृहयुद्ध में खुले तौर पर श्वेत गार्डों का साथ देना शुरू कर दिया था। विनीचेंको राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के बोल्शेविक सिद्धान्त का लाभ उठा रहा था। कई अन्य छोटे गणराज्यों की बुर्जुआज़ी भी ऐसा प्रयास कर रही थी और इसी वजह से स्तालिन और लेनिन के बीच राष्ट्रीयता के प्रश्न को लेकर बहस भी हुई थी, जिसमें स्तालिन ने यह दलील पेश की थी कि राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को समाजवाद के हितों के मातहत रखा जाना चाहिए और हमें इसे हर देश के मेहनतकश अवाम द्वारा आत्मनिर्णय का अधिकार मानना चाहिए; इसके जवाब में लेनिन ने यह पूछा कि जिन देशों में वर्गों के बीच का राजनीतिक विभेदीकरण स्पष्ट नहीं है और जनवादी क्रान्ति की मंज़िल है और जहाँ मेहनतकश वर्ग बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में चल रहे हैं, वहाँ इस सिद्धान्त को कैसे लागू किया जायेगा? स्तालिन का मानना था कि जिन देशों में मज़दूर वर्ग का राजनीतिक आन्दोलन बुर्जुआ वर्ग से अलग संगठित है कम-से-कम वहाँ राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का बुर्जुआ वर्ग को प्रतिक्रान्तिकारी इस्तेमाल करने की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। राष्ट्रीयता के मसलों के कमिसार के तौर पर गृहयुद्ध के दौरान विभिन्न राष्ट्रीयताओं की बुर्जुआज़ी से स्तालिन को सीधे तौर पर निपटना पड़ रहा था, जो कि अक्सर देनीकिन, कोल्चाक और रैंगल का साथ दे रही थीं, या फिर जर्मन या पोलिश साम्राज्यवादियों का। **ऐसे में, स्तालिन की अवस्थिति लेनिन से गुणात्मक तौर पर भिन्न नहीं थी, लेकिन निश्चित तौर पर उसमें कुछ फर्क था।** इस विवाद पर हम विस्तार से उपयुक्त अध्याय में चर्चा करेंगे। लेकिन अभी हम यूक्रेन के बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत काल्पनिक इतिहास पर लौटते हैं।

बेतेलहाइम के दावों के विपरीत यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना का पहला प्रयास दिसम्बर 1917 में हुआ जब राडा के विरुद्ध यूक्रेनी बोल्शेविकों ने कियेव से हटकर खारकोव में एक सोवियत कांग्रेस की और एक सोवियत कार्यकारी समिति का निर्माण किया और पेत्रोग्राद की बोल्शेविक सोवियत सरकार को टेलीग्राम भेजा कि उन्होंने यूक्रेन में सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया है। फरवरी 1918 में राडा की सरकार को उखाड़ फेंका गया और पहले यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना का एलान किया गया। लेकिन यह गणराज्य मात्र तीन सप्ताह तक टिका। यूक्रेनी बुर्जुआ वर्ग ने जर्मनी की मदद माँगी और जर्मनी ने यूक्रेन पर हमला करके सोवियत गणराज्य को समाप्त कर दिया और वहाँ राडा के शासन की पुनर्स्थापना कर दी। अप्रैल 1918 में राडा की सरकार को गिराकर जर्मनी ने वहाँ स्कोरोपैड्स्की नामक एक व्यक्ति के मातहत अपनी कठपुतली सरकार बिठा दी। इस नयी सरकार ने यूक्रेन के किसानों और मज़दूरों का भयंकर दमन शुरू किया और जल्द ही इसके ख़िलाफ़ यूक्रेनी जनता में विद्रोह की स्थिति पैदा हो गयी। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की सैन्य पराजय के साथ इस

सरकार का पतन हुआ और फिर से यूक्रेनी बुर्जुआ राष्ट्रवादियों की सरकार राडा के तहत बन गयी। लेकिन 29 नवम्बर 1918 को प्याताकोव के नेतृत्व में फिर से सोवियत गणराज्य की स्थापना हुई। बाद में रैकोव्स्की इस नये सोवियत गणराज्य के प्रमुख बने। मार्च 1919 में यूक्रेनी सोवियत गणराज्य का संविधान बना जो कि काफ़ी कुछ सोवियत रूस के संविधान जैसा ही था। बाद में सितम्बर 1919 में देनीकिन की सेनाओं ने हमला किया और कियेव एक बार फिर हाथ से निकल गया। यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना का दूसरा प्रयास असफल हो गया। लेकिन दिसम्बर 1919 में बोल्शेविकों ने देनीकिन की सेनाओं को निर्णायक रूप से परास्त कर दिया और कियेव पर फिर से कब्ज़ा कर लिया। यह तीसरा और अन्तिम प्रयास था जिसके बाद रैकोव्स्की के नेतृत्व में यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना हो गयी। विभिन्न प्रतिक्रियावादी ताक़तों के प्रतिरोध को यूक्रेन में अगस्त 1921 तक निर्णायक रूप से कुचल दिया गया। स्क्राइपनिक कभी भी यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की सरकार के प्रमुख नहीं थे, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं! **बेतेलहाइम का यह इतिहास-लेखन सोवियत इतिहास के विद्यार्थियों के लिए ख़तरनाक है! स्क्राइपनिक एक यूक्रेनी बोल्शेविक थे जिन्होंने बारहवीं पार्टी कांग्रेस (1923) और चौदहवीं पार्टी कांग्रेस (1925) में पार्टी के भीतर महान रूसी भावना पर बात रखी थी और उनके समर्थन में रैकोव्स्की के साथ-साथ स्तालिन ने भी एक लम्बा बयान दिया था।** स्तालिन द्वारा सोवियत संघ की स्थापना के ठीक पहले और बाद में राष्ट्रों के बीच मौजूद असमानता को समाप्त करने के प्रयासों और उनके विचारों के लिए आप ई.एच. कार की पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-23' के खण्ड-1 के पृष्ठ 364 से 379 तक का सन्दर्भ देख सकते हैं।

बेतेलहाइम इसके ठीक बाद रॉय मेदवेदेव की किताब को अपना प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ बनाकर कई काल्पनिक तथ्य पेश करते हैं। जैसे कि यह तथ्य कि पार्टी में एक अघोषित सैन्य विरोध गुट मौजूद था जिसके सदस्य वोरोशिलोव, यारोस्लाव्स्की, कामेंस्की और *मिलिन (इस व्यक्ति का कोई सन्दर्भ आपको सोवियत रूस के अन्य इतिहास-लेखन में नहीं मिलेगा)* थे और ये सभी स्तालिन के बहुत करीब थे। इन लोगों ने सेना में बुर्जुआ विशेषज्ञों का विरोध किया था। **ऐसे किसी विरोधी गुट का कोई सन्दर्भ आपको कहीं नहीं मिलेगा, सिवाय बेतेलहाइम और रॉय मेदवेदेव के!** इसके बाद बेतेलहाइम दावा करते हैं कि स्तालिन को 'रिवोल्यूशनरी वॉर काउंसिल ऑफ दि सदर्न फ्रण्ट' से हटा दिया गया था क्योंकि वह त्सारित्सिन मोर्चे पर इस सैन्य विरोधी गुट के पक्ष में निर्णय ले रहे थे और पार्टी के नेतृत्व के निर्देशों को अमल में नहीं ला रहे थे। इसके बाद बेतेलहाइम आठवीं कांग्रेस में लेनिन द्वारा दिये गये एक *अप्रकाशित* भाषण की चर्चा करते हैं, जिसमें स्तालिन को लेनिन ने काफ़ी खरी-खोटी सुनायी थी! **इन सभी सूचनाओं का सिर्फ़ एक ही स्रोत है: रॉय मेदवेदेव! न तो ई.एच.कार की पुस्तक में इसकी कोई चर्चा मिलती है, न डॉब की और न ही किसी अन्य पार्टी स्रोत में!** निश्चित तौर पर एक सैन्य विरोध पक्ष मौजूद था जो कि त्रात्स्की द्वारा गृहयुद्ध के दौरान सेना में पुराने विशेषज्ञों की भर्ती का विरोध कर रहा था। लेकिन किसी भी स्रोत में आपको स्तालिन की इस गुट से करीबी का कोई सन्दर्भ नहीं मिलेगा। यह रिश्ता रॉय मेदवेदेव और चार्ल्स बेतेलहाइम का आविष्कार है! स्तालिन को किसी मोर्चे से असफलता या पार्टी निर्देशों के उल्लंघन की वजह से हटाये जाने का भी कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। हाँ, ऐसी घटनाओं का ज़िक्र ज़रूर मिलता है कि स्तालिन को किसी अन्य जगह ज़्यादा ज़रूरत होने के कारण पुरानी ज़िम्मेदारी से हटाया गया हो। **लेकिन बेतेलहाइम न सिर्फ़ स्तालिन पर कीचड़**

उछालने का कोई अवसर नहीं गँवाते, बल्कि कोई अवसर न होने पर अवसर "पैदा" भी कर लेते हैं। अफ़सोस की बात यह है कि बेतेलहाइम यह सारा कार्य माओ के "सच्चे शिष्य" के चोगे में करते हैं।

आठवीं कांग्रेस और उसमें जनवादी केन्द्रीयता के लिए संघर्ष के प्रश्न को भी बेतेलहाइम ने नौवीं कांग्रेस में हुई बहस के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया है। बेतेलहाइम का कहना है कि "वामपन्थी" विरोध पक्ष की अवस्थितियों को कांग्रेस में स्मिर्नोव, ओसिंस्की व साप्रोनोव ने रखा और उनकी मुख्य आपत्ति कारखानों के प्रबन्धन में बुर्जुआ विशेषज्ञों को शामिल करने पर थी और साथ ही ये लोग केन्द्रीय कमेटी में मज़दूरों को शामिल करने और जनवादीकरण की बात कर रहे थे। लेकिन तथ्य इससे काफ़ी भिन्न हैं। वास्तव में, यह मसला मुख्य तौर पर नौवीं कांग्रेस में उठा था जिसमें कि "डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म" नामक समूह ने एक व्यक्ति वाले प्रबन्धन की व्यवस्था का विरोध किया था। आठवीं कांग्रेस में ओसिंस्की ने जिस बात की आलोचना की थी उसके निशाने पर लेनिन और स्वेर्दलोव थे, जिनकी कांग्रेस के शुरू होने के ठीक पहले मृत्यु हो गयी थी। ओसिंस्की का कहना था कि पार्टी का राजनीतिक कार्य केन्द्रीय कमेटी और उसमें भी लेनिन और स्वेर्दलोव के बीच अति-केन्द्रीकृत हो गया है, जो कि आपसी चर्चा से अहम निर्णय ले लेते हैं। इस आलोचना पर लम्बी चर्चा के बाद पार्टी ने अर्थव्यवस्था और राज्य उपकरण में बिखराव को रोकने और गृहयुद्ध की आपात स्थितियों से निपटने के लिए केन्द्रीकरण को बढ़ाने और पार्टी के नियन्त्रण को और मज़बूत करने का निर्णय लिया और इस कांग्रेस में "वामपन्थी" विपक्ष की निर्णायक पराजय हुई। इस कांग्रेस में अभी केन्द्रीय कमेटी के संघटन का मुद्दा अहम बन ही नहीं पाया था और मज़दूरों को केन्द्रीय कमेटी में शामिल करने का सवाल बाद में उपस्थित हुआ था, जैसा कि बेतेलहाइम ने लिखा है।

दूसरी बात यह कि लेनिन ने चार वर्ष बाद ओसिंस्की या स्मिर्नोव की बात को स्वीकार करते हुए या दुहराते हुए यह नहीं कहा था कि केन्द्रीय कमेटी में मज़दूरों को शामिल किया जाना चाहिए, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं। लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी को मृत्यु से पहले और विस्तारित और बड़ा करने की बात कही थी, जिसका मुख्य कारण समकालीन सन्दर्भ में था। 1923 तक सोवियत सत्ता स्थिरीकृत और सुदृढ़ हो चुकी थी। 1922 और 1923 में खेती में उत्पादन बढ़ा था और आर्थिक संकट सम्भलने लगा था। लेनिन उस समय इस बात की ज़रूरत महसूस कर रहे थे कि गृहयुद्ध और विदेशी सैन्य घेरेबन्दी की आपात स्थितियों के गुज़रने के बाद पार्टी को कतारों और आम जनसमुदायों के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण, पार्टी के भीतर अधिक जनवाद और ज़िम्मेदारियों के विस्तार पर ध्यान देना चाहिए। लेनिन का मानना था कि राजनीतिक चेतना का स्तर जितना ऊपर उठेगा पार्टी में जनवाद और केन्द्रीयता के बीच उतना ही सही द्वन्द्वात्मक तालमेल स्थापित होगा। बेतेलहाइम यहाँ लेनिन की पूरी अवस्थिति को तोड़-मरोड़ रहे हैं और साथ ही सन्दर्भों से उसे काटकर लेनिन को एक "वामपन्थी" कम्युनिस्ट में तब्दील करने की कोशिश कर रहे हैं। **लेनिन की ऐसी तस्वीर पेश की जा रही है मानो उन्हें तमाम अराजकतावाद-संघाधिपत्यवादियों, "वामपन्थी" विपक्षों की बात देर से समझ में आयी!**

बेतेलहाइम तथ्यों के विकृतिकरण की अपनी परियोजना को आगे बढ़ाते हुए दावा करते हैं कि आठवीं कांग्रेस में अपनाये गये नये कार्यक्रम के आर्थिक हिस्से के बिन्दु 5 में ट्रेड यूनियनों को आर्थिक प्रबन्धन में अधिक भूमिका, ज़िम्मेदारी और अधिकार देने

का प्रावधान "वामंपथी" विपक्ष के दबाव में किया गया था। यह कथन पूर्णतः ग़लत है और दिखलाता है कि सोवियत रूस के इतिहास का बेतेलहाइम का प्रस्तुतिकरण अनैतिहासिक और तथ्यतः अपूर्ण है। नये पार्टी कार्यक्रम ने "वामपन्थी" विपक्ष की अवस्थिति को पूरी तरह ठुकरा दिया था और यह कार्यक्रम के दो प्रमुख पहलुओं में देखा जा सकता है। पहली बात तो यह कि पार्टी कार्यक्रम ने बुर्जुआ विशेषज्ञों को आर्थिक प्रबन्धन में केन्द्रीय स्थान देने की हिमायत की थी, जो कि "वामपन्थी" विपक्ष की अवस्थिति को पुरज़ोर नकार था। निश्चित तौर पर, एक व्यक्ति वाले प्रबन्धन और बुर्जुआ विशेषज्ञों को केन्द्रीय स्थान देने वाली औद्योगिक प्रबन्धन की प्रणाली पर कम्युनिस्ट कमिसारों का नियन्त्रण होता था। दूसरा प्रमुख पहलू था ट्रेड यूनियनों को आर्थिक प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी देना और साथ ही ट्रेड यूनियनों के सोवनार्कोम व वेसेंखा के साथ करीबी तालमेल में काम करने पर ज़ोर दिया जाना। बेतेलहाइम का मानना है कि यह "वामपन्थी" कम्युनिस्टों के प्रभाव को दिखलाने वाला बिन्दु था! वास्तव में, यह उसके बिल्कुल विपरीत था। ट्रेड यूनियनों को 1919 की पार्टी कांग्रेस में अपनाये गये नये कार्यक्रम में जो भूमिका सौंपी गयी थी, वह काफ़ी हद तक एक सरकारी निकाय के तौर पर श्रम अनुशासन को स्थापित करने और बुर्जुआ विशेषज्ञों के साथ तालमेल स्थापित करते हुए काम करने के लिए सौंपी गयी थी। दूसरी बात यह कि ट्रेड यूनियनों को यह भूमिका इसलिए सौंपी गयी थी क्योंकि कारखाना समितियों की तुलना में वे ज़्यादा व्यापक औद्योगिक संगठन थे जो कि पूरे के पूरे उद्योग की इकाई में काम करते थे। "वामपन्थी" कम्युनिस्ट कारखाना समितियों के आन्दोलन के हिमायती रहे थे। बाद में "डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म" समूह के सदस्य भी कारखाना समितियों द्वारा कारखानों के नियन्त्रण के हिमायती रहे थे। कारखाना समिति आन्दोलन के बुरी तरह से असफल होने के बाद नियन्त्रण के उपकरण के तौर पर ट्रेड यूनियनों को ज़िम्मेदारियाँ सौंपने का फैसला लिया गया, हालाँकि इस पर विचार पार्टी के भीतर पहले से ही चल रहा था। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ट्रेड यूनियनों को यह भूमिका सौंपने पर राज़ी था लेकिन वह ट्रेड यूनियनों को सरकार और पार्टी से पूर्ण स्वायत्तता देने की बात करता था। आठवीं कांग्रेस में अपनाये गये जिस आर्थिक कार्यक्रम की बात बेतेलहाइम कर रहे हैं उस समय तक 'वर्कर्स अपोज़ीशन' समूह से बहस शुरू भी नहीं हुई और अभी इस समूह का निर्माण भी नहीं हुआ था। **"वामपन्थी" कम्युनिस्टों से इस कांग्रेस में पुरज़ोर बहस हुई थी और ट्रेड यूनियनों को आर्थिक प्रबन्धन में अहम भूमिका सौंपने का फैसला उनके दबाव में नहीं बल्कि उनके विरोध में लिया गया था।** इस दौर में लेनिन ने स्वयं ट्रेड यूनियनों की सरकारी भूमिका पर बल दिया था। **बेतेलहाइम आठवीं कांग्रेस की एक ग़लत तस्वीर पेश करते हैं ताकि "वामपन्थी" कम्युनिस्ट विपक्ष को सही ठहराया जा सके और यह दिखलाया जा सके कि इनकी अवस्थितियों को ही बाद में लेनिन ने बिना श्रेय दिये अपना लिया था। यह तथ्यतः भी ग़लत है और लेनिन की अवस्थिति का भयंकर विकृतिकरण है।**

"वामपन्थी" कम्युनिस्ट विपक्ष की पराजय के बाद बेतेलहाइम "डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म" समूह के साथ विवाद का प्रश्न उठाते हैं। और इसके साथ ही मार्च 1920 की नौवीं पार्टी कांग्रेस में त्रात्स्की-बुखारिन के दक्षिणपन्थी भटकाव के साथ लेनिन के संघर्ष का ब्यौरा भी देते हैं। इसमें भी तथ्यों की ज़बरदस्त हेर-फेर है। मिसाल के तौर पर, त्रात्स्की और बुखारिन के "श्रम के सैन्यकरण" की थीसिस का प्रस्तुतिकरण ईमानदारी के साथ नहीं किया गया है; निश्चित तौर पर, लेनिन ने त्रात्स्की व बुखारिन की अवस्थितियों की कड़ी आलोचना की थी

और कहा था कि युद्ध की आपात स्थितियों में सर्वहारा अधिनायकत्व की रक्षा के लिए उठाये गये कदमों के अलावा ऐसे कदमों को समाजवादी संक्रमण की आम नीति कतई नहीं बनाया जा सकता है। **बुखारिन की पुस्तक *इकोनॉमिक्स ऑफ दि ट्रांज़िशनल पीरियड* को बेतेलहाइम इस दक्षिणपन्थी थीसिस की प्रातिनिधिक कृति मानकर पूरी तरह से ख़ारिज कर देते हैं। लेकिन बेतेलहाइम यह तथ्य बताना आवश्यक नहीं समझते हैं कि लेनिन का इस पुस्तक के बारे में यह दृष्टिकोण नहीं था और लेनिन इसमें सुझायी गयी कई नीतियों को आम तौर पर सही मानते थे।** लेकिन लेनिन का यह मानना ज़रूर था कि इनमें से कई नीतियों को समकालीन समाजवादी रूस में लागू कर पाना सम्भव नहीं था; मिसाल के तौर पर, मुद्रा का इस हद तक अवमूल्यन करना कि उसकी प्रासंगिकता समाप्त हो जाये और उसके बाद वस्तुओं का राजकीय वितरण होने लगे। लेनिन का मानना था कि फिलहाल रूस में यह सम्भव नहीं है और अभी पहले बाज़ार की प्रणाली के द्वारा गाँवों और शहरों के बीच टूट चुके विनिमय को पुनर्स्थापित करना होगा, जिसके लिए खाते-पीते किसानों को भी पूँजीवादी छूटें देनी होंगी। लेनिन यह भी मानते थे कि बुखारिन की पुस्तक समाजवादी संक्रमण के आम नियमों के बारे में कई मार्के की बातें कहती है। लेकिन बेतेलहाइम ने इन तथ्यों का ज़िक्र किये बिना उस पर अपनी काल्पनिक अवधारणाएँ थोप दी हैं; **जैसे कि बेतेलहाइम दावा करते हैं कि त्रात्स्की व बुखारिन का मानना था कि क्रान्ति के बाद पार्टी मज़दूर वर्ग की हिरावल से उसको नियन्त्रित करने वाली एक श्रेष्ठतर शक्ति में तब्दील हो जाती है! अगर आप त्रात्स्की और बुखारिन की उस दौर की रचनाओं में उनकी पूरी थीसिस को पढ़ें तो आप पाते हैं कि उन्होंने ऐसा कहीं भी नहीं कहा था।** निश्चित तौर पर, ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर, मज़दूर वर्ग के आत्मानुशासन और श्रम के सैन्यकरण के प्रश्न पर उनकी थीसिस एकदम ग़लत थी और यह पार्टी की अगुवा भूमिका को और क्रान्ति में मज़दूर वर्ग की अगुवा भूमिका को नहीं समझती थी। यही कारण है कि उनकी थीसिस दक्षिणपन्थी होने के साथ-साथ वामपन्थी दुस्साहसवादी व हिरावलपन्थी थीसिस भी थी, जिस पहलू को बेतेलहाइम नहीं समझ पाते हैं। नवीं कांग्रेस में और उसके बाद के दौर में त्रात्स्की और बुखारिन का विपक्ष निर्णायक तौर पर पराजित हुआ। केवल नवीं कांग्रेस में ही इस विपक्ष की पराजय का सिलसिला पूरा नहीं हुआ था। वास्तव में, त्रात्स्की ने ट्रेड यूनियनों पर अपनी पूरी थीसिस नवीं कांग्रेस के बाद रखी थी और इस पर लेनिन के पक्ष के साथ खुली बहस भी वास्तव में नवीं और दसवीं कांग्रेस के बीच चली थी। यह बहस तमाम ट्रेड यूनियन कांग्रेसों व सम्मेलनों में और साथ ही बोल्शेविक मुखपत्रों में चली थी। यही कारण था कि दसवीं कांग्रेस तक त्रात्स्की का पक्ष निर्णायक रूप से परास्त हो चुका था और दसवीं कांग्रेस में लेनिन की आलोचना का मुख्य निशाना त्रात्स्की का गुट नहीं बल्कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' था। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' समूह ने ठोस रूप ही नवीं कांग्रेस के बाद ग्रहण किया था और ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर विवाद की शुरुआत वास्तव में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' और त्रात्स्की के बीच हुई थी, जिसमें पहला गुट अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के छोर पर था तो दूसरा समूह दक्षिणपन्थी-वामपन्थी दुस्साहसवाद और हिरावलपन्थ के छोर पर। लेनिन ने इन दोनों गुटों से अलग अपनी पूरी कार्यदिशा दसवीं कांग्रेस में रखी और पार्टी ने उसे अनुमोदित किया। इस पूरे विवाद के बारे में विस्तार से जानने के लिए तीसरे अध्याय को देखें ('दिशा सन्धान', अंक-1, अप्रैल-जून, 2013, पृ. 43-59)।

लेकिन बेतेलहाइम सारे तथ्यों को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। मिसाल के तौर पर,

बेतेलहाइम मानते हैं कि 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' गुट ने मुख्य तौर पर पार्टी के बीच प्राधिकारवाद और ग़ैर-जनवादी तौर-तरीकों का मुद्दा उठाया था और उनके दबाव के कारण एक नियंत्रण आयोग का गठन किया गया था। यह पूरा तथ्य ही ग़लत है। पहली बात तो यह कि नवीं कांग्रेस में इस गुट की प्रमुख आपत्ति एक-व्यक्ति वाले प्रबन्धन को उद्योगों में लागू किये जाने पर थी, अन्य बातें परिधिगत थीं। दूसरी बात यह कि न तो नवीं पार्टी कांग्रेस में कोई नियन्त्रण आयोग गठित किया गया था और न ही बाद में इसे इस गुट के दबाव में गठित किया गया था। यह आयोग 1920 की गर्मियों के अन्त में बनाया गया था। वैसे भी, अगर 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' गुट के दबाव में यह आयोग बना होता तो उसकी ज़िम्मेदारी मुख्य तौर पर द्ज़र्जेंस्की, प्रियोब्रेज़ेंस्की और मुरानोव को न सौंपी जाती। वास्तव में, इस नियन्त्रण आयोग को बनाये जाने का कारण पार्टी के भीतर कतारों और मज़दूर इकाइयों में गृहयुद्ध के दबाव में लागू किये गये अति-केन्द्रीकरण और अति-अनुशासन के प्रति असन्तोष था, जिसके कारण कई इकाइयाँ पार्टी निर्देशों को नज़रन्दाज़ कर रही थीं और साथ ही कई जगहों पर पार्टी पदाधिकारी ग़ैर-जनवादी तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर रहे थे। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इस प्रश्न पर 1920 की गर्मियों में पेश की गयी अपनी रिपोर्ट पर विचार किया था और इसी के बाद यह आयोग बनाया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य था पार्टी के नेतृत्व और कतारों के बीच अधिक जीवन्त रिश्ते को स्थापित करना और इसीलिए जिस सर्कुलर से इस आयोग ने अपना काम शुरू किया उसमें पार्टी सदस्यों को अपनी शिकायतों और सुझावों को दर्ज़ कराने के लिए आमन्त्रित किया गया था।

'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पूरी थीसिस की प्रस्तुति में भी बेतेलहाइम बड़ी भूलें करते हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम के अनुसार 'वर्कर्स अपोज़ीशन' कारखाना समितियों की भूमिका को बढ़ाना चाहता था। वास्तव में, इस गुट का पूरा ज़ोर ट्रेड यूनियनों की भूमिका को बढ़ाने और सरकार की ज़िम्मेदारियाँ उन्हें स्वायत्त तौर पर सौंप दिये जाने पर था। इस प्रकार की कई छोटी-बड़ी तथ्यात्मक भूलें बेतेलहाइम के ब्यौरे में मिलती हैं। **लेकिन सबसे अहम बात यह है कि बेतेलहाइम 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म', 'वर्कर्स अपोज़ीशन' और "वामपन्थी" कम्युनिस्ट गुट की अवस्थितियों से अपनी हमदर्दी छिपा नहीं पाते हैं।** निश्चित तौर पर कोई भी लेनिनवादी-माओवादी त्रात्स्की और बुखारिन की उस दौर की अवस्थितियों से सहमत नहीं हो सकता है। लेकिन यह मानना होगा कि अगर 'वर्कर्स अपोज़ीशन' आदि जैसे गुटों की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थितियों से तुलना करें तो लेनिन की अवस्थिति बुखारिन और त्रात्स्की के ज़्यादा नज़दीक पड़ती थी। इसका कारण यह है कि त्रात्स्की और बुखारिन की ग़लती मुख्यत: पार्टी को अचूक और अमोघ संस्था के तौर पर पेश करने में निहित थी, जबकि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' आदि जैसे गुटों की ग़लती पार्टी की भूमिका को नकारने या नज़रन्दाज़ करने में निहित थी; दूसरे शब्दों में, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का ज़ोर हमेशा की तरह स्वत:स्फूर्ततावाद पर था और सचेतनता के कारक का वे नकार कर रहे थे, जबकि त्रात्स्की व बुखारिन की अवस्थिति में मनोगत कारकों पर अतिशय ज़ोर था और वस्तुगत सन्दर्भ का सन्तुलित मूल्यांकन नहीं था। **लिहाज़ा, लेनिन इन दोनों अवस्थितियों का नकार करते हुए भी हमेशा की तरह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद से अपेक्षाकृत कहीं ज़्यादा दूर खड़े थे। बेतेलहाइम ने इस पूरी सच्चाई को उलट दिया है और लेनिन को अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का गुप्त शुभचिन्तक बना दिया है! वास्तव में, बेतेलहाइम स्वयं**

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के गुप्त हमदर्द हैं, और तमाम प्रयासों के बावजूद वे अपनी हमदर्दी को लेनिन के शब्दों में 'तमाम विवादों की दरारों से रिसकर टपक पड़ने' से रोक नहीं पाते हैं।

इसके बाद बेतेलहाइम 'युद्ध कम्युनिज़्म' के अन्त और 'नेप' की शुरुआत के दौर में पार्टी के भीतर चले विचारधारात्मक संघर्षों की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार 1920-21 के विवादों के बाद पार्टी में दो परिवर्तन आये। पहला था त्रात्स्की की कार्यदिशा की पराजय, हालाँकि त्रात्स्की की कार्यदिशा पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान स्तालिन द्वारा फिर से पुनर्जीवित कर दी गयी। दूसरा परिवर्तन था पार्टी में दसवीं कांग्रेस के बाद खुले बहस-मुबाहिसे की बोल्शेविक संस्कृति से विच्छेद क्योंकि इस कांग्रेस के बाद विभिन्न विपक्षी धड़ों ने अपनी आलोचनाएँ खुले तौर पर रखना बन्द कर दिया। ये दोनों ही दावे कम-से-कम अंशत: ग़लत हैं और एक विशेष रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। **पहली बात तो यह है कि त्रात्स्की की ट्रेड यूनियनों और राज्य सत्ता के सम्बन्ध के विषय में समझदारी को बिना वजह स्तालिन पर थोप दिया गया है।** पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान क्या हुआ था और क्या ट्रेड यूनियनें राज्य सत्ता के प्रति दासवत् बना दिये जाने के कारण सुषुप्त हो गयी थीं, या फिर ट्रेड यूनियनें सुषुप्त हुई थीं या नहीं, या फिर उस दौर में ट्रेड यूनियनों और राज्य के सम्बन्ध में लेनिन की थीसिस प्रभावी थी या नहीं, इस विषय पर हम विस्तार से बाद में उपयुक्त स्थान पर अपनी बात रखेंगे। लेकिन यह कहना तथ्यत: ग़लत है कि पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान त्रात्स्की की कार्यदिशा स्तालिन ने अपना ली थी। आर्थिक निर्माण के कार्यों में ट्रेड यूनियनों की सरकारी भूमिका की लेनिन ने भी हिमायत की थी; लेकिन लेनिन इसका अर्थ ट्रेड यूनियनों की स्वायत्तता को ख़त्म करना या फिर उन्हें राज्य का दासवत् उपकरण बना देना नहीं था; लेनिन के लिए ट्रेड यूनियनों की भूमिका राज्य सत्ता के सापेक्षिक स्वायत्तता ही रख सकती है, पूर्ण स्वायत्तता नहीं। इसीलिए लेनिन एक ओर दसवीं कांग्रेस के एक प्रस्ताव में ट्रेड यूनियनों द्वारा आर्थिक प्रबन्धन और निर्माण के कार्य को अनुशासित और सुचारू रूप से चलाने की बात कहते हैं, तो वहीं ट्रेड यूनियनों को 'कम्युनिज़्म की पाठशाला' और सर्वहारा राज्यसत्ता का नौकरशाहाना प्रवृत्तियों को प्रतिसन्तुलित करने का उपकरण भी मानते हैं। लेकिन ट्रेड यूनियनों की पार्टी और राज्य से पूर्ण स्वायत्तता का लेनिन ने पुरज़ोर शब्दों में विरोध किया था और इसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव क़रार दिया था। स्तालिन के दौर में ट्रेड यूनियनों के आंशिक और सापेक्षिक तौर पर सुषुप्त होने का कारण राज्यसत्ता द्वारा उसे दासवत् बना लिया जाना नहीं था, बल्कि उत्पादनवादी (productivist) भटकाव और उत्पादक शक्तियों के विकास पर असन्तुलित ज़ोर के कारण उसके भीतर राजनीतिक कार्य और राजनीतिक संघर्ष की कमी और नतीजतन उसके भीतर राजनीतिक चेतना के स्तर का अवनयन था। इसके पीछे वर्ग संघर्ष की कुंजीभूत कड़ी को न पकड़ पाने की बोल्शेविक पार्टी की ग़लती थी। लेकिन इस वास्तविक कमी का कोई अर्थपूर्ण विश्लेषण करने की बजाय, बेतेलहाइम एक छद्म-विश्लेषण पेश करते हैं और स्तालिन और त्रात्स्की को एक खेमे में खड़ा कर देते हैं।

बेतेलहाइम का यह दावा भी बेबुनियाद है कि दसवीं कांग्रेस के बाद पार्टी के भीतर अपनी राय को रखने की आज़ादी समाप्त हो गयी, जो कि बोल्शेविक परम्परा रही थी। दसवीं कांग्रेस में पार्टी एकता को लेकर एक अहम प्रस्ताव पास हुआ जिसमें कि गुट बनाने का निषेध किया गया था। इसका अर्थ पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा प्रतिपादित लाइन पर बहस या चर्चा की निषेधाज्ञा नहीं थी। **प्रस्ताव में स्पष्ट रूप में कहा गया था कि पार्टी के भीतर**

पार्टी के समान कोई गुट नहीं बनाया जाना चाहिए। यानी कि पार्टी के भीतर अपना अलग अनुशासन रखने वाला कोई गुट नहीं बनाया जा सकता और पार्टी सम्मेलनों, कांग्रेसों आदि में गुट के रूप में शिरकत करना या अपनी अवस्थिति का प्रचार करना पार्टी की एकता पर चोट है। लेनिन का मानना था कि पार्टी कार्यदिशा पर जो भी चर्चा या बहस होनी है, वह एक गुट में नहीं या गुटों के बीच नहीं बल्कि सभी पार्टी कार्यकर्ताओं के बीच होनी चाहिए। साथ ही, पार्टी चर्चाओं और बहसों के लिए अलग मंचों और ऑर्गनों का निर्माण किया जाना चाहिए। लेकिन बहसों में हिस्सेदारी पार्टी के वैयक्तिक सदस्य के रूप में होनी चाहिए, न कि एक बने-बनाये गुट के रूप में। **निश्चित तौर पर, अलग-अलग लोग अलग-अलग कार्यदिशाओं पर सहमत होंगे और वस्तुगत तौर पर कुछ धड़े बनेंगे। लेकिन ये धड़े आपस में विचार-विमर्श करके पार्टी की सामूहिक चर्चाओं या पार्टी सम्मेलनों में शिरकत नहीं करेंगे, बल्कि वैयक्तिक तौर पर करेंगे।** इस प्रावधान में कुछ भी ऐसा नहीं था जो कि पार्टी के भीतर अपनी राय रखने, बहस करने आदि पर रोक लगाता हो। लेकिन साथ ही यह 'पार्टी के भीतर पार्टी बनाने' पर निर्णायक रोक लगाता था। पार्टी के भीतर का तत्कालीन संकट वास्तव में इसी गुटबाज़ी के कारण पैदा हुआ था। यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर वास्तव में लेनिन पर हमला कर रहे हैं और उनकी सांगठनिक कार्यदिशा पर हमला कर रहे हैं। लेकिन इन सबका ठीकरा वह पार्टी के भीतर मौजूद नौकरशाही पर थोप देते हैं, जिसके मुख्य अगुवा लोग थे स्तालिन, त्रात्स्की और बुखारिन। इतिहास के तथ्यों के साथ बेतेलहाइम खुल्लमखुल्ला ज़ोर-ज़बरदस्ती करते हैं, ताकि अपनी प्रतीतिगत "माओवादी" अवस्थिति को दुरुस्त साबित कर सकें।

'वर्कर्स अपोज़ीशन' के लेनिन द्वारा किये गये पुरज़ोर खण्डन का बेतेलहाइम समर्थन करते हैं। लेकिन इसके बावजूद 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के प्रति अपनी हमदर्दी को वह छिपा नहीं पाते हैं! **उनका मानना है कि वर्कर्स अपोज़ीशन की पराजय के पीछे एक कारण था कांग्रेस की नौकरशाहाना तैयारी!** उनके अनुसार, कांग्रेस में हुई वोटिंग में वर्कर्स अपोज़ीशन के लिए गिने-चुने लोगों ने वोट डाला क्योंकि पार्टी के भीतर नौकरशाही का काफ़ी असर था और यह इस बात में प्रतिबिम्बित होता था कि त्रात्स्की और बुखारिन की थीसिस की कांग्रेस के पहले ही निर्णायक राजनीतिक पराजय के बावजूद, उन्हें 'वर्कर्स अपोज़ीशन' से काफ़ी ज़्यादा वोट मिले। लेनिन की कार्यदिशा को ज़्यादा वोट इसलिए मिले क्योंकि पार्टी के कार्यकर्ता एक संकट के दौर में पार्टी की एकता प्रति अपना योगदान करने के लिए बेचैन थे; इसलिए उन्होंने लेनिन की कार्यदिशा के पक्ष में भारी संख्या में वोट डाला! इस सारी प्रस्तुति का अर्थ यह है कि बोल्शेविक पार्टी के काडर राजनीतिक तौर पर पिछड़े हुए थे और ग़ैर-राजनीतिक कारणों के प्रभाव में वोट डालते थे! हालाँकि, बेतेलहाइम के ही अनुसार बोल्शेविक पार्टी के भीतर ऐसी स्थिति स्तालिन के नेतृत्व के दौर में हुई थी और दसवीं कांग्रेस के पहले तो बोल्शेविक पार्टी में बिल्कुल निर्भीक और खुले बहस-मुबाहिसे का माहौल था! इन बातों में ही बेतेलहाइम का अन्तरविरोध नज़र आ जाता है। साथ ही, बेतेलहाइम यह दिखलाने की कोशिश करते हैं कि मन-ही-मन लेनिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का समर्थन करते थे या उसके ज़्यादा करीब थे! ये सारे दावे बेतेलहाइम इसलिए कर रहे हैं क्योंकि अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचाना चाहते हैं कि पार्टी में जनदिशा लागू करने वालों का भी एक धड़ा था (वर्कर्स अपोज़ीशन, डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म समूह, आदि); और लेनिन वास्तव में उनके ही समर्थन में थे! तो फिर लेनिन ने खुलकर

उनका समर्थन क्यों नहीं किया? इसकी बेतेलहाइम कोई व्याख्या पेश करना ज़रूरी नहीं समझते।

सच्चाई यह थी कि त्रात्स्की और बुखारिन के धड़े को किसी नौकरशाहाना जोड़-तोड़ के कारण 'वर्कर्स अपोज़ीशन' से ज़्यादा वोट नहीं मिले थे; इसका कारण यह है कि बेतेलहाइम के दावे के विपरीत लेनिन और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के मतभेद ज़्यादा बुनियादी थे, जबकि त्रात्स्की और बुखारिन का धड़ा अपने हिरावलपन्थी भटकाव के बावजूद लेनिन से *अपेक्षतया* कम दूर था। इसका कारण यह था कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी संरचना में पार्टी की भूमिका को बेहद कम करके देखता था, जबकि त्रात्स्की-बुखारिन धड़े का पार्टी की भूमिका पर अतिशय ज़ोर था और वे पार्टी को अचूक और अमोघ मानते थे, जैसा कि हमने ऊपर प्रदर्शित किया है; लेनिन ने इन दोनों गैर-द्वन्द्वात्मक छोरों का खण्डन किया। लेकिन निश्चित तौर पर उनकी दूरी उनसे ज़्यादा बनती थी जो कि पार्टी की भूमिका को नज़रन्दाज़ कर रहे थे। लेकिन बेतेलहाइम तथ्यों को मनमुआफ़िक तरीके से तोड़ते-मरोड़ते हैं, ताकि लेनिन और स्तालिन के पार्टी-सम्बन्धी नज़रिये की विश्वस्नीयता पर प्रश्न खड़ा किया जा सके, या फिर उसका छद्म-माओवादी विनियोजन किया जा सके, जो कि वास्तव में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विनियोजन है। **अपनी बात को सही साबित करने के लिए बेतेलहाइम पृष्ठ 398 पर लेनिन का एक उद्धरण पेश करते हैं! लेकिन आप उद्धरण पढ़कर ताज्जुब में पड़ जाते हैं क्योंकि लेनिन वहाँ जो बात कह रहे हैं वह बेतेलहाइम की कार्यदिशा का खण्डन करती है:**

"रूसी कम्युनिस्ट पार्टी बिना शर्त अपने केन्द्रीय और स्थानीय संगठनों के द्वारा ट्रेड यूनियन कार्य के सभी विचारधारात्मक पक्षों का निर्देशन करना जारी रखेगी। - ट्रेड यूनियन के अगुवा पदधारकों का चुनाव पार्टी के मार्गदर्शन और पर्यवेक्षण में होना चाहिए। लेकिन, पार्टी संगठन को ट्रेड यूनियनों में सर्वहारा जनवाद की सामान्य प्रणालियों को लागू करने पर विशेष तौर पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें कि नेताओं का चुनाव, सर्वोपरि, संगठित जनसमुदायों द्वारा किया जाना चाहिए।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 398, *अनुवाद हमारा*)

'नेप' के तहत ट्रेड यूनियनों के कार्यभार पर लेनिन द्वारा तैयार किये गये प्रस्ताव में उन्होंने स्पष्ट किया था कि समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की भूमिका में एक विरोधाभास मौजूद रहेगा। जहाँ उन्हें मज़दूरों के हितों की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी उठानी होगी वहीं उन्हें एक सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा आर्थिक निर्माण के कार्यभार में अनुशासन को लागू करने की ज़िम्मेदारी भी लेनी होगी। जहाँ वे मज़दूरों के हितों को ध्यान में रखते हुए हड़ताल का अधिकार रखेंगी, वहीं उन्हें यह भी ध्यान रखना होगा कि एक सर्वहारा राज्यसत्ता के समक्ष हड़ताल को केवल एक ही आधार पर सही ठहराया जा सकता है: राज्य में मौजूद बुर्जुआ विरूपताएँ और नौकरशाहाना विकृतियाँ। इसलिए पूँजीवाद के विपरीत समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की एक दोहरी भूमिका होगी और इसी वजह से न तो वे पूर्ण रूप से स्वायत्त हो सकती हैं और न ही राज्यसत्ता की दासवत् उपकरण। लेकिन लेनिन की इस पूरी समझदारी को बेतेलहाइम विकृत करते हैं।

इसके बाद दसवीं कांग्रेस में पार्टी एकता पर पारित प्रस्ताव के इतिहास को विकृत करने

के लिए बेतेलहाइम आगे बढ़ते हैं। **उनके अनुसार यह प्रस्ताव (जो कि 'पार्टी के भीतर पार्टी' के रूप में, यानी कि अपना अलग अनुशासन रखने वाले गुटों पर पाबन्दी लगाता था) केवल अस्थायी तौर पर गुटों पर पाबन्दी लगाता था। यह असत्य है। इस प्रस्ताव में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था जो कि गुटों पर पाबन्दी को अस्थायी बताता हो; न ही लेनिन के लेखन में इसके अस्थायी होने की बात की गयी है।** यह पार्टी में बहसों और चर्चाओं पर रोक नहीं लगाता था, बल्कि उसे गुटों के बीच चलाये जाने का निषेध करता था। इस रूप में यह गुटों पर पाबन्दी का प्रावधान पार्टी की सांगठनिक कार्यदिशा में एक स्थायी इज़ाफ़ा था। आगे बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन बहस-मुबाहिसे को अन्य रूपों और मंचों पर जारी रखने के पक्ष में थे, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद पार्टी के भीतर मौजूद जनवाद को समाप्त करने के लिए स्तालिन ने इस प्रस्ताव का इस्तेमाल किया क्योंकि इस प्रस्ताव ने पोलित ब्यूरो के हाथ में शक्ति संकेन्द्रित कर दी थी और केन्द्रीय कमेटी को शक्तिहीन बना दिया था। बेतेलहाइम के अनुसार जब 'नेप' की नीतियों के दौरान पार्टी में बुर्जुआ वर्ग मज़बूती से जम गया तो पार्टी के भीतर 'नेप' को लेकर बहस को दबाने के लिए भी दसवीं कांग्रेस के इस प्रस्ताव का इस्तेमाल किया गया। बेतेलहाइम इन दावों के लिए भी कोई सन्दर्भ पेश करना ज़रूरी नहीं समझते हैं। बेतेलहाइम का दावा है कि पार्टी एकता पर पारित प्रस्ताव केवल अपवादस्वरूप संकटकालीन दौर के लिए था और इसके पक्ष में लेनिन का एक उद्धरण पेश करते हैं। लेकिन जब हम उस उद्धरण की जाँच करते हैं तो पता चलता है कि लेनिन यहाँ केन्द्रीय कमेटी और उसके विस्तारित निकाय को अपने संघटन को परिवर्तित करने के अधिकार की बात कर रहे हैं। लेनिन के अनुसार यह अधिकार आपात संकट के दौर में दिया गया है और ऐसा पार्टी में पहले कभी नहीं किया गया था। यहाँ लेनिन गुटों के निर्माण पर पाबन्दी की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि इस पाबन्दी का उल्लंघन करने पर बिना पार्टी कार्यकर्ताओं से अनुमोदन के केन्द्रीय कमेटी के किसी भी सदस्य को बाहर तक निकालने के अधिकार की बात कर रहे हैं। लेकिन बेतेलहाइम इस पूरी बात को ऐसे पेश करते हैं, मानो कि लेनिन पार्टी एकता के पूरे प्रस्ताव को ही अस्थायी मानते थे!

बेतेलहाइम ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसीज़ की लेनिन से करीबी और उसके साथ लेनिन के मतभेदों के "सीमित चरित्र" को प्रदर्शित करने के लिए एक पूरा उपशीर्षक ख़र्च किया है। बेतेलहाइम यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पराजय के पीछे जो कारक सक्रिय थे वे थे 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसीज़ का एक ग़लत समय पर सामने आना, यानी कि गृहयुद्ध और क्रोंस्टाट विद्रोह के समय में सामने आना; उनके दृष्टिकोणों का सही ढंग से अभिव्यक्त न किया जाना और उनमें सैद्धान्तिक स्पष्टता का अभाव का होना; और तीसरा कारण था सर्वहारा वर्ग की अगुवा हिरावल भूमिका को न समझना, वह भी एक ऐसे देश में जिसमें किसान आबादी की बहुलता हो। यह एक बार फिर तथ्यों के साथ दुराचार है और साथ ही लेनिन की राजनीतिक समझदारी पर भी प्रश्नचिन्ह खड़ा करना है। लेनिन किसी विजातीय प्रवृत्ति की आलोचना की ख़राब अभिव्यक्ति या सैद्धान्तिक अस्पष्टता की वजह से नहीं करते थे, बल्कि उसकी विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु के कारण करते थे। लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के सदस्यों द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में त्रात्स्की और बुखारिन की कार्यदिशा के फलस्वरूप पैदा हुए अति-केन्द्रीकरण, नौकरशाही और ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों के विरोध का समर्थन किया था और उनकी चिन्ताओं को जायज़ ठहराया था; लेकिन साथ ही लेनिन यह भी समझ रहे थे कि त्रात्स्की-बुखारिन के वामपन्थी

दुस्साहसवादी और साथ ही दक्षिणपन्थी भटकाव की प्रतिक्रिया में पैदा हुआ दूसरा अतिरेकी छोर है, जो औपचारिक मज़दूर जनवाद के नाम पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विचारों का प्रचार कर रहा है। लेकिन बेतेलहाइम को लगता है कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसीज़ में सीधे तौर पर कोई अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद नहीं था, हालाँकि "अगर उनकी थीसीज़ के तर्क को उनके अन्तिम नतीजे तक पहुँचाया जाय' तो फिर वे वही नतीजे थे, जो कि अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी निकालते हैं।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 403, अनुवाद हमारा) इस वाक्य का क्या अर्थ है!? स्पष्ट है, बेतेलहाइम 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के प्रति अपनी हमदर्दी को छिपा नहीं पा रहे हैं। यहाँ तक तो कोई समस्या नहीं है लेकिन लेनिन को भी 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थितियों का हमदर्द बना देना इतिहास के साथ दुर्व्यवहार है।

गैर-पार्टी सम्मेलनों के विषय में भी बेतेलहाइम लेनिन के दृष्टिकोण का विकृतिकरण करते हैं। वे 'टैक्स इन काइण्ड' पुस्तिका के तैयारी की स्कीम से लेनिन का एक वाक्य उद्धृत करते हैं, जिसमें लेनिन ने कहा है कि ऐसे सम्मेलन अनिवार्य तौर पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों के उपकरण नहीं होते हैं। लेकिन स्वयं पुस्तिका के भीतर लेनिन ने ऐसे सम्मेलनों के प्रति किसी भी *फेटिश* पर चोट करते हुए कहा है कि आज के दौर में समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविक ग़ैर-पार्टी मुखौटा लगाये इन सम्मेलनों का सोवियत राज्य-विरोधी गतिविधियों में इस्तेमाल करते हैं। निश्चित तौर पर, समय की नज़ाकत ऐसी थी कि लेनिन ऐसे सम्मेलनों के प्रति एक अविश्वास का नज़रिया रखते थे। बेतेलहाइम भी इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन बेतेलहाइम इस पूरे वाकये को ऐसे पेश करते हैं, मानो लेनिन पुस्तिका की *सिनॉप्सिस* बनाते समय ज़्यादा रैडिकल तरीके से सोच रहे थे और पुस्तिका लिखते वक़्त समय की नज़ाकत को देखते हुए उन्होंने अपने स्वर की आमूलगामिता को अवरुद्ध कर दिया! **पहली बात तो यह है कि किसी *सिनॉप्सिस, कांस्पेक्टस* आदि से उद्धृत करना किसी व्यक्ति के दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया को समझने के लिए तो उचित है, लेकिन जिस रूप में बेतेलहाइम इसका इस्तेमाल करते हैं, वह अकादमिक मानकों के अनुरूप उचित नहीं है।** इसे भी क्रान्तिकारी जनदिशा के प्रति लेनिन के सरोकार और चिन्ता को प्रदर्शित करने के लिए इस्तेमाल किया गया है। निश्चित तौर पर, लेनिन का अप्रोच क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने का ही था; लेकिन बेतेलहाइम क्रान्तिकारी जनदिशा की ओट में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और विसर्जनवाद की तस्करी करते हैं और उसे लेनिन पर आरोपित कर देते हैं।

बेतेलहाइम मानते हैं कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ने ट्रेड यूनियनों को राज्य के पूर्णतः मातहत करने का विरोध करके और साथ ही सोवियत संस्थाओं को जीवन्त बनाने और उन्हें जनवादी बनाने के कार्य को किसी सुदूर भविष्य के लिए (जब मज़दूर पर्याप्त रूप से शिक्षित हो जायेंगे!) निलम्बित किये जाने का विरोध करके सही किया! लेकिन वे नहीं बता पाये कि मज़दूर वर्ग की स्वशिक्षा किस प्रकार आयोजित की जायेगी! बेतेलहाइम इस शिक्षा में पार्टी की भूमिका को दरकिनार कर देते हैं और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की इस ग़लती को भी अर्थवाद का नाम देते हैं! और बेतेलहाइम चलते-चलते यह मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग की स्वतःस्फूर्त चेतना सर्वहारा नहीं होती है। लेकिन चेतना के सर्वहाराकरण के विषय में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की सही समझदारी नहीं थी। यानी कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ने सही नुक्तों पर सोवियत राज्यसत्ता और पार्टी की आलोचना की लेकिन वे भी एक किस्म के अर्थवाद का शिकार होने के कारण

समाधान नहीं सुझा सके! बेतेलहाइम लेनिन की भी आलोचना करते हुए कहते हैं कि लेनिन का यह मानना था कि जनता सोवियत राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था के कार्यों में इस वजह से नहीं शामिल हो रही है क्योंकि आर्थिक विसंगठन बहुत ज़्यादा है; साथ ही लेनिन का मानना था कि इस आर्थिक विसंगठन के कारण पैदा हुए अभाव और दिक्कतों के कारण नौकरशाही पैदा हुई, जिसका यह अर्थ निकलता है कि जब आर्थिक दिक्कतें समाप्त हो जायेंगी तो नौकरशाही खुद-ब-खुद समाप्त हो जायेगी।

लेकिन जब हम 'वर्कर्स अपोज़ीशन' और साथ ही लेनिन की पूरी थीसीज़ पर ग़ौर करते हैं तो हम पाते हैं कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' स्वत:स्फूर्ततावाद का शिकार ठीक इस वजह से था क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग की स्वत:स्फूर्त चेतना को सर्वहारा मानता था और उनकी राजनीतिक शिक्षा में पार्टी की भूमिका को नकारता था। उसके इस विचार का आधार, कि राज्य को ट्रेड यूनियनों के मातहत कर दिया जाना चाहिए और उसके कार्यों को ट्रेडयूनियनों को सौंप दिया जाना चाहिए, यही स्वत:स्फूर्ततावाद था। अगर करीबी तौर पर देखें तो जिन समस्याओं को 'वर्कर्स अपोज़ीशन' देख रहा था, उन्हें लेनिन और कुछ अन्य पार्टी नेताओं ने भी इंगित किया था। उन्हें पहली बार पार्टी के सामने रखना 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का योगदान नहीं था। दूसरी बात यह कि इन समस्याओं का 'वर्कर्स अपोज़ीशन' जो समाधान सुझा रहा था, वह अव्वलन तो उस दौर में लागू किया जाना सम्भव ही नहीं था और वह राजनीतिक तौर पर ग़लत भी था। लेकिन बेतेलहाइम के इस प्रकार के वामपन्थी विपक्ष समूहों से हमेशा हमदर्दी रहती है जो औपचारिक मज़दूर जनवाद, मज़दूरों की स्वशिक्षा आदि की बातें करते हैं। जहाँ तक लेनिन को अर्थवाद का शिकार क़रार दिये जाने का प्रश्न है, बेतेलहाइम ने एक बार फिर से इतिहास के तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ की है। जिस रचना 'टैक्स इन काइण्ड' का सन्दर्भ बेतेलहाइम देते हैं, उसमें लेनिन ने यह नहीं कहा है कि नौकरशाही के पैदा होने का कारण उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर और आर्थिक विसंगठन ही है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है:

"नौकरशाही के आर्थिक पहलू की ओर देखते हैं। - उनकी आर्थिक जड़ें क्या हैं? - हमारे देश में नौकरशाहाना प्रथाओं का की अलग आर्थिक जड़ें हैं, यानी कि छोटे उत्पादकों की एटमीकृत होने और बिखराव की स्थिति जो कि ग़रीबी, अशिक्षा, संस्कृति के अभाव, सड़कों की अनुपस्थिति, कृषि और उद्योगों के बीच विनिमय के अभाव, उनके बीच सम्बन्ध और अन्तर्क्रिया की अनुपस्थिति के शिकार हैं।" (लेनिन, 1973, **'टैक्स इन काइण्ड'**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-32*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 351, *अनुवाद हमारा*)

इस उद्धरण से किस प्रकार सिद्ध होता है कि लेनिन अर्थवादी थे? वे नौकरशाही की आर्थिक जड़ों की ही बात कर रहे थे और इसमें कोई दो राय नहीं है कि छोटे माल उत्पादन के प्रभावी बने रहने को समाजवादी संक्रमण के दौरान बुर्जुआ वर्ग के निरन्तर पैदा होते रहने का स्रोत माना गया है। लेनिन से लेकर माओ तक का यह मानना था कि समाजवादी समाज में बुर्जुआ तत्वों के बार-बार जन्म लेने के पीछे एक कारण है छोटे पैमाने के उत्पादन की मौजूदगी। त्रात्स्की की ग़लती यह नहीं थी कि उन्होंने भी इस आर्थिक कारण को पहचाना था; बल्कि उनकी ग़लती यह थी कि उत्पादक शक्तियों के विकास का कम स्तर ही उनके लिए सभी समाजवादी समस्याओं का मूल कारण था और उनका पूरा विश्लेषण इस रूप में उत्पादक शक्तियों के विकास के कारक पर अपचयित हो जाता है। स्तालिन का विश्लेषण इस रूप में उत्पादक शक्तियों के विकास पर सारी समस्याओं को अपचयित नहीं करता है,

हालाँकि उत्पादक शक्तियों के विकास पर उनका ज़ोर ग़ैर-द्वन्द्वात्मक रूप से ज़्यादा है। जहाँ तक लेनिन का प्रश्न है, उनके लेखन में इस प्रकार के अर्थवाद या अर्थवादी प्रवृत्ति का असर नहीं मिलता है। वे संस्कृति की कमी और अशिक्षा को भी नौकरशाही के स्रोतों में गिनते थे। उन्होंने पार्टी और राज्य में नौकरशाहाना प्रवृत्तियों और बुर्जुआ रुझानों के पैदा होने के कारणों का उस रूप में विस्तृत सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जिस रूप में माओ ने आगे चलकर किया। लेकिन निश्चित तौर पर उन्होंने बार-बार मानसिक और शारीरिक श्रम के विभेद और कृषि व उद्योग के बीच की असमानता को इसके स्रोत के रूप में देखा था। यह भी सच है कि इस समस्या को हल करने के एक पहलू के रूप में उन्होंने उत्पादक शक्तियों के विकास को भी चिन्हित किया था, जिसमें कि कुछ भी ग़लत नहीं है। माओ ने भी इस समस्या को चिन्हित किया था, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। लेकिन बेतेलहाइम के लिए इन कारकों को चिन्हित करना ही अर्थवाद है। माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में बेतेलहाइम किस तरह से लेनिनवाद और माओवाद को तिलांजलि देते हैं, यह स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

आगे बेतेलहाइम यह सिद्ध करने के लिए कि बोल्शेविक पार्टी में लेनिन की मृत्यु के बाद एक सही जनवादी केन्द्रीयतावादी सांगठनिक कार्यदिशा लागू नहीं हो रही थी, काफ़ी विस्तार से पार्टी में सही कार्यदिशा के प्रतिपादन, उसमें विचारधारात्मक संघर्ष की भूमिका, सर्वहारा कार्यदिशा की परिभाषा, बुर्जुआ कार्यदिशा की परिभाषा और कई बार सही कार्यदिशा के शुरुआत में अल्पसंख्या में होने के बारे में लिखते हैं। उनके अनुसार, इसके कारण से विचारधारात्मक संघर्ष और आलोचना-आत्मालोचना का स्पेस संकुचित हो गया था। चूँकि पार्टी एक ऐसा प्रयोग कर रही थी, जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं थी इसलिए तमाम कार्यदिशाओं में से सही कार्यदिशा का निर्णय करने के लिए खुले बहस-मुबाहिसे की आज़ादी होनी चाहिए थी और ऐसा न होने के कारण पार्टी में ग़लत कार्यदिशा प्रभावी बनने लगी। शुरू के दौर में बुर्जुआ कार्यदिशा के वाहक अचेतन तौर पर एक ग़लत कार्यदिशा को सामने रख रहे थे। लेकिन लम्बे समय तक ग़लत राजनीतिक कार्यदिशा को लागू करने से सही विचारधारात्मक अवस्थिति से भी पार्टी का प्रस्थान हो जाता है। इन सारे गम्भीर प्रेक्षणों और विचारों को पाठकों को सुनाने के पीछे बेतेलहाइम की जो मंशा है, वह कुछ समय बाद ही स्पष्ट हो जाती है। **यहाँ बेतेलहाइम पाठकों को जिस नतीजे की ओर ले जाना चाहते हैं वह यह है कि लेनिन के बाद, स्तालिन के दौर में जनवादी केन्द्रीयता समाप्त होने के कारण सही कार्यदिशा के निर्धारण की प्रणाली पार्टी के भीतर सही तरीके से काम करना बन्द कर चुकी थी।** यही कारण था कि शुरुआत में तमाम ग़लत कार्यदिशाओं के वाहक अचेतन तौर पर पार्टी के भीतर ग़लत कार्यदिशा का समर्थन कर रहे थे; लेकिन बाद में लम्बे समय तक ग़लत कार्यदिशा पर अमल ने पार्टी को विचारधारात्मक तौर पर भी ग़लत रास्ते पर पहुँचा दिया।

बेतेलहाइम का मानना है कि एक कम्युनिस्ट पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता में *हमेशा* जनवाद का पहलू प्रधान रहता है ताकि विचारधारात्मक बहस-मुबाहिसे की जगह बनी रहे और सही कार्यदिशा का निर्धारण होता रहे। बेतेलहाइम की जनवादी केन्द्रीयता की अवधारणा किस कदर यान्त्रिक है, वह यहाँ दिख जाता है। किसी भी द्वन्द्व में हर-हमेशा एक पहलू प्रधान बना रहे यह सम्भव ही नहीं है। ऐसा होगा तो उसे द्वन्द्व कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं, कोई भी द्वन्द्व अपनी परिभाषा से ही

स्थैतिक नहीं होता बल्कि सतत् गतिमान होता है। जनवादी केन्द्रीयता को कमोबेश सही ढंग से लागू करने वाली पार्टी में कई स्थितियों में जनवाद का पहलू होता है तो अन्य स्थितियों में केन्द्रीयता का पहलू हावी होता है। **दूसरी बात यह कि पार्टी में राजनीतिक चेतना का स्तर जितना उन्नत होगा, जनवाद भी उतना ही उन्नत होगा और केन्द्रीयता भी उतनी ही उन्नत होगी। जनवाद के आधार के अधिकतम सम्भव व्यापक हुए बग़ैर केन्द्रीयता का शिखर ज़्यादा उन्नत नहीं हो सकता है। लेकिन केन्द्रीयता के शिखर के बिना जनवाद के आधार के व्यापक होने का एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी में कोई अर्थ नहीं होगा।** राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष, बहसों और चर्चाओं में अधिकतम सम्भव जनवाद और निर्णय लिये जाने के बाद कार्रवाई में अधिकतम सम्भव केन्द्रीयता: यही लेनिन के जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त का मर्म है। राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष यदि गुटों के बीच चलेगा, तो वास्तव में वह सही तरीके से नहीं चल सकता। इस रूप में दसवीं कांग्रेस द्वारा गुटों के निर्माण पर पाबन्दी बिल्कुल दुरुस्त थी। 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध से बोल्शेविक पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त किस हद तक लागू हो सका और किस रूप में लागू नहीं हो सका, यह अलग चर्चा का विषय है और आगे हम इस पर विस्तार से लिखेंगे। लेकिन असल बात यह है कि बेतेलहाइम जनवादी केन्द्रीयता की एक ग़लत अवधारणा पेश कर रहे हैं जिसके अनुसार जनवाद का पहलू हमेशा प्रधान होता है। यदि ऐसा होगा तो कोई भी पार्टी 'कार्रवाई में एकता' (unity in action) के सिद्धान्त पर अमल नहीं कर सकेगी। मूल बात यह है कि 'कार्रवाई में एकता' के सिद्धान्तों को 'विचारों में बाध्यताकारी एकता' के सिद्धान्त में तब्दील नहीं किया जाना चाहिए और न ही विपक्षी अल्पसंख्या को बहुसंख्या के विचारों को जपने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। यदि ऐसा होता है, तो निश्चित तौर पर वह जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों के ख़िलाफ़ होगा। लेकिन बेतेलहाइम इन पहलुओं का कोई विश्लेषण पेश किये बग़ैर दसवीं कांग्रेस को जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को ख़त्म करने वाली घटना के रूप में पेश करते हैं; वह नाम लेकर लेनिन को निशाना नहीं बनाते हैं और इसके लिए स्तालिन को ज़िम्मेदार ठहराते हैं; लेकिन बेतेलहाइम का वास्तविक निशाना लेनिनवादी सांगठनिक उसूल ही हैं।

इसके अलावा, बेतेलहाइम कुछ आम सत्यों का बयान करते हैं जिससे कि हर मार्क्सवादी-लेनिनवाद सहमत होगा; मिसाल के तौर पर, सही कार्यदिशा का निर्धारण खुले विचारधारात्मक संघर्ष और व्यवहार के लम्बे अनुभव के बाद ही सम्भव है और इस दौर में कई बार सही कार्यदिशा शुरुआत में अल्पसंख्या में हो सकती है, विशेष तौर पर, तब जबकि पार्टी के समक्ष कोई अद्वितीय और अभूतपूर्व स्थिति पैदा हो गयी हो। लेकिन इन आम बातों को कहने की प्रक्रिया में ही बेतेलहाइम बीच में कोई ऐसी बात डाल देते हैं, जो उनके कथित "माओवाद" को पुष्ट करती हो। **मिसाल के तौर पर, एक स्थान पर बेतेलहाइम कहते हैं कि सर्वहारा कार्यदिशा वह होती है जो कि किसी प्रदत्त अवधि में सर्वहारा वर्ग के हितों की सर्वश्रेष्ठ रूप में सेवा करती है; बुर्जुआ कार्यदिशा वह होती है जो कि किसी प्रदत्त अवधि में बुर्जुआ वर्ग के हितों की सर्वश्रेष्ठ रूप में सेवा करती है; इन दोनों कार्यदिशाओं के सापेक्ष अन्य कार्यदिशाएँ "वाम" अथवा दक्षिणपन्थी अवसरवादी कार्यदिशाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं! यह पूरा रूपक ही ग़लत है।** बुर्जुआ कार्यदिशा एक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर "वाम" अथवा दक्षिणपन्थी प्रवृत्तियों/कार्यदिशाओं के रूप में ही प्रवेश करती हैं। खुले तौर पर बुर्जुआ कार्यदिशा कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर अस्तित्वमान रह

ही नहीं सकती है। यह ज़रूर है कि कोई "वाम" अथवा दक्षिणपन्थी बुर्जुआ अथवा निम्न-बुर्जुआ प्रवृत्ति अभी पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी कार्यदिशा न बनी हो और उस रूप में उसकी पहचान एक अलग बुर्जुआ कार्यदिशा के रूप में करना सम्भव न हो। यह भी सही है कि विचारधारात्मक संघर्ष और क्रान्तिकारी व्यवहार की प्रक्रिया में ही ऐसी कार्यदिशा की पहचान होती है। और यह भी सही है कि "वाम" या दक्षिणपन्थी भटकाव या विचलन के वाहक शुरू से बेईमान या प्रतिक्रियावादी नहीं घोषित किये जा सकते हैं। ऐसा लगता है कि बिना किसी प्रसंग या सन्दर्भ के ये आम सच्चाइयाँ बेतेलहाइम यूँ ही बयान कर रहे हैं। लेकिन ऐसा है नहीं। वास्तव में, वह इस पूरे बयान को इस नतीजे तक पहुँचाते हैं कि चूँकि लेनिन के बाद पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता के इन बुनियादी उसूलों का पालन नहीं हो रहा था इसलिए वहाँ अघोषित विपक्षी धड़े पैदा हुए, जो कि 'धारा के विरुद्ध जाने' का साहस नहीं कर सके और इसी वजह से दो लाइनों के संघर्ष को भी वे सही तरीके से नहीं चला सके! **अपने प्रसंगेतर लगने वाले विमर्श में बेतेलहाइम लगातार 1920 के दशक के मध्य से पार्टी में प्रतिक्रान्ति की धारा के प्रमुख हो जाने के अपने दावे को पुष्ट करने की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं और इसके लिए तथ्यों के साथ लगातार ज़ोर-ज़बरदस्ती करते हैं।**

बेतेलहाइम के अनुसार, पहला अघोषित विपक्षी धड़ा वास्तव में स्तालिन के नेतृत्व में खड़ा एक दक्षिणपन्थी धड़ा था, जिसमें बुखारिन, ज़िनोवियेव व सोकोलनिकोव शामिल थे, और जिसने विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी के प्रश्न पर लेनिन के साथ एक छाया-युद्ध लड़ा और अन्त में जब लेनिन ने त्रात्स्की को साथ लेकर इस प्रश्न पर निर्णायक संघर्ष की तैयारी को स्तालिन व केन्द्रीय कमेटी के अन्य दक्षिणपन्थी तत्वों ने घुटने टेक दिये। यह भी तथ्यों के साथ भयंकर दुराचार है। स्तालिन निश्चित तौर पर लेनिन द्वारा विदेश व्यापार की राजकीय इज़ारेदारी को ज्यों का त्यों बनाये रखने के शुरुआत से पक्षधर नहीं थे। लेकिन स्तालिन ने हर बार लेनिन के आग्रह पर अन्ततः लेनिन की कार्यदिशा पर ही अमल किया, हालाँकि उन्होंने अपनी राय को स्पष्ट तौर पर सभी केन्द्रीय कमेटी सदस्यों के समक्ष रखा। दूसरी बात यह है कि विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी के प्रश्न पर कमेटी के नेतृत्वकारी लोगों में ही तीन पक्ष मौजूद थे। अगर इस पूरे प्रकरण को विस्तार से न समझा जाय तो सारी केन्द्रीय कमेटी को दो खेमे में बाँटकर और फिर लेनिन के खेमे के सापेक्ष बाकी सभी को विचलनकारी या भटकाव का शिकार घोषित किया जा सकता है। ज़रा देखते हैं कि वास्तव में इस प्रश्न पर स्थिति क्या थी। बुखारिन, प्याताकोव और सोकोलनिकोव राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने के पक्ष में थे। स्तालिन, ज़िनोवियेव और कामनेव इसे कुछ ढीला करने के पक्ष में थे और लेनिन, क्रासिन और त्रात्स्की इसे कायम रखने के पक्ष में थे।

स्तालिन भी राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन वह इसमें ढील देने की बात कर रहे थे। बुखारिन और सोकोलनिकोव विशेष तौर पर राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने की बात कर रहे थे। त्रात्स्की का प्रस्ताव एक अलग ही प्रस्ताव था, जिसमें कि वह राजकीय इज़ारेदारी को कायम रखने की तो बात कर रहे थे, लेकिन साथ ही विदेश व्यापार की कमिसारियत को भंग करके विदेश व्यापार के मसले को भी एक केन्द्रीय आर्थिक संगठन के तहत रखने का प्रस्ताव रख रहे थे। लेनिन त्रात्स्की के इस पूरे प्रस्ताव पर सहमत नहीं थे। लेकिन विदेश व्यापार की राजकीय इज़ारेदारी के प्रश्न पर लेनिन की एकता त्रात्स्की के साथ बन रही थी। लेकिन स्तालिन भी इस प्रश्न पर बाद में सहमत हो चुके थे; और किसी भी सूरत में उनकी अवस्थिति बुखारिन और सोकोलनिकोव की अवस्थिति

नहीं थी। स्तालिन ने 'प्रथम अमेरिकी मज़दूर प्रतिनिधि मण्डल' के एक सदस्य के विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी से सम्बन्धित प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था:

"क्योंकि विदेश व्यापार पर इज़ारेदारी का प्रश्न सोवियत सरकार के "प्लेटफॉर्म" की ऐसी बुनियाद है जिसे हटाया नहीं जा सकता है...निश्चित तौर पर सोवियत संघ में ऐसे तत्व हैं जो इस इज़ारेदारी को ख़त्म करने की माँग करते हैं। ये नेपमैन, कुलक और हराये जा चुके शोषक वर्गों के अवशेष, आदि हैं...मज़दूरों के लिए विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने का क्या अर्थ होगा? उनके लिए इसका अर्थ होगा देश के उद्योगीकरण को छोड़ देना, नये कार्यों और कारखानों के निर्माण को और पुराने कार्यों और कारखानों के विस्तार को रोक देना। उनके लिए इसका अर्थ यह होगा कि सोवियत संघ को पूँजीवादी देशों के माल से पाट दिया जाये, हमारे उद्योग नष्ट हो जायें, क्योंकि वे सापेक्षिक तौर पर कमज़ोर हैं; बेरोज़गारी में बढ़ोत्तरी, मज़दूर वर्ग के भौतिक हालात में गिरावट, और उनकी आर्थिक व राजनीतिक स्थितियों में गिरावट। आखिरी विश्लेषण में इसका अर्थ होगा नेपमैन और नयी बुर्जुआज़ी को आम तौर पर मज़बूत करना। क्या सोवियत संघ का सर्वहारा वर्ग इस तरह से आत्महत्या करना स्वीकार करेगा? स्पष्ट तौर पर ऐसा नहीं होगा।" (स्तालिन, 1954, **'पहले अमेरिकी मज़दूर प्रतिनिधि मण्डल से साक्षात्कार 1927'**, *वर्क्स*, खण्ड-10, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 115-116 *अनुवाद हमारा*)

स्पष्ट है कि बेतेलहाइम पूरी सच्चाई नहीं बता रहे हैं, ताकि स्तालिन पर कीचड़ उछाला जा सके। अपने अपूर्ण विवरण में वह स्तालिन को एक षड्यन्त्रकारी के तौर पर पेश करते हैं जो कि अपने आपको आगे किये बिना, बुखारिन, प्याताकोव आदि को आगे करके लेनिन की सही सर्वहारा कार्यदिशा के विरुद्ध एक छाया-युद्ध चला रहे थे। यदि ऐसा होता तो, बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत स्तालिन के चित्र के ही अनुसार, फिर 1927 में विदेश व्यापार से राजकीय इज़ारेदारी को ख़त्म करने से स्तालिन को कौन रोक सकता था? अगर ऐसा होता तो फिर स्तालिन ने लेनिन के व्यक्तिगत आग्रह पर इज़ारेदारी में ढील देने के केन्द्रीय कमेटी के फैसले को लागू करने के ख़िलाफ़ क्यों वोट किया, हालाँकि वह लेनिन से सहमत भी नहीं थे और केन्द्रीय कमेटी में बहुसंख्या उनके साथ थी? **इसी से स्पष्ट हो जाता है बेतेलहाइम 1922 से ही स्तालिन, ज़िनोवियेव और कामनेव की दक्षिणपन्थी त्रयी के उदय के त्रात्स्कीपन्थी दावों के साथ अन्दर ही अन्दर सहमत हैं। लेकिन बेतेलहाइम यह विश्लेषण "माओवादी" विश्लेषण के तौर पर करने के दावे के साथ पेश करते हैं, इसलिए त्रात्स्की के प्रति उनका रवैया खुले तौर पर और पूरी तरह मित्रतापूर्ण नहीं हो सकता है।**

●

बेतेलहाइम के अनुसार, राष्ट्रीयता के प्रश्न पर एक अन्य अघोषित विरोध-पक्ष पार्टी में मौजूद था, जोकि लेनिन की बिना शर्त राष्ट्र के आत्मनिर्णय की कार्यदिशा का विरोध कर रहा था। बेतेलहाइम ने स्तालिन को इस कार्यदिशा के नेतृत्व के तौर पर पेश किया है और एक प्रकार से बेईमान तरीकों से और चुपचाप अपनी कार्यदिशा को पार्टी पर थोपने का आरोप भी स्तालिन पर मढ़ दिया है। बेतेलहाइम राष्ट्रीयता के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की अवस्थिति का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं देते हैं; न ही वह सटीक तरीके से यह बताते हैं कि पार्टी के भीतर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर जो अलग-अलग अवस्थितियाँ मौजूद थीं, वे क्या थीं; बेतेलहाइम स्तालिन और लेनिन के बीच राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर मौजूद ज़ोर के

फ़र्क को एक सैद्धान्तिक अन्तर बताते हुए स्तालिन को दक्षिणपन्थी अवसरवादी क़रार देते हैं; इसका आधार वह लेनिन के उस दौर के लेखन को बनाते हैं, जिस दौर में लेनिन अस्वस्थता के कारण पार्टी के रोज़मर्रा के मामलों के नियोजन में भागीदारी नहीं कर पा रहे थे और उन तक पहुँचने वाली ख़बरें भी विभिन्न प्रकार के स्रोतों से छन-छनाकर आ रही थीं। बेतेलहाइम के अनुसार लेनिन ने स्तालिन की कार्यदिशा को राष्ट्रीय-समाजवादी क़रार दिया और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के लिए संघर्ष किया। उन्होंने विभिन्न सोवियत गणराज्यों के "स्वायत्तीकरण" (जिसके अनुसार अन्य सोवियत गणराज्य गौण स्थिति में आर.एस.एफ़.एस.आर. से सम्बद्ध हो जाते) का विरोध किया और इसके स्थान पर एक संघ की वकालत की जिसकी सरकार वास्तव में सोवियत रूस की सरकार नहीं होगी; इस संघ का नाम उन्होंने 'यूरोप व एशिया के सोवियत गणराज्यों का संघ' रखने का प्रस्ताव रखा। बेतेलहाइम के अनुसार, इस सुझाव को स्तालिन ने केन्द्रीय कमेटी तक पहुँचने ही नहीं दिया और जोड़-तोड़ के रास्ते लेनिन के कुछ सुझावों को नये प्रस्ताव में औपचारिक तौर पर स्थान दिया और सोवियत संघ की एक ऐसी रूपरेखा पेश की जिसमें कि रूसी प्रभुत्व बना रहेगा। ऐसे नतीजे निकालने के लिए बेतेलहाइम **मोशे लेविन** जैसे इतिहासकारों का भी सहारा लेते हैं और लेनिन के लेखन से सन्दर्भों से काटकर उद्धरण भी पेश करते हैं। स्तालिन को बेतेलहाइम एक महान रूसी राष्ट्रवादी कट्टरपन्थ का प्रतिनिधि क़रार देते हैं, जिन्होंने द्ज़र्ज़ेंस्की और ओर्ज़ोनिकिद्ज़े के साथ मिलकर अपनी दक्षिणपन्थी अवसरवादी कार्यदिशा को पार्टी पर आरोपित किया; पार्टी स्वयं गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" के अनुभवों के बाद ऐसी प्रवृत्तियों के सामने कमज़ोर पड़ने की प्रवृत्ति का शिकार थी। और इस प्रकार लेनिन की मृत्यु के बाद पार्टी में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर इस दक्षिणपन्थी कार्यदिशा की विजय हुई। बेतेलहाइम के अनुसार बुखारिन, प्रियोब्रेज़ेंस्की, प्याताकोव और स्तालिन बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के ख़िलाफ़ थे और मज़दूर वर्ग और मेहनतकशों के आत्मनिर्णय की बात कर रहे थे। दूसरी ओर लेनिन का यह मानना था कि लम्बे अर्से से जो औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक दमन राष्ट्रीयताओं पर थोपा गया है, उसके कारण तमाम राष्ट्रीयताओं में रूसी अवाम के प्रति एक पूर्वाग्रह है और बुर्जुआ वर्ग इन राष्ट्रीयताओं के इन पूर्वाग्रहों का इस्तेमाल करके इनके मज़दूरों व मेहनतकशों को भी सोवियत सत्ता का शत्रु बना सकती हैं। लेनिन का यह मानना था कि मज़दूर वर्ग के आत्मनिर्णय का अधिकार उस समय की ठोस परिस्थितियों में लागू ही नहीं हो सकता था और अगर ऐसे किसी सिद्धान्त को ज़बरन थोपने का प्रयास किया गया तो उपरोक्त पूर्वाग्रह तेज़ी से बढ़ सकते हैं और इन दमित राष्ट्रीयताओं का बुर्जुआ वर्ग उनका इस्तेमाल कर सकता है। बेतेलहाइम के अनुसार, स्तालिन की दक्षिणपन्थी अवसरवादी कार्यदिशा बाद में बोल्शेविक पार्टी में प्रभुत्वशाली हो गयी।

अब आइये वास्तविक तथ्यों और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर होने वाले विवादों के ऐतिहासिक सन्दर्भ पर संक्षिप्त निगाह डालें। साथ ही, हमें यह भी देखना होगा कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की अवस्थितियाँ ऐतिहासिक तौर पर क्या-क्या रही थीं और इनमें किस दौर में और किन कारणों से उनमें परिवर्तन आये। हमें यह भी देखना होगा कि जो अलग-अलग अप्रोच पार्टी में मौजूद थे, उनके उत्स क्या थे। इसके अलावा, लेनिन की अवस्थिति भी इस प्रश्न पर हमेशा से एक नहीं रही थी और हमें यह देखना होगा कि उनमें किस दौर में क्या परिवर्तन आये; साथ ही, यह समझना ज़रूरी है कि लेनिनवादी अप्रोच और पद्धति को अपनाना एक बात है और हर नुक्ते पर लेनिन की हर

अवस्थिति को हर सन्दर्भ में सहीपन का पैमाना मानना एक अलग बात है।

बेतेलहाइम राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर चले अन्तःपार्टी संघर्ष को पार्टी में मौजूद केन्द्रीयतावादी, महान रूसी राष्ट्रवादी और नौकरशाहाना दक्षिणपन्थी रुझानों पर अपचयित कर देते हैं, जबकि इस प्रश्न पर चले विवादों के गहरे सैद्धान्तिक आधार थे और उनकी एक ऐतिहासिकता थी। बोल्शेविक क्रान्ति से पहले बोल्शेविक पार्टी में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त शुद्ध रूप से बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त नहीं था। अक्टूबर 1917 से पहले राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के उद्भव और विकास पर एक नज़र डालना ज़रूरी है, अन्यथा अक्टूबर क्रान्ति के बाद की लेनिन की अवस्थिति की ऐतिहासिकता को समझना सम्भव नहीं होगा और न ही स्तालिन की समझदारी के बारे में कोई न्यायपूर्ण आकलन करना सम्भव होगा।

अक्टूबर क्रान्ति से पहले अप्रैल 1917 में हुए पार्टी सम्मेलन में स्तालिन पहली बार राष्ट्रीय प्रश्न के विशेषज्ञ के तौर पर उपस्थित हुए। इस समय तक स्तालिन का विचार यह था कि राष्ट्र मुक्ति या आत्मनिर्णय का प्रश्न वास्तव में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का प्रश्न है और इसे बुर्जुआ जनवाद के अन्तर्गत प्रगतिशील रूप में हल किया जा सकता है। प्याताकोव, जिन्हें कि बेतेलहाइम ने राष्ट्रीय प्रश्न पर स्तालिन के तथाकथित दक्षिणपन्थी धड़े का अंग बताया है, ने स्तालिन की आलोचना की और कहा कि स्तालिन ने केवल पुराने किस्म के राष्ट्रीय उत्पीड़न पर विचार किया है, लेकिन साथ ही प्याताकोव ने **पोलिश अपसिद्धान्त (polish heresy)** (राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की अवस्थिति से प्रभावित सिद्धान्त, देखें, **'दिशा सन्धान',** अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 70-71) का अनुमोदन किया और कहा कि किसी भी किस्म का राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त एक बुर्जुआ सिद्धान्त है और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयातवाद के लिए इसका कोई मूल्य नहीं है। प्याताकोव के अनुसार सर्वहारा वर्ग का नारा होना चाहिए सीमाओं का ख़ात्मा और उसे बड़ी राज्य संरचनाओं को छोटी संरचनाओं में तब्दील नहीं करना चाहिए। **यहाँ पहली बात जिस पर ग़ौर किया जाना चाहिए वह यह है कि प्याताकोव और स्तालिन के विचार राष्ट्रीय प्रश्न पर एकसमान नहीं थे, बल्कि उनमें गुणात्मक अन्तर था।** बहरहाल, लेनिन ने प्याताकोव के विचारों पर तीख़ा हमला किया और लेनिन द्वारा चलायी गयी बहस के नतीजे के तौर पर इस पार्टी सम्मेलन ने अलग होने के अधिकार समेत बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। इसके साथ, इस सम्मेलन ने ऑस्ट्रियाई मार्क्सवादियों के **"राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वायत्तता"** (देखें स्तालिन, *'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न'* का अध्याय-4, **'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता'** और लेनिन, 1972, अध्याय-4, **"कल्चरल-नेशनल अटॉनमी"**, *'क्रिटिकल रिमार्क्स ऑन दि नेशनल क्वेश्चन'*, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-20, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 33-39) के ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों ओटो बावर व कार्ल रेनर द्वारा प्रतिपादित अर्थहीन सिद्धान्त को भी नकार दिया। लेनिन के इस कथन में उनके विचारों का सार अभिव्यक्त होता है:

"वे हमें बताते हैं कि रूस का विभाजन हो जायेगा, वह अलग-अलग गणराज्यों में टूट जायेगा, लेकिन हमारे पास इससे डरने का कोई कारण नहीं है। चाहें कितने भी स्वतन्त्र गणराज्य बन जायें, हमें इससे डरना नहीं चाहिए। जो बात हमारे लिए अहम है वह यह नहीं है कि राज्यों की सीमाएँ कहाँ से गुज़रती है, बल्कि यह है कि सभी राष्ट्रों के मज़दूरों की एकता को किसी भी राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग के साथ संघर्ष में बचाया

जाना चाहिए।" (ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 263, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन की पहुँच और पद्धति का असली मकसद था यह दिखलाना कि हालाँकि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रणेता बुर्जुआ वर्ग था, लेकिन साम्राज्यवाद के दौर में किसी भी देश का बुर्जुआ वर्ग इस सिद्धान्त पर अमल नहीं कर सकता है, और केवल समाजवाद ही वास्तव में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर ईमानदारी से अमल कर सकता है।

लेकिन गृहयुद्ध और उसके ठीक बाद के दौर में बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अमल की विशिष्ट जटिलताएँ भी सामने आयीं, जिनका स्तालिन ने पहले ही पूर्वानुमान लगाया था। दिसम्बर 1917 में स्तालिन ने ट्रांसकॉकेशिया के अलग होने के प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार रखा था:

"ट्रांसकॉकेशिया और रूस में विकास के आम स्तर, सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और अन्य बातों को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत तौर पर मैं ट्रांसकॉकेशिया के अलग होने का विरोध करूँगा। लेकिन अगर फिर भी ट्रांसकॉकेशिया की जनता अलग होने की माँग करेगी, तो निश्चित तौर पर वह अलग हो सकती है और इस मामले में उन्हें हमारी ओर से विरोध का कोई सामना नहीं करना पड़ेगा।" (*वही*, पृ. 264, *अनुवाद हमारा*)

1913 में ही स्तालिन ने यह प्रश्न पूछा था कि अगर ट्रांसकॉकेशिया में मुल्ले और धार्मिक नेता जनता को अपने पीछे लेकर पुराने सामन्ती तन्त्र की स्थापना करते हैं, तो सामाजिक-जनवाद को इसमें रचनात्मक तौर पर जनसमुदायों की राय को अलग करने का प्रयास करना चाहिए या नहीं? स्तालिन ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि यह किसी भी दौर में उपस्थित ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। दिसम्बर 1917 में स्तालिन ने जो बात कही वह स्पष्ट करती है कि स्तालिन भी बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के पक्ष में थे। दिसम्बर 1917 में यूक्रेनी सरकार का ठोस प्रश्न सोवियत सत्ता के सामने खड़ा था। यूक्रेनी बुर्जुआ सरकार के आत्मनिर्णय के दावे को सोवियत सत्ता ने चुनौती नहीं दी थी। इस सरकार ने सोवियत सत्ता के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण रुख़ अपनाते हुए साम्राज्यवादियों और श्वेत सेनाओं का साथ देना शुरू कर दिया था। स्तालिन ने इस पर सख़्त रुख़ अपनाते हुए कहा था कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के नाम पर कालेदिन के विद्रोह को समर्थन देना, यूक्रेन की सोवियत सेनाओं का निःशस्त्रीकरण करके उनको कुचलना, वास्तव में, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का मखौल बनाना था। ऐसे में, कुछ ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रति सोवियत सरकार की निष्ठा पर प्रश्न उठाया। तीसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में मार्तोव ने राष्ट्रीय प्रश्न पर सोवियत नीति पर स्पष्टीकरण माँगा। इस पर प्रियोब्रेज़ेंस्की ने जवाब देते हुए कहा कि पोलैण्ड, लिथुआनिया, आदि में अभी भी बुर्जुआ जनवादी कार्यभार पूरे नहीं हुए हैं और इसलिए वहाँ राष्ट्रीय जनमत संग्रह की बात करना जायज़ है, जबकि कॉकेशस, यूक्रेन आदि बुर्जुआ जनवादी मंज़िल में प्रवेश कर चुके हैं इसलिए वहाँ राष्ट्रीय प्रश्न पर वोट करने का हक़ केवल मेहनतकश अवाम को मिलना चाहिए। स्तालिन ने स्पष्ट किया कि उन देशों में सोवियत सत्ता की माँग करना हास्यास्पद है जहाँ अभी सोवियतें अस्तित्व में आयी ही नहीं हैं। ई.एच. कार ने अपनी रचना में दिखलाते हैं कि गृहयुद्ध के दौर में यह स्पष्ट हो गया था कि किसी भी राष्ट्रीयता के मामले में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू करते हुए उस राष्ट्रीयता और देश के विकास के स्तर और साथ ही वर्ग संघर्ष के मसलों पर विचार करना

होगा। इस मामले में मूल बोल्शेविक सिद्धान्त में कुछ सुधार करने की आवश्यकता थी।

दिसम्बर 1917 में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट पेश करते हुए स्तालिन ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार के कार्यान्वयन में कुछ ज़रूरी परिवर्तनों की चर्चा करते हुए दिखलाया कि सोवियत सत्ता और कुछ सीमान्त प्रदेशों के बीच टकराव का कारण वास्तव में राष्ट्रीय प्रश्न नहीं बल्कि राजनीतिक सत्ता का प्रश्न है। बुर्जुआ सरकारें इस प्रश्न को राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में पेश करने का प्रयास कर रही हैं, ताकि मज़दूर वर्ग की सत्ता के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष को छिपा सकें। स्तालिन ने कहा:

"ये सभी चीज़ें बुर्जुआ वर्ग नहीं बल्कि दिये गये राष्ट्र के मेहनतकश अवाम के अधिकार के तौर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की व्याख्या की ओर इशारा कर रही हैं। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार समाजवाद के लिए संघर्ष में एक उपकरण होना चाहिए और इसे समाजवाद के सिद्धान्तों के अधीन होना चाहिए।" (*वही*, पृ. 266, *अनुवाद हमारा*)

यह वास्तव में वही सिद्धान्त था जो कि बुखारिन पेश कर रहे थे और बोल्शेविक पार्टी में जिसका काफ़ी समर्थन मौजूद था। हालाँकि, पार्टी के आम दायरों में कई बार लोग प्याताकोव के 'पोलिश अपसिद्धान्त' और स्तालिन के 'हर राष्ट्र के मेहनतकशों के लिए आत्मनिर्णय' के अन्तर को नहीं समझ पाते थे, लेकिन निश्चित तौर पर दोनों सिद्धान्तों में अन्तर था। 1920 तक स्तालिन ने गृहयुद्ध के दौरान कई बार इस सिद्धान्त को लागू किया। 1920 में कारेलियन जनता के नाम सन्देश में स्तालिन ने इसका ज़िक्र भी किया। 1920 तक इस सिद्धान्त का कार्यान्वयन अधिकांश मामलों में सफल था, जैसा कि कार ने दिखलाया है। लेकिन कुछ स्थानों पर इस कार्यान्वयन सम्भव नहीं था, विशेष तौर पर वहाँ जहाँ कि अभी सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच राजनीतिक विभाजन स्पष्ट तौर पर मौजूद नहीं था और सर्वहारा वर्ग का एक अलग और स्वतन्त्र राजनीतिक आन्दोलन मौजूद नहीं था। व्यावहारिक तौर पर, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का मामला 1917 से लेकर 1920 के अन्त तक आम तौर पर गृहयुद्ध के साथ जुड़ गया था। ई.एच. कार दिखलाते हैं कि किस प्रकार तमाम बुर्जुआ गणराज्यों ने इसका इस्तेमाल सोवियत सत्ता पर साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर हमले के लिए किया। **लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि स्वयं लेनिन ने 1905 में सर्वहारा वर्ग के आत्मनिर्णय के अधिकार ही बात की थी।** लेनिन एक स्थान पर लिखते हैं:

"अगर हम अपने पक्ष की बात करें तो स्वयं हमारा सरोकार जनताओं या राष्ट्रों के नहीं बल्कि हर राष्ट्रीयता के सर्वहारा वर्ग के आत्म निर्णय से होना चाहिए।" (*वही*, पृ. 267 के तीसरे फुटनोट में, *अनुवाद हमारा*)

यह बात लेनिन ने 1905 में कही थी और इस रूप में लेनिन ने दोबारा इस प्रश्न को सूत्रबद्ध नहीं किया था। **लेकिन एक बात स्पष्ट है कि 'हर राष्ट्रीयता के सर्वहारा वर्ग के आत्मनिर्णय के अधिकार' के सिद्धान्त के प्रणेता स्वयं स्तालिन या बुखारिन नहीं थे।** अप्रैल, 1917 के पहले कई बार पार्टी में सर्वहारा वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और साथ ही राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के समाजवादी क्रान्ति के हितों के मातहत होने की बात बार-बार होती रही थी। अप्रैल, 1917 में उपस्थिति ठोस स्थिति में लेनिन ने बुर्जुआ सरकारों के आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ धोखे को ज़ारवादी रूसी साम्राज्य की दमित राष्ट्रीयताओं के समक्ष बेनक़ाब करने के लिए इसे अधिकतम सम्भव बिना शर्त लागू करने की बात कही थी और लेनिन ने इस विशेष ठोस परिस्थिति को स्पष्ट भी किया था। जैसा कि ई.एच. कार

ने दिखलाया है गृहयुद्ध के दौरान स्वयं लेनिन ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को निरपेक्ष रूप में नहीं लिया था और उसे गृहयुद्ध के विशिष्ट सन्दर्भ में रखकर लागू करने का पक्ष लिया था। कार यह भी दिखलाते हैं कि 1918 और 1919 के दौरान लेनिन ने मज़दूर वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को व्यावहारिक तौर पर स्वीकार किया था और उसका अनुमोदन किया था। कार लिखते हैं, **"हर जगह, और चाहें किसी भी रूप में संघर्ष हो रहा था, उसमें जो असली मुद्दा दाँव पर लगा था वह था क्रान्ति का जीवन अथवा मृत्यु। लेनिन इस दौर में किसी भी दूसरे बोल्शेविक–या किसी भी बोल्शेविक-विरोधी–के ही समान राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को किसी अमूर्त सिद्धान्त के तौर पर गृहयुद्ध के सन्दर्भ से काटकर देखने को तैयार नहीं थे।"** (कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'**, खण्ड-1, पृ. 268, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

यह विवाद वास्तव में तब शुरू हुआ जब एक व्यावहारिक समस्या उत्पन्न हुई। वास्तव में, मज़दूर वर्ग और मेहनतकश अवाम के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त एक ऐसा सामान्य सिद्धान्त नहीं हो सकता था, जो कि सभी देशों पर लागू हो सके। जिन देशों में कोई अच्छे-ख़ासे आकार का मज़दूर वर्ग अभी पैदा ही नहीं हुआ था, या जहाँ यह नगण्य था, या फिर जहाँ पर मज़दूर वर्ग की स्वतन्त्र क्रान्तिकारी राजनीति और बुर्जुआ वर्ग से उसके राजनीतिक विलगाव की स्थितियाँ पैदा नहीं हुई थीं, वहाँ क्या किया जाय? मिसाल के तौर पर, मज़दूर वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त लात्विया, लिथुआनिया और यूक्रेन के अतिरिक्त कहीं भी लागू हो पाना मुश्किल था। यह प्रश्न 1919 से ही बोल्शेविकों के समक्ष उपस्थित होना शुरू हो गया था। पार्टी की आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर लेनिन ने 1913 के लचीले रुख़ को ही अपनाया। स्तालिन उस दौर में सैन्य ज़िम्मेदारियों से घिरे हुए थे और उन्होंने इस प्रश्न पर कुछ नहीं बोला। बुखारिन ने दिसम्बर 1917 में सोवियत कांग्रेस में स्तालिन द्वारा रखी गयी रपट को उद्धृत किया और मज़दूर वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माँग की। उन्होंने कहा कि हमें हर दमित राष्ट्रीयता के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार करना चाहिए, लेकिन पोलिश बुर्जुआ वर्ग और उसी प्रकार के प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग के दावों को नहीं स्वीकार करना चाहिए। प्याताकोव ने अपनी पुरानी अवस्थिति दुहराते हुए कहा कि समाजवादी कार्यक्रम में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह बुर्जुआ वर्ग की माँग है। लेनिन ने प्याताकोव पर तीख़ा हमला करते हुए कहा कि उन स्थानों पर मज़दूर वर्ग के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं लागू हो सकता है जहाँ पर कोई मज़दूर वर्ग है ही नहीं, या फिर जहाँ मज़दूर वर्ग का नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में नहीं है। **इसलिए व्यावहारिक तौर पर बोल्शेविकों को हर मामले में कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर बिना शर्त और अलग होने के अधिकार समेत राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना चाहिए।** लेनिन के अनुसार, जिन मामलों में प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ और सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ श्वेत शक्तियों और साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर इस सिद्धान्त का दुरुपयोग करता है वहाँ बात अलग है और वहाँ इस प्रश्न को हल करने का व्यावहारिक तरीका भिन्न हो सकता है। लेकिन राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार को मज़दूर वर्ग के आत्मनिर्णय के आम सिद्धान्त के तौर पर प्रतिपादित करने के लेनिन ख़िलाफ़ थे और इस बाबत उनकी अवस्थिति दुरुस्त थी। लेनिन की अवस्थिति को आठवीं कांग्रेस में विजय मिली। लेनिन की अवस्थिति को सही तरीके से समझने के लिए उस कांग्रेस में राष्ट्रीय प्रश्न पर पारित प्रस्ताव के पहले, दूसरे और चौथे बिन्दु

पर निगाह डालना ज़रूरी है। राष्ट्रीय प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की नीति के लक्ष्यों को इस प्रकार सूत्रबद्ध किया गया:

"1. इसकी आधारशिला होगा भूस्वामियों और बुर्जुआ वर्ग की सत्ता को उखाड़ फेंकने के संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष को चलाने के उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रीयताओं के सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को साथ लाने की नीति।

"2. दमित देशों के मेहनतकश जनसमुदायों द्वारा इन देशों को दबाने वाले राज्यों के सर्वहारा वर्ग के प्रति जो अविश्वास की भावना है उस पर विजय पाने के लिए, यह ज़रूरी है कि किसी भी राष्ट्रीय समूह को मिले विशेषाधिकारों का उन्मूलन कर दिया जाय, सभी राष्ट्रीयताओं के बीच अधिकारों की पूर्ण समानता स्थापित की जाय, उपनिवेशों और ग़ैर-सम्प्रभु राष्ट्रों के अलग होने के अधिकार को स्वीकार किया जाय।"

दो वर्षों बाद स्तालिन ने इस प्रस्ताव के बारे में कहा था कि इसने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अस्पष्ट नारे को अलग होने का अधिकार शामिल करके एक ठोस और वास्तविक नारा बना दिया था। इस प्रस्ताव के तीसरे बिन्दु ने सोवियत गणराज्यों के एक संघ की वांछनीयता की ओर इशारा किया। **लेकिन सबसे महत्वपूर्ण था चौथा बिन्दु जो दिखलाता है कि लेनिन ने भी आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के कार्यान्वयन में राष्ट्रीयता के विकास के ऐतिहासिक स्तर और वर्ग संघर्ष पर ग़ौर करने की बात का समर्थन किया था।** चौथा बिन्दु इस प्रकार था:

"4. इस प्रश्न पर कि अलग होने की राष्ट्र की इच्छा को कौन अभिव्यक्त करेगा, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी वर्ग-ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाती है, और किसी भी राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास के चरण पर ध्यान देती है: यानी यह मध्ययुगीनता से बुर्जुआ जनवाद की ओर बढ़ रहा है या फिर बुर्जुआ जनवाद से सोवियत या सर्वहारा जनवाद, आदि की ओर बढ़ रहा है।"

अन्त में प्रस्ताव में एक अतिरिक्त पैराग्राफ़ जोड़कर इस बात की ताईद की गयी जो कि "दमनकारी" राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग को साम्राज्यवादी रवैये से बचने का प्रयास करना चाहिए और दमित राष्ट्रों के मेहनतकश अवाम में राष्ट्रवादी भावना के अवशेष होने के प्रति सावधान रहना चाहिए। लेकिन चौथे बिन्दु से एक बात स्पष्ट हो जाती है। **लेनिन का राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त भी किसी भी राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास की मंज़िल को ध्यान में लेने की बात करता था और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय को अभिव्यक्त करने का अभिकरण बुर्जुआ वर्ग का होगा या फिर सर्वहारा वर्ग का वह इसी बात पर निर्भर करता था। बेतेलहाइम इस पूरे इतिहास को नज़रन्दाज़ करते हैं और अपना पाठ उन बिन्दुओं से शुरू करते हैं, जिनसे शुरुआत करने पर, स्तालिन एक अवसरवादी के तौर पर पेश किये जा सकते हैं। यह चौथा बिन्दु वह स्थान दिखला रहा है जहाँ लेनिन और स्तालिन के दृष्टिकोण मिलते हैं।** ई.एच. कार ने सही ही लिखा है, **"यह सबसे अहम चौथा पैरा था जिसने बुर्जुआ से सर्वहारा जनवाद की ओर संक्रमण का सूत्र प्रदान किया। जब तक राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग अपने आपको "मध्ययुगीनता" से मुक्त करने के लिए संघर्ष कर रहा है, तब तक वह "राष्ट्र के अलग होने की इच्छा" का वैध वाहक है और उसे सर्वहारा का समर्थन हासिल है...लेकिन जब मध्ययुगीनता के विरुद्ध संघर्ष (यानी, बुर्जुआ क्रान्ति) पूर्ण हो जाता है, और "बुर्जुआ जनवाद से सोवियत या सर्वहारा जनवाद की ओर संक्रमण" का मंच सज जाता है, तो सर्वहारा "राष्ट्र के अलग होने की इच्छा" का**

एकमात्र वैध वाहक बन जाता है।" (कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'**, खण्ड-1, पृ. 271, *अनुवाद हमारा*) कार आगे स्पष्ट करते हैं कि व्यवहारत: दोनों ही नीतियों, यानी कि बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और मज़दूर वर्ग के लिए आत्मनिर्णय की नीतियों को लागू किया गया और इसकी अपनी जटिलताएँ रहीं। **जो भी हो, एक बात स्पष्ट है कि बेतेलहाइम लेनिन की अवस्थिति की ऐतिहासिकता को किनारे कर देते हैं और विशेष घटना, जॉर्जियाई मामले, के सन्दर्भ में लेनिन की अवस्थिति को लेनिन की आम अवस्थिति के तौर पर पेश करते हैं और इस प्रश्न पर लेनिन को एक उदारपन्थी बना देते हैं।** लेनिन इस बात पर राज़ी थे कि आम सैद्धान्तिक नीति निश्चित तौर पर अलग होने के अधिकार समेत बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार है, लेकिन विशिष्ट मामलों में जहाँ कहीं समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल हो और सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में हो, वहाँ मज़दूर वर्ग को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए।

बेतेलहाइम का दावा है कि स्तालिन ने आम तौर पर बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू नहीं किया और महान रूसी कट्टरपन्थी रवैये को लागू किया। इसके लिए भी बेतेलहाइम जॉर्जियाई मामले के दौरान लेनिन के कुछ पत्रों और लेखन का हवाला देते हैं, जिनके आलोचनात्मक विवेचन पर हम आगे आयेंगे। पहले यह देखते हैं कि स्तालिन ने आम तौर पर लेनिन द्वारा प्रतिपादित बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू किया या नहीं।

राष्ट्रीय प्रश्न के सही ढंग से समाधान के लिए सोवियत सत्ता ने एक अलग कमिसारियत **नार्कोमनैट्स** बनायी थी। इसके मातहत अलग-अलग राष्ट्रों की कमिसारियतें थीं और उनमें अहम पदों पर सम्बन्धित राष्ट्रीयता के लोगों को ही नियुक्त किया गया था। इनका काम न सिर्फ़ सामन्ती और साम्राज्यवादी दमन के ख़िलाफ़ जनता को गोलबन्द करना था, बल्कि क्रान्तिकारी प्रचार करना भी था। पार्टी के भीतर भी राष्ट्रीय प्रखण्ड बनाये गये थे जिन्हें "ब्यूरो" कहा जाता था। स्तालिन नार्कोमनैट्स का नेतृत्व सम्भाल रहे थे। उनके मातहत पेस्तकोव्स्की थे जोकि उप जनकमिसार थे। उन्होंने नार्कोमनैट्स के भीतर बोल्शेविकों के बीच चल रहे संघर्ष का एक ब्यौरा दिया है। उनके मुताबिक, कमिसारियत में तमाम दमित राष्ट्रीयताओं का प्रतिनिधित्व करने वाले तमाम कमिसार वास्तव में रूसीकृत हो गये थे और कई बार रूसियों से भी ज़्यादा रूसी कट्टरपन्थ का प्रदर्शन करते थे। नार्कोमनैट्स के कॉलेजियम में अधिकांश ये ही लोग थे जो कि बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानने की बजाय रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के अमूर्त अन्तरराष्ट्रीयतावादी सिद्धान्त, जिसे "पोलिश अपसिद्धान्त" का भी नाम दिया गया था, मानते थे। पेस्तकोव्स्की के विस्तृत ब्यौरे से पता चलता है कि स्तालिन मज़बूती से लेनिन की कार्यदिशा की हिफ़ाज़त करते थे और कॉलेजियम में अधिकांशत: अलग-थलग पड़ जाते थे। जब कई राष्ट्रीयताओं के गणराज्यों की स्थापना में स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत सत्ता ने योगदान किया और एक अतिरेकी छोर तक जाकर बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू किया, तो स्तालिन पर हवा में नयी राष्ट्रीयताएँ "पैदा" करने तक का आरोप लगाया गया जैसे कि तातार-बशकीर गणराज्य का निर्माण करना। कई मामलों में वास्तव में जो गणराज्य बनाये गये थे, वे किसी एक दमित राष्ट्रीयता का नेतृत्व नहीं करते थे; कुछ जगहों पर बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग दोनों ही काफ़ी कमज़ोर थे और वहाँ एक अलग राष्ट्र-राज्य बनाये जाने की माँग की कोई विशिष्ट अपील भी नहीं थी। लेकिन लेनिन की यही नीति थी कि अलग-अलग राष्ट्रीयताओं में

विभाजित सर्वहारा वर्ग की दूरगामी अन्तरराष्ट्रीयतावादी एकता पैदा करने के लिए अलग होने के अधिकार समेत बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का सामान्य दौरों में पालन किया जाय। लेनिन की यह नीति सही भी साबित हुई। गृहयुद्ध के दौरान राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का प्रश्न कुछ जगहों पर बुर्जुआ ताक़तों ने सत्ता के प्रश्न के साथ उलझा दिया था; उन मामलों में निश्चित तौर पर किसी आदर्श सिद्धान्त का कार्यान्वयन होना मुश्किल था, क्योंकि कोई सामान्य या आदर्श स्थिति मौजूद नहीं थी। फिर भी सोवियत सत्ता ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का उल्लंघन नहीं किया। कुछ स्थानों पर मज़दूर वर्ग के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू किया गया, जिसे कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में राष्ट्रीय इच्छा का वैध वाहक माना गया। **अगर स्तालिन की भूमिका के एक प्रातिनिधिक मामले पर ग़ौर करना हो, तो वह था फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता का मसला।** स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत सत्ता ने फिनलैण्ड के बुर्जुआ वर्ग के दावे पर उसे बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और अलग होने का अधिकार दिया, हालाँकि वहाँ का सर्वहारा वर्ग वहाँ की सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेतृत्व में अच्छा-ख़ासा संगठित था। स्तालिन ने उस समय वीटीएसआईके की बैठक में कहा था:

"दरअसल जनकमिसार परिषद् ने अपनी इच्छा के विरुद्ध जनता को नहीं बल्कि फिनलैण्ड की बुर्जुआज़ी को आज़ादी दी, जिसे कि परिस्थितियों के एक विचित्र मिश्रण के कारण समाजवादी रूस के हाथों आज़ादी मिली। फिनिश मज़दूरों व सामाजिक-जनवादियों ने अपने आपको एक ऐसी स्थिति में पाया जिसमें कि उन्हें सीधे समाजवादियों के हाथों से नहीं, बल्कि फिनिश बुर्जुआ वर्ग की सहायता से आज़ादी मिली।" (कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 288, *अनुवाद हमारा*)

कार बताते हैं कि स्तालिन ने इस वाकये को "फिनिश सर्वहारा वर्ग की त्रासदी" कहा और इसके लिए फिनिश सामाजिक-जनवादियों के अनिर्णय और कायरता को ज़िम्मेदार ठहराया। बाद में, इस आलोचना के प्रभाव में फिनिश सामाजिक-जनवादियों ने सत्ता पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया और कुछ समय के लिए एक अजीब स्थिति पैदा हुई, जिसमें कि सोवियत सत्ता ने फिनिश बुर्जुआ गणराज्य को भी मान्यता दी थी और साथ ही भ्रूण रूप में पैदा हो रहे फिनिश मज़दूर सोवियत गणराज्य को भी मान्यता दी थी! कुछ ही समय पहले ऐसी ही स्थिति यूक्रेन में भी पैदा हुई थी। बहरहाल, बाद में जर्मन सहायता से फिनिश मज़दूर सोवियत को कुचल दिया गया और बुर्जआ सत्ता वहाँ मज़बूती से स्थापित हो गयी। ऐसे और बहुत से ब्यौरे दिये जा सकते हैं जिससे लेनिन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रति स्तालिन की प्रतिबद्धता को सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन बेतेलहाइम ने अपनी सुविधानुसार तथ्यों को छाँटकर पेश किया है, जिससे कि स्तालिन पर भावी हमले की ज़मीन तैयार की जा सके, जो कि वह वास्तव में अपनी रचना के खण्ड 2 और खण्ड 3 में करते हैं। बहरहाल, यहाँ हम उनकी रचना के पहले खण्ड तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे। **इस मामले में बेतेलहाइम के ख़राब इतिहास-लेखन को साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। अब हम जॉर्जियाई मसले पर निगाह डालते हैं और देखते हैं कि वाकई में हुआ क्या था और लेनिन और स्तालिन के बीच के संघर्ष का वास्तविक सन्दर्भ और उसके वास्तविक मुद्दे क्या थे।**

जॉर्जियाई मसला: जॉर्जिया ट्रांसकॉकेशिया का एक अंग था, जिसमें उसके अलावा कुल

7 अन्य राष्ट्रीयताएँ थीं। इनमें प्रमुख दो थीं आर्मेनियाई व अज़रबैज़ानी राष्ट्रीयताएँ। जॉर्जियाई, आर्मेनियाई व अज़रबैज़ानी राष्ट्रीयताओं की कुल आबादी 60 लाख से कुछ कम थी। समस्या यह थी कि ये तीनों राष्ट्रीयताएँ पूरे ट्रांसकॉकेशिया में बिखरी हुई थीं, विशेष तौर पर आर्मेनियाई। पूरे ट्रांसकॉकेशिया की वर्ग संरचना और राष्ट्रीय प्रोफाइल जटिल था जिसके कारण तीनों प्रमुख राष्ट्रीयताओं के लिए अलग-अलग गणराज्यों की सीमाएँ तक तय कर पाना एक बेहद मुश्किल काम था। मिसाल के तौर पर, जॉर्जिया की राजधानी तिफ़लिस में जॉर्जियाई लोगों से ज़्यादा आर्मेनियाई आबादी थी और वास्तव में ट्रांसकॉकेशिया के किसी भी शहर के मुकाबले इस शहर में सबसे ज़्यादा आर्मेनियाई आबादी थी। ऐसे में, ट्रांसकॉकेशिया में रूस-विरोधी राष्ट्रवाद से ज़्यादा इन तीन राष्ट्रीयाताओं के बीच के अन्तरविरोध थे। इसको 1912 में स्तालिन ने इस तरह से व्याख्यायित किया था:

"अगर...जॉर्जिया में कोई गम्भीर *रूसी-विरोधी* राष्ट्रवाद नहीं है तो इसका प्राथमिक कारण यह है कि यहाँ रूसी भूस्वामी नहीं हैं और न ही रूसी बड़ा पूँजीपति वर्ग है, जो कि जनसमुदायों में ऐसे राष्ट्रवाद को ईंधन मुहैया कराता। जॉर्जिया में एक *आर्मेनियाई-विरोधी* राष्ट्रवाद है; लेकिन इसका कारण यह है कि यहाँ एक आर्मेनियाई बड़ा पूँजीपति वर्ग है जो कि छोटे और अभी भी कमज़ोर जॉर्जियाई पूँजीपति वर्ग को दबाता है और इसे एक आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद की ओर धकेलता है। " (स्तालिन, 1954, **'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न'**, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-2, अंग्रेज़ी संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 317-318, *अनुवाद हमारा*)

इन्हीं जटिलताओं के कारण कॉकेशियाई बोल्शेविकों ने सितम्बर 1917 में स्पष्ट किया था कि यहाँ राज्यों का बँटवारा प्रस्तावित करना अव्यावहारिक है। अक्टूबर क्रान्ति के बाद तिफ़लिस में ट्रांसकॉकेशियाई कमिसारियत की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त वहाँ एक मज़दूर, किसानों व सैनिकों की सोवियत भी अस्तित्व में आ चुकी थी, जिसकी अगुवाई एक मेंशेविक नेता **जॉर्डेनिया** कर रहे थे। संविधान सभा के भंग किये जाने के बाद कमिसारियत ने सोवियत सत्ता को मान्यता देने से इंकार कर दिया। इस कमिसारियत में मुख्यत: अज़रबैज़ानी मुखिया, जॉर्जियाई भूस्वामी और बुर्जुआ राष्ट्रवादी मुख्य भूमिका में और बहुसंख्या में थे। जब ब्रेस्त-लितोव्स्क समझौता हुआ उसके कुछ समय बाद एक ट्रांसकॉकेशियाई संघीय गणराज्य अस्तित्व में आया लेकिन यह ज़्यादा दिनों तक नहीं टिका क्योंकि जॉर्जियाई, आर्मेनियाई और अज़रबैज़ानी गुटों के बीच तीखे अन्तरविरोध मौजूद थे। मई 1918 में तीनों प्रमुख राष्ट्रीयताओं ने तीन दिनों के भीतर तीन अलग-अलग गणराज्यों की घोषणा कर दी। इन गणराज्यों की स्वतन्त्रता और भी क्षणभंगुर साबित हुई। साम्राज्यवादी तुर्की ने कुछ ही समय में आर्मेनिया और अज़रबैज़ान के बड़े हिस्से पर अपनी फौजें दौड़ा दीं। आर्मेनिया का अस्तित्व तो नाममात्र का भी नहीं रहा; अज़रबैज़ान में एक तुर्की कठपुतली सरकार बैठा दी गयी। जॉर्जिया ने इस स्थिति से बचने के लिए तुर्की के सहयोगी जर्मनी की सहायता ली और बदले में जर्मनी को युद्ध के दौरान अपने संसाधनों व रेलवे का इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी। जॉर्जिया में 1918 में मेंशेविक जॉर्डेनिया के नेतृत्व में सत्ता स्थापित हो चुकी थी। इस मेंशेविक सत्ता ने सोवियत सत्ता के विरुद्ध हर सम्भव कदम उठाया। जर्मन सामाजिक-जनवादी भी रूस के विरुद्ध इस सत्ता को खुला समर्थन दे रहे थे। बहरहाल, यह स्थिति ज़्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। प्रथम विश्व युद्ध में धुरी शक्तियों की पराजय के बाद ये गणराज्य भरभरा कर गिरने लगे। अज़रबैज़ान में जनवरी 1920 में कम्युनिस्टों ने आम बग़ावत कर सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया।

बाकू में सत्ता में आये बोल्शेविकों ने रूसी सोवियत सत्ता के साथ अपनी पक्षधरता जता दी। जहाँ तक जॉर्जिया का प्रश्न है, वहाँ की मेंशेविक सत्ता ने बोल्शेविक सोवियत सत्ता के विरुद्ध अपनी कार्रवाइयाँ जारी रखीं। इसी बीच **काऊत्स्की, वेण्डरवेल्डे** और **रैमसे मैकडॉनल्ड** जैसे सामाजिक-जनवादी नेताओं ने जॉर्जिया का दौरा किया। जॉर्जियाई मेंशेविक सत्ता ने कम्युनिस्टों का ज़बरदस्त दमन शुरू कर दिया। साथ ही जॉर्जिया ने अज़रबैज़ान और आर्मेनिया, जहाँ बोल्शेविक सत्ताएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं, के ख़िलाफ़ सैन्य गतिविधियाँ और घुसपैठ शुरू कर दी थी। जब अज़रबैज़ान और जॉर्जिया के बीच खुले तौर पर युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी तब 1921 की फरवरी में सोवियत रूसी और जॉर्जियाई बोल्शेविकों ने जॉर्जिया की सीमा पार की और फरवरी के अन्त तक जॉर्जिया में सोवियत सत्ता की स्थापना हुई। यह वास्तव में लाल सेना की आख़िरी कार्रवाइयों में से एक था। इसके बाद स्तालिन के नेतृत्व में सभी सोवियत गणराज्यों के समान विकास के लिए समानतामूलक आर्थिक विकास और सहकार की नीतियों पर अमल की व्यवस्थित शुरुआत हुई। हम उसके विस्तार में गये बग़ैर जॉर्जियाई मामले में उपस्थित हुए अन्तरविरोधों पर आते हैं।

युद्ध के बाद पुराने रूसी साम्राज्य की लगभग सभी राष्ट्रीयताओं के गणराज्यों की स्थापना और सोवियत रूसी सत्ता के साथ उनकी एकता की स्थापना की शुरुआत के समय ही **लेनिन ने यह स्पष्ट किया था कि पूरे ट्रांसकॉकेशिया के समेकित विकास के लिए एक ट्रांसकॉकेशियाई सोवियत गणराज्य की स्थापना आवश्यक है** क्योंकि इसी से ट्रांसकॉकेशिया की अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के अन्तरविरोध के मसलों का समाधान हो सकता है। **लेनिन ने सबसे पहले एक एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई आर्थिक संगठन की माँग की।** बोल्शेविक पार्टी ने जब इस योजना पर काम शुरू किया तो जॉर्जियाई बोल्शेविकों के एक हिस्से, जिसका नेतृत्व **मदिवानी** और **मकारद्ज़े** कर रहे थे, ने इसका विरोध किया। इस विरोध के पीछे यह सोच काम कर रही थी कि जॉर्जियाई राष्ट्र आर्मेनियाई या अज़रबैज़ानी राष्ट्र के मुकाबले आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तौर पर ज़्यादा समृद्ध है और इस एकीकरण से वह उनके समान हो जायेगा या उनसे पिछड़ जायेगा। इस राष्ट्रवादी भटकाव के विरुद्ध बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने कड़े कदम उठाये। आर्मेनिया व अज़रबैज़ान एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्यों के संघ के पक्ष में थे। कुछ समय बाद इस जॉर्जियाई राष्ट्रवादी समाजवादी धड़े के विरोध के बावजूद पहले **द्ज़र्जेंस्की** के हस्तक्षेप के साथ ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्यों के संघ की स्थापना हुई और लेनिन की एकीकृत आर्थिक संगठन की माँग पूरी हुई। लेकिन कुछ ही समय में यह स्पष्ट हो गया कि ऐसे एकीकृत आर्थिक संगठन के लिए *ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्यों के संघ* की बजाय एक *संघीय ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य* की आवश्यकता है और यह कार के शब्दों में **"एक आर्थिक अपरिहार्यता"** के रूप में सामने आ चुका था। जब एक एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की स्थापना के प्रयास शुरू हुए तो मदिवानी और मकारद्ज़े के नेतृत्व में राष्ट्रवादी विचलन के शिकार बोल्शेविक धड़े ने एक प्रकार का विद्रोह कर दिया। इसके बाद अनुशासन को पुनर्स्थापित करने के लिए द्ज़र्जेंस्की व स्तालिन ने ओर्ज़ोनिकिद्ज़े को जॉर्जिया भेजा। वहाँ एक बैठक में जॉर्जियाई राष्ट्रवादी बोल्शेविकों द्वारा दुव्यर्वहार के जवाब में ओर्ज़ोनिकिद्ज़े ने उनके एक सदस्य कबानिद्ज़े पर हाथ उठा दिया। निश्चित तौर पर यह एक भयंकर भूल थी और रूसी पार्टी में रूसीकृत हो चुके जॉर्जियाई बोल्शेविकों पर महान रूसी सोच के प्रभाव को दिखलाता था। ख़ैर, अन्ततः मदिवानी व मकारद्ज़े को उनके पदों से हटा दिया गया और एकीकृत

ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की स्थापना हुई। लेकिन वास्तव में इसके कुछ समय पहले और बाद जो कुछ हो रहा था, उसमें स्तालिन की अवस्थिति और लेनिन की अवस्थिति और पूरे सन्दर्भ पर करीबी नज़र डालने की आवश्यकता है।

पहली बात जो स्पष्ट तौर पर दिखती है कि वास्तव में मदिवानी और मकारद्ज़े का धड़ा लेनिन के आर्थिक एकीकरण और क्रमिक प्रक्रिया में एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की स्थापना के ख़िलाफ़ था और इसके लिए लगातार प्रचार कार्रवाइयाँ और पार्टी के भीतर तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ कर रहा था। ग़ौर करने की बात यह है कि यह धड़ा एक स्वतन्त्र गणराज्य के तौर पर समाजवादी सोवियत गणराज्यों के संघ में शामिल होने को तैयार था, लेकिन ट्रांसकॉकेशियाई संघ में शामिल नहीं होना चाहता था क्योंकि फिर जॉर्जिया को बातम जैसा पोर्ट और तिफलिस जैसा रेलवे जंक्शन आर्मेनिया और अज़रबैज़ान के साथ साझा करना पड़ता। इसके अलावा, एक अलग गणराज्य होने पर जॉर्जिया तिफलिस में मौजूद भारी आर्मेनियाई आबादी, जो कि जॉर्जियाई आबादी से भी ज़्यादा थी, को स्थानान्तरित कर सकता था। **ये सारे कदम पूरे ट्रांसकॉकेशिया में भयंकर उथल-पुथल और एक गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा कर देते। यही कारण था कि लेनिन और स्तालिन दोनों ही ट्रांसकॉकेशिया में शान्ति के लिए एक एकीकृत संघीय गणराज्य की आवश्यकता को समझते थे।** स्तालिन की अवस्थिति इस प्रश्न पर लेनिन के साथ ही थी। लेकिन स्तालिन और द्ज़र्ज़ेंस्की के नेतृत्व में इस समस्या का समाधान करने के लिए जो ठोस कदम उठाये गये, उनमें जल्दबाज़ी थी और यह जल्दबाज़ी ही अन्त में एक अप्रियकर घटना का कारण बनी, हालाँकि स्तालिन इसके लिए प्रत्यक्ष तौर पर उत्तरदायी नहीं थे। लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य के प्रस्ताव को कुछ समय के लिए टाला जाना चाहिए था। इसे रद्द करने के हक़ में वह भी नहीं थे क्योंकि लेनिन तो शुरू से ही एक ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य के पक्ष में थे। **बेतेलहाइम इस असल प्रश्न पर स्तालिन और लेनिन की अवस्थितियों पर चुप्पी साधे रहते हैं और केवल इस मसले को हल करने के तौर-तरीके में हुई भूलों पर केन्द्रित करते हैं और उसके आधार पर स्तालिन पर दक्षिणपन्थी अवसरवादी होने का आरोप मढ़ देते हैं, जो कि लेनिन से सीधा बैर मोल लिये बग़ैर अन्य व्यक्तियों के ज़रिये जॉर्जिया के प्रश्न पर अपनी अलग कार्यदिशा को थोप रहे थे। यह बात तथ्यतः ग़लत है और बेतेलहाइम के ख़राब इतिहास-लेखन का जीता-जागता नमूना है।**

जॉर्जियाई विचलनकारी जॉर्जिया की पार्टी में अल्पसंख्या में थे, लेकिन पार्टी की केन्द्रीय कमेटी में बहुसंख्या में थे। मदिवानी धड़ा इसी बात का लाभ उठा रहा था। 1922 और 1923 में हुई दो जॉर्जियाई बोल्शेविक पार्टी कांग्रेसों में मदिवानी के ट्रांसकॉकेशियाई संघीय गणराज्य को ख़ारिज करने की कार्यदिशा को भयंकर पराजय का सामना करना पड़ा था। एक बार उसे 122 वोटों में से 18 वोट मिले थे और दूसरी बार 144 वोटों में से 20 वोट मिले थे। **स्पष्ट था कि मदिवानी और मकारद्ज़े अपनी प्रतिक्रियावादी कार्यदिशा को जॉर्जियाई पार्टी पर थोप रहे थे।** जॉर्जियाई राष्ट्रवादी समाजवादियों ने अक्टूबर 1922 में रूसी बोल्शेविक पार्टी, विशेषकर ओज़ोनिकिद्ज़े पर ज़ोर-ज़बरदस्ती और ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की योजना को थोपने और जॉर्जियाई राष्ट्र की सम्प्रभुता पर हमले का आरोप लगाते हुए टेलीग्राम भेजा। इसका 21 अक्टूबर 1922 को लेनिन ने यह जवाब दिया:

"मुझे त्सित्साद्ज़े और अन्य लोगों द्वारा भेजे गये प्रत्यक्ष तार सन्देश के अशोभनीय स्वर पर आश्चर्य है...मुझे पक्का यकीन था कि केन्द्रीय कमेटी के महाधिवेशन द्वारा

सारे अन्तरविरोधों का निपटारा हो गया था जिसमें मेरी अप्रत्यक्ष और मदिवानी की प्रत्यक्ष भागीदारी थी। इसीलिए मैं ओर्ज़ोनिकिद्ज़े के ख़िलाफ़ अभद्र भाषा के प्रयोग की कड़ी निन्दा करता हूँ और ज़ोर देकर कहता हूँ कि आपके विवाद को भद्र और वफ़ादार भाषा में निपटारे के लिए आर.सी.पी. के केन्द्रीय कमेटी के सचिवालय को सन्दर्भित किया जाना चाहिए।" (लेनिन, 1976, **कलेक्टेड वर्क्स** खण्ड-45, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 582, *अनुवाद हमारा*)

इसके बाद ही द्ज़र्जेंस्की के नेतृत्व में एक आयोग को इस मामले के निपटारे के लिए भेजा गया था। इस समय तक लेनिन पूरी तरह से स्तालिन के पक्ष में थे और मदिवानी धड़े के ख़िलाफ़ खड़े थे। यह ग़ौरतलब है कि 11वीं पार्टी कांग्रेस में **मार्च 1922** में लेनिन ने ही स्तालिन को राष्ट्रीय मसलों का कमिसार बनाने का प्रस्ताव रखा था और प्रियोब्रेज़ेंस्की की आलोचना के समक्ष स्तालिन का बचाव किया था। उस समय लेनिन ने कहा था कि तुर्केस्तान और कॉकेशिया की समस्या को हल करने के लिए **"हमें एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसके पास इनमें से किसी भी राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि जा सकते हैं और विस्तार से अपनी परेशानियों पर चर्चा कर सकते हैं। हमें ऐसा आदमी कहाँ मिलेगा? मुझे नहीं लगता कि कॉमरेड प्रियोब्रजेंस्की इसके लिए कॉमरेड स्तालिन से बेहतर कोई उम्मीदवार सुझा सकते हैं।"** (लेनिन, 1966, **कलेक्टेड वर्क्स,** खण्ड 33, अंग्रेज़ी संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 315, *अनुवाद हमारा*)

इसके बाद, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं, अक्टूबर 1922 तक लेनिन ने मदिवानी धड़े के राष्ट्रवादी समाजवाद पर हमला किया था और स्तालिन, द्ज़र्जेंस्की और ओर्ज़ोनिकिद्ज़े का बचाव किया था, क्योंकि वे वास्तव में लेनिन की ट्रांसकॉकेशियाई संघ की नीति का ही कार्यान्वयन कर रहे थे। इसके बाद, ओर्ज़ोनिकिद्ज़े की ग़लती के साथ सम्भवत: लेनिन की अवस्थिति और रवैये में कुछ परिवर्तन आया। इसके साथ ही इस दौर में व्यक्तिगत सम्बन्धों के धरातल पर जो कुछ घट रहा था, उसके कारण भी लेनिन का रवैया स्तालिन के प्रति बदला था। कुछ अध्येताओं जैसे कि **डब्ल्यू. बी. ब्लैण्ड** ने इसमें लेनिन की तबियत दो भयंकर दौरों के बाद ज़्यादा बिगड़ने, राजनीतिक कार्यकलापों में उनकी प्रत्यक्ष भागीदारी की समाप्ति और उन तक छन-छनाकर सूचनाओं के पहुँचने और विशेष तौर पर क्रुप्सकाया द्वारा पूर्वाग्रहों के साथ इन सूचनाओं के पहुँचने को ज़िम्मेदार माना है। लेकिन इस मसले पर अटकलबाज़ी नहीं की जानी चाहिए और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका महत्व ज़्यादा से ज़्यादा गौण होगा। सिद्धान्त के मसले पर बात करें, तो हम कुछ बातें स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं।

पहली बात यह कि जॉर्जियाई राष्ट्रवादी-समाजवादी मदिवानी धड़े के ख़िलाफ़ सैद्धान्तिक संघर्ष में स्तालिन बिल्कुल सही थे और उनकी सैद्धान्तिक अवस्थिति लेनिन से बिल्कुल भिन्न नहीं थी। दूसरी बात यह कि इस मामले के निपटारे में स्तालिन के नेतृत्व में जो कार्रवाइयाँ द्ज़र्जेंस्की और विशेष तौर पर ओर्ज़ोनिकिद्ज़े ने कीं, उनमें निश्चित तौर पर जल्दबाज़ी थी और इसके पीछे एक महान रूसी मानसिकता की उपस्थिति की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। स्तालिन ने स्वयं 1923 में इस पर चोट की थी और इस ख़तरे की ओर पार्टी को आगाह किया था कि पार्टी के भीतर भी इस मानसिकता के शिकार लोग मौजूद हैं और यह सोवियत गणराज्यों के संघ की एकता के लिए घातक हो सकता है (देखें ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'**, खण्ड-1 में स्तालिन का

उद्धरण, पृ. 371-72)। बाद में लेनिन ने मदिवानी धड़े के प्रति अपने रवैये में एकाएक बदलाव किया, जिसकी जो भी व्याख्या की जाये, लेकिन इतना स्पष्ट है कि अक्टूबर 1922 के बाद लेनिन की अवस्थिति इस प्रश्न पर सही नहीं थी जबकि स्तालिन की अवस्थिति सापेक्षत: अधिक दुरुस्त थी। बाद के दौर में हुए परिवर्तनों ने दिखला दिया कि मदिवानी समूह वास्तव में बोल्शेविक पार्टी में एक भयंकर विचलन का प्रतिनिधित्व करता था। ग़ौरतलब है कि बाद में मदिवानी ने त्रात्स्कीपन्थी विपक्ष का साथ दिया था और त्रात्स्की, जिन्होंने कि जॉर्जियाई मसले पर हस्तक्षेप करने की लेनिन की गुज़ारिश को ख़राब स्वास्थ्य का हवाला देकर ठुकरा दिया था, बाद में इस मसले का स्तालिन के ख़िलाफ़ इस्तेमाल कर रहे थे। दिसम्बर 1926 में त्रात्स्की द्वारा इस प्रश्न पर आलोचना किये जाने पर स्तालिन ने जवाब देते हुए कहा था कि यह सच है कि **"कॉमरेड लेनिन ने मदिवानी के किस्म के जॉर्जियाई अर्द्ध-राष्ट्रवादी, अर्द्ध-कम्युनिस्टों के प्रति कुछ ज़्यादा ही सख़्त सांगठनिक नीति को अपनाने के लिए मुझे फटकारा था...कि मैं उन्हें "उत्पीड़ित" कर रहा था। बाद के दौर के तथ्यों ने दिखलाया कि तथाकथित "विचलनवादी" यानी मदिवानी की किस्म के लोग वास्तव में उससे ज़्यादा सख़्त व्यवहार के अधिकारी थे.....बाद की घटनाओं ने दिखलाया कि "विचलनवादी" सर्वाधिक निम्न कोटि के अवसरवाद के पतित होते धड़े से ज़्यादा कुछ नहीं थे। त्रात्स्की को यह सिद्ध करने दें कि ऐसा नहीं है। लेनिन इन तथ्यों से वाक़िफ़ नहीं थे, और हो भी नहीं सकते थे, क्योंकि वह बीमार थे, बिस्तर पर थे और उनके पास घटनाओं पर करीबी से ग़ौर करने का मौका नहीं था।"** (स्तालिन, 1974, **ई.सी.सी.आई. का सातवां विस्तृत महाधिवेशन**, *'ऑन ऑपोज़ीशन'*, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 577, *अनुवाद हमारा*)

ग़ौरतलब है कि 1928 में मदिवानी को पार्टी से निकाल दिया गया था। अगर हम मुड़कर उस समय की घटनाओं को देखें तो स्पष्ट है कि जॉर्जियाई मसले पर सैद्धान्तिक तौर पर लेनिन की अवस्थिति ग़लत थी। दूसरी बात यह है कि अगर लेनिन की अवस्थिति सही भी थी तो लेनिन को इस मसले को पोलित ब्यूरो और केन्द्रीय कमेटी पास ले जाना चाहिए था। लेकिन उन्होंने त्रात्स्की व कामेनेव को पत्र लिखा और त्रात्स्की से इस मसले पर हस्तक्षेप करने के लिए कहा, जिससे कि त्रात्स्की ने इंकार कर दिया। ऐसा लगता है कि जीवन के अन्तिम दौर में, विशेष तौर पर, दिसम्बर 1922 के बाद लेनिन इस बात को लेकर आश्वस्त हो गये थे कि स्तालिन जॉर्जियाई मसले पर कुछ सही नहीं कर रहे हैं, हालाँकि उन तक जो सूचनाएँ पहुँची थीं, वे बेहद चुनिन्दा थीं। बहरहाल, जो भी हो, पूरा मसला उपरोक्त तरीके से घटित हुआ था।

बेतेलहाइम इस पूरे सन्दर्भ को पेश किये बिना और पूरे मसले को खोलकर पेश किये बिना अवसरवादी तरीके से स्तालिन को भला-बुरा कहते हैं और उन्हें दक्षिणपन्थी अवसरवादी घोषित करने की हद तक चले जाते हैं। और ख़तरनाक बात यह है कि यह कार्य भी एक पक्का "माओवादी" होने के दावे के साथ किया जाता है! इस पूरे मसले की प्रस्तुति एक बार फिर दिखलाती है कि बेतेलहाइम के सोवियत संघ के इतिहास-लेखन को अधिकतम सम्भव उदारता बरतते हुए ख़राब और प्रोपगैण्डा-लेखन कहा जा सकता है, जिसका निशाना स्तालिन और उनके नेतृत्व में सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण है। इस प्रक्रिया में स्तालिन पर तथ्यत: झूठे आरोप लगाये जाते हैं और स्रोत के तौर पर बेतेलहाइम रॉय मेदवेदेव और मोशे लेविन से लेकर तमाम त्रात्स्कीपन्थी स्रोतों पर निर्भर रहते हैं। **मिसाल के तौर पर, यह आरोप की स्तालिन ने फिनलैण्ड के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का विरोध**

किया था; प्याताकोव, बुखारिन और स्तालिन की अवस्थितियों को एक बताना; केन्द्रीय कमेटी को स्तालिन के विरुद्ध दिखलाना; लेनिन को हर सूरत में बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का समर्थक बताना और गृहयुद्ध के दौरान और ट्रांसकॉकेशियाई संघ के प्रश्न पर लेनिन की अवस्थिति को एकदम गोल कर जाना; आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर पारित प्रस्ताव को ग़लत तौर पर पेश करना; ये तो ख़राब इतिहास-लेखन की महज़ चन्द मिसालें हैं जिनका हमने ऊपर खण्डन भी किया है।

●

आगे बेतेलहाइम स्तालिन पर प्रशासनिक केन्द्रीयतावाद का आरोप लगाते हैं और यह दिखलाने की कोशिश करते हैं कि नौकरशाही के ख़िलाफ़ लेनिन का संघर्ष शुरू से ही वास्तव में मुख्य तौर पर स्तालिन के विरुद्ध संघर्ष था! बेतेलहाइम *अक्टूबर 1922 के बाद के दौर में* लेनिन के लेखन का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन ने स्तालिन के नेतृत्व में पार्टी में मौजूद नौकरशाहाना भटकाव, दक्षिणपन्थी अवसरवादी विचलन और ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ संघर्ष चला रखा था; कि लेनिन द्वारा केन्द्रीय कमेटी में मज़दूरों और ग़रीब किसानों को 50 से 100 की संख्या में शामिल करने की वकालत वास्तव में स्तालिन को नियन्त्रित करने के लिए की गयी थी; लेनिन के तथाकथित "वसीयतनामे" का बेतेलहाइम उसी तरह प्रयोग करते हुए, जैसा कि तमाम बुर्जुआ व त्रात्स्कीपन्थी कुत्साप्रचारक करते हैं, यह दावा करते हैं कि उसमें लेनिन ने स्तालिन की ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों पर हमला किया लेकिन लेनिन द्वारा दिये गये सुझावों और निर्देशों को स्तालिन ने नज़रन्दाज़ कर दिया और पार्टी में लेनिन की मृत्यु के बाद दक्षिणपन्थी-अवसरवादी धड़ा हावी हो गया। **यहाँ बेतेलहाइम सीधे स्तालिन को दक्षिणपन्थी अवसरवाद का नेता क़रार देते हैं और दिखलाने का प्रयास करते हैं कि स्तालिन लेनिनवादी नहीं थे, बल्कि संशोधनवादी पुनर्स्थापना के अभिकर्ता थे। बेतेलहाइम यह भी दिखलाते हैं कि स्तालिन के नेतृत्व में इस दक्षिणपन्थी अवसरवादी धड़े ने लेनिन द्वारा की गयी आलोचनाओं और दिये गये सुझावों को जानबूझकर गुप्त रखा!**

बेतेलहाइम का यह पूरा ब्यौरा न सिर्फ़ ऐतिहासिक तौर पर ग़लत है, बल्कि यह ग़लत मंशा से स्तालिन पर कीचड़ उछालने का प्रयास है। अगर उस दौर के तथ्यों पर निगाह डालें तो चीज़ें थोड़ी स्पष्ट होती हैं। हम पहले भी दिखला चुके हैं कि अक्टूबर 1922 के बाद सम्भवत: दो कारणों से लेनिन के रवैये में एक आकस्मिक परिवर्तन हुआ था। ये दो कारण थे जॉर्जियाई प्रकरण में ओर्ज़ोनिकिद्ज़े का ग़लत आचरण और साथ ही व्यक्तिगत रिश्तों के धरातल पर स्तालिन के प्रति लेनिन के मन में पैदा हुआ शत्रुतापूर्ण भाव। अगर इन दो सम्भावित कारणों पर विचार न किया जाय तो अक्टूबर 1922 के ठीक पहले लेनिन का ठीक उन्हीं मुद्दों पर बिल्कुल विपरीत अवस्थितियों को अपनाने की व्याख्या नहीं की जा सकती, जिन पर लेनिन अक्टूबर 1922 के बाद स्तालिन की निन्दा करते हुए नज़र आते हैं। बेतेलहाइम तथ्यों को ऐसे प्रकट करते हैं मानो स्तालिन के एक साथ केन्द्रीय कमेटी, पोलित ब्यूरो, ऑर्ग ब्यूरो आदि के सदस्य होने के विरोधी थे और इसे स्तालिन द्वारा अपने हाथों में सत्ता केन्द्रित करने का प्रयास मानते थे। लेकिन अगर तथ्यों पर निगाह दौड़ायें तो हम पाते हैं कि स्तालिन 1919 से इनमें से अधिकांश निकायों के सदस्य थे और इनके लिए आम तौर पर सर्वसम्मति से या लेनिन के प्रस्ताव पर ही उनकी नियुक्ति हुई थी। जब **मार्च 1922** में ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस में प्रियोब्रेज़ेंस्की द्वारा स्तालिन के इन कई निकायों के एक साथ सदस्य

होने पर प्रश्न उठाया गया था, तो लेनिन ने इसका सख़्त विरोध किया था और कहा था कि इन भूमिकाओं को सम्भालने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो पार्टी के कार्यकर्ताओं को स्वीकार हो और जिसमें इन भूमिकाओं को कारगर तरीके से निभाने की क्षमता हो; जो अपने हितों से ऊपर उठकर पार्टी हितों को सर्वोपरि बना सकता हो; फिर लेनिन ने प्रियोब्रेज़ेंस्की से ही पूछा था कि क्या स्वयं प्रियोब्रेज़ेंस्की इसके लिए स्तालिन से बेहतर किसी उम्मीदवार के बारे में सोच सकते हैं? लेनिन ने राबक्रिन, यानी मज़दूर-किसान जाँच समितियों के नेतृत्व के लिए भी स्तालिन को ही चुना था। **अप्रैल 1922** में केन्द्रीय कमेटी के सचिवालय की अगुवाई की ज़िम्मेदारी भी लेनिन के प्रस्ताव और ज़ोर देने पर स्तालिन को सौंपी गयी थी। **मई 1922** में लेनिन को पहला दौरा पड़ा। इसके बाद वे उबरे ज़रूर लेकिन उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। **अक्टूबर 1922** में लेनिन ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय को लेकर हुए जॉर्जियाई विवाद में पहले लगातार स्तालिन और द्ज़र्जेंस्की का पक्ष लिया लेकिन उसके बाद उनके पक्ष में आकस्मिक परिवर्तन हुआ, विशेष तौर पर, जॉर्जियाई राष्ट्रवादी-समाजवादियों द्वारा किये गये दुर्व्यवहार के जवाब में ओर्ज़ोनिकिद्ज़े द्वारा हाथ उठाने के बाद और लेनिन की तबीयत ज़्यादा गड़बड़ होने के बाद। लेनिन की तबीयत के बिगड़ने के बाद और विशेष तौर पर **दिसम्बर 1922** में पड़े एक बड़े आघात के बाद डॉक्टरों ने लेनिन को हर प्रकार के राजनीतिक घटनाक्रम या उसकी सूचनाओं के सख़्ती से काटने की सलाह दी। पोलित ब्यूरो ने यह ज़िम्मेदारी स्तालिन को सौंपी।

लेनिन पार्टी और सोवियत समाजवादी निर्माण के प्रति अपने सरोकारों के चलते लगातार पार्टी रिपोर्टों, अखबारों और कुछ कॉमरेडों से मिलने की माँग करते रहते थे। लेकिन स्तालिन पोलित ब्यूरो के आदेशों से बँधे हुए थे और यह समझ रहे थे कि किसी भी किस्म का तनाव लेनिन के लिए प्राणान्तक सिद्ध हो सकता है, जैसा कि डॉक्टरों ने कहा था। सूचनाओं के अभाव में लेनिन कई मसलों के लेकर काफ़ी बेचैन और चिन्तित थे। ऐसे में, उस व्यक्ति के प्रति उनकी नाराज़गी होना, जिसे लेनिन को राजनीतिक घटनाक्रम अथवा उसकी सूचनाओं से दूर रखने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी थी, नैसर्गिक था। इसी बीच क्रुप्सकाया ने इस इन्तज़ाम का उल्लंघन कर लेनिन तक कुछ सूचनाएँ पहुँचायीं और इस पर स्तालिन ने उन्हें झिड़का था। इस पर क्रुप्सकाया ने त्रात्स्की और कामेनेव से शिक़ायत की थी। इसके बाद ऐसी एक घटना की पुनरावृत्ति पर स्तालिन ने कड़े शब्दों में क्रुप्सकाया की भर्त्सना की थी। जब क्रुप्सकाया ने इस घटना की ख़बर लेनिन तक पहुँचायी तो लेनिन ने सम्बन्ध-विच्छेद की धमकी देते हुए स्तालिन को एक पत्र भेजा। इस सारे घटनाक्रम के दौरान स्तालिन ने लेनिन के डॉक्टरों के निर्देशों के कार्यान्वयन के उत्तरदायित्व से छूट माँगी थी, मगर केन्द्रीय कमेटी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इन अपवादस्वरूप स्थितियों में अक्टूबर 1922 के बाद लेनिन की अवस्थितियों और स्तालिन के प्रति उनके रवैये में आये आकस्मिक परिवर्तनों के विशिष्ट और अलग से विश्लेषण की आवश्यकता है। **लेकिन इतना तय है कि इस दौर में, यानी कि अक्टूबर 1922 के बाद, लेनिन द्वारा लिखे गये पत्रों, पार्टी कांग्रेस को दिये गये सुझावों के आधार पर स्तालिन या पार्टी के अन्य नेताओं के विषय में कोई पुख़्ता राय बनाना उचित नहीं होगा।** इस दौर के लेनिन के पत्रों और टिप्पणियों को विशिष्ट तौर पर छाँटकर और सन्दर्भों से काटकर बेतेलहाइम ने स्तालिन के विरुद्ध आरोप-पत्र तैयार करने के लिए इस्तेमाल किया है और इस प्रक्रिया में बौद्धिक नैतिकता को भी एक हद तक तिलांजलि दे दी है।

लेनिन की तथाकथित "वसीयत" का हवाला देते हुए 1925 में अमेरिकी त्रात्स्कीपन्थी

मैक्स ईस्टमैन ने त्रात्स्की की हिमायत की थी। उस समय त्रात्स्की ने उसका विरोध करते हुए **'बोल्शेविक'** अख़बार में एक स्पष्टीकरण छापा था और लिखा था:

"ईस्टमैन दावा करता है कि...तथाकथित 'वसीयतनामे' को....केन्द्रीय कमेटी द्वारा पार्टी से 'छिपाया' गया...इसे हमारी पार्टी के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार के अलावा और कोई नाम नहीं दिया जा सकता है। व्लादिमीर इल्यीच ने कोई वसीयतनामा नहीं छोड़ा है, और हमारी पार्टी के चरित्र से ही स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे किसी 'वसीयतनामे' की कोई गुंजाइश नहीं है। प्रवासी रूसी व विदेशी बुर्जुआ व मेंशेविक प्रेस में जिस चीज़ को 'वसीयतनामा' कहा गया है (इस तरह से गड़बड़झाला करके जिससे कि उसे पहचाना भी नहीं जा सकता है) वह सांगठनिक मसलों पर सुझाव देने वाला व्लादीमिर इल्यीच का एक पत्र है। तेरहवीं पार्टी कांग्रेस ने उस पर अधिकतम सम्भव ध्यान दिया है...उसे छिपाने या किसी 'वसीयत' को पूर्ण न करने की सारी बातें दुष्टतापूर्ण आविष्कार हैं।" (लूडो मार्टेंस, **'अनदर व्यू ऑफ़ स्तालिन'**, में उद्धृत, पृ. 22, libgen.org पर उपलब्ध संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

हालाँकि, कुछ वर्ष बाद ये ही त्रात्स्की अपनी इस बात से पलट गये और स्तालिन के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार में इस हद तक गिर गये कि उन्होंने स्तालिन पर लेनिन की हत्या तक का आरोप लगा दिया!

अगर लेनिन की उन आख़िरी टिप्पणियों और पत्रों पर भी ग़ौर करें, जिन्हें बुर्जुआ व त्रात्स्कीपन्थी कुत्साप्रचारकों अपने घटिया कुत्साप्रचार के लिए स्तालिन के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया है, तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि बेतेलहाइम का यह दावा बिल्कुल हास्यास्पद है कि जब लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी की संख्या बढ़ाने और उसमें मज़दूरों की संख्या बढ़ाने की बात की थी, तो उनका निशाना स्तालिन थे। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर लिखा था कि केन्द्रीय कमेटी में शीर्ष नेतृत्व के अलग-अलग हिस्सों के बीच उस ख़तरनाक टकराव रोकने के लिए केन्द्रीय कमेटी के विस्तार की आवश्यकता है जो कि भावी पार्टी फूट का कारण बन सकता है; साथ ही, लेनिन का मानना था कि समूची प्रशासनिक मशीनरी के सहज तरीके से काम करने के लिए भी केन्द्रीय कमेटी के विस्तार की आवश्यकता है। लेकिन बेतेलहाइम इस पूरे सुझाव को स्तालिन पर बिना नाम लिये किये गये हमले के तौर पर पेश करते हैं। इसके अतिरिक्त, इस सुझाव पर अमल करना भी सम्भव नहीं था। उस दौर में 50 से लेकर 100 मज़दूरों तक को एकाएक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी का सदस्य कैसे बनाया जा सकता था?

लेनिन के सुझाव के आधार पर केन्द्रीय कमेटी का बाद में विस्तार किया गया लेकिन बेतेलहाइम इस बात पर शिकायत करते हैं कि इनमें एक भी बिल्कुल आम या साधारण मज़दूर नहीं था! यह भी एक अजीब बात है क्योंकि पार्टी की केन्द्रीय कमेटी में नये सदस्यों को सहयोजित करने का आधार सिर्फ़ किसी का मज़दूर होना नहीं हो सकता है। लेनिन का यह सुझाव स्पष्ट तौर पर व्यावहारिक नहीं था और इस दौर में लेनिन की पूरी स्थिति को समझे बग़ैर इस घटनाक्रम के पूरे सन्दर्भ को नहीं समझा जा सकता है। स्तालिन को महासचिव के पद से हटाने की सुझाव देते हुए भी लेनिन ने केवल उनके व्यक्तिगत रवैये या उनके रूखे बर्ताव की बात की थी। बल्कि लेनिन ने यहाँ तक कहा था कि इस एक गुण के अतिरिक्त नये महासचिव में वे सभी गुण होने चाहिए जो कि स्तालिन में हैं। **लेकिन बेतेलहाइम यहाँ पूरे मसले को ऐसे पेश करते हैं कि स्तालिन को दक्षिणपन्थी अवसरवादी और लेनिन को उसके ख़िलाफ़ एक 'सांस्कृतिक क्रान्ति' का आह्वान करने**

वाले रूप में पेश कर पायें।

ज़ाहिर है कि बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा नतीजे पहले से तय करके लिखा गया है। तमाम तथ्यों को सन्दर्भों से काटकर पेश किया गया है जिसका एकमात्र लक्ष्य है यह सिद्ध करना कि सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी में दक्षिणपन्थी अवसरवादी धड़े के हावी हो जाने के कारण हुई थी! राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्तालिन की आलोचना करते समय भी बेतेलहाइम अन्त में पाठक को इस नतीजे तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं कि स्तालिन के राजनीतिक अर्थशास्त्र में ही संशोधनवाद के बीज मौजूद थे। ठीक उसी प्रकार पार्टी के भीतर जनवादी केन्द्रीयता को लागू करने के प्रश्न पर भी बेतेलहाइम स्तालिन पर नौकरशाहाना केन्द्रीयता को लागू करने का आरोप लगाते हैं। सोवियत इतिहास के हरेक मसले पर बेतेलहाइम अन्त में स्तालिन के विषय में इसी प्रकार के नतीजों पर पहुँचते हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि ये नतीजे पहले से ही तय होते हैं और बेतेलहाइम उन नतीजों के अनुसार तथ्यों का सन्दर्भों से काटकर चुनाव करते हैं।

5. पाँचवाँ भागः क्रान्ति के पाँच वर्षों का लेखा-जोखा और लेनिन की मृत्यु की पूर्वसंध्या पर क्रान्ति के समक्ष मौजूद सम्भावनाएँ

इस आख़िरी भाग में चार्ल्स बेतेलहाइम की ग़ैर-मार्क्सवादी अवधारणाएँ सबसे नग्न रूप में खुल कर सामने आ जाती हैं। इस पूरे हिस्से में चार्ल्स बेतेलहाइम अपने "माओवाद" के चोगे में लेनिन को एक सामान्य नरोदवादी, लोकरंजकतावादी, अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी में तब्दील कर देते हैं। स्वयं लेनिन की रचनाओं और कथनों की मनमाने तरीके से और जानबूझकर ग़लत व्याख्या की गयी है और जहाँ कहीं बेतेलहाइम ऐसा करने में असफल रहे हैं, वहाँ लेनिन पर ही उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त को मानने और राज्यवादी होने का आरोप मढ़ दिया गया है।

शुरू में ही बेतेलहाइम लेनिन पर यह आरोप लगा देते हैं कि क्रान्ति के पाँच वर्षों का समाहार लेनिन ने उस पुरानी शब्दावली में किया है (मार्क्सवादी-लेनिनवादी शब्दावली पढ़ें!) जो कि अब क्रान्ति की समस्याओं को समझने के लिए अपर्याप्त थी; और इस वजह से, बकौल बेतेलहाइम, लेनिन की रचनाओं की एक 'पारम्परिक' व्याख्या करना सम्भव हो जाता है! बेतेलहाइम की यह भूमिका वास्तव में आगे चलकर लेनिन के संशोधनवादी और प्रतीतिगत रूप से "माओवादी" विनियोजन की भूमिका तैयार करने का प्रयास सिद्ध होता है।

पहले अध्याय की शुरुआत में ही बेतेलहाइम "क्रान्तियों के अन्तर्गुन्थन" के अपने त्रात्स्कीपन्थी फार्मुले को दुहराते हैं, जिस पर हम ऊपर अपनी बात रख चुके हैं। **बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि 'नयी आर्थिक नीतियाँ' (नेप) समाजवादी संक्रमण की नैसर्गिक नीति है। उनके अनुसार, सभी एशियाई देशों में जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ सम्पन्न होंगी; यहाँ वह त्रात्स्की का नाम नहीं लेते लेकिन वास्तव में त्रात्स्कीपन्थी अवस्थिति पर जाकर खड़े हो जाते हैं।** बेतेलहाइम यह सिद्ध करने के लिए, कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान किसानों के पार्टी से दूर होने का एकमात्र कारण पार्टी की ग़लत नीतियाँ थीं, लेनिन का एक उद्धरण देते हैं। लेकिन वास्तव में अगर उस उद्धरण पर ग़ौर करें, तो

लेनिन वस्तुगत धरातल पर अन्तरविरोधों को समझने में पार्टी द्वारा हुई भूल और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान हुए अतिरेकों के अलावा मुख्य तौर पर मँझोले किसानों के नैसर्गिक वर्ग चरित्र की ओर इशारा कर रहे हैं (देखें, चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 442, *अनुवाद हमारा*)। इसके बाद बेतेलहाइम दोबारा अपने इस पुराने तर्क को दुहराते हैं कि अगर मँझोले किसानों के साथ मज़बूत संश्रय बनाया जाय तो पूरा का पूरा मँझोला किसान वर्ग कालान्तर में समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो सकता है। समाजवादी निर्माण का कार्य बेतेलहाइम के अनुसार एकरेखीय तरीके से, और बिना किसी निरन्तरता और विच्छेद अथवा छलाँगों की प्रक्रिया के उन्नत मंज़िलों में पहुँच सकता है! सच्चाई यह है कि समूचे मँझोले किसानों से 1921 में एक मज़बूत संश्रय कायम करना और गाँवों के वर्ग युद्ध को कुछ समय के लिए स्थगित करना, सोवियत सत्ता की बाध्यता थी। इसका कारण यह था कि मँझोले किसानों के प्रति "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में सही नीति का निष्पादन नहीं हो पाया था, जिसका एक कारण यह भी था कि ग़रीब किसान समितियों के कार्यों का प्रत्यक्ष राजनीतिक नेतृत्व कर पाने में बोल्शेविक पार्टी असफल रही थी।

आगे बेतेलहाइम लिखते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के बाद रूसी क्रान्ति ने अपने तीन सर्वहारा कार्यों को भी अंजाम दिया। उनके अनुसार ये तीन कार्य थे साम्राज्यवादी युद्ध से अलग होना, सर्वहारा अधिनायकत्व के सोवियत तन्त्र का निर्माण और समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक आधार का निर्माण। बेतेलहाइम के अनुसार, आख़िरी दोनों कार्य 1921 में ही शुरू हो सके। **यह बात भी तथ्यतः ग़लत है।** उद्योगों के राष्ट्रीकरण का कार्य मूल और मुख्य तौर पर 1919-20 तक पूरा हो चुका था; सोवियत राज्यतन्त्र किस प्रकार कार्य करेगा उसका बुनियादी ढाँचा, यानी कि राज्यसत्ता के विभिन्न अंगों-उपांगों की रचना भी मूल व मुख्य तौर पर 1921 तक हो चुकी थी। वास्तव में, बेतेलहाइम यह दावा कि ये दोनों कार्य 1921 के बाद हुए, इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें 'नेप' को एक प्रतिष्ठित स्थान देना है और अपनी इस बात को पुष्ट करना है कि 'नेप' की नीति रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने की नीति नहीं थी, बल्कि यह समाजवादी संक्रमण की सही नैसर्गिक नीति थी और एक 'महान अग्रवर्ती छलाँग' थी!

बेतेलहाइम इस बात को समझने में नाकाम रहते हैं कि मज़दूर-किसान संश्रय का प्रश्न और इस रूप में 'नेप' की नीतियों का प्रश्न वास्तव में आर्थिक से ज़्यादा से राजनीतिक प्रश्न था। 'नेप' की नीति को एक वांछनीय समाजवादी निर्माण की नीति के तौर पर पेश किया गया है, बजाय एक विशिष्ट परिस्थिति में पैदा हुई राजनीतिक आवश्यकता के तौर पर। लेनिन ने जब उन लोगों की आलोचना की थी जो कि 'नेप' की आवश्यकता को नहीं समझ रहे थे, तब वह सैद्धान्तिक तौर पर 'नेप' को समाजवादी निर्माण की आम नीति के तौर पर नहीं पेश कर रहे थे। उनकी आलोचना का निशाना वे लोग थे, जो कि 'नेप' के तौर पर फौरी तौर पर और रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने की आवश्यकता को नहीं समझ रहे थे; जो यह नहीं समझ रहे थे कि समाजवादी संक्रमण के दौरान बार-बार समाजवादी आक्रमणों और रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने के दौर (periods of strategic retreats and offensives) आयेंगे; जो समाजवादी निर्माण की किसी एकरेखीय प्रक्रिया की समझदारी के शिकार थे; जो "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को जारी रखने की वकालत कर रहे थे या उसे महज़ कुछ कम करने की बात कर रहे थे। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन द्वारा 'नेप'

की नीतियों को सूत्रीकरण को समाजवादी निर्माण की आम नीति की खोज के तौर पर पेश करते हैं!

बोल्शेविक क्रान्ति के दूसरे कार्यभार की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सोवियत सत्ता के तौर पर सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना ज़रूर हुई लेकिन यह सर्वहारा अधिनायकत्व बहुत टिकाऊ नहीं था क्योंकि राज्य का पूरा ढाँचा अभी भी बुर्जुआ तत्वों से भरा हुआ था और उसमें काफ़ी हद तक ज़ार के दौर के तत्व भी मौजूद थे; उनके अनुसार पार्टी में पुराने मँझे हुए सर्वहारा राजनीतिज्ञों की मौजूदगी उसके सर्वहारा चरित्र को बनाये हुए थी, लेकिन ये पुराने सर्वहारा राजनीतिज्ञ भी अक्सर "वाम" अथवा दक्षिण भटकावों के शिकार होते रहते थे और इसलिए यह सर्वहारा चरित्र भी बेहद क्षणभंगुर था; लेकिन लेनिन के दौर तक कभी ये भटकाव हावी नहीं हो पाये क्योंकि लेनिन ने इनके विरुद्ध संघर्ष चलाया; इसलिए पार्टी और राज्य दोनों का ही सर्वहारा चरित्र बेहद कमज़ोर और क्षणभंगुर था और वह लेनिन के जीवन-काल तक इसलिए कायम रहा क्योंकि लेनिन ने तमाम भटकावों के विरुद्ध संघर्ष किया। **यह पूरा विश्लेषण एक व्यक्ति पर केन्द्रित है और पार्टी और राज्य का सर्वहारा चरित्र बनाये रखने का श्रेय एक व्यक्ति को देता है। यह बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के साथ अन्याय है क्योंकि यह बोल्शेविक पार्टी के तमाम अहम नेताओं के महती योगदान को दरकिनार करता है; कोई सही कार्यदिशा कहीं बाहर से या किसी एक प्रतिभावान नेता के मस्तिष्क से ही नहीं आती बल्कि तमाम अन्य कार्यदिशाओं से अन्तर्क्रिया करते हुए जन्म लेती है।** दो लाइनों के संघर्ष और इस रूप में पार्टी की राजनीतिक जीवन रेखा के बारे में एक बेहद ग़ैर-द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण को बेतेलहाइम के पूरे इतिहास-लेखन में देखा जा सकता है। साथ ही, बेतेलहाइम बार-बार इशारों में यह कहने का प्रयास करते हैं कि लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण में विपर्यय (reversal) का दौर शुरू हो गया था। ज़ाहिर है, निशाना स्तालिन हैं। लेकिन स्तालिन को लगातार निशाना बनाने की प्रक्रिया में सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के इतिहास के साथ भयंकर अन्याय होता है क्योंकि सोवियत संघ में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण का कार्य स्तालिन की ही अगुवाई में हुआ था, चाहे हम उसके आलोचनात्मक विश्लेषण की वांछनीयता को स्वीकार भी करें, जो कि निश्चित रूप से किया जाना चाहिए।

बेतेलहाइम रूसी क्रान्ति के चरणों की बात करते हैं और दिखलाते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता की स्थापना के बाद दूसरा चरण था "युद्ध कम्युनिज़्म" का दौर। **इस दौर के बारे में, बेतेलहाइम के अनुसार, लेनिन के भी कुछ भ्रम थे।** लेनिन का प्रमुख भ्रम यह था कि गाँवों में किसानों को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने का सर्वहारा कार्य शुरू हो सकता था। यहाँ बेतेलहाइम लेनिन के इस प्रस्ताव की ओर इशारा कर रहे हैं जिसमें लेनिन ने ग़रीब किसान समितियों को बनाने और गाँवों में सर्वहारा वर्ग संघर्ष को तेज़ करने का सुझाव रखा था। बेतेलहाइम अन्त में इस प्रयोग को पूर्ण रूप से असफल क़रार देते हैं, जो कि तथ्यत: ग़लत है, और इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि लेनिन की यह अपेक्षा ग़लत थी। बेतेलहाइम के अनुसार, लेनिन ने बाद में इस ग़लती को स्वीकार करते हुए मँझोले किसानों से मज़बूत संश्रय बनाने और उन्हें समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी करने की नीति को प्रतिपादित करते हुए 'नेप' का सिद्धान्त दिया। एक बार फिर बेतेलहाइम लेनिन और पूरे सोवियत इतिहास के साथ बदसलूकी जारी रखते हैं। लेनिन ने ग़रीब किसान समितियों के प्रयोग की शुरुआत गृहयुद्ध के दौर के पहले ही शुरू करने की बात कर दी थी और वास्तव में ये प्रयोग सफलतापूर्वक शुरू भी हो गये थे।

इस मायने में लेनिन की अवस्थिति बिल्कुल निरन्तरतापूर्ण थी, जो कि उन्होंने 1905 में 'सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' नामक पुस्तक में पेश की थी। यानी कि जनवादी कार्यभारों के पूर्ण होने तक पूरी किसानी को साथ लेने की ज़रूरत और फिर किसानों में से विशेष तौर पर अर्द्धसर्वहारा वर्ग और सर्वहारा वर्ग को, यानी कि भूमिहीन मज़दूरों व ग़रीब किसानों को साथ लेकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ने की ज़रूरत। लेनिन ने रूस की विशिष्ट स्थिति में इस प्रक्रिया के अबाधित और निरन्तरतापूर्ण (uninterrupted) होने की भी बात पहले ही कही थी। लेनिन की यह नीति सही भी सिद्ध हुई थी। गृहयुद्ध की शुरुआत और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की शुरुआत के बाद ग़रीब किसान समितियों को फसल वसूली का भी कार्य सौंपा गया और साथ ही उन्हें राजनीतिक प्रचार का कार्य भी दिया गया। पार्टी के प्रमुख नेता व संगठनकर्ता युद्ध के दौर में आम तौर पर सैन्य व अन्य आपात ज़िम्मेदारियों को पूरा करने में उलझे हुए थे; वास्तव में, पार्टी के पास गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के दौर में इन सारे कार्यों को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त राजनीतिक संगठनकर्ता मौजूद नहीं थे। ऐसे में, ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को राजनीतिक रूप से मार्गदर्शित करने के कार्य को बोल्शेविक पार्टी सही ढंग से अंजाम नहीं दे सकी। नतीजतन, ग़रीब किसान समितियाँ मँझोले किसानों के प्रश्न को सही रूप से निष्पादित नहीं कर सकीं। मँझोले किसानों को जीतने (मूलत: निम्न मँझोले किसान) या फिर उन्हें तटस्थ बनाने (मूलत: उच्च व खाते-पीते मँझोले किसान) की समाजवादी नीति पर सही ढंग से अमल नहीं हो सका। नतीजतन, मँझोले किसानों के वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से का सोवियत सत्ता से विलगाव हो गया। **लेकिन ग़रीब किसान समितियों के निर्माण की शुरुआत लेनिन के मुताबिक बिल्कुल सही कदम था।** यदि गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" का दौर न होता तो बोल्शेविक पार्टी ग़रीब किसान समितियों के द्वारा किसानों के बीच राजनीतिक विभेद पैदा कर गाँवों में समाजवादी कार्यक्रम के कार्यान्वयन के प्रश्न पर आगे बढ़ सकती थी। अपने पूर्ण रूप से सफल न होने के बावजूद ग़रीब किसान समितियों ने एक भूमिका निभायी और साथ ही उनके किसान सोवियतों में विलय के कारण इन सोवियतों में बोल्शेविकों की स्थिति कुछ मज़बूत हुई। लेकिन फिर भी कुल मिलाकर 1918 से 1920 तक की आपात स्थितियों में जो अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुईं उनके कारण सोवियत सत्ता को 1921 में रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने पड़े।

लेकिन अगर लेनिन द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के समाहार पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि वह बेतेलहाइम के प्रस्तुतिकरण के विपरीत, सकारात्मक और नकारात्मक दोनों की ही बात करता है। हम इसकी ऊपर चर्चा कर चुके हैं और इसलिए उनके विस्तार में नहीं जायेंगे। एक बात स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर बेतेलहाइम लेनिन की पूरी अवस्थिति को ग़लत तरीके से विनियोजित करते हैं और साथ ही 'नेप' के बारे में लेनिन की समझदारी को भी तोड़ते-मरोड़ते हैं।

"युद्ध कम्युनिज़्म" के विषय में लेनिन की अगुवाई में पार्टी द्वारा की गयी आत्मालोचना का पहले तो बेतेलहाइम मनमाने तरीके से अर्थ निकालने का प्रयास करते हैं, और जब वह ऐसा नहीं कर पाते हैं तो इस आत्मालोचना को "अपर्याप्त" करार दे देते हैं! लेनिन की अवस्थिति को देखें तो हम पाते हैं कि वह "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में लागू की गयी नीतियों के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को समझते थे। उनके अनुसार, इसके दो पहलू थे। पहला यह कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की कई नीतियाँ अपने आप में ग़लत

नहीं थीं, मगर उसमें कुछ का समय अभी आया नहीं था और युद्ध के दबाव के कारण उन्हें समय से पहले लागू करना पड़ा था; इससे जुड़ी हुई कमज़ोरी यह थी कि पार्टी के कई अगुवा नेता इस बात को नहीं समझ पा रहे थे और "युद्ध कम्युनिज़्म" की सभी नीतियों को समाजवादी निर्माण की आम नीतियों के तौर पर पेश कर रहे थे। दूसरा पहलू यह था कि इन नीतियों के कार्यान्वयन में कई बार पार्टी से अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुईं, जिनके पीछे वास्तव में त्रात्स्की व बुखारिन जैसे नेताओं की "वामपंथी"-दक्षिणपंथी अवधारणाओं की भी एक भूमिका थी। लेकिन लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया था कि जहाँ एक ओर कुछ अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ पार्टी के नेताओं की ग़लत अवधारणाओं के कारण हुईं, लेकिन कुछ ग़लतियाँ आपात व अपवादस्वरूप पैदा हुई वस्तुगत परिस्थितियों ने पार्टी पर थोप भी दीं थीं, जिनसे बचना सम्भव नहीं था। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन की इस पूरी अवस्थिति को इस कदर तोड़-मरोड़ देते हैं कि उसे पहचानना भी सम्भव नहीं रह जाता है!

"युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की नीतियों के प्रभावों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि उसके बाद जारी की गयी 'नेप' की नीतियाँ समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए लेनिन द्वारा प्रस्तावित सकारात्मक नीतियाँ थीं। लेनिन का यह मानना था कि रूस तत्काल समाजवादी नीतियों के कार्यान्वयन के लिए तैयार नहीं था और उसके लिए पहले तात्कालिक तौर पर समाजवाद की ओर संक्रमण की कुछ मध्यवर्ती नीतियों को लागू करना होगा। यह सच है कि लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने की बजाय समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदमों की बात की थी। लेकिन ये कदम अक्टूबर 1917 से मई 1918 के बीच काफ़ी हद तक लागू किये गये थे और उसके बाद "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में कुछ अन्य कदमों को उठाया गया था।

"युद्ध कम्युनिज़्म" के ठीक पहले और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के दौरान ही बोल्शेविकों ने गाँवों में समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ने के कदमों को उठाना शुरू कर दिया था, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। लेकिन "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों में हुई ग़लतियों के कारण जो नुक़सान हुआ, यानी कि मँझोले किसानों के विशाल वर्ग का सोवियत सत्ता से जो अलगाव हुआ, उसकी क्षति-पूर्ति के लिए 'नेप' की नीतियों को लागू करना पड़ा। यह बोल्शेविकों के लिए चयन का मसला कम और बाध्यता का मसला ज़्यादा था और इसीलिए लेनिन ने उसे 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' का नाम दिया था। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार यह संज्ञा ग़लत थी और 'नेप' की नीति एक सकारात्मक कदम थी, एक ऐसा कदम जो कि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर के लिए वैध था।

आगे बेतेलहाइम दावा करते हैं कि सोवियतों का निष्क्रिय हो जाना वास्तव में "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लत नीतियों का परिणाम था। यह भी इतिहास के साथ बदसलूकी है। लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व के बहुलांश के समक्ष यह बात स्पष्ट थी कि पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना सोवियतें स्वयं सर्वहारा राज्यसत्ता के कार्यकलापों को नहीं सम्भाल सकती हैं और इस बारे में लेनिन ने सकारात्मक तौर पर अपनी राय रखते हुए कहा था कि ढाई वर्षों के सोवियतों के कार्यकलापों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पार्टी सर्वहारा राज्यसत्ता का प्रधान उपकरण होगी और सोवियतें उसके संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना सर्वहारा सत्ता के कार्यकलापों को अंजाम नहीं दे सकती हैं। वास्तव में, बेतेलहाइम स्वयं एक स्थान पर इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन 'नेप' की नीतियों को समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पेश करने और "युद्ध कम्युनिज़्म" की

नीतियों की एक ग़लत आलोचना पेश करने के लिए अपनी इस बात को बदल देते हैं और सोवियतों के निष्क्रिय होने के लिए "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि अगर "युद्ध कम्युनिज़्म" का अवांछित कालखण्ड न भी होता तो सोवियतें स्वायत्त रूप से सर्वहारा वर्ग के शासन के कार्यभारों को नहीं सम्भाल सकती थीं। बेतेलहाइम एक अन्य मुद्दे पर भी अन्तरविरोधों के गड्ढे में गिर जाते हैं। बेतेलहाइम का मानना है कि सोवियत राज्यसत्ता के उपकरणों में बुर्जुआ तत्वों और बुर्जुआ प्रथाओं का हावी होना "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लतियों का कारण था। राज्यसत्ता पार्टी नेतृत्व से स्वायत्त होकर आचरण कर रही थी। लेकिन एक दूसरे स्थान पर बेतेलहाइम त्रात्स्की व बुखारिन के "युद्ध कम्युनिज़्म" के ज़रिये समाजवाद में "सीधे संक्रमण" की अवधारणा के पार्टी में हावी होने को भी ज़िम्मेदार बताते हैं; साथ ही, वह यह भी मानते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में ज़बरन फसल वसूली के लिए बनाये गये मज़दूर दस्तों द्वारा की गयी अतिरेकपूर्ण कार्रवाइयाँ ग़लतियों का प्रमुख कारण थी। बेतेलहाइम यह बताने में असफल रहते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई ग़लतियों का मुख्य कारण क्या था, राज्यसत्ता के उपकरणों में बुर्जुआ तत्वों की प्रधानता और इस वजह से उसका पार्टी नेतृत्व से स्वायत्त होना, या फिर त्रात्स्की-बुखारिन धड़े की दक्षिणपन्थी-"वामपन्थी" समझदारी का हावी होना या फिर मज़दूर वर्ग द्वारा अतिरेकपूर्ण कार्रवाइयों का किया जाना! बेतेलहाइम इस बात की ओर कहीं भी इशारा नहीं करते कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अधिकांश ग़लतियों के प्रमुख कारण अपवादस्वरूप वस्तुगत परिस्थितियों का दबाव था। जैसा कि लेनिन का मानना था कि कुछ ग़लतियों से पार्टी बच सकती थी लेकिन त्रात्स्की-बुखारिन धड़े की ग़लत समझदारी के असर के कारण नहीं बच सकी; लेकिन लेनिन के अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" की अधिकांश ग़लतियों से बचना सम्भव ही नहीं था क्योंकि 1918 से 1920 तक बोल्शेविक पार्टी और सोवियत राज्यसत्ता ने अपने आपको जिस अस्तित्व के संघर्ष में उलझा हुआ पाया उसमें ये ग़लतियाँ सम्भावित थीं। **बेतेलहाइम "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अतिरेकपूर्ण ग़लतियों को पूर्ण रूप से मनोगत कारकों के ज़रिये व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं ताकि 'नेप' की नीतियों को समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पुष्ट कर सकें।**

यही कारण है कि जब बेतेलहाइम लेनिन द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लतियों की व्याख्या की चर्चा करते हैं तो लेनिन की व्याख्या को अपर्याप्त और आंशिक रूप से ग़लत ठहराते हैं। इसका कारण यह है कि लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की आलोचना और फिर 'नेप' की ओर संक्रमण की जो व्याख्या पेश की थी, वह बिल्कुल दुरुस्त थी। लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की व्याख्या एक रूपक से की थी जिसमें कि पूँजीवाद एक किले के समान है, जिस पर सर्वहारा वर्ग ने सीधा हमला किया; लेकिन पहले हमले के दौरान सर्वहारा वर्ग के पास इसकी शक्ति को लेकर पर्याप्त सूचनाएँ नहीं थीं और इस कारण से उसका यह हमला पूँजीवाद के किले को पूर्णत: ध्वस्त करने में सफल नहीं हो पाया; ऐसे में अब इस किले पर घेरा डालने की आवश्यकता है और इस दौरान सर्वहारा वर्ग को अपनी ताक़त फिर से संचित करने की ज़रूरत है ताकि आगे फिर पूरी ताक़त के साथ उस पर हमला किया जा सके। बेतेलहाइम को इस रूपक पर आपत्ति है क्योंकि इस रूपक से यह स्पष्ट है कि 'नेप' लेनिन के लिए कदम पीछे हटाने के समान था। लेनिन समाजवादी संक्रमण की किसी भी एकरेखीय समझदारी का विरोध करते थे और उनका मानना था कि समाजवादी

संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग राज्यसत्ता पर काबिज़ रहते हुए कभी हमले कर सकता है, तो कभी समझौते भी कर सकता है और कदम पीछे भी हटा सकता है। लेनिन का मानना था कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियाँ बोल्शेविक पार्टी पर युद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी ने थोप दी थीं, और उस समय सोवियत सत्ता के सामने कोई अन्य विकल्प नहीं था। लेनिन का यह भी मानना था कि इस दौर में कई बोल्शेविकों को यह भ्रम पैदा हो गया था कि आपात स्थितियों के बीत जाने के बाद भी "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के द्वारा और ऊपर से राज्य के हस्तक्षेप द्वारा समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है। दसवीं कांग्रेस में लेनिन ने कहा:

"फसल वसूली की जगह खाद्य कर की व्यवस्था करने का प्रश्न प्रथमतः एक राजनीतिक प्रश्न है। इसका सार मज़दूर और किसान के बीच के सम्बन्ध में है। इन वर्गों के हित एकसमान नहीं हैं: छोटा किसान वह नहीं चाहता है जिसके लिए मज़दूर संघर्ष कर रहा है। फिर भी, किसानों के साथ सहमति कायम करके ही हम समाजवादी क्रान्ति को बचा सकते हैं। या तो हम मँझोले किसान को आर्थिक तौर पर सन्तुष्ट करें और मुक्त व्यापार की पुनर्स्थापना करें, या फिर हम मज़दूर वर्ग की सत्ता कायम रखने में असफल रहेंगे...अगर कुछ कम्युनिस्ट ऐसा सोच रहे थे कि तीन वर्षों में पूरी आर्थिक बुनियाद का रूपान्तरण हो जायेगा, कृषि को जड़ से बदला जा सकता है, तो वे निश्चित तौर पर स्वप्नद्रष्टा थे और हमें मानना चाहिए कि ऐसे कुछ स्वप्नद्रष्टा हमारे बीच मौजूद हैं।" (मॉरिस डॉब, 1948, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'** में उद्धृत, रूटलेज एण्ड कीगनपॉल लि., लन्दन, पृ. 130, *अनुवाद हमारा*)

ई.एच. कार और साथ ही मॉरिस डॉब ने भी यह स्पष्ट किया है कि लेनिन के लेखन में हमें 'नेप' की नीतियों को अपनाने और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की आलोचना के विषय में दो किस्म के दृष्टिकोण मिलते हैं, जो हमारी राय में जुड़े हुए हैं। एक ओर लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" को शेखचिल्लियों के सपने के तौर पर देखा और ऊपर से समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को संस्थापित करने का अव्यावहारिक प्रयास क़रार दिया। यहाँ लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" को एक सैन्य अनिवार्यता के तौर पर देख रहे थे और कुछ बोल्शेविकों द्वारा इसे समाजवाद की आम नीति के तौर पर देखे जाने की आलोचना पेश कर रहे थे और साथ ही इन्हीं लोगों द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अतिरेकपूर्ण ग़लतियों की भी आलोचना कर रहे थे, जिनसे कि बचा जा सकता था। लेकिन साथ ही लेनिन के लेखन में हमें स्पष्ट तौर पर ऐसी व्याख्या भी मिलती है जिसके अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" की कई नीतियाँ अपने आप में ग़लत नहीं थीं, लेकिन उन्हें समय से पहले अमल में लाने का प्रयास किया था, जिसकी ताक़त अभी सर्वहारा वर्ग के पास नहीं थी। ई.एच. कार ने ठीक ही लिखा है, **"जिस हद तक युद्ध कम्युनिज़्म को समाजवाद की उन्नततर मंज़िल तक तेज़ी से जाने का एक अत्यधिक उतावला, अतिउत्साही प्रयास माना गया था, जो कि बेशक अपरिपक्व था, लेकिन अन्यथा वह वांछनीय था, उस हद तक नेप उन अवस्थितियों से अस्थायी तौर पर कदम पीछे हटाना था, जिन पर कायम रहना फिलहाल असम्भव सिद्ध हो गया था, मगर जिन पर आगे कब्ज़ा करना ही होगा..."** (ई.एच.कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-1, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, पृ. 275, *अनुवाद हमारा*)

'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में पार्टी नेतृत्व दो छोरों की ग़लतियों की बात करते हुए बताता है कि जब लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों का परित्याग कर 'नेप' की नीतियों

को अपनाने की बात की तो कुछ लोगों ने इसे समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पेश करने का प्रयास किया तो कुछ अन्य लोगों ने इसे केवल 'पीछे कदम हटाने' के तौर पर ही देखा। 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में लिखा गया है:

"युद्ध कम्युनिज़्म शहर और गाँव में पूँजीवादी तत्वों के किले को हमले के ज़रिये, सीधे हमले के ज़रिये ध्वस्त करने का प्रयास था। इस हमले में पार्टी कुछ ज़्यादा ही आगे चली गयी, और इसके अपने आधार से कट जाने का ख़तरा पैदा हो गया। अब लेनिन ने कुछ कदम पीछे हटाने, कुछ समय अपने आधार के करीब की ओर वापस जाने, किले पर सीधे हमले की बजाय इस पर घेरा डालने के अपेक्षाकृत धीमे तरीके को अपनाने का प्रस्ताव रखा, ताकि हमले को फिर से शुरू करने की ताक़त जुटायी जा सके।

"त्रात्स्कीपंथियों और अन्य विरोधियों ने कहा नेप *और कुछ नहीं बल्कि बस कदम पीछे हटाना* ही है। यह व्याख्या उनके उद्देश्यों के अनुरूप थी, क्योंकि उनकी कार्यदिशा ही पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करना था। यह नेप की बेहद नुक़्सानदेह, लेनिनवाद-विरोधी व्याख्या थी। तथ्य यह है कि नेप के लाये जाने के एक वर्ष बाद ही लेनिन ने ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस में एलान किया कि *कदम पीछे हटाने की प्रक्रिया अब समाप्त हो गयी है* और उन्होंने नारा दिया: *"निजी पूँजी पर हमले की तैयारी करो।"* (लेनिन, *संग्रहीत रचनाएँ*, रूसी संस्करण, खण्ड-27, (पृ. 213))...जहाँ तक कदम पीछे हटाने का प्रश्न है तो कदम पीछे हटाने और कदम पीछे हटाने में फर्क होता है। कई बार ऐसा समय आता है जब किसी पार्टी या सेना को हार का सामना करने के कारण कदम पीछे हटाना पड़ता है। ऐसे मामलों में, पार्टी या सेना अपने आपको और अपनी कतारों को सुरक्षित रखने के लिए पीछे हटती है ताकि नयी लड़ाइयाँ लड़ सके। जब नेप की शुरुआत हुई तो लेनिन इस रूप में कदम पीछे हटाने की बात नहीं कर रहे थे क्योंकि पार्टी ने हारने या मात खाने के विपरीत, स्वयं हस्तक्षेपकारियों और श्वेत गार्डों को गृहयुद्ध में हराया था। लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि कोई विजयी पार्टी या सेना आगे बढ़ने की प्रक्रिया में कुछ ज़्यादा ही आगे बढ़ जाती है, और पीछे अपने लिए एक पर्याप्त आधार नहीं छोड़ती। यह एक गम्भीर ख़तरा पैदा करता है। अपने आधार से सम्बन्ध न खो देने के लिए कोई पार्टी या सेना आम तौर पर ऐसी स्थितियों में आम तौर पर कुछ पीछे हटना ज़रूरी पाती है, ताकि अपने आधार के करीब जा सके और उससे बेहतर सम्पर्क स्थापित कर सके, अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके और फिर अधिक आत्मविश्वास के साथ और सफलता की बेहतर गारण्टी के साथ अपने हमले की शुरुआत कर सके। लेनिन ने नेप के ज़रिये इसी प्रकार के अस्थायी तौर पर कदम पीछे हटाने की हिमायत की थी। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की चौथी कांग्रेस में रिपोर्ट पेश करते हुए नेप के लागू करने के कारणों की चर्चा करते हुए लेनिन ने कहा था, "अपने आर्थिक हमले में हम कुछ ज़्यादा ही दूर निकल गये थे, हमने अपने लिए उपयुक्त आधार को सुरक्षित नहीं रखा था," और इसलिए एक सुरक्षित आधार की ओर अस्थायी तौर पर वापस जाना अनिवार्य था।" (सी.सी. ऑफ दि सी.पी.एस.यू. (बी), 1952, अध्याय 9, **हिस्ट्री ऑफ दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ दि सोवियत यूनियन (बोल्शेविक्स)**, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, *अनुवाद हमारा*)

"युद्ध कम्युनिज़्म" से नेप की ओर संक्रमण के कारणों का यह कमोबेश सटीक विश्लेषण है। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन की अवस्थिति को मनमाने तरीके से तोड़ते-मरोड़ते हैं

और यह दिखलाना चाहते हैं कि अन्त में आते-आते लेनिन ने अपनी ग़लती को दुरुस्त करते हुए 'नेप' की नीति को समाजवादी संक्रमण की आम नीति मान लिया था, हालाँकि शुरू में लागू हुए 'नेप' का संस्करण कम-से-कम मंशा के धरातल पर केवल सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के उस दौर की ओर वापसी था, जो कि अक्टूबर 1917 से मई-जून 1918 तक लागू हुआ था। 'नेप' को समाजवादी निर्माण के सम्पूर्ण दौर की आम नीति क़रार देते हुए बेतेलहाइम ने अन्त में स्तालिन के नेतृत्व में हुए सामूहिकीकरण को ग़लत ठहराया है! एक तरह से बेतेलहाइम यहाँ अपनी तथाकथित "माओवादी" अवस्थिति और बुखारिन के विपक्षी धड़े की अवस्थिति का एक ख़राब मिश्रण तैयार किया है, और उसे अन्त में लेनिन पर थोप दिया है।

लेनिन एक यथार्थवादी सर्वहारा राजनीतिज्ञ थे और जानते थे कि रूस में सर्वहारा सत्ता को कायम रखना पहली प्राथमिकता है। समाजवादी निर्माण के कार्य को *द्रुत गति से और निरन्तर समाजवादी आक्रमणों के ज़रिये* आगे बढ़ा पाना तभी सम्भव होता जब यूरोप के कई उन्नत देशों में सर्वहारा क्रान्तियाँ हो जातीं। लेकिन 1920 के अन्त तक ये उम्मीदें समाप्त हो चुकी थीं। गृहयुद्ध में विजय तो मिल गयी थी लेकिन मज़दूरों और किसानों के बीच का संश्रय टूटने की कगार पर था। भूमि सुधारों ने रूस में मँझोले मालिक किसानों को किसानों के वर्ग में भी सबसे बड़ा वर्ग बना दिया था। अगर इसे तात्कालिक तौर पर तुष्ट न किया जाता और इसके साथ एक संश्रय न कायम किया जाता, तो सर्वहारा सत्ता को कायम रख पाना भी मुश्किल हो जाता। ऐसे में, लेनिन जानते थे कि सर्वहारा सत्ता को कुछ कदम पीछे हटाने होंगे और अपने लिए कुछ मोहलत हासिल करनी होगी। इस दौर में मँझोले किसानों के वर्ग को कुछ छूट देनी होगी और इसी का एक अंग यह भी था कि व्यापारियों के एक वर्ग को मुक्त व्यापार की छूट देनी होगी, उपभोक्ता सामग्री बनाने वाले छोटे उद्योगों को राजकीय नियन्त्रण से मुक्त करना होगा और आगे चलकर बड़े उद्योगों को भी ट्रस्टों के मातहत संगठित करके व्यापारिक सिद्धान्त पर चलाना होगा। इस पूरे विनिमय तन्त्र पर सर्वहारा सत्ता अपना नियन्त्रण कायम रखेगी और उसे सीमित छूट देगी; साथ ही, सबसे अहम रणनीतिक महत्व वाले उद्योगों पर और साथ ही विदेश व्यापार पर राज्य अपना नियन्त्रण रखेगा। **लेकिन यह स्थिति हमेशा कायम नहीं रह सकती है।** लेनिन इस बात को अच्छी तरह से समझते थे। वह जानते थे कि सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के इस विशिष्ट दौर, यानी कि नेप के दौर में, अन्ततः किसान आबादी के बीच फिर से राजनीतिक विभेदीकरण होगा, मज़दूर वर्ग के बीच भी बेरोज़गारी आदि जैसी समस्याएँ पैदा होंगी। लेनिन समझते थे कि अन्ततः सर्वहारा राज्य को नये समाजवादी आक्रमण की ओर बढ़ना होगा। लेकिन तब तक निम्न मँझोले किसानों और ग़रीब किसानों और विशेष तौर पर खेतिहर मज़दूरों के साथ सर्वहारा वर्ग को अपने संश्रय को मज़बूत बनाना होगा और कुलकों व व्यापारियों के साथ ही उच्च मँझोले किसानों को अलग-थलग करना होगा। **लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में समाजवादी आक्रमण का कोई दौर नहीं आयेगा और नेप की नीति समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर की आम नीति बनी रहेगी और इस दौर में सर्वहारा सत्ता पूरे के पूरे मँझोले किसान वर्ग को, बल्कि पूरे के पूरे किसान वर्ग को समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत करके शान्तिपूर्ण प्रक्रिया से समाजवाद पर राज़ी कर लेगी! इस सोच के पीछे जो राजनीतिक अर्थशास्त्र काम कर रहा है, वह वास्तव में संशोधनवादी**

अर्थशास्त्र है। यह समाजवादी संक्रमण की पूरी प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मकता को नहीं समझती और उसे एकरेखीय तौर पर देखती है। मज़दूर-किसान संश्रय का स्वरूप भी ठोस परिस्थितियों के अनुसार पूरे समाजवादी संक्रमण के अलग-अलग दौरों में अलग-अलग रूप धारण करता है। मगर बेतेलहाइम के लिए ऐसा नहीं है। उनके लिए नेप ने जिस रूप में मज़दूर-किसान संश्रय को स्थापित किया (जिसमें बाध्यता की काफ़ी बड़ी भूमिका थी) वह स्थायी था और उसके इसी रूप में बने रहते हुए सोवियत रूस को समाजवादी निर्माण की उन्नततर मंज़िलों में चले जाना था। **यहाँ पर हम चीनी क्रान्ति द्वारा चीन की विशिष्ट स्थितियों में अपनाये गये रास्ते और उसकी शर्तों को अनैतिहासिक तौर पर ज़बरन रूसी क्रान्ति पर थोपने का प्रयास भी स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं।** 'नेप' और "युद्ध कम्युनिज़्म" के प्रश्न पर बेतेलहाइम की समझदारी सबसे ज़्यादा बचकानी और ख़तरनाक है और अन्त में सभी प्रकार के संशोधनवादियों की मदद करती है। मिसाल के तौर पर, माकपा ने अपनी बीसवीं कांग्रेस में नेप की नीतियों की ठीक इसी तरीके से वकालत की है और उसे समाजवाद की आम नीति करार दिया है! यह संयोग नहीं है।

बहरहाल, "युद्ध कम्युनिज़्म" के बारे में लेनिन समेत तमाम बोल्शेविकों में पैदा हुए "भ्रम" के बारे में बेतेलहाइम आगे कुछ ऐसे "मौलिक" विचार पेश करते हैं जो कि उन्हें उन तमाम ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादियों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के साथ खड़ा कर देते हैं जो कि बोल्शेविक पार्टी पर प्रतिस्थापनवाद का आरोप लगाते हैं, हालाँकि बेतेलहाइम अपने आरोप-पत्र में इस शब्द का इस्तेमाल नहीं करते हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी में पार्टी की गतिविधि या कार्रवाई को जनसमुदायों की गतिविधि और कार्रवाई समझ लेने का भटकाव मौजूद था। इस भटकाव के विचारधारात्मक तौर पर पार्टी में मौजूद होने का कोई प्रमाण या उद्धरण उपस्थित करना बेतेलहाइम आवश्यक नहीं समझते हैं। यहाँ बेतेलहाइम का तर्क इस विचार की सीमा पर पहुँच जाता है जिसके अनुसार पार्टी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण नहीं होती, हालाँकि अन्यत्र वह इस विषय पर लेनिन की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हैं। पार्टी और वर्ग के बीच एक अन्तर अनिवार्य रूप में मौजूद रहता है। यदि पार्टी अपनी क्रान्तिकारी जनदिशा के ज़रिये जनता से सीखने और फिर जनता को सिखाने की प्रक्रिया को अंजाम दे रही है, तो यह अन्तर एक शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध में तब्दील नहीं होगा। कई बार आपात स्थितियाँ भी पार्टी को इस बात की इजाज़त नहीं देतीं कि वह इस प्रक्रिया को स्वस्थ रूप में अंजाम दे सके। ऐसे में, कई बार पार्टी और वर्ग के बीच अन्तर बढ़ता है। लेकिन समाजवादी संक्रमण के जटिल और दुरूह कालखण्ड में ऐसी अवधि न आने की कोई गारण्टी नहीं हो सकती है बल्कि कहा जा सकता है कि ज़्यादा सम्भावना यही है कि बीच-बीच में ऐसी अवधियाँ आ सकती हैं। लेकिन समाजवादी संक्रमण के बारे में एक यथार्थवादी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दूर बेतेलहाइम "युद्ध कम्युनिज़्म" की अपवाद स्थिति के आधार पर वास्तव में पूरी बोल्शेविक पार्टी पर बिना नाम लिये प्रतिस्थापनवाद का आरोप लगाते हैं और इस आरोप के दायरे से लेनिन भी बाहर नहीं हैं।

इसके बाद बेतेलहाइम लेनिन और साथ ही पूरी बोल्शेविक पार्टी पर यह आरोप लगाते हैं कि उसने राजकीय स्वामित्व को ही समाजवाद समझ लिया था। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए बेतेलहाइम लेनिन के 'राज्य और क्रान्ति' से समाजवादी राज्य के लगातार 'अराज्य' बनते जाने वाले उद्धरण और एंगेल्स के लेखन से भी ऐसे ही उद्धरण पेश करते हैं। लेकिन समाजवादी क्रान्ति के बाद पहले समाजवादी प्रयोग के प्रारम्भिक वर्षों के बाद लेनिन ने

समाजवादी राज्यसत्ता के बारे में क्या लिखा इसके बारे में बेतेलहाइम साज़िशाना चुप्पी बनाये रखते हैं। लेनिन ने बोल्शेविक क्रान्ति के लगभग ढाई-तीन वर्ष बाद ही स्पष्ट किया था यह सोचना नादानी होगी कि समाजवादी राज्य समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में लगातार 'अराज्य' में तब्दील होता जायेगा और यह कोई एकरेखीय प्रक्रिया होगा (लेनिन के प्रासंगिक उद्धरणों के लिए देखें, **'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 103-104 और पृ. 106)। समाजवादी क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में समाजवादी क्रान्ति के बाद एक लम्बे समय तक बुर्जुआ वर्ग द्वारा नये रूपों में छेड़े जा रहे तीखे वर्ग युद्ध से निपटने और साथ ही समाजवादी निर्माण की बेहद जटिल प्रक्रिया को संचालित करने के लिए समाजवादी राज्यसत्ता को मज़बूत किया जाना चाहिए; **पूरे के पूरे समाजवादी संक्रमण की ऐतिहासिक अवधि केवल एकरेखीय रूप से 'अराज्य' का तत्व बढ़ने का पर्याय नहीं हो सकती है। समाजवादी संक्रमण का पहला लम्बा हिस्सा समाजवादी राज्यसत्ता के सुदृढ़ीकरण से पहचाना जा सकता है। निश्चित तौर पर, इसके फलस्वरूप सर्वहारा राज्यसत्ता में नौकरशाहाना विचलन पैदा हो सकते हैं और बुर्जुआ विरूपताएँ जन्म ले सकती हैं; लेकिन यह सतत् वर्ग संघर्ष का मसला है और इस समस्या का कोई सीधा-सरल या कार्यकारी समाधान सम्भव नहीं है, जिसके ज़रिये सर्वहारा राज्यसत्ता की वर्ग शुचिता को समाजवादी संक्रमण के दौर में नौकरशाहाना भटकावों और बुर्जुआ विरूपताओं से साफ़-साफ़ बचा ले जाया जाय! समाजवादी संक्रमण की उन्नततर मंज़िलों में ही सर्वहारा राज्यसत्ता में 'अराज्य' का पहलू बढ़ सकता है; जिस हद तक जनता की राजनीतिक चेतना का स्तर उन्नत होगा, जिस हद तक तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं कम होंगी, जिस हद तक जनसमुदाय उत्पादन व शासन सम्बन्धी निर्णय स्वतःस्फूर्त रूप से लेने की मंज़िल में पहुँचेंगे और जिस हद तक उत्पादक शक्तियों और उत्पादन का द्रुत विकास होगा, केवल उसी हद तक 'अराज्य' के पहलू के प्रधान होने की कोई कम्युनिस्ट चर्चा कर सकता है।**

बेतेलहाइम एक भाववादी और किताबी तर्क पेश कर रहे हैं। यह सच है कि पहले समाजवादी प्रयोग के पहले एंगेल्स और लेनिन जैसे महान शिक्षकों के सामने भी समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिकता और जटिलता को लेकर एक सुसंगत समझदारी नहीं थी और स्वयं लेनिन ने बाद में इस बात को स्वीकार किया था। अब अगर आज कोई 'राज्य और क्रान्ति' के आधार पर किसी समाजवादी प्रयोग से यह उम्मीद करे कि वह अगले दिन से ही पेरिस कम्यून के मॉडल को देश के पैमाने पर लागू कर देगा, तो यह नादानी नहीं तो और क्या है? लेकिन बेतेलहाइम निश्चित तौर पर नादान नहीं हैं क्योंकि अपनी इसी रचना में वह खुद भी कई स्थानों पर लेनिन के विचारों को बेमन से स्वीकार करते हुए नज़र आते हैं। लेकिन अलग से वह इस पूरी लेनिनवादी समझदारी पर हमला करते हैं। वह यहाँ प्रतीतिगत तौर पर 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के माओवादी सिद्धान्त के नज़रिये से सोवियत समाजवादी प्रयोग की आलोचना करते दिखने का प्रयास करते नज़र आते हैं, लेकिन वास्तव में उनकी यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी स्थिति माओवादी अवस्थिति से बहुत दूर है।

यहाँ ग़ौर करने वाली दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम समाजवाद को एक स्थायी सामाजिक संरचना के तौर पर देखते हैं और राजकीय मालिकाने और समाजवाद के बीच के अन्तरविरोध की बात करते हैं। निश्चित तौर पर, राजकीय मालिकाने और उत्पादन के साधनों के समाजीकरण में फर्क होता है। लेकिन समाजवादी सामाजिक संरचना के तहत

समाजवादी मालिकाने के जो विभिन्न रूप मौजूद होते हैं, राजकीय मालिकाना उसका सबसे उन्नत रूप है। अन्य रूप *कोऑपरेटिव* व *कलेक्टिव* होते हैं। उद्योगों के क्षेत्र में राजकीय मालिकाने की मंज़िल का आम तौर पर तेज़ी से आना सामान्य होता है क्योंकि उसमें पहले ही उत्पादन का काफ़ी हद तक समाजीकरण हो चुका होता है। खेती के क्षेत्र में कई बार लम्बे समय तक समाजवादी मालिकाने के विभिन्न रूप या ज़्यादा सटीकता से कहें तो विभिन्न मंज़िलें सहअस्तित्वमान रह सकती हैं। वहाँ भी राजकीय मालिकाने तक पहुँचना समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना की उच्चतम मंज़िल है। **राजकीय मालिकाने की स्थापना के बाद ही आम तौर पर उत्पादन के साधनों के समाजीकरण की कल्पना की जा सकती है।** समाजवादी संक्रमण के आम राजनीतिक अर्थशास्त्र के तौर पर यह एक सर्वमान्य तथ्य है। **लेकिन किन्हीं विशेष स्थितियों में यह राजकीय मालिकाना एक प्रतिगामी कदम बन सकता है।** मिसाल के तौर पर, यदि सर्वहारा राज्यसत्ता का पतन होता है और पार्टी और राज्यसत्ता पर संशोधनवादी नेतृत्व काबिज़ हो जाता है, या, अगर सर्वहारा राज्यसत्ता में नौकरशाहाना विकृतियाँ और बुर्जुआ विरूपताएँ बेहद ज़्यादा हैं, जिसके कारण से सर्वहारा राज्यसत्ता पार्टी के सर्वहारा नेतृत्व से स्वायत्त होकर आचरण कर रही हो, तो राजकीय मालिकाने की बजाय *विशिष्ट क्षेत्र में और विशिष्ट रूपों में कलेक्टिव या कोऑपरेटिव के मालिकाने की बाशर्त हिमायत की जा सकती है।* लेकिन इन विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़ दें तो इस बात में कोई दो राय नहीं कि राजकीय मालिकाना समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का उन्नततर रूप है। **लेकिन बेतेलहाइम यहाँ पूरे मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक संशोधनवादी विनियोजन करते हैं और राजकीय मालिकाने और समाजवाद को ही 'एण्टी-थीसिस' के तौर पर पेश करते हैं। यह मार्क्सवाद का भयंकर विकृतिकरण है।** इसी से "युद्ध कम्युनिज़्म" को जोड़ते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि इसी "ग़लतफ़हमी" के कारण बोल्शेविक पार्टी में "युद्ध कम्युनिज़्म" की राजकीय मालिकाने और वितरण की व्यवस्था को कम्युनिज़्म समझने की भूल हुई और इसी वजह से लेनिन ने 'नेप' के लागू होने को 'कदम पीछे हटाना' और जून 1918 की स्थिति की ओर वापस लौटने की संज्ञा दी। बेतेलहाइम के लिए 'नेप' एक महान अग्रवर्ती छलाँग के समान था! **यह तथ्यों का, लेनिन के लेखन का और बोल्शेविक पार्टी के इतिहास का भयंकर विकृतिकरण है।**

बोल्शेविक पार्टी में त्रात्स्की, बुखारिन व प्रियोब्रेज़ेंस्की जैसे लोगों का एक धड़ा था जो कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के ज़रिये ऊपर से कम्युनिज़्म को थोपकर तीन वर्षों में देश के आर्थिक आधार को रूपान्तरित कर देने का भ्रम पाले हुआ था। 1920 आते-आते इस धड़े के अधिकांश लोगों का भी यह भ्रम दूर हो चुका था। साथ ही, लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" के तहत हुए अतिरकों की इसलिए आलोचना नहीं की थी कि उनके कारण राजकीय सम्पत्ति को स्थापित करने की बात की गयी थी या राजकीय सम्पत्ति और सम्पत्ति के समाजीकरण को गड्ड-मड्ड कर दिया गया था। उन्होंने "युद्ध कम्युनिज़्म" का समाहार करते हुए जो बातें कहीं थीं, उनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं और बेतेलहाइम द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" के लेनिन द्वारा किये गये आलोचनात्मक समाहार को राजकीय सम्पत्ति की आलोचना या उसे ख़ारिज किये जाने के तौर पर पेश करना, बेतेलहाइम द्वारा तथ्यों का विकृतिकरण है। बहरहाल, लेनिन इस भ्रम के शिकार कभी नहीं थे कि तीन वर्षों में देश के आर्थिक आधार को पूर्णत: रूपान्तरित किया जा सकता है। "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान समाजवादी आक्रमण को वक़्त से पहले ज़रूरत से आगे बढ़ा दिया गया था और अब उन अवस्थितियों पर टिके रह पाना सम्भव

नहीं था। इसीलिए रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाकर अगले समाजवादी आक्रमण के लिए शक्ति संचित करने की आवश्यकता थी और इसीलिए लेनिन 'नेप' को कदम पीछे हटाने की संज्ञा देते। **बेतेलहाइम का इतिहास-लेखन, जैसा कि हमने पहले भी लिखा है, अधिकतम उदारता के साथ एक ख़राब और मिथकीकरण करने वाला इतिहास-लेखन कहा जा सकता है।**

इसके बाद बेतेलहाइम सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के लेनिन की अवधारणा पर आते हैं और अपने विकृतिकरण की परियोजना को आगे बढ़ाते हैं। लेनिन का यह मानना था कि रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के साथ समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ जटिल रूप में पेश होती हैं। उन्होंने सितम्बर 1917 में ही कहा था कि सत्ता पर कब्ज़ा करने के बाद सर्वहारा सत्ता का कार्यभार तत्काल समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को अंजाम देना नहीं होगा, बल्कि 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदम' बढ़ाना मात्र होगा। लेनिन रूस में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण को एक चरणबद्ध प्रक्रिया के रूप में देखते थे। **इस प्रक्रिया में पहला चरण था सर्वहारा सत्ता की स्थापना और उसका सुदृढ़ीकरण।** इसके लिए सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना और उसके बाद अर्थव्यवस्था के रणनीतिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण अंगों पर नियन्त्रण कायम करना आवश्यक था। **दूसरा चरण था समूची अर्थव्यवस्था, यानी कि उत्पादन और वितरण पर सर्वहारा राज्यसत्ता के नियन्त्रण को कायम करना;** इसका मूल उद्देश्य था रूस के भीतर टटपुँजिया उत्पादन पर सर्वहारा नियन्त्रण कायम करना और क्रमिक प्रक्रिया में बड़े पैमाने के उत्पादन की ओर जाना; इस दौर में, समूची श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया का समाजवादी रूपान्तरण सर्वहारा सत्ता के एजेण्डा पर नहीं था, बल्कि रूस में बिखरे हुए टटपुँजिया उत्पादन का संकेन्द्रीकरण करते हुए बड़े पैमाने के उत्पादन की ओर जाना और उस पर राजकीय नियन्त्रण को कायम करना था। **इसी दौर को लेनिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद का दौर कहा था।** 1918 में बुखारिन व ओसिंस्की जैसे "वामपन्थी" भटकाव के शिकार कम्युनिस्टों को जवाब देते हुए लेनिन ने कहा था कि राजकीय पूँजीवाद रूस की परिस्थिति में एक आगे बढ़ा हुआ कदम होगा क्योंकि रूस में सर्वहारा सत्ता के ख़िलाफ़ जो ताक़त तात्कालिक तौर पर खड़ी है वह टटपुँजिया उत्पादन का विशाल और बिखरा हुआ जाल और साथ ही टटपुँजिया वर्ग है जो सर्वहारा सत्ता द्वारा हर प्रकार के नियन्त्रण या विनियमन के विरुद्ध खड़ा है। यही वह वर्ग है जो कि सर्वहारा सत्ता के लिए एक प्राणान्तक ख़तरा बन सकता है। रूस में पिछड़ी प्राकृतिक व्यवस्था और टटपुँजिया उत्पादन दोनों मिलकर राजकीय पूँजीवाद और समाजावाद का विरोध कर रहे हैं। लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि राजकीय पूँजीवाद को पारम्परिक अर्थों में नहीं समझा जाना चाहिए क्योंकि रूस में यह राजकीय पूँजीवाद सर्वहारा अधिनायकत्व से पहचाने जाने वाले राज्य के मातहत होगा। लेनिन के अनुसार, समाजवाद के लिए *आवश्यक पूर्वशर्तें* इसी प्रकार से पूरी होती हैं; यानी, कि राज्यसत्ता के सर्वहारा वर्ग के हाथों में होना और समूची अर्थव्यवस्था पर राजकीय नियन्त्रण का होना। इसके बाद ही उत्पादन सम्बन्धों के ज़मीनी समाजवादी रूपान्तरण का कार्य रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में शुरू हो सकता है।

राजकीय पूँजीवाद का दौर रूस जैसे देश में लेनिन के अनुसार इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि मज़दूर वर्ग अभी स्वयं समूचे उद्योग को बड़े पैमाने पर संगठित करने, उसका संचालन करने और टटपुँजिया उत्पादन पर विनियमन और नियन्त्रण कायम

करने में सक्षम नहीं था और उसे ये चीज़ें बुर्जुआ वर्ग से सीखने की आवश्यकता थी। लेनिन की यह बात अक्टूबर 1917 से लेकर 1920 तक के दौर में शत-प्रतिशत सही भी सिद्ध हुई जबकि कारखाना समितियों ने सर्वहारा राज्यसत्ता की इच्छा के अक्सर विपरीत जाते हुए कारखानों का राष्ट्रीकरण कर दिया। लेकिन कुछ ही समय में यह सिद्ध हो गया कि मज़दूर वर्ग स्वत:स्फूर्त रूप से संघाधिपत्यवाद का शिकार था और उद्योगों के राष्ट्रीय पैमाने पर संचालन में सक्षम नहीं था। यह दीगर बात है कि गृहयुद्ध, साम्राज्यवादी घेरेबन्दी और रूसी पूँजीपति वर्ग द्वारा सहकार से पूर्ण रूप से इंकार किये जाने के कारण स्वयं सर्वहारा राज्यसत्ता को जून 1918 के बाद से बड़े पैमाने पर पूँजीपति वर्ग का स्वत्वहरण कर उद्योगों का राष्ट्रीकरण करना पड़ा। लेकिन जैसे ही गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी पर सोवियत रूस ने विजय प्राप्त की और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी, वैसे ही लेनिन ने अक्टूबर 1917 से जून 1918 के सात-आठ महीने के दौर में उठाये गये सावधान कदमों और राजकीय पूँजीवाद के दौर की ओर वापसी की वकालत की और 'नयी आर्थिक नीति' (नेप) को सूत्रबद्ध किया और दसवीं पार्टी कांग्रेस ने इसे पारित किया। निश्चित तौर पर, इतिहास में पीछे नहीं लौटा जा सकता और जब नेप की नीतियाँ लागू हुईं जो सोवियत सत्ता को क्रान्ति के बाद के पहले सात-आठ महीनों की तुलना में कदम कहीं ज़्यादा पीछे हटाने पड़े। इसका कारण यह था कि गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के दबाव में और साथ ही पार्टी में त्रात्स्की व बुखारिन के "वामपन्थी" धड़े के प्रभाव के कारण "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में पार्टी व उसके नेतृत्व में सर्वहारा राज्यसत्ता ज़रूरत से ज़्यादा आगे बढ़ गये थे। इन अतिरेकपूर्ण अवस्थितियों पर कायम रह पाना सम्भव नहीं था। जैसे ही वस्तुगत बाध्यता समाप्त हुई और साथ ही पार्टी के भीतर मौजूद "वामपन्थी" भटकाव के विरुद्ध संघर्ष एक मुकम्मिल मुक़ाम तक पहुँचा, वैसे ही लेनिन ने नेतृत्व में पार्टी ने सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की ज़्यादा सावधान और सधी हुई नीति की ओर वापस लौटने का निर्णय किया। **लेकिन जैसा कि हम सभी जानते हैं, इतिहास में 'वापस लौटना' कभी सम्भव नहीं होता और लेनिन भी पहले आठ महीनों के दौर में वापस लौटने की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि उस दौर में अमल में लायी गयी पहुँच (अप्रोच) और रणनीति की ओर लौटने की बात कर रहे थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के उथल-पुथल भरे तीन से साढ़े तीन वर्ष के दौर के बाद हूबहू उस स्थिति में लौटना सम्भव नहीं था, जिस स्थिति में रूसी क्रान्ति अपने पहले आठ माह के दौरान थी। इसी वजह से बेतेलहाइम समेत कई प्रेक्षकों को यह दृष्टि-भ्रम हो गया है कि 'नेप' के तहत लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की समझदारी ही बदल गयी थी।** यह सच है कि राजकीय पूँजीवाद के दौर की नीतियों के विषय में लेनिन ने 'नेप' के दौर में कई ऐसी युक्तियाँ और कदम सुझाये थे, जो कि पहले आठ माह के दौरान नहीं सुझाये थे। निश्चित तौर पर, लेनिन द्वारा सुझायी गयी कई नयी नीतियों व युक्तियों का मकसद "युद्ध कम्युनिज़्म" के असाधारण दौर में हुई क्षतियों की पूर्ति करना भी था। लेकिन जहाँ तक अप्रोच और पद्धति का प्रश्न है, लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में कोई गुणात्मक या बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ था। लेकिन बेतेलहाइम सिर्फ़ यह ग़लती नहीं करते, बल्कि अन्य कई अध्येताओं ने भी यह भूल की है। बेतेलहाइम लेनिन की पूरी अवस्थिति का ही विकृतिकरण करते हैं और फिर उसकी एक प्रतीतिगत तौर पर "माओवादी" आलोचना पेश करते हैं। कुछ

मिसालों पर ग़ौर करते हैं।

बेतेलहाइम का दावा है कि लेनिन का मानना था कि सर्वहारा अधिनायकत्व और राजकीय पूँजीवाद ही वास्तव में समाजवाद हैं और इसके लिए बेतेलहाइम लेनिन की "माओवादी" आलोचना करते हैं! पहली बात तो यह है कि लेनिन ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। लेनिन ने सिर्फ़ और सिर्फ़ यह कहा है कि सर्वहारा अधिनायकत्व और साथ में राजकीय पूँजीवाद मिलकर **समाजवाद के निर्माण की पूर्वशर्तों** को पूर्ण करते हैं। इतना लेनिन भी जानते थे कि समाजवादी निर्माण व रूपान्तरण के आगे बढ़ने का अर्थ यह होगा कि उत्पादन की समूची प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया पर सर्वहारा वर्ग नियन्त्रण स्थापित करता है, उसे रूपान्तरित करता है और उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ बुर्जुआ श्रम विभाजन पर भी चोट करता जाता है। वास्तव में श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया को अपने मातहत लाने के लिए कोई भी नयी व्यवस्था इन्हीं कदमों से गुज़र सकती है। यही कारण है कि श्रम के औपचारिक और वास्तविक समाविष्टीकरण (formal and realubsumption of labour) में मार्क्स ने फर्क किया था और बताया था कि पूँजी पहले औपचारिक समाविष्टीकरण करती है और आगे चलकर वास्तविक समाविष्टीकरण करती है। कमोबेश उसी प्रकार सर्वहारा वर्ग और समाजवादी व्यवस्था भी आम तौर पर पहले श्रम और उत्पादन प्रक्रिया का औपचारिक तौर पर समाविष्टीकरण करती हैं और आगे वास्तविक तौर पर। निश्चित तौर पर, समाजवादी निर्माण के प्रक्रिया को अन्ततः समूची श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया के वास्तविक समाविष्टीकरण की ओर, यानी कि बुर्जुआ श्रम विभाजन को समाप्त करने, वितरण सम्बन्धों में असमानता को समाप्त करने, विनिमय सम्बन्धों को समाप्त करने की ओर आगे बढ़ना होगा या फिर पीछे की ओर जाना होगा; दूसरे शब्दों में कहें तो समाजवादी निर्माण के आगे बढ़ने के लिए उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को जारी रखना होगा और निजी सम्पत्ति के कानूनी उन्मूलन से आगे जाना होगा। लेकिन यह कहना मूर्खतापूर्ण होगा कि निजी सम्पत्ति के कानूनी उन्मूलन के बिना ही उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किया जा सकता है। निश्चित तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की मंज़िल से गुज़रना उन देशों में सम्पत्ति सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की पहली मंज़िल को पूरा करने के लिए अनिवार्य होगा जिसमें टटपुँजिया उत्पादन का बाहुल्य होगा। लेकिन बेतेलहाइम ऐसा प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन सर्वहारा अधिनायकत्व और राजकीय पूँजीवाद के योग को ही समाजवाद मानते थे! यह तथ्यों को भयंकर रूप से तोड़ना-मरोड़ना है।

बेतेलहाइम यह सदिच्छा रखते हैं कि सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना के बाद रूस में उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के कार्य को तत्काल शुरू हो जाना चाहिए था और इसे तत्काल ही श्रम विभाजन और उत्पादन प्रक्रिया पर ज़मीनी नियन्त्रण के प्रश्न को भी उठा देना चाहिए था और जब उनकी यह अव्यावहारिक सदिच्छा पूर्ण नहीं होती तो वह लेनिन, बोल्शेविक पार्टी और सोवियत समाजवाद की "माओवादी" आलोचना के कार्यभार को अपने हाथ में ले लेते हैं!

बेतेलहाइम का मानना है कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में कई बार गुणात्मक परिवर्तन हुए। पहली अवधारणा का दौर था अक्तूबर 1917 से लेकर मार्च 1918 तक का दौर जब लेनिन ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीकरण या ज़ब्ती की बात नहीं की थी और इस दौर में केवल सर्वहारा राज्य द्वारा विनियमन और नियन्त्रण की बात की गयी थी। इस दौर में लेनिन ने राजकीय पूँजीवाद को समाजवादी आक्रमण में एक तात्कालिक विराम के

तौर पर देखा था और उसे समाजवादी निर्माण के एक चरण के रूप में सूत्रबद्ध नहीं किया था। बाद में, यानी कि ब्रेस्त-लितोव्स्क के बाद लेनिन ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीकरण और ज़ब्ती की वकालत की। इस नयी अवधारणा में सम्पत्ति सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण तो हो गया था लेकिन अभी उद्योग पूँजीवादी तौर-तरीकों से ही संगठित और संचालित हो रहे थे। **वास्तव में, लेनिन के राजकीय पूँजीवाद की पूरी अवधारणा का यहाँ बेतेलहाइम बुरी तरह से विकृतिकरण करते हैं।** इस विकृतिकरण में दो पहलुओं को नज़रन्दाज़ कर अपने मनमाने नतीजों तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। पहली बात तो यह है कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की पूरी अवधारणा कभी भी इतनी संकीर्ण नहीं थी कि वह इसे समाजवादी आक्रमण में महज़ एक तात्कालिक विराम के रूप में देखें। ऐसा लेनिन के अक्तूबर 1917 के पहले और बाद के लेखन में स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। लेनिन ने रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में, जहाँ कि बिखरे हुए टटपुँजिया उत्पादन का एक जटिल और विराट जंजाल मौजूद था, समाजवादी निर्माण के एक अनिवार्य चरण के रूप में हमेशा ही राजकीय पूँजीवाद को महत्वपूर्ण और एक अग्रवर्ती कदम माना था। दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम इस तथ्य को नज़रन्दाज़ कर रहे हैं कि मार्च 1918 के पहले और बाद, दोनों ही दौरों में कारखानों का राष्ट्रीकरण हो रहा था, हालाँकि किसी पूरे उद्योग के राष्ट्रीकरण की नीति अभी सर्वहारा राज्य की ओर से प्रस्तुत नहीं की गयी थी। **लेकिन दो कारणों से अलग-अलग कारखानों का राष्ट्रीकरण हो रहा था।** पहला कारण था मज़दूरों के कारखाना समिति आन्दोलन का गति पकड़ना, जिसे तमाम अध्येताओं ने 'क्रान्ति की तात्विक प्रवृत्ति' (elemental tendencies of the revolution) का नाम भी दिया है, जिसके कारण सर्वहारा राज्यसत्ता की इच्छा के विपरीत कई जगहों पर मज़दूरों ने कारखाने का राष्ट्रीकरण कर दिया। और दूसरा कारण था कई कारखानों के पूँजीपति वर्ग द्वारा सहयोग करने से इंकार करना, कारखाने का बन्द करके भाग जाना या फिर कारखाने को चलाने से इंकार कर देना। ऐसे कारखानों का सोवियत सत्ता ने राष्ट्रीकरण कर दिया। ज़ाहिर है, इसके सिवा कोई अन्य विकल्प भी नहीं था। स्पष्ट है कि मार्च 1918 के बाद अपेक्षाकृत तेज़ गति से और सर्वहारा राज्य के द्वारा हुए राष्ट्रीकरण का प्रश्न लेनिन, पार्टी और सोवियत राज्यसत्ता के लिए कोई चयन का प्रश्न नहीं था और न ही सचेतन तौर पर इसके विषय में कोई निर्णय लिया गया था। लेकिन बेतेलहाइम यह प्रदर्शित करने के प्रयास में इन सभी तथ्यों को नज़रन्दाज़ कर देते हैं, कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में कई गुणात्मक परिवर्तन आये।

वास्तव में, चार्ल्स बेतेलहाइम राजकीय पूँजीवाद के जिस दो संस्करणों की बात कर रहे हैं (यानी मार्च 1918 से पहले और बाद में), वे और कुछ नहीं बल्कि लेनिन के राजकीय पूँजीवाद के दौर के ही दो चरण थे। पहले चरण में उद्योगों में सम्पत्ति सम्बन्धों में परिवर्तन का कार्य पूरा नहीं हुआ था, जबकि दूसरे दौर में यह कार्य पूरा हो चुका था; मगर उद्योगों के संगठन और संचालन का तौर-तरीका अभी भी पूँजीवादी था, श्रम विभाजन और उत्पादन प्रक्रिया का समाजवादी रूपान्तरण अभी शुरू नहीं हुआ था। बस इस पूरे उपकरण का नियन्त्रण ऊपर से सर्वहारा राज्यसत्ता कर रही थी और निजी सम्पत्ति का कानूनी उन्मूलन हो चुका था। लेकिन इन दो तार्किक रूप से जुड़े हुए चरणों के बीच बेतेलहाइम जबरन एक विच्छेद पैदा करते हैं और इसके पीछे लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में आये गुणात्मक परिवर्तन को ज़िम्मेदार ठहराते हैं! यह दावा तथ्यों

की कसौटी पर कतई खरा नहीं उतरता है।

आगे बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि 'नेप' के लागू होने के बाद राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा का परित्याग कर दिया गया। उनके अनुसार, 'नेप' वास्तव में राजकीय पूँजीवाद की नीतियों से *आगे* जाता है। साथ ही, बेतेलहाइम यह भी मानते हैं कि अब राजकीय पूँजीवाद को समाजवादी निर्माण में एक महत्वपूर्ण और *अनिवार्य चरण* के रूप में नहीं बल्कि एक *दीर्घकालिक नीति* के रूप में देखा जा रहा था। ये परिवर्तन लेनिन की 'नेप' की अवधारणा में आये बदलावों के कारण हुए। अपने दावों को पुष्ट करने के लिए बेतेलहाइम सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा के मूल को प्रदर्शित करने की कवायद करते हैं। **लेकिन हम जल्द ही देखते हैं कि यह कवायद यूँ ही नहीं की जा रही है, बल्कि यह लेनिन के ऊपर काऊत्स्कीपन्थ और उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त के असर का आरोप लगाने की तैयारी मात्र है।** यह साबित करने के लिए कि 'नेप' की अवधारणा राजकीय पूँजीवाद के सिद्धान्त का एक हद तक परित्याग करती थी, बेतेलहाइम यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि 'नेप' के लागू होने के बाद कुछ ऐसे कदम उठाये गये जो कि निजी पूँजी को छूट देते थे, जो कि राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा के विपरीत था। **बेतेलहाइम यहाँ दो बातें समझ पाने में असफल रहते हैं।** एक तो यह कि राजकीय पूँजीवाद के उस दौर की ओर वापसी "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर के बाद सम्भव नहीं थी जो कि अक्तूबर 1917 से जून 1918 के बीच मौजूद था। इसके बाद के दौर में क्षति-पूर्ति और क्षतियों को नियन्त्रित करने के प्रयास में सोवियत सत्ता के सामने रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने के अलावा कोई चारा नहीं था। दूसरी बात यह है कि आर्थिक विघटन को रोकने और गाँव और शहर के बीच के विनिमय को आयोजित करने के लिए राज्य के नियन्त्रण में निजी व्यापार और किसानों को छूट देना अपरिहार्य हो गया था। **लेकिन क्या इसका अर्थ राजकीय पूँजीवाद की नीति का परित्याग था? यह बेहद यान्त्रिक समझदारी है और यह ग़लती से अपनायी गयी यान्त्रिक समझदारी नहीं है बल्कि इरादतन की गयी यान्त्रिक व्याख्या है।** इसका मक़सद अन्त में 'नेप' की नीति को समाजवादी निर्माण की आम नीति के तौर पर सिद्ध करना है, न कि एक अनिवार्य चरण के रूप में जो कि समाजवादी आक्रमण के नये दौर की शुरुआत के साथ समाप्त हो जायेगा। लेनिन के राजकीय पूँजीवाद और फिर 'नेप' की अवधारणा में होने वाले परिवर्तनों और उसके कई संस्करणों को लेकर जो लम्बे-चौड़े सिद्धान्त बेतेलहाइम द्वारा पेश किये गये हैं उसके पीछे असली मन्तव्य यह है जो कि अन्त में बेतेलहाइम को संशोधनवादी अर्थशास्त्र के नतीजों की ओर ले जाता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

बेतेलहाइम रूस में समाजवादी निर्माण के लिए राजकीय पूँजीवाद को एक अस्थायी चरण के रूप में देखने के लिए लेनिन की आलोचना करते हैं। बेतेलहाइम इसी रूप में 'नेप' की नीति को एक आगे बढ़ा हुआ कदम मानते हैं और उसे 'कदम पीछे हटाने' की संज्ञा देने की आलोचना करते हैं; बकौल बेतेलहाइम 'नेप' समाजवादी निर्माण की आम नीति है और इसी नीति पर लम्बे दौर तक अमल करने के दौरान किसानों के पूरे वर्ग को समझा-बुझाकर समाजवादी कार्यक्रम पर लाया जायेगा। यानी कि समाजवादी निर्माण की पूरी प्रक्रिया में 'कदम पीछे हटाने' के बाद किसी 'ऑफेंसिव' का कोई दौर नहीं आयेगा और नेप की नीतियों को जारी रखते हुए ही समूचे मेहनतकश जनसमुदायों (किसानों व टटपुँजिया वर्गों समेत) को समाजवादी कार्यक्रम पर सहज व सुगम तरीके से लाया जायेगा; इस पूरी प्रक्रिया

में सर्वहारा राज्यसत्ता को कभी कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी होगी और इस रूप में एक दमनकारी निकाय के रूप में उसका अस्तित्व ही धूमिल होता जायेगा; जैसा कि एंगेल्स और एक समय में लेनिन ने भी उम्मीद की थी कि समाजवादी क्रान्ति के बाद राज्य में 'अराज्य' का तत्व लगातार बढ़ता जायेगा। बेतेलहाइम इस बात को छिपा जाते हैं कि सोवियत अनुभवों की रोशनी में लेनिन ने इस सिद्धान्त में इज़ाफ़ा करते हुए बताया था कि 'अराज्य' का पहलू समाजवादी संक्रमण के शुरू होने के साथ ही नहीं बढ़ने लगेगा, बल्कि समाजवादी संक्रमण के पहले हिस्से में सर्वहारा राज्यसत्ता लगातार मज़बूत होगी और सुदृढ़ीकृत होगी। इस रूप में नौकरशाहाना भटकावों और बुर्जुआ विरूपताओं की सम्भावना भी बनी रहेगी, जिसे क्रान्तिकारी जनदिशा के ज़रिये लगातार प्रति-सन्तुलित करना होगा और उसके ख़िलाफ़ संघर्ष जारी रखना होगा। लेकिन लेनिन के अनुसार इस समस्या का कोई कार्यकारी समाधान नहीं है और समाजवादी संक्रमण के दौरान यह एक सतत् संघर्ष का मसला बना रहता है, जैसा कि हमने ऊपर भी प्रदर्शित किया था। **लेकिन बेतेलहाइम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, संशोधनवाद, बुखारिनपन्थ और छद्म माओवाद का ऐसा मिश्रण तैयार करते हैं, जो कि उन्हें विचित्र नतीजों तक ले जाता है।**

बेतेलहाइम का आरोप है कि राजकीय पूँजीवाद की अपनी पूरी अवधारणा में लेनिन स्वयं उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त और काऊत्स्कीपन्थ के शिकार थे क्योंकि उन्होंने सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद को ही समाजवाद माना है और राजकीय आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन सम्बन्धों के ज़मीनी रूपान्तरण की ज़रूरत को नहीं समझा है क्योंकि वह बस राज्यसत्ता पर सर्वहारा वर्ग के काबिज़ होने और अर्थव्यवस्था पर राजकीय इज़ारेदारी स्थापित होने को ही समाजवाद मानते हैं। यह लेनिन की पूरी अवस्थिति का भयंकर विकृतिकरण है। लेनिन ने विशेष तौर पर रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मातहत राजकीय पूँजीवाद के चरण को समाजवादी निर्माण का एक अनिवार्य चरण और उसकी पूर्वशर्तों का पूरा होना माना था। लेनिन ने यहीं पर समाजवादी निर्माण या संक्रमण को पूरा नहीं माना था, जैसा कि बेतेलहाइम दावा कर रहे हैं। आगे बेतेलहाइम लेनिन के कुछ उद्धरणों को पेश करते हैं जिसमें लेनिन ने रूस में समाजवादी निर्माण के लिए उत्पादक शक्तियों के विकास की आवश्यकता को रेखांकित किया है और इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि लेनिन उत्पादक शक्तियों की प्रधानता के सिद्धान्त को मानते थे, या कम-से-कम उसका उन पर असर था। अगर ऐसा होता तो लेनिन कभी भी 'अप्रैल थीसिस' नहीं पेश करते और रूस में समाजवादी क्रान्ति की बात नहीं करते। ज़ाहिर है, बेतेलहाइम एक बार फिर से माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में लेनिन की एक मनोगतवादी, हेगेलीय आलोचना पेश कर रहे हैं। बेतेलहाइम के अनुसार, इतिहास में हर-हमेशा उत्पादन सम्बन्ध ही प्राथमिक प्रेरक तत्व होते हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना हम ऊपर पेश कर चुके हैं और उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट है लेनिन इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के सम्बन्धों की एक द्वन्द्वात्मक समझदारी रखते थे और जानते थे कि कभी एक का पहलू प्रधान होता है तो कभी दूसरे का; **साथ ही, लेनिन यह भी जानते थे कि कितनी भी सयानी हिरावल पार्टी मौजूद हो, कुटीर उद्योगों और दस्तकारी के युग में समाजवादी क्रान्ति और समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता है, अन्यथा क्रान्ति के चरण का मसला पूरी तरह से क्रान्तिकारी शक्तियों की मनोगत समझदारी**

का मसला बन जाता है। लेकिन बेतेलहाइम अपनी कथित "माओवादी" समझदारी को पूरे इतिहास पर थोपने पर आमादा हैं और उसे सही साबित करने के लिए इतिहास के किसी भी तथ्य या व्यक्तित्व के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती करने को हमेशा तैयार रहते हैं। **इसीलिए अन्त में वह अपने 'ऐतिहासिक ब्यौरे' के बाद इस मनमाने नतीजे पर पहुँचते हैं कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की शुरुआती समझदारी, यानी कि इसे समाजवादी निर्माण के एक चरण के रूप में देखने की प्रवृत्ति, एक अर्थवादी प्रवृत्ति थी और बाद में लेनिन ने इसे दुरुस्त किया और 'नेप' को समाजवादी निर्माण आम नीति के रूप में सूत्रबद्ध किया, बजाय महज़ एक चरण के!**

सच्चाई यह है कि लेनिन ने हमेशा ही 'नेप' को सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की समझदारी के दायरे में ही अवस्थित किया था; निश्चित तौर पर, 1921 मे सोवियत समाजवाद राजकीय पूँजीवाद के उस दौर में वापस नहीं जा सकता था जो कि अक्तूबर 1917 से जून 1918 के बीच मौजूद था, जैसा कि हम पहले ही इंगित कर चुके हैं। लेकिन इससे यह नतीजा निकालना कि अब लेनिन राजकीय पूँजीवाद को रूस में समाजवादी निर्माण के एक ज़रूरी चरण के रूप में नहीं देखते थे, 'नेप' को रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना नहीं मानते थे, और साथ ही 'नेप' की नीति को समाजवादी निर्माण की आम नीति के रूप में देखते थे और किसी भावी समाजवादी 'ऑफेंसिव' की आवश्यकता को नहीं मानते थे, या तो भयंकर मूर्खता होगी या फिर जानबूझकर लेनिन के विचारों का विकृतिकरण।

बेतेलहाइम लेनिन के विचारों का विकृतिकरण करने में इस कदर लापरवाह हैं कि वे जिन लेखों को या रचनाओं को उद्धृत करते हैं, वे अक्सर उनके द्वारा किये जा रहे सैद्धान्तिकीकरणों को ग़लत ठहराती हैं। मिसाल के तौर पर, राजकीय पूँजीवाद और नेप के प्रश्न पर अपनी विचित्र अवस्थिति को सिद्ध करने के लिए वह लेनिन ने प्रसिद्ध लेख 'सहकार के बारे में' का नाम लेते हैं। लेकिन जब आप लेनिन का 1923 का यह लेख पढ़ते हैं तो आप पाते हैं कि लेनिन 'नेप' को राजकीय पूँजीवाद का ही दौर मानते थे; निश्चित तौर पर, यह राजकीय पूँजीवाद का दौर क्रान्ति के पहले आठ महीनों के राजकीय पूँजीवाद से कुछ भिन्न था, जिसके कारण हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। लेकिन लेनिन स्पष्ट तौर पर 'नेप' की नीतियों को मूलत: सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के अपने सिद्धान्त के फ्रेमवर्क में देखते थे और उपरोक्त लेख में लेनिन ठीक यही दलील पेश कर रहे हैं कि राजकीय पूँजीवाद के दौर में सहकारी संघों का विशेष महत्व होगा क्योंकि ये छोटी किसानी अर्थव्यवस्था और टटपुँजिया अर्थव्यवस्था के अन्य रूपों को समाप्त कर उत्पादन का संकेन्द्रीकरण करेगा। लेनिन ने इसी लेख में यह भी इशारा किया है कि सहकारी संघ विशेष तौर पर वांछनीय इसलिए हैं क्योंकि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध का यही रूप अभी किसानों को स्वीकार्य है और अगर इस विनम्र रूप को अपना कर छोटी किसानी अर्थव्यवस्था या गुज़ारा अर्थव्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है, तो यह हर क़ीमत पर किया जाना चाहिए। वित्त और उत्पादन के प्रमुख साधनों का स्वामी सर्वहारा वर्ग है, इसलिए ऐसे सहकारी संघ सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के लिए एक अग्रवर्ती कदम होंगे। सहकारी संघ बोल्शेविकों के लिए सकारात्मक तौर पर वांछनीय विकल्प नहीं था, बल्कि वह सबसे कम बुरा उपलब्ध विकल्प था। लेकिन इन सारी बातों को नज़रन्दाज़ करते हुए बेतेलहाइम मनमानी व्याख्याएँ करते हैं। और वह यहीं रुकते नहीं

हैं! **बेतेलहाइम का दावा है कि मार्क्स व एंगेल्स ने जब कम्युनिस्ट समाज को स्वतन्त्र उत्पादकों के सहयोग/संघ के रूप में व्याख्यायित किया था तो उनका अर्थ सहकारी संघ बनाना था! इस प्रकार से बेतेलहाइम मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन को एक साधारण सहकारवादी (co-operativist) बना देते हैं! बेतेलहाइम इन सहकारी संघों को राज्यसत्ता और राजकीय सम्पत्ति के प्रति-सन्तुलन या उसके निषेध के रूप में देखते हैं और इस दृष्टिकोण को लेनिन पर भी थोप देते हैं! और इस प्रकार सामान्य सहकार को सर्वहारा राज्यसत्ता में 'अराज्य' के तत्व को बढ़ाने वाला एक महत्वपूर्ण कारक बना दिया जाता है!**

आगे बेतेलहाइम लेनिन द्वारा अपने जीवन के अन्तिम दौर में सोवियत राज्य उपकरण में मौजूद नौकरशाहाना विचलनों की आलोचना की भी मनमानी किसानवादी व्याख्या करते हुए यह नतीजा निकालते हैं कि समाजवादी निर्माण के समूचे दौर में सर्वहारा राज्य को किसानों के किसी भी हिस्से के साथ, विशेष तौर पर मँझोले किसानों के किसी भी हिस्से के साथ कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी चाहिए। यह ज़ोर-ज़बरदस्ती केवल सर्वहारा राज्यसत्ता में मौजूद नौकरशाहाना विचलनों और बुर्जुआ विकृतियों के कारण होता है। यदि राज्य उपकरण की इन कमियों को दूर कर दिया जाय, तो पार्टी और सर्वहारा राज्य समूचे मँझोले किसानों को समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत कर लेगी और यह पूरा काम 'नेप' की नीतियों द्वारा होगा! साथ ही, बेतेलहाइम लेनिन को छोटे उद्योगों के चीनी मॉडल का समर्थक बना देते हैं और इसके लिए लेनिन के एक लेख का सन्दर्भ भी देते हैं! चीन के मामले में माओ ने छोटे उद्योगों की ज़रूरत पर क्यों बल दिया था और चीन की स्थितियों में किस प्रकार का आर्थिक मॉडल लागू किया गया, यह अलग चर्चा का विषय है। लेकिन लेनिन के उस पूरे लेख को देखें तो हम पाते हैं कि लेनिन ने केवल कुछ समय के लिए छोटे उद्योगों को लगाने की बात की थी। इसके दो कारण थे: एक, किसानों को उनकी ज़रूरत के सामान तत्काल देने के लिए यह आवश्यक था, ताकि गृहयुद्ध के बाद के आर्थिक विघटन को गाँव और शहर के बीच के विनिमय को तुरन्त पुनर्स्थापित कर दूर किया जा सके; और दूसरा, उपभोक्ता आवश्कयता की सामग्री को तत्काल मुहैया कराने के लिए, जिसकी शहरों और गाँवों दोनों में ही काफ़ी ज़रूरत थी। लेनिन इसे बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना के लिए एक मध्यवर्ती कदम माना था। आइये लेनिन के उस पूरे उद्धरण को देखें, जिसका हवाला बेतेलहाइम ने दिया है:

"सभी पार्टी और सोवियत कार्यकर्ताओं को आर्थिक विकास में अत्यधिक स्थानीय पहल पैदा करने पर अपने प्रयासों और ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए–गुबेर्नियाओं में, उससे भी ज़्यादा उयेज़्दों में, और सबसे ज़्यादा वोलोस्त व गाँवों में–ताकि किसान खेती को तत्काल बेहतर बनाने का विशेष उद्देश्य पूरा हो सके, चाहे वह "छोटे" ज़रियों से, छोटे पैमाने पर, छोटे स्थानीय उद्योग का विकास कर इसकी सहायता करके ही क्यों न हो। समेकित राजकीय आर्थिक योजना माँग करती है कि इसे हमारे सरोकार और "प्राथमिकता" प्रयास का केन्द्र होना चाहिए। इस क्षेत्र में कुछ सुधार, यानी व्यापकतम और गहनतम "बुनियाद" के सबसे करीब, बड़े पैमाने के उद्योगों के अधिक जीवन्त और सफलतापूर्ण पुनर्स्थापना की ओर तेज़ी से संक्रमण करने का हमें मौका देगा।" (लेनिन, 1973, **'टैक्स इन काइण्ड'**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-32,* अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 352-53, *ज़ोर हमारा, अनुवाद हमारा*)

स्पष्ट है कि बेतेलहाइम मनमाने तरीके से उद्धरण पेश करते हैं और उसकी मनमानी

व्याख्या करते हैं। इसके आगे बेतेलहाइम लेनिन को एक अराजकतावादी में भी तब्दील कर देते हैं। पृ. 493 से 495 में बेतेलहाइम ने दलीलें और व्याख्याएँ पेश की हैं, वे इस कदर बचकानी हैं कि उन्हें आलोचना के योग्य भी नहीं माना जा सकता है। **बेतेलहाइम लेनिन को एक ऐसे अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी के तौर पर पेश करते हैं जो कि किसानों और मज़दूरों को नौकरशाह सोवियत राज्य सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए भड़का रहा है!** बेतेलहाइम यह साबित करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन ने पार्टी और कम्युनिस्टों पर ग़ैर-पार्टी जनता के नियन्त्रण की बात की थी और इसके लिए एक बार फिर सन्दर्भों से काटकर लेनिन के कुछ उद्धरण पेश किये जाते हैं। अगर आप इन उद्धरणों को मूल रचनाओं में देखें और उसके पूरे सन्दर्भ पर ग़ौर करें तो एक बार फिर आप पाते हैं कि बेतेलहाइम लेनिन को अपनी नस्ल का प्रतीतिगत "माओवादी" और वास्तव में नवनरोदवादी, बुखारिनपन्थी, अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और संशोधनवादी बनाने पर आमादा हैं!

किसानों की क्रान्तिकारी भूमिका की बात करते हुए बेतेलहाइम पृष्ठ 495 से 497 तक मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र और क्रान्ति के सिद्धान्त को तिलांजलि दे देते हैं। **लेकिन वह यहीं रुकते नहीं और अपने संशोधनवादी अर्थशास्त्र को लेनिन पर आरोपित करते हुए दावा करते हैं कि 'नेप' के आने के साथ किसान प्रश्न पर लेनिन के विचार "बदल" गये और उन्होंने बताया कि समूचा किसान वर्ग न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में बल्कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी मज़दूर वर्ग का मित्र बना रहेगा, बशर्ते कि उसे सही तरीके से नेतृत्व देने में (यानी समाजवाद को तिलांजलि देकर समझौते करने में!) सर्वहारा वर्ग सफल हो जाये!** बेतेलहाइम का मानना है कि 'नेप' के बाद लेनिन ने किसान प्रश्न पर अपने पुराने विचारों को त्याग दिया था जिनके अनुसार जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में समूचा किसान वर्ग क्रान्ति का मित्र होगा, जबकि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में खाते-पीते किसान क्रान्ति का साथ छोड़ देंगे, मध्यम किसान ढुलमुल-यक़ीन मित्र होंगे और अन्ततः राजनीतिक तौर पर दो हिस्सों में विभेदीकृत हो जायेंगे और समाजावादी क्रान्ति का मज़बूत आधार बनेंगे खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा, यानी कि ग़रीब किसान वर्ग। बेतेलहाइम के अनुसार, लेनिन ने 'नेप' के लागू होने के बाद यह मान लिया था कि समूचा किसान वर्ग क्रमिक प्रक्रिया में 'नेप' की नीतियों के ज़रिये समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो जायेगा! यह लेनिन के विचारों का भयंकर विकृतिकरण है। लेनिन ने रूसी क्रान्ति के सामने मौजूद विशिष्ट संकट के कारण जिस नीति को एक बाध्यता और 'कदम पीछे हटाने की संज्ञा' दी थी, उसे लेनिन द्वारा आम तौर पर प्रस्तावित नीति क़रार दे दिया गया है। लेनिन ने पार्टी के भीतर मौजूद "वामपन्थी" कम्युनिस्ट भटकाव के कारण इस बात पर 'नेप' के लागू होने का बाद काफ़ी बल दिया था कि मध्यम किसानों के विशाल वर्ग से अभी लम्बे समय तक संश्रय बना रहना चाहिए, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट किया था कि इसका प्रमुख कारण यह है कि किसानों के वर्ग और सर्वहारा वर्ग के हित अलग-अलग हैं और सर्वहारा सत्ता को बरक़रार रखने के लिए किसानों के वर्ग के साथ संश्रय बनाकर रखना ज़रूरी है। इस दौर में सर्वहारा सत्ता को गाँवों होने वाले विभेदीकरण के साथ ग़रीब किसानों और खेतिहर सर्वहारा वर्ग से नये सिरे से मज़बूत संश्रय क़ायम करना होगा, निम्न मँझोले किसानों के बड़े हिस्से को जीतना होगा और उच्च मध्यम किसान वर्ग और उच्च किसान वर्ग को अलग-थलग करना

होगा। लेकिन 1921 में पहला कार्यभार था "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान ख़तरनाक रूप से कमज़ोर हुए मज़दूर-किसान संश्रय को मज़बूत करना और लेनिन का मानना था कि अगर इसके लिए पूँजी की शक्तियों को कुछ छूट देनी पड़े और उसे सर्वहारा नियन्त्रण में थोड़ा खुला हाथ देना पड़े तो ऐसा किया जाना चाहिए। बोल्शेविक पार्टी के भीतर एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा "वामपन्थी" विचलन के कारण इस बात को पचा नहीं पा रहा था और इसे समाजवादी कार्यक्रम को तिलांजलि देना समझ रहा था। इस हिस्से पर चोट करने के लिए लेनिन ने विशेष तौर पर लम्बे समय तक मध्यम किसानों से संश्रय की ज़रूरत पर बल दिया। **लेकिन लेनिन ने साथ ही 1923 में ही 'नेप' के रणनीतिक 'रिट्रीट' को ख़त्म करने की बात भी शुरू कर दी थी।** वास्तव में 1927 में जो संकट सोवियत संघ में पैदा हुए उसका मूल कारण 'नेप' का आवश्यकता से अधिक उत्तरजीवन था। अभी हम इस नुक्ते को विस्तार नहीं दे सकते और उपयुक्त स्थान पर हम इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे। मूल बात यह है कि बेतेलहाइम ने किसान प्रश्न पर लेनिन के पूरे चिन्तन को सन्दर्भों से काटकर उसका किसानवादी, नरोदवादी, अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी विनियोजन करने का प्रयास किया है और इस विनियोजन को "माओवादी" सिद्ध करने के लिए बार-बार चीनी क्रान्ति के मॉडल और माओ का हवाला दिया है। यह इतिहास और लेनिन के चिन्तन के साथ और साथ ही माओ की शिक्षाओं और चीनी क्रान्ति के इतिहास के साथ भी, भयंकर अन्याय है और इसीलिए हमारा समझना है कि बेतेलहाइम का इतिहास-लेखन एक बुरा और विकृतिकरणों से भरा हुआ इतिहास-लेखन है।

आगे बेतेलहाइम बताते हैं कि पार्टी में 'नेप' की नीति की अर्थवादी व्याख्या हावी थी। बेतेलहाइम के अनुसार इसके दो कारण थे। पहला यह कि लेनिन ने स्वयं 'नेप' को 'कदम पीछे हटाने' की संज्ञा दी थी और बेतेलहाइम के अनुसार यह एक ग़लती थी। दूसरा कारण यह था कि पार्टी में यह अवधारणा हावी थी कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियाँ महज़ एक फ़ौरी और समय के दबाव में हुआ एक छोटा-सा विचलन था और एक विशेष समय में असफल होने के बावजूद अपने आप में उन नीतियों में कुछ भी ग़लत नहीं था; बस उन नीतियों के लिए अभी समय उचित नहीं था। जबकि बेतेलहाइम के अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" अपने आप में एक पूर्णत: ग़लत नीति थी और इसका समाजवाद से कोई लेना-देना नहीं था; बेतेलहाइम के अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" पूर्ण रूप से एक विफलता थी। अगर हम लेनिन के लेखन पर ग़ौर करें तो हम पाते हैं कि लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" की वस्तुगत बाध्यता को रेखांकित करते हैं और साथ ही वह उन मनोगत ग़लतियों को भी चिन्हित करते हैं जो कि पार्टी के "वामपन्थी" भटकाव के कारण हुई थीं। लेकिन साथ ही लेनिन का यह भी मानना था कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की कई नीतियाँ सही समाजवादी नीतियाँ थीं और भविष्य में सर्वहारा राज्य को उन्हें लागू करना पड़ेगा, जैसा कि हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" को एक पूर्ण ग़लती कभी नहीं क़रार दिया था और हर जगह इसे ग़लती क़रार देते हुए उनका इशाना उन "सपनों में जीने वालों" की ओर था जो मानते थे कि इन नीतियों के ज़रिये सोवियत रूस में ढाई-तीन वर्ष में समाजवाद का निर्माण कर दिया जायेगा। **दूसरी बात यह कि लेनिन 'नेप' को 'कदम पीछे हटाना' ही मानते थे और इस बात पर लेनिन हमेशा कायम रहे।** बेतेलहाइम लेनिन की इस बात पर आलोचना करते हुए दावा करते हैं कि चूँकि "युद्ध कम्युनिज़्म" पूर्णत: एक विफलता में समाप्त हुआ, इसलिए 'नेप' की नीति वास्तव में एक अग्रवर्ती छलाँग था और

समाजवादी निर्माण की दीर्घकालिक आम नीति थी और इस तरह अन्त में बेतेलहाइम राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसी नतीजे पर आते हैं, जिस पर सारे संशोधनवादी पहुँचते हैं।

अपने इन्हीं विकृतिकरणों के आधार पर पहले खण्ड के अन्तिम अध्याय में बेतेलहाइम इस विषय में अपने "सैद्धान्तिकीकरण" पेश करते हैं कि लेनिन ने अपनी मृत्यु के पहले पार्टी और राज्य के समक्ष क्या कार्यभार पेश किये थे। ज़ाहिर है, जिस प्रकार लेनिन के विचारों को तोड़ा-मरोड़ा गया है, उसी प्रकार ये कार्यभार भी बेतेलहाइम ने तोड़-मरोड़कर और मनमाने तरीके से पेश किये हैं। इनमें कोई नयी बात नहीं कही गयी बल्कि पुरानी बातों का ही दुहराव है। मसलन, लेनिन राज्यसत्ता का आकार घटाने, नौकरशाही के ख़तरे से लड़ने, 'नेप' की नीति को लम्बे समय तक समाजवादी निर्माण की आम नीति के तौर पर लागू करके समूचे किसान वर्ग को समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी करने, उत्पादन को फिर से पुराने स्तर तक पहुँचाने आदि की बात कर रहे थे। इनमें से कई बातें लेनिन ने वाकई कहीं थीं, लेकिन उन सन्दर्भों में नहीं जिनमें बेतेलहाइम उन्हें मनमाने तरीके से अवस्थित कर देते हैं। मसलन, लेनिन ने नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष और राज्यसत्ता की अतिवृद्धि (overgrowth) को समाप्त करने की बात कही थी, लेकिन इस समझदारी के तहत नहीं कि समाजवादी क्रान्ति के तत्काल बाद सर्वहारा राज्यसत्ता में 'अराज्य' का तत्व बढ़ने लग जाता है! उल्टे लेनिन ठीक इसलिए नौकरशाहाना विचलनों के विरुद्ध संघर्ष की बात कर रहे थे कि सर्वहारा अधिनायकत्व को सर्वहारा राज्यसत्ता ज़्यादा बेहतर तरीके से और मज़बूती के साथ लागू कर सके। लेनिन सर्वहारा राज्यसत्ता को और अधिक मज़बूत बनाने के लिए नौकरशाहाना भटकावों से लड़ने और उन्हें दूर करने की बात कर रहे थे, न कि राज्यसत्ता के विलोपन की उद्भवात्मक प्रक्रिया (evolutionary process) को क्रान्ति के बाद तुरन्त शुरू कर देने और उसे हर बीतते दिन के साथ अधिक से अधिक 'अराज्य' में तब्दील करने के लिए, जैसा कि बेतेलहाइम पाठकों को बता रहे हैं! इसी प्रकार लेनिन के अन्य कथनों को भी सन्दर्भ से काटकर बेतेलहाइम ने मनमाने नतीजे निकाल लिए हैं।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन सत्ता के विषैले प्रभावों को पार्टी पर देख रहे थे और इसीलिए वे क्रान्तिकारी जनदिशा की वकालत कर रहे थे। लेकिन पार्टी ने ही इस बात में विशेष दिलचस्पी नहीं ली और लेनिन के निर्देशों की अवहेलना की। यह बात भी बिना किसी तथ्यात्मक पुष्टि के और कुछ बिखरे वाकयों और बातों को सन्दर्भों से काटकर कही गयी है। बहरहाल, इन सारी चीज़ों के पीछे बेतेलहाइम जिस चीज़ को देखते हैं वह यह है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर किसानों के लेकर भरोसा नहीं था। दूसरी विचारधारात्मक बाधा बेतेलहाइम के अनुसार यह थी कि लेनिन को छोड़कर अन्य बोल्शेविक नेताओं ने राज्य में मौजूद नौकरशाहाना भटकावों का वर्ग विश्लेषण नहीं किया। स्तालिन ने इसे महज़ सांस्कृतिक स्तरोन्नयन का मसला बताया जबकि त्रात्स्की ने इसे उत्पादक शक्तियों के अपर्याप्त विकास का मसला। लेनिन ने इससे आगे जाते हुए कई बार सोवियत राज्य उपकरण के 'बुर्जुआ' या 'ज़ारवादी' चरित्र की बात की थी। निश्चित तौर पर, लेनिन ने अन्य बोल्शेविक नेताओं के मुकाबले नौकरशाही की समस्या का कहीं बेहतर वर्ग विश्लेषण किया था। लेकिन लेनिन भी नौकरशाही की समस्या को सांस्कृतिक पिछड़ेपन से जोड़ते थे और यह बात स्तालिन ने लेनिन से सीखते हुए ही कही थी; साथ ही, लेनिन ने नौकरशाही की समस्या को उत्पादक शक्तियों के पिछड़ेपन से भी जोड़ा था। वहीं दूसरी ओर ऐसा भी

नहीं था कि स्तालिन और त्रात्स्की ने अपने लेखन में नौकरशाही की समस्या के वर्ग चरित्र की कहीं बात ही नहीं की! बेतेलहाइम का मक़सद यहाँ यह दिखलाना है कि बोल्शेविक पार्टी और लेनिन के बीच का अन्तर इतना ज़्यादा है कि वास्तव में बोल्शेविक पार्टी को एक लेनिनवादी पार्टी कहा ही नहीं जा सकता है। ज़ाहिर है, अगले खण्ड में स्तालिन पर खुला हमला करने की पृष्ठभूमि बेतेलहाइम पहले खण्ड के अन्तिम हिस्से में ही निर्मित कर रहे हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन की अवधारणाओं को सही ढंग से नहीं समझा और इसकी एक मिसाल यह थी कि पार्टी ने राष्ट्रीकरण या राजकीय मालिकाने को ही उत्पादन के साधनों का समाजीकरण समझ लिया था! इस दावे को पुष्ट करने के लिए बेतेलहाइम ने कोई तथ्यात्मक प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। यहाँ बेतेलहाइम राजकीय मालिकाने के महत्व को एकदम समाप्त कर देते हैं और मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के इस बुनियादी सिद्धान्त को दरकिनार कर देते हैं कि राजकीय मालिकाना समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का एक उन्नततर रूप है। चूँकि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में सर्वहारा राज्य कोई आदर्श निकाय नहीं होगा जो कि पूरी तरह से सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप हो, इसलिए समाजवादी निर्माण में राजकीय मालिकाने की अहमियत को ही नकार देना, बेतेलहाइम की समझदारी के विषय में काफ़ी-कुछ बताता है।

पार्टी के समक्ष उपलब्ध राजनीतिक चुनौतियों का ज़िक्र करते हुए बेतेलहाइम वे ही बातें कहते हैं जो बोल्शेविक पार्टी के तमाम आलोचक कहते हैं। बिना इस शब्द का इस्तेमाल किये हुए बेतेलहाइम पार्टी पर प्रतिस्थापनवाद का आरोप लगाते हैं और दावा करते हैं पार्टी सर्वहारा राज्य की गतिविधि को जनसमुदायों की गतिविधि मानने की ग़लती करती थी। दूसरे शब्दों में जनसमुदाय की गतिविधि का स्थान पार्टी/राज्य की गतिविधि ने ले लिया था। उसी प्रकार बेतेलहाइम दावा करते हैं कि पार्टी के भीतर के राजनीतिक जीवन का दमन कर दिया गया था; इसके अलावा, बाहर भी राजनीतिक जीवन का दम घुट रहा था। दूसरी पार्टियों के दमन को भी बेतेलहाइम ग़लत ठहराते हैं। वास्तव में, यहाँ बेतेलहाइम रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की शुरुआती आलोचना (जिसके बड़े हिस्से को बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने स्वयं ख़ारिज कर दिया था), पॉल लेवी द्वारा की गयी आलोचना और तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों द्वारा की गयी आलोचनाओं को मिश्रित किया है और उसे "माओवाद" का जामा पहनाने का प्रयास किया है। निश्चित तौर पर, सर्वहारा राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर तमाम बुर्जुआ और नौकरशाहाना विचलन व विरूपताएँ मौजूद थीं। लेकिन इनका किसी कार्यकारी निर्णय द्वारा समाधान नहीं हो सकता था; न ही इनका समाधान पार्टी और राज्य की भूमिकाओं को कम या हल्का करके हो सकता था। सतत् राजनीतिक वर्ग संघर्ष के मसले को बेतेलहाइम ने महज़ नीचे से जनसमुदायों की पहलकदमी का मसला बना दिया है। सोवियत इतिहास के तथ्यों और शख़्सियतों के साथ बेतेलहाइम ने जो बदसलूकी की है वह तो अलग ही मसला है।

हमारा विचार है कि 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड में ही उन नतीजों के बीज नज़र आ जाते हैं जो कि बेतेलहाइम दूसरे और अन्ततः तीसरे खण्ड में निकालते हैं। दरअसल बेतेलहाइम का असली निशाना न सिर्फ़ स्तालिन हैं, बल्कि स्वयं लेनिन हैं। **यही कारण है कि तीसरे खण्ड में अन्ततः बेतेलहाइम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति के ज़रिये सत्ता पर कब्ज़ा करने का निर्णय ही ग़लत था; उसी प्रकार संविधान सभा को भंग करने का निर्णय भी ग़लत था।** तमाम प्रेक्षकों ने कम-से-कम पहले खण्ड को सोवियत प्रयोग की माओवादी व्याख्या माना है। यह बिल्कुल ग़लत है और **सोवियत**

इतिहास की बेतेलहाइम की व्याख्या का वस्तुतः माओ के उसूलों से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। माओ द्वारा सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना में क्या उचित है और क्या आलोचनीय है, यह अलग विमर्श का विषय है, जिसमें हम अभी नहीं जा सकते हैं। लेकिन इतना हम दावे के साथ कह सकते हैं कि बेतेलहाइम के विचारों का माओ की कार्यदिशा से कोई वास्तविक रिश्ता नहीं है। बेतेलहाइम चीनी क्रान्ति, चीनी पार्टी और माओ के लेखन से कुछ जुमलों को उधार लेते हैं और उनका भयंकर बेतरतीब तरीके से दुरुपयोग करते हैं, मसलन, 'क्रान्तिकारी जनदिशा', 'नीचे से आलोचना', 'जनसमुदायों की पहलकदमी', 'राजकीय बुर्जुआ वर्ग', इत्यादि। अन्त में यही कहा जा सकता है कि बेतेलहाइम की यह रचना सोवियत संघ के इतिहास को समझने के लिए उतनी ही बुरी है, जितनी की यह माओ विचारों को जानने के लिए ख़राब है। यह एक शुद्ध रूप से विचारधारात्मक प्रोपगैण्डा की रचना है और इतिहास-लेखन के विज्ञान और शिल्प से इसका दूर का रिश्ता भी नहीं है।

●

आगे के अध्यायों के परिशिष्ट के तौर पर हम बेतेलहाइम की इस रचना के अन्य दो खण्डों की आलोचना भी देंगे। लेकिन वे आलोचनाएँ अपेक्षाकृत संक्षिप्त होंगी क्योंकि उन रचनाओं में बेतेलहाइम एक लेनिनवादी होने का चोगा भी उतार देते हैं और उनकी आलोचना करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। इसके अलावा, मौजूदा परिशिष्ट में हमने बेतेलहाइम के अप्रोच और पद्धतिशास्त्र की एक आलोचना पेश कर दी है और आगे इसे दुहराने की आवश्यकता नहीं होगी। आगे के खण्डों में बेतेलहाइम जो सिद्धान्त और सोवियत इतिहास का जो पाठ पेश करते हैं, वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी उसूलों से उनके विच्युति, विचलन और फिर प्रस्थान को और ज़्यादा खुले और स्पष्ट तौर पर रखता है लेकिन यह भी सच है कि पहले, दूसरे और तीसरे खण्ड में एक प्रकार की एकता (unity) भी मौजूद है और वास्तव में तीसरे खण्ड में बेतेलहाइम अन्ततः जहाँ पहुँचते हैं वह उनके द्वारा पहले खण्ड में ही अपनायी गयी दिशा की परिणति है। पहले खण्ड में निर्मित बुनियाद की विस्तृत छानबीन और विश्लेषण के बाद बेतेलहाइम की इस रचना के दूसरे और तीसरे खण्ड की आलोचना का कार्य अपेक्षाकृत सुगम हो जाता है। पहले खण्ड की विस्तृत आलोचना इसलिए भी ज़रूरी थी क्योंकि यह तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यकर्ताओं व बुद्धिजीवियों में कहीं ज़्यादा गम्भीर रूप में एक दृष्टिभ्रम पैदा करती है: यानी कि बेतेलहाइम द्वारा सोवियत संघ का राजनीतिक इतिहास लिखे जाने का दृष्टिभ्रम। कारण यह है कि बेतेलहाइम की यह रचना माओ और चीनी समाजवादी प्रयोग की ग़लत ज़मीन से की गयी आलोचनाओं का आधार बनती है और माओ और चीनी समाजवादी प्रयोग के आलोचनात्मक मूल्यांकन के गम्भीर और वांछनीय कार्यभार को क्षति पहुँचाती है।

(अगले अंक में पाँचवाँ अध्याय)

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक: एक सिंहावलोकन

(दूसरी किस्त)

● दीपायन बोस

श्रीकाकुलम में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की विफलता

निबन्ध में पहले इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि मई 1970 में हुई पार्टी कांग्रेस के पहले ही श्रीकाकुलम में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा घेरेबन्दी और दमन के सतत् अभियान तथा कई अग्रणी संगठनकर्ताओं की वास्तविक या फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में हत्या के बाद "वाम" दुस्साहसवादी लाइन (सफाये की लाइन) पर जारी छापामार संघर्ष गम्भीर संकट और गतिरोध का शिकार हो चुका था। फिर भी, विशेषकर उद्दानम और एजेंसी एरिया में, आन्दोलन अभी भी जारी था। कांग्रेस के तुरन्त बाद, 10 जुलाई 1970 को केन्द्रीय कमेटी के दो सदस्य वेंपटाप्पु सत्यनारायण और आदिभाटला कैलाशम तथा 30 जुलाई को मल्लिकार्जुनुडु, अप्पालास्वामी और मल्लेश्वर राव जैसे अग्रणी संगठनकर्ता फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में शहीद हो गये। केन्द्रीय कमेटी के आन्ध्र के बचे हुए दो सदस्य अप्पाला सूरी और नागभूषण पटनायक उस समय चारु मजुमदार से मिलने कलकत्ता गये हुए थे और इन शहादतों की सूचना उन्हें रेडियो से वहीं मिली। इसके बाद ही वे दोनों भी गिरफ़्तार कर लिये गये।

यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि श्रीकाकुलम से सटे ओडीशा के कोरापुट ज़िले में भी 1969 में चारु मजुमदार की लाइन पर कामों की शुरुआत नागभूषण पटनायक और भुवनमोहन पटनायक ने की थी। कुछ समय बाद दोनों गिरफ़्तार हो गये, लेकिन 8 अक्टूबर,

1969 को जेल तोड़कर भाग निकलने के बाद नागभूषण पटनायक ने कोरापुट और श्रीकाकुलम में सफाया अभियान को नया संवेग प्रदान किया और पार्टी कांग्रेस के बाद उन्हें केन्द्रीय नेतृत्व की ओर से श्रीकाकुलम के अतिरिक्त ओडीशा के कोरापुट और आन्ध्र प्रदेश के विशाखापट्टनम और गंजम के इलाक़े में आन्दोलन चलाने की ज़िम्मेदारी मिली। वेंपटाप्पु और आदिभाटला की हत्या तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी की गिरफ़्तारी के बाद (ये चारों केन्द्रीय कमेटी के सदस्य थे) लगातार पुलिस की घेरेबन्दी और दमन का सामना कर रहे श्रीकाकुलम के अतिरिक्त कोरापुट, गंजम और विशाखापट्टनम के इलाक़े में भी पार्टी का काम ठहरावग्रस्त होकर बिखरने लगा। श्रीकाकुलम में एकमात्र पैला वासुदेव राव ही ऐसे महत्वपूर्ण नेता थे जो पुलिस की गिरफ़्त में नहीं आ सके थे।

इस नाज़ुक मोड़ पर भी चारु मजुमदार ने सफाये की लाइन पर पुनर्विचार की कोई ज़रूरत नहीं समझी, बल्कि उसी लाइन को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने श्रीकाकुलम के बचे हुए कामरेडों से नेतृत्व अपने हाथ में लेने का आह्वान करते हुए यह दिशा-निर्देश दिया कि वर्ग शत्रुओं और पुलिस का सफाया करते हुए और उनसे राइफ़लें छीनते हुए पूरे श्रीकाकुलम में जनमुक्ति सेना गठित करने के उद्देश्य से प्रत्येक दस्ते का यह अधिकार है कि वह अपनी योजना स्वयं बनाये। हालाँकि बचे हुए कामरेडों में से कुछ ने ऐसी कोशिशें भी कीं, पर वे नाकाम रहे। इसके बाद स्थानीय संगठनकर्ताओं का एक हिस्सा इस नतीजे पर पहुँचा कि वर्ग शत्रुओं के सफाये पर एकतरफ़ा तरीक़े से ज़ोर देना और संघर्ष के अन्य रूपों की उपेक्षा करना ग़लत था (हालाँकि उन्होंने इसे एक रणकौशलात्मक ग़लती ही माना)। ऐसे लोगों ने आंशिक और आर्थिक माँगों को लेकर संघर्ष के अन्य रूपों को अपनाकर ग़लतियों को ठीक करने की कोशिश की, लेकिन राज्यसत्ता के दमन, आतंक और जनता से अलगाव के माहौल में उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। एक दूसरा हिस्सा ऐसा भी था जो सशस्त्र संघर्ष को पूरी तरह छोड़कर आर्थिक संघर्षों से शुरुआत करते हुए जनता को संगठित करने पर बल दे रहा था। एक तीसरा हिस्सा उन कामरेडों का था जो इन समाहारों से सहमत नहीं थे। वे केन्द्रीय नेतृत्व की नीति और रणकौशलों को शब्दशः लागू करने के पक्षधर थे और यह मानते थे कि क़तारों में अभी भी मौजूद संशोधनवाद का प्रभाव ही आन्दोलन के पीछे जाने का मुख्य कारण रहा है। इसी तीसरे हिस्से ने आगे चलकर अपने को आन्ध्र प्रदेश राज्य कमेटी के रूप में पुनर्गठित किया। बहरहाल, 1970 के अन्त तक श्रीकाकुलम का संघर्ष बिखर चुका था, हालाँकि यहाँ-वहाँ कुछ छिटफुट 'ऐक्शंस' उसके बाद भी होते रहे। चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन श्रीकाकुलम में सबसे व्यवस्थित एवं सांगोपांग रूप में, सबसे लम्बे समय तक लागू हुई, लेकिन अन्ततोगत्वा, भारी नुक़सान उठाने के बाद वह पूरी तरह से विफल सिद्ध हुई।

कलकत्ता में छात्र-युवा विद्रोह

"वाम" दुस्साहसवाद की दूसरी अग्रणी प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले मार्च 1970 कलकत्ता के छात्रों-युवाओं के व्यापक उभार के रूप में सामने आयी जो तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति (भंजन-दहन-हनन समारोह) और शहरी सफाया अभियान के चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के बाद 1971 के मध्य तक, राज्यसत्ता के अभूतपूर्व बर्बर दमन के बाद बिखर गयी। कलकत्ता के छात्र-युवा आन्दोलन के "वाम" दुस्साहसवादी विपथगमन ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी क़तारों में भारी तादाद में क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं की भर्ती की

सम्भावनाओं का गला घोंटकर पार्टी-निर्माण की प्रक्रिया को जो भारी नुक़सान पहुँचाया, इसका अनुमान लगाने के लिए उस उभार के पहले के राजनीतिक घटना विकासक्रम की संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है।

1960 का दशक बंगाल के छात्रों-युवाओं की चेतना के तेज़ रैडिकलाइज़ेशन का दशक था। 1966 के खाद्यान्न आन्दोलन (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) के दौरान आन्दोलनकारी छात्रों-युवाओं का बहुलांश बुर्जुआ व्यवस्था के साथ ही संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध भी लामबन्द हो चुका था। 1967-68 में कलकत्ता के छात्रों-युवाओं के बीच नक्सलबाड़ी किसान-उभार के पक्ष में एक व्यापक लहर थी, जिसे "वाम" अतिवाद के प्रभाव के कारण कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन एक सुनिश्चित दिशा नहीं दे सका। चारु मजुमदार ने मई 1968 में 'देशव्रती' में प्रकाशित अपने लेख 'नौजवान और विद्यार्थी समाज के प्रति' में लिखा, "विद्यार्थियों और नौजवानों का राजनीतिक संगठन अनिवार्य रूप से रेडगार्ड संगठन ही होगा और इनका काम होगा चेयरमैन माओ के उद्धरणों का जितने व्यापक इलाक़े में सम्भव हो, प्रचार करना।" इस तरह चारु मजुमदार ने छात्रों-युवाओं के व्यापक मुद्दा आधारित आन्दोलनों और जनसंगठनों की आवश्यकता को ख़ारिज़ करते हुए उनके कार्यभार को केवल विचारधारात्मक प्रचार तक सीमित कर दिया। लेकिन तालमेल कमेटी के पूरे काल के दौरान कलकत्ता के छात्रों-युवाओं ने खाद्यान्नों की मूल्य-वृद्धि और ट्राम-भाड़ा-वृद्धि जैसे कई मुद्दों को लेकर और अपनी विभिन्न माँगों को लेकर कई आन्दोलन किये। 'वेस्ट बंगाल स्टेट स्टूडेण्ट्स' कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ रेवोल्यूशनरीज़' ने क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन का एक मसौदा राजनीतिक कार्यक्रम तैयार करके उसे बंगाल के क्रान्तिकारी छात्र-युवा कार्यकर्ताओं के बीच विचार-विमर्श के लिए वितरित किया। यह मसौदा 'लिबरेशन' के अप्रैल, 1969 अंक में प्रकाशित भी हुआ। चारु मजुमदार के उपरोक्त लेख की आम दिशा के विपरीत इस दस्तावेज़ में छात्र-युवा आन्दोलन की क्रान्तिकारी जनदिशा की हिमायत की गयी थी और कहा गया था कि भूमि क्रान्ति की राजनीति के प्रचारमात्र से छात्रों-युवाओं के केवल उन्नत और सचेत तत्व ही आगे आयेंगे और संघर्ष में हिस्सा लेंगे, इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि आम राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर, आम छात्रों-युवाओं की सापेक्षतः पिछड़ी चेतना वाली व्यापक आबादी को गोलबन्द और संगठित करने के लिए उन्हें प्रभावित करने वाले भोजन, शिक्षा, बेरोज़गारी, संस्कृति आदि से जुड़े मुद्दों को भी उठाया जाये और इसके लिए छात्रों-युवाओं का जन राजनीतिक संगठन बनाना ज़रूरी होगा। लेकिन वाम दुस्साहसवाद का आच्छादनकारी प्रभाव पार्टी गठन के समय तक जनदिशा की इस सोच को पीछे धकेल चुका था। अगस्त, 1969 में चारु मजुमदार ने 'नौजवानों और छात्रों के प्रति पार्टी का आह्वान' ('देशव्रती') नामक टिप्पणी में इस बात पर फिर बल दिया कि छात्रों-युवाओं को यूनियनों की अर्थवादी, अवसरवादी और भ्रष्टकारी राजनीति को सिरे से ख़ारिज़ करके मज़दूरों और ग़रीब व भूमिहीन किसानों के साथ एकरूप हो जाना होगा। पुनः मार्च 1970 में 'देशव्रती' में प्रकाशित अपने लेख 'क्रान्तिकारी नौजवानों और छात्रों से कुछ बातें' में चारु मजुमदार ने अपनी लाइन को आगे बढ़ाते हुए यह लिखा कि छात्रों-युवाओं को स्कूल-कॉलेज छोड़कर क्रान्ति के काम में कूद पड़ना होगा, ग़रीब-भूमिहीन किसानों व मज़दूरों से एकरूप होने के लिए गाँवों की ओर जत्थे बनाकर निकल पड़ना होगा, स्क्वाड बनाकर उनके बीच क्रान्तिकारी प्रचार करना होगा, गाँवों से लौटकर शहरों में रेड गार्ड संगठन बनाने होंगे और

इन रेडगार्ड संगठनों को मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार और क्रान्तिकारी प्रचार करने के साथ ही गुरिल्ला क़ायदे से स्क्वाड बनाकर हमलावर फासिस्ट लठैत सेना पर जवाबी हमले करने होंगे। चारु के इस आह्वान के बाद कलकत्ता से बड़ी तादाद में छात्र गाँवों की ओर गये और वहाँ "वाम" दुस्साहसवादी लाइन को लागू करने की कोशिशों में जुट गये। इस तरह पार्टी कांग्रेस के समय तक चारु लाइन कलकत्ता में एक शक्तिशाली क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन उठ खड़ा होने की सम्भावनाओं का गला घोंट चुकी थी।

डेबरा गोपीवल्लभपुर और अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में राजकीय दमन के घटाटोप और आतंकवादी लाइन की विफलता से जल्दी ही कलकत्ता से गये छात्रों-युवाओं के भीतर निराशा घर करने लगी और उनमें से अधिकांश शहर वापस लौट आये। कलकत्ता में मार्च 1970 से शुरू होकर लगभग 1971 के मध्य तक जारी रहने वाले अतिवामपन्थी छात्र-युवा उभार के पीछे गाँवों से लौटे युवा कार्यकर्ताओं की अहम भूमिका थी। शुरुआत अमेरिकी सहायता से चलने वाले शिक्षा संस्थानों पर हमले से हुई। फिर सभी स्कूलों-कॉलेजों पर धावा बोलकर वहाँ लाल झण्डे लहराये जाने लगे। इसके बाद तथाकथित बंगाल नवजागरण के राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे बुर्जुआ सुधारकों; गाँधी, चित्तरंजन दास, सुभाष चन्द्र बोस आदि बुर्जुआ नेताओं और रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिमाएँ तोड़ी जाने लगीं और सड़कों पर गाँधी वाङमय की होली जलायी जाने लगी। नैराश्यपूर्ण वर्तमान से उपजे आक्रोश की लहर पर सवार इस "सांस्कृतिक क्रान्ति" ने इतिहास और विरासत के प्रति एक अतिरेकी, एकांगी और अनैतिहासिक रवैया अपनाया। शुरू में तो भाकपा (मा-ले) नेतृत्व ने इस नये घटना-विकास के प्रति असम्पृक्त रुख़ अपनाया, लेकिन जब यह लहर पूरे कलकत्ता में फैल गयी तो चारु मजुमदार ने देहातों में किसान उभार की एक स्वाभाविक परिणति बताते हुए इसका पुरज़ोर समर्थन किया। गाँधी और अन्य बुर्जुआ नेताओं की मूर्तियाँ तोड़े जाने को "मूर्ति भंजन का उत्सव" घोषित करते हुए उन्होंने लिखा कि छात्रों ने औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था पर हमला बोल दिया है, क्योंकि वे समझ चुके हैं कि उसे नष्ट किये बिना तथा दलाल पूँजीपति वर्ग द्वारा खड़ी की गयी प्रतिमाओं को ध्वस्त किये बिना क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था और संस्कृति का निर्माण सम्भव नहीं ('फ़ोर्ज क्लोज़र यूनिटी विद पीजेण्ट्स' आर्म्ड स्ट्रगल', 14.07.70)। साथ ही अपने इसी लेख में चारु ने यह भी लिखा कि चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की तरह इस संघर्ष का लक्ष्य पूरी सांस्कृतिक अधिरचना को ध्वस्त करना नहीं है, न ही यह इस मंज़िल में (यानी क्रान्ति की विजय के पूर्व) सम्भव है, अत: छात्रों-युवाओं को यह ध्यान में रखना होगा कि केवल मज़दूरों और ग़रीब व भूमिहीन किसानों के साथ एकरूप होकर ही वे अपना क्रान्तिकारी चरित्र बचाये रख सकेंगे। मूर्तिभंजन के प्रश्न से ही चारु लाइन के साथ पश्चिम बंगाल राज्य कमेटी के सचिव और वरिष्ठ नेता सुशीतल राय चौधुरी के मतभेदों की शुरुआत हुई और फिर आगे चलकर उन्होंने "वाम" दुस्साहसवाद की पूरी लाइन की समालोचना प्रस्तुत की। इस मतभेद की चर्चा हम आगे करेंगे। मूर्तिभंजन मुहिम की पुरज़ोर हिमायत करते हुए पोलिट ब्यूरो सदस्य तथा पुराने कवि व पत्रकार सरोज दत्त चारु लाइन के नये सांस्कृतिक सिद्धान्तकार के रूप में सामने आये। उन्होंने गाँधी, सुभाष, टैगोर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ताराशंकर बनर्जी आदि के बारे में धुआँधार अग्निवर्षी लेख लिखे। सरोज दत्त के अनुसार "बंगाल नवजागरण" के पुरोधा बंगाली भद्रलोक के समाज सुधारक औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति की उपज थे, जो शासकों और शासितों के बीच संवाद के माध्यम और शासन तन्त्र

के पुर्ज़े थे। औपनिवेशिक सत्ता-विरोधी जन प्रतिरोधों के वे विरोधी थे और मात्र मध्यवर्गीय दायरे तक सीमित समाज-सुधार की बातें कर रहे थे। गाँधी को वे उपनिवेशवाद का दलाल सिद्ध करते थे और सुभाष बोस को जापानी साम्राज्यवाद की कठपुतली एक फासिस्ट मानते थे। दरअसल भारतीय समाज और भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र का (दलाल पूँजीपति वर्ग के रूप में) जो आकलन भाकपा (मा-ले) का कार्यक्रम प्रस्तुत करता था, सरोज दत्त की सांस्कृतिक लाइन उसी का यान्त्रिक, अतिरेकी विस्तार मात्र था। यही दौर था जब बंगाल के बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों का जो अच्छा-ख़ासा हिस्सा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से हमदर्दी रखता था, वह भी चारु मजुमदार की राजनीतिक लाइन की परिणतियों और सरोज दत्त के अतिवामपन्थी सांस्कृतिक चिन्तन को देखने के बाद छिटककर दूर हो गया।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, शिक्षा संस्थानों पर हमलों और मूर्तिभंजन की मुहिम स्वत:स्फूर्त ढंग से शुरू हुई थी। इसमें बड़े पैमाने पर मेधावी छात्र तो शामिल थे ही, बहुतेरे लुम्पन तत्व भी घुस गये थे। पार्टी ने आन्दोलन का समर्थन तो किया, पर वस्तुत: उस पर उसका नियन्त्रण नहीं था और वह उसके पीछे घिसट रही थी। अपने उपरोक्त लेख में चारु ने यह भी लिखा था कि पुलिस उत्पीड़न के आगे घुटने टेकने के बजाय छात्र-युवा और मज़दूर पुलिस अफ़सरों का सफाया कर रहे हैं। ऐसी घटनाएँ उस समय तक छिटपुट हो रही थीं, पर चारु के इस लेख के प्रकाशन के बाद पुलिसकर्मियों, नौकरशाहों, व्यापारियों, दलालों और भाड़े के गुण्डों ('मस्तानों') के सफाये की मुहिम तेज़ हो गयी। जुलाई में ही कलकत्ता ज़िला कमेटी यह घोषणा कर चुकी थी कि पुलिस, सीआरपी के लोगों, कालाबाज़ारियों और पूँजीपतियों का सफाया करके बंगाल और आन्ध्र के कामरेडों की हत्या का बदला लिया जायेगा। सफाये की इस धुँआधार मुहिम के दौरान जादवपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति, कलकत्ता हाईकोर्ट के एक जज और बंगाल सरकार के एक सचिव जैसे कुछ विशिष्ट लोगों की हत्या हुई, लेकिन ज़्यादातर ट्रैफ़िक कांस्टेबल, कुछ छोटे व्यापारी और कारोबारी ही इसके शिकार हुए। फिर माकपा कार्यकर्ताओं के साथ सड़कों पर भिड़न्त की शुरुआत हुई और अगस्त 1971 तक 368 माकपा कार्यकर्ताओं के साथ 1345 मा-ले कार्यकर्ता भी मारे गये। 1971 के मध्यावधि चुनावों के दौरान चुनावी उम्मीदवारों का भी सफाया होने लगा। फ़ारवर्ड ब्लॉक के वयोवृद्ध नेता हेमन्तकुमार बोस एक संशोधनवादी पार्टी के नेता होने के बावजूद अपने सादे जीवन और सरल प्रकृति के कारण काफ़ी लोकप्रिय थे। उनकी हत्या ने बंगाल में काफ़ी विक्षोभ पैदा किया और भाकपा (मा-ले) के अलगाव को बढ़ाने में एक अहम भूमिका निभायी। सफाया अभियान के इस दौर में पूरे बंगाल में 700 स्क्वाड और सिर्फ़ कलकत्ता में 150 स्क्वाड सक्रिय थे। चारु मजुमदार के निर्देशानुसार, ये दस्ते स्थानीय पार्टी कमेटियों से स्वतन्त्र रहकर, उनकी जानकारी के बग़ैर अपनी कार्रवाइयों को अंजाम देते थे।

नयी जनवादी क्रान्ति कार्यक्रम के अनुरूप भी यदि क्रान्तिकारी जनदिशा अमल में लायी जाती तो गाँवों में वर्ग संघर्ष के विकास के साथ शहरों में कुछ उभारों के बावजूद आम नीति उस दौर में प्रतिरक्षात्मक होनी चाहिए थी और जन संघर्षों को पार्टी की सख़्त देखरेख में विकसित किया जाना चाहिए। लेकिन अपनी आतंकवादी लाइन को श्रीकाकुलम से भी आगे बढ़ाते हुए चारु मजुमदार ने शहरों में भी सफाये की लाइन को आक्रामक ढंग से आगे बढ़ाया, जन संघर्षों और जनसंगठनों के गठन को संशोधनवादी कार्रवाई बताते हुए सिरे से ख़ारिज़ कर दिया, दस्तों को पार्टी कमेटियों के नेतृत्व से आज़ाद करके उनकी अराजकता और स्वत:स्फूर्तता को जमकर बढ़ावा दिया तथा राजनीति को पूरी तरह हथियार के मातहत कर दिया।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का राजकीय दमन, जो पहले से ही जारी था, 1971 से सघन और व्यापक हो गया। सीआरपी और पुलिस को देखते ही गोली मारने के आदेश दे दिये गये। फ़र्ज़ी मुठभेड़ें रोज़ की घटनाएँ बन गयीं। जेलों में मा-ले कार्यकर्ताओं को बर्बर यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। अकेले कलकत्ता में 1972 के अन्त तक लगभग 20,000 कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्ता (अधिकांश छात्र और उनके परिवार के लोग) मारे जा चुके थे। नक्सलवाड़ी में 3,000, बंगाल के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में 4,000, बिहार और असम में 6,000 से अधिक कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त आन्ध्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, केरल और तमिलनाडु में भी हज़ारों कार्यकर्ताओं की हत्या की जा चुकी थी। बंगाल में फौज़ी ऑपरेशन का अनुमान लेफ्टिनेण्ट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के एक वक्तव्य से लगाया जा सकता है। अरोड़ा के अनुसार, सेना की तीन डिवीज़नें (लगभग 50 हज़ार सैनिक) पश्चिम बंगाल गयी थीं और चुनावों के बाद नक्सली हिंसा से निपटने के लिए सैनिक वहीं रुक गये थे। तेलंगाना संघर्ष के दमन के बाद भारतीय राज्यसत्ता ने कम्युनिस्ट आन्दोलन के विरुद्ध सबसे व्यापक और योजनाबद्ध दमन की कार्रवाई 1970-72 के दौरान चलायी थी, हालाँकि यह कार्रवाई आगे आपातकाल के दौर तक किसी न किसी रूप में जारी रही। इस दौर की बर्बरता आज इतिहास का एक ज्ञात तथ्य है और यह सच्चाई भी आज बहुत सारे अध्ययनों में सामने आ चुकी है कि किस प्रकार केन्द्रीय गृह मन्त्रालय, सेना के अधिकारियों, और बुर्जुआ थिंक टैंकों के अतिरिक्त विभिन्न साम्राज्यवादी एजेंसियों के विशेषज्ञ भी उस समय "नक्सलवाद" के दमन की सामरिक नीतियाँ और उससे निपटने की सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ बनाने में लगे हुए थे।

बहरहाल, आन्दोलन के ठहराव-बिखराव का मूल कारण राज्यसत्ता का दमन नहीं बल्कि इसकी अपनी विचारधारात्मक लाइन (वाम दुस्साहसवाद) और भारतीय कार्यक्रम की ग़लत समझ (चीनी क्रान्ति के नक़्शेक़दम पर नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम) थी। राज्यसत्ता का दमन किसी देश के क्रान्तिकारी संघर्ष को कुछ समय के लिए पीछे धकेल सकता है, लेकिन चार दशकों से भी अधिक समय तक जारी रहने वाले ठहराव-बिखराव का वह बुनियादी कारण नहीं हो सकता। पश्चदृष्टि से देखते हुए इस बात को आसानी से और पूरी निश्चयात्मकता के साथ कहा जा सकता है। किसी भी क्रान्ति में शहादतें और कुर्बानियाँ तो होती ही हैं, लेकिन चारु मजुमदार की वाम दुस्साहसवादी लाइन 1970 के दशक के प्रारम्भिक दशकों के दौरान अकूत अनावश्यक शहादतों-कुर्बानियों के लिए ज़िम्मेदार थी, यह तय है। शत्रु की शक्ति का सही आकलन न करना या उसे कम करके आँकना, आत्मधर्माभिमान, उतावलापन, जनता की जगह वीर नायकों और राजनीति की जगह हथियार पर भरोसा करना - ये वाम दुस्साहसवाद के बुनियादी गुण होते हैं और चारु मजुमदार (और नेतृत्व में मौजूद उनके समर्थक) भी इन्हीं गुणों से लैस थे। आगे हम देखेंगे कि अतिवामपन्थी लाइन को लागू करने वाले नेतृत्व की सांगठनिक लाइन भी किस प्रकार विचारधारात्मक लाइन के ही अनुरूप नौकरशाही, व्यक्तिवाद, गुटबाज़ी और छल-नियोजन की कार्यशैली को लागू करती थी (इसके उदाहरण एआईसीसीसीआर काल में भी देखे जा चुके हैं), जिसके चलते संगठन में बार-बार बहस और स्वस्थ समाहार का गला घोंटा गया और उसे निर्णायक तौर पर बिखराव की राह पर धकेल दिया गया।

बहरहाल, फ़िलहाल हम 1971 के ऐतिहासिक वर्ष के उत्तरार्द्ध के कलकत्ता की ओर वापस लौटते हैं। 29 जून, 1971 को पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति शासन की घोषणा हुई।

केन्द्रीय मन्त्री सिद्धार्थ शंकर राय को राज्य में राष्ट्रपति शासन पर अमल की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी। जुलाई से नवम्बर तक का समय पूरे राज्य में और विशेषकर कलकत्ता में फ़र्जी मुठभेड़ों, गिरफ़्तारियों और जेलों में यन्त्रणाओं का बर्बरतम दौर था। इसी दौरान, 4-5 अगस्त की आधी रात को पुलिस ने सरोज दत्त को गिरफ़्तार करने के बाद गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। रोमानी क्रान्तिकारी जोश और क़ुर्बानी के जज़्बे से भरे कलकत्ता के छात्रों-युवाओं ने असाधारण साहस का परिचय दिया। जेलों में भी संघर्ष की और जेल तोड़ने की कई घटनाएँ घटीं। लेकिन अन्ततोगत्वा राज्यसत्ता के उन्नत सशस्त्र बलों और बेलगाम दमनतन्त्र को विजयी होना ही था। नवम्बर 1971 तक कलकत्ता का छात्र-युवा उभार कुचला जा चुका था।

छात्रों-युवाओं की इस अपरिमित क्रान्तिकारी ऊर्जा के अपव्यय और उभार की असफलता का बुनियादी कारण चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन थी। 'वेस्ट बंगाल स्टेट स्टूडेण्ट्स' कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ कम्युनिस्ट रेवोल्यूशनरीज़' द्वारा प्रस्तुत मसौदा राजनीतिक कार्यक्रम में निहित जनदिशा की लाइन का 1970 के शुरू में ही परित्याग किया जा चुका था। नवजनवादी क्रान्ति की माओ की अवधारणा दीर्घकालिक क्रान्तिकारी संघर्ष, गाँवों में भूमि संघर्ष पर मुख्य बल और गाँवों द्वारा शहरों को घेरने पर बल देती थी, लेकिन चारु मजुमदार के पूर्ण समर्थन से कलकत्ता में शहरी छापामार युद्ध के नाम पर दस्तों की कार्रवाई और "सांस्कृतिक क्रान्ति" के अतिरेकपन्थी एजेण्डा को लागू किया गया। 1975 तक कलकत्ता की मुक्ति का हवाई सपना युवाओं के दिलो-दिमाग़ पर 1970-71 में हावी था। इसके विरुद्ध सुशीतल राय चौधुरी के अतिरिक्त दबे स्वर में सुनीति कुमार घोष ने भी आवाज़ उठायी थी, लेकिन चारु मजुमदार, सोरेन बसु और कलकत्ता ज़िला कमेटी ने इन आपत्तियों को सिरे से ख़ारिज़ कर दिया। यही नहीं दस्तों की कार्रवाइयों को संचालित करने की न तो कोई स्पष्ट नीति थी, न ही कोई सुव्यवस्थित पार्टी-ढाँचा था। युवा कार्यकर्ताओं की विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। उल्टे यदि कोई मार्क्सवादी क्लासिक्स का अध्ययन करता था तो पुस्तक पूजा की प्रवृत्ति का "शिकार" होने के लिए आलोचना और उपहास का पात्र बनता था। देश के विभिन्न हिस्सों में, और पश्चिम बंगाल में, जिस हद तक और जिन रूपों में भी क्रान्तिकारी किसान संघर्ष चल रहे थे, उनसे छात्रों-युवाओं के संघर्ष का कोई भी जुड़ाव या तालमेल नहीं था। कलकत्ता का छात्र-युवा आन्दोलन जब कुचला जा चुका था, उसके बाद चारु मजुमदार ने **'लिबरेशन'** (जुलाई 1971-जनवरी 1972) में लिखा : "हम कलकत्ता और विभिन्न शहरों को अभी क़ब्ज़ा नहीं कर सकते और यह सम्भव भी नहीं है। इसलिए, शहरी इलाक़ों के पार्टी सदस्य सत्ता क़ब्ज़ा करने के संघर्ष में सीधे भागीदारी नहीं कर सकते" (*'ए नोट ऑन पार्टी'ज़ वर्क इन अर्बन एरियाज़'*) ज़ाहिर है कि बिना किसी आलोचनात्मक समाहार के चारु मजुमदार अपनी पूर्व अवस्थिति से पलट रहे थे और छात्र-युवा उभार की विफलता की ज़िम्मेदारी से कतरा रहे थे। इसे अवसरवाद कहा जाये तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यूँ तो 1971 के अन्त तक, "वाम" दुस्साहसवादी लाइन देश में जहाँ कहीं भी संगठित या छिटफुट ऐक्शन के रूप में लागू करने की कोशिश हुई, वह असफल हो गयी। लेकिन श्रीकाकुलम के बाद कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दौरान इसकी विफलता सबसे स्पष्ट और घातक रूप में सामने आयी। यह चारु मजुमदार की लाइन थी, जिसके चलते हज़ारों छात्रों-युवाओं की क़ुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं, असीमित सम्भावनाओं से युक्त युवा ऊर्जा बेकार चली गयी और राजकीय दमनतन्त्र ने उसे ख़ून के दलदल में डुबो दिया।

शहरी मज़दूर वर्ग पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर का प्रभाव

1967 से लेकर 1971 तक पूरे भारत और विशेषकर बंगाल-बिहार के औद्योगिक मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी उभार की लहरें बार-बार उग्र रूप धारण करती रहीं। न केवल भाकपा, बल्कि नवगठित माकपा के संशोधनवादियों के भी बार-बार के नग्न-निर्लज्ज विश्वासघातों ने मज़दूरों के बड़े हिस्से के सामने इस सच्चाई को स्पष्ट कर दिया था कि अपनी तमाम भ्रामक और गरमागरम जुमलेबाज़ियों के बावजूद माकपा भी वस्तुतः संसदीय वामपन्थियों का एक नया ग़द्दार गिरोह ही है। ऐसे में मज़दूरों को एक क्रान्तिकारी लाइन पर लामबन्द करने के लिए परिस्थितियाँ अत्यधिक अनुकूल थीं और उनकी भारी संख्या स्वयं कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हो रही थी, लेकिन "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के आच्छादनकारी प्रभाव ने इस सुनहरे ऐतिहासिक अवसर को सहज ही गँवा दिया। मज़दूर संघर्ष स्वतःस्फूर्त हड़तालों और भौगोलिक रूप से सीमित दायरों वाले अल्पकालिक विद्रोहों के बाद विसर्जित हो गये। "वाम" दुस्साहसवाद की विनाशकारी परिणतियों ने बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों की ट्रेड यूनियनों को यह अवसर दे दिया कि वे औद्योगिक मज़दूरों पर अपना उखड़ता प्रभाव फिर से स्थापित कर लें। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में जो भी इतिहास-लेखन हुआ है, उसमें मज़दूर आन्दोलन पर उसके प्रभाव की चर्चा बहुत कम देखने को मिलती है। नक्सलबाड़ी किसान उभार से लेकर 1971 तक की अवधि के औद्योगिक मज़दूरों के जुझारू आन्दोलनों के उभार और विसर्जन का सिलसिला इतिहास का उपेक्षित और विस्मृतप्राय अध्याय है। यहाँ हम उस दौर की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं की सिलसिलेवार संक्षिप्त चर्चा करेंगे, ताकि यह समझा जा सके कि चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन ने भारत के मज़दूर आन्दोलन को कितनी क्षति पहुँचायी और किस प्रकार उसकी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं का गला घोंटकर ट्रेडयूनियन आन्दोलन पर संशोधनवादियों के एकछत्र प्रभुत्व का रास्ता साफ़ कर दिया।

19 सितम्बर, 1968 को डाक-तार और रेलवे सहित पूरे देश के चालीस लाख केन्द्रीय कर्मचारी हड़ताल पर चले गये। केन्द्र और राज्यों की सरकारों ने हड़ताल को कुचलने के लिए निरंकुश दमनकारी रवैया अपनाया। दस हज़ार से अधिक कर्मचारी और मज़दूर बर्ख़ास्त या निलम्बित कर दिये गये, इतने ही लोगों को जेलों में ठूँस दिया गया और दस मज़दूर पुलिस की गोलियों के शिकार हुए। संशोधनवादी नेताओं ने हड़ताल के दौरान तोड़फोड़, भितरघात और आत्मसमर्पण का जो रवैया अपनाया, उससे काफ़ी नुक़सान पहुँचा लेकिन इसका दूसरा नतीजा यह निकला कि मज़दूर आबादी के बीच माकपा के नये संशोधनवादियों की कलई भी काफ़ी हद तक उतर गयी। प.बंगाल में संशोधनवादियों के विश्वासघात के कारण हड़ताल पर ज़बरदस्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हड़ताल को कुचलने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा लागू काले अध्यादेशों की केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार के "मार्क्सवादी" मुख्यमन्त्री नम्बूदिरिपाद ने कथनी में तो आलोचना की, लेकिन करनी में उन्हीं अध्यादेशों को लागू करते हुए उनकी सरकार ने हड़तालियों पर 207 मुक़दमे दर्ज किये, 233 लोगों को गिरफ़्तार किया तथा बड़े पैमाने पर उन पर बल प्रयोग भी किया। केन्द्रीय कर्मचारियों की इस हड़ताल के पहले 26 जुलाई 1968 को केरल सचिवालय के 700 कर्मचारियों ने अपनी माँगों को लेकर जब सामूहिक आकस्मिक अवकाश लिया तो नम्बूदिरिपाद की सरकार ने उन्हें कुचलने के लिए न केवल सशस्त्र पुलिस बल का सहारा लिया, बल्कि उनकी वेतन कटौती और 'सर्विस ब्रेक' का

भी निर्देश जारी कर दिया। इसके भी पहले, मार्च के अन्त और अप्रैल के शुरू में कालीकट में मावुट स्थित बिड़ला के ग्वालियर रेयॉन मिल के मज़दूरों ने जब हड़ताल की थी तो सरकार ने पुलिस भेजकर उन्हें आतंकित करने और मालिकों के पक्ष में समझौते के लिए दबाव बनाने की कोशिश की।

19 सितम्बर 1968 की प्रतीकात्मक हड़ताल के बाद केन्द्रीय कर्मचारियों, मज़दूरों और डाक-तार विभाग के कर्मचारियों ने जब 'नियमानुसार काम करने' की रणनीति अपनाकर अपना संघर्ष जारी रखा तो संशोधनवादी पार्टियों के ट्रेडयूनियन नेता केन्द्र सरकार की मदद के लिए आगे आये। हरसम्भव तरीक़े से दबाव और भयादोहन के सहारे उन्होंने मज़दूरों-कर्मचारियों को क़दम पीछे खींचने के लिए मजबूर किया। 1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार को कुचलने में पूरी ताक़त झोंक देने वाली प.बंगाल की संयुक्त मोर्चे की सरकार ने मज़दूरों के प्रति भी खुला दमनकारी रवैया अपनाया। इससे बहुसंख्यक मज़दूर आबादी के सामने उनका चरित्र नंगा होता चला गया। माकपा और भाकपा के संशोधनवादियों को धता बताकर मज़दूर लगातार अपनी पहलक़दमी पर जुझारू आन्दोलन संगठित करने लगे और महत्वपूर्ण बात यही थी कि 1970 के अन्त तक ज़्यादातर आन्दोलनों में उन्होंने जीत हासिल की। पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चे की जिस सरकार में भाकपा और माकपा दोनों ही शामिल थे, उसके शासनकाल के दौरान, मार्च से सितम्बर 1967 के बीच राज्य में कुल 1,20,000 मज़दूरों की छँटनी हुई ('युगान्तर', 19 नवम्बर, 1967)। उपमुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने बेशर्मी से यह बयान दिया कि वे हड़ताल और तालाबन्दी नहीं, बल्कि उचित समझौता चाहते हैं ('स्टेट्समैन', 6 अक्टूबर, 1967)। संशोधनवादियों के इन कुकृत्यों के चलते मज़दूरों की भारी आबादी स्वत: उनसे दूर होती जा रही थी। उन्नत चेतना वाले मज़दूर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा की ओर तेज़ी से आकृष्ट हो रहे थे, लेकिन 1968 के उत्तरार्द्ध तक एआईसीसीआर में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन हावी हो चुकी थी जो ट्रेड यूनियन कामों को ही संशोधनवाद मानती थी और हर प्रकार की जनकार्रवाई के विरुद्ध थी। नतीजा यह हुआ कि समय रहते एक अनुकूलतम परिस्थिति का भी लाभ नहीं उठाया जा सका और एक ऐतिहासिक अवसर हाथ से निकल गया। उस समय के पूरे परिदृश्य और मज़दूर आन्दोलन के मूड-मिजाज़ को समझने के लिए केवल कुछ और घटनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा।

फ़रवरी, 1970 में दक्षिण-पूर्वी रेलवे में आकस्मिक हड़तालों और तोड़फोड़ की कई घटनाएँ घटीं। इन घटनाओं में सांगठनिक तौर पर माकपा (मा-ले) की कोई भूमिका नहीं थी, फिर भी 'स्टेट्समैन' ने अपनी एक रिपोर्ट में यह आशंका प्रकट की थी कि दक्षिण-पूर्वी रेलवे के कर्मियों के बीच कुछ "अतिवादी तत्वों" का प्रभाव बढ़ गया है जो विशेषकर राँची-जमशेदपुर बेल्ट में रेल संचालन को बाधित कर देना चाहते हैं। इन रेल मज़दूरों की संगठित शक्ति देश की अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने में कितनी प्रभावी हो सकती थी, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उस समय पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी रेलवे से ही देश का 60 प्रतिशत माल-परिवहन होता था तथा कलकत्ता, दुर्गापुर, आसनसोल, जमशेदपुर आदि अग्रणी औद्योगिक केन्द्रों को यही दोनों रेलवे जोड़ती थीं।

जुलाई, 1970 में उत्तर-पूर्वी सीमान्त रेलवे के मज़दूर और कर्मचारी आकस्मिक हड़ताल पर चले गये। वे सिलीगुड़ी पुलिस स्टेशन के प्रभारी की हत्या के आरोप में गिरफ़्तार लोगों की रिहाई की माँग कर रहे थे। सिलीगुड़ी रेलवे जंक्शन से शुरू हुई यह हड़ताल जल्दी ही दूसरे

इलाक़ों में भी फैल गयी और उत्तर-पूर्वी भारत की पूरी रेल-व्यवस्था ठप्प हो गयी। रेल मन्त्री नन्दा द्वारा सेना लगाने की धमकी, सीमा सुरक्षा बल और ईस्टर्न फ़्रण्टियर राइफ़ल्स की मदद से रेलें चलाने की कोशिशों तथा भाकपा-माकपा के ट्रेड यूनियन मठाधीशों की जी-तोड़ कोशिशों के बावजूद हड़ताल जारी रही। डाक-तार विभाग और राज्य बिजली बोर्ड के कर्मचारियों तथा सिलीगुड़ी के छात्रों ने हड़ताल के साथ पूरी एकजुटता दिखायी। 'स्टेट्समैन' अख़बार ने 2 अगस्त के अपने सम्पादकीय में यह आशंका ज़ाहिर की कि हड़ताल का नेतृत्व सम्भवत: "भूमिगत अतिवादी" कर रहे हैं। अन्ततोगत्वा, ग्यारह दिनों तक चली यह हड़ताल तभी समाप्त हुई, जब सरकार ने घुटने टेकते हुए हड़ताली मज़दूरों की माँगें मान लीं।

जुलाई, 1970 में ही दक्षिण-पूर्वी रेलवे में भी एक बड़ी हड़ताल हुई। 26 जुलाई को आद्रा रेलवे स्टेशन पर पुलिस द्वारा कुछ रेल मज़दूरों की पिटाई के विरोध में आकस्मिक हड़ताल की शुरुआत हुई। आद्रा डिवीज़न से शुरू हुई इस हड़ताल में चक्रधरपुर और खड़गपुर डिवीज़नों के रेल मज़दूर भी शामिल हो गये और भारत के समूचे दक्षिण-पूर्वी हिस्से का रेल-संचालन अस्त-व्यस्त हो गया। सरकार के झुकने के बाद ही रेल मज़दूर काम पर वापस लौटे। पुन: 1 अगस्त, 1970 को भिलाई मार्शलिंग यार्ड के कुछ मज़दूरों की गिरफ़्तारी के विरोध में दक्षिण-पूर्वी रेलवे के बिलासपुर डिवीज़न के मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। 6-7 अगस्त को चक्रधरपुर, आद्रा, खर्दा रोड और खड़गपुर डिवीज़न के रेल मज़दूर भी हड़ताल में शामिल हो गये। यह हड़ताल भी तभी समाप्त हुई जब सरकार ने गिरफ़्तार मज़दूरों को रिहा करने की माँग मान ली।

मज़दूरों की ये सभी हड़तालें आर्थिक माँगों को लेकर नहीं थीं, बल्कि राजनीतिक प्रकृति की थीं। ये सभी हड़तालें स्थापित यूनियनों के नेतृत्व (जो बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों से सम्बद्ध थे) के विरुद्ध विद्रोह करके हुई थीं। इसके जवाब में ट्रेड यूनियनों के संशोधनवादी नेताओं ने बौखलाहट में जो क़दम उठाये, उनसे मज़दूरों की निगाहों के सामने उनका चरित्र और अधिक नंगा हुआ। भाकपा के ट्रेड यूनियन नेता इन्द्रजीत गुप्त ने मज़दूरों की आकस्मिक हड़तालों की बेशर्म आलोचना करते हुए सरकार को यह लिखित अण्डरटेकिंग दी कि वे भविष्य में मज़दूरों की 'वाइल्डकैट स्ट्राइक्स' को रोकने की हर मुमकिन कोशिश करेंगे। ज्योति बसु ने यह बयान दिया कि वे हड़ताल नहीं बल्कि सौहार्द्रपूर्ण समझौते के पक्ष में हैं। कलकत्ता के औद्योगिक मज़दूरों में संशोधनवादियों के विरुद्ध घृणा और आक्रोश का उफान तो और अधिक प्रचण्ड था। मज़दूर स्वत:स्फूर्त ढंग से भाकपा (मा-ले), कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर और किसान संघर्षों के प्रति एकजुटता ज़ाहिर कर रहे थे। आवश्यकता बस इस बात की थी कि उन्हें एक सुनिश्चित क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर संगठित किया जाता और ठोस कार्यभार बताया जाता, जो न हो सका। 1970 में उत्तरी कलकत्ता स्थित राज्य सरकार के उपक्रम सेण्ट्रल डेयरी में भी एक महत्वपूर्ण हड़ताल हुई। उक्त डेयरी के एक मज़दूर पर कलकत्ता से बाहर जाते समय माकपा के गुण्डों ने घातक हमला किया और बुरी तरह घायल करने के बाद उसे पुलिस को सौंप दिया। यह ख़बर मिलते ही डेयरी के सभी मज़दूर हड़ताल पर चले गये। हड़ताल तभी समाप्त हुई जब डेयरी का प्रबन्धन गिरफ़्तार मज़दूर को रिहा कराकर उसके साथियों के बीच ले आया। 1970 से लेकर 1971 के पूर्वार्द्ध तक कलकत्ता और आसपास के औद्योगिक इलाक़ों में, केजी डॉक्स से लेकर स्ट्रैण्ड रोड तक पूरे पोर्ट एरिया में, तारातला-हाइड रोड के क्षेत्र में तथा कलकत्ता ट्राम वे कम्पनी, गार्डेन रीच वर्क्स (भारत सरकार का रक्षा उत्पादन

कारख़ाना) और काशीपुर गन एण्ड शेल फ़ैक्टरी (केन्द्र सरकार का उपक्रम) के मुख्यालयों पर – चारों तरफ़ लाल झण्डे लहराते देखे जा सकते थे। पुलिस यदि उन्हें उतारती भी थी तो मज़दूर उन्हें फिर लगा देते थे। पार्टी नेतृत्व से किसी निर्देश की प्रतीक्षा किये बिना मज़दूर स्थानीय भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में इस काम को अंजाम दे रहे थे। संशोधनवादी पार्टियों के ट्रेड यूनियन दफ़्तर उजाड़ पड़े रहते थे। पुलिस उनकी चौकीदारी करती रहती थी। माकपा के गुण्डे पुलिस की मदद के साथ विद्रोही मज़दूरों और भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं पर अक्सर हमले करते थे और मज़दूर और मा-ले क़तारों द्वारा उनका पुरज़ोर प्रतिकार तथा जवाबी कार्रवाइयाँ भी होती रहती थीं। कलकत्ता के छात्र-युवा आन्दोलन में शहरी छापामार युद्ध के नाम पर सफाये और हथियार छीनने की लाइन के पूरी तरह से हावी हो जाने और राज्यसत्ता के दमन की बर्बरता चरम पर पहुँच जाने के पहले, जब सड़कों पर जनउभार जैसा माहौल था तब मज़दूरों और निम्न पूँजीवादी युवाओं के बीच जुझारू एकजुटता की मिसालें आये दिन देखने को मिलती थीं। उत्तर कलकत्ता स्थित काशीपुर के एसपी इंजीनियरिंग कम्पनी में लम्बे समय से तालाबन्दी थी। 9 अगस्त, 1970 को मालिकों ने पुलिस के साथ साँठगाँठ करके जब कारख़ाने से मशीनों को हटाने की कोशिश की तो भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में आसपास की झुग्गियों में रहने वाले मज़दूरों के साथ ही छात्रों-युवाओं की भारी संख्या मैदान में आ डटी। पुलिस द्वारा कई राउण्ड गोली चलाने के बाद भी मज़दूर और छात्र-युवा पीछे नहीं हटे और मालिकों का प्रयोजन सिद्ध न हो सका। अगस्त, 1970 के प्रारम्भ में जब समीर भट्टाचार्य नामक युवा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी को पुलिस ने गिरफ़्तार किया और लॉकअप में यन्त्रणा देकर मार डाला तो तीन दिनों तक पूरे कलकत्ता के जनजीवन को ठप्प कर देने और सड़कों पर बहादुराना ढंग से पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों का शौर्यपूर्वक सामना करने में छात्रों-युवाओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर मज़दूरों की बहुत बड़ी संख्या डटी रही।

1970-71 के दौरान प.बंगाल और बिहार के राज्य बिजली बोर्डों और दामोदर घाटी निगम में लगातार कई हड़तालें हुईं। इनमें से चार बड़े पैमाने की हड़तालें थीं, जिनमें बड़े पैमाने पर तोड़फोड़ हुई तथा संयन्त्र एवं पारेषण की व्यवस्था को क्षतिग्रस्त कर दिया गया। पुलिस को सन्देह था कि इन हड़तालों के पीछे "नक्सलवादी" सक्रिय हैं, जबकि सच्चाई यह थी कि इनमें भाकपा (मा-ले) नेतृत्व की कोई भूमिका नहीं थी। 20 जून, 1970 को दुर्गापुर स्थित हिन्दुस्तान स्टील प्लाण्ट के एक ठेकेदार ने जब पाँच मज़दूरों की छँटनी कर दी तो तत्काल ठेकेदार के सभी मज़दूरों ने प्लाण्ट के मैनेजर और एक अन्य अधिकारी का घेराव कर दिया। माकपा और एसयूसीआई के लोगों ने घेराव समाप्त करने की जीतोड़ कोशिशें कीं, लेकिन मज़दूरों ने उन्हें भगा दिया। फिर वे पुलिस लेकर आये, लेकिन पुलिस भी विफल रही। अन्ततः ईस्टर्न फ़्रण्टियर राइफ़ल्स के जवान तीन ट्रकों में भरकर आये और उन्होंने दोनों अधिकारियों को घेराव से बाहर निकाला। मज़दूरों का आन्दोलन फिर भी जारी रहा। आख़िरकार, प्रबन्धन को बिना शर्त सभी बर्ख़ास्त मज़दूरों को काम पर वापस लेना पड़ा।

उपरोक्त विवरण के आधार पर 1967 से 1971 के दौरान, विशेषकर बंगाल में, और सामान्य तौर पर केरल, बिहार सहित भारत के अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूरों में फैली व्यवस्था-विरोधी चेतना और संशोधनवादियों के ट्रेड यूनियनवाद-अर्थवाद के विरुद्ध विद्रोह की उनकी स्पिरिट का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 1970 तक "देहात आधारित पार्टी" के नेतृत्व में देहातों में छापामार संघर्ष के नाम पर सफाया अभियान पर ही पूरा ज़ोर देने

के कारण एआईसीसीसीआर और फिर भाकपा(मा-ले) के नेतृत्व पर हावी चारु मजुमदार के "वाम" अतिरेकपन्थी गुट ने शहरी मज़दूरों के संघर्षों पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। जनदिशा के समर्थक और शहरी मज़दूरों के बीच काम कर चुके असित सेन और परिमल दासगुप्त जैसे लोग तो पार्टी कांग्रेस के पहले ही निष्कासित किये जा चुके थे और हर प्रकार के जन संगठन बनाने, जनान्दोलन करने और खुले आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों को संशोधनवाद घोषित किया जा चुका था। कांग्रेस के ठीक पहले, मार्च 1970 में मज़दूर वर्ग के नाम अपने एक सन्देश में चारु मजुमदार ने उसका एकमात्र कार्यभार यह बताया कि उसे क्रान्ति के हरावल के रूप में आगे आकर गाँवों में सशस्त्र किसान संघर्ष का नेतृत्व करना चाहिए और भाकपा (मा-ले) के इर्द-गिर्द लामबन्द हो जाना चाहिए। ज़ाहिर है कि सभी मज़दूर गाँवों में सशस्त्र संघर्ष में शामिल होने नहीं जा सकते थे। इस तरह, चारु के हिसाब से, बहुसंख्यक औद्योगिक मज़दूरों की क्रान्ति में कोई भूमिका ही नहीं बनती थी। इसी महीने प्रकाशित औद्योगिक सर्वहारा के बीच काम करने वाले पार्टी कार्यकर्ताओं को सम्बोधित एक अन्य लेख में चारु मजुमदार ने मज़दूरों के बीच गुप्त पार्टी संगठन बनाने पर बल देते हुए लिखा कि पार्टी का काम ट्रेड यूनियनें संगठित करना नहीं है, लेकिन मज़दूरों द्वारा छेड़े गये हर संघर्ष को उसे प्रोत्साहन देना चाहिए। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि संगठित पूँजीपति वर्ग के तालाबन्दी और छँटनी जैसे हमलों का मुक़ाबला अब हड़ताल जैसे हथियारों से नहीं किया जा सकता, संघर्ष अब बिना रक्तपात के, शान्तिपूर्ण तरीक़ों से विकसित नहीं हो सकता तथा मज़दूरों को अब घेराव, बैरिकेड संघर्षों, पुलिस और पूँजीपतियों के साथ टकराव और वर्ग शत्रुओं एवं उनके एजेण्टों के सफाये के ज़रिये अपने संघर्षों को आगे ले जाना होगा। चारु ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि मज़दूरों को आर्थिक व रोज़मर्रे के संघर्षों में उलझाने के बजाय उनमें अपमानजनक गुलामी के विरुद्ध आत्मसम्मान की भावना जगानी होगी। ऐसा हो जाने पर वे साहसी, जुझारू क्रान्तिकारी बन जायेंगे। 1970 की रेल हड़तालों के काफ़ी समय बाद चारु मजुमदार ने उनका स्वागत करते हुए कहा था कि यह मज़दूर वर्ग पर युवा उभार का प्रभाव है और ये हड़तालें मज़दूर आन्दोलन में एक नये युग का सूत्रपात करती हैं, क्योंकि इनमें मज़दूर वर्ग किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं बल्कि आत्मसम्मान के लिए लड़ रहा था।

1970-71 के दौरान, चारु मजुमदार के आह्वान पर अमल करते हुए दुर्गापुर और आसनसोल के कुछ औद्योगिक मज़दूरों ने छापामार दस्ते बनाकर हथियार छीनने, सफाया करने और फ़ैक्टरियों पर लाल झण्डा लगाने जैसी कुछ कार्रवाइयों को अंजाम भी दिया था, लेकिन ये कार्रवाइयाँ व्यापक मज़दूर वर्ग को जागृत या प्रभावित करने में विफल रहीं और ऐसे दस्ते जल्दी ही बिखर गये। 1970 के अन्त में कलकत्ता के छात्र-युवा उभार की सीमाओं को महसूस करते हुए चारु मजुमदार ने एक कामरेड को सम्बोधित एक पत्र में लिखा था कि यह सोचना सही नहीं होगा कि निम्न पूँजीपति वर्ग कभी डरेगा नहीं। जल्दी ही वह समय आयेगा जब केवल मज़दूर वर्ग ही हमारी हिफ़ाज़त कर पायेगा। उन्होंने यह भी लिखा कि केवल 'ऐक्शंस' राजनीतिक चेतना के स्तर को खुद-ब-खुद ऊपर नहीं उठा सकते और हमें शहरी मज़दूरों और ग़रीबों के बीच पार्टी इकाइयों के निर्माण को एक महत्वपूर्ण कार्यभार के रूप में हाथ में लेना होगा। ग़ौरतलब है कि यहाँ भी चारु मज़दूरों के बीच केवल पार्टी निर्माण पर बल दे रहे थे, जनकार्रवाइयों और ट्रेड यूनियन कार्यों को संगठित करने का उन्होंने कोई उल्लेख तक नहीं किया। 1971 के अन्त तक कलकत्ता का छात्र-युवा उभार बिखर चुका था और मज़दूर आन्दोलन का ज्वार भी उतार पर था और चारु मजुमदार भी यह स्वीकार कर चुके थे

कि फ़िलहाल कलकत्ता को या किसी भी दूसरे शहर को क़ब्ज़ा कर पाना सम्भव नहीं है। उस समय एक बार फिर चारु मजुमदार ने 'शहरी इलाक़ों में पार्टी के काम के बारे में' (18 नवम्बर 1971) शीर्षक अपनी टिप्पणी में मज़दूर वर्ग के भीतर ज़्यादा से ज़्यादा पार्टी इकाइयाँ बनाने, उसकी राजनीतिक सचेतनता बढ़ाने और उनके बीच से पार्टी संगठनकर्ता तैयार करने पर बल देते हुए लिखा था : "मज़दूर वर्ग लगातार छोटे-बड़े अनेक संघर्ष कर रहा है। हमारी राजनीतिक शिक्षा उनके संघर्ष की मदद करेगी और मज़दूरों के व्यापक हिस्से को हमारी राजनीति की ओर खींच लायेगी। वर्ग सचेत मज़दूर तब स्वेच्छा से देहाती इलाक़ों में जाकर किसानों के सशस्त्र संघर्ष में भाग लेंगे। इसी तरह मज़दूर-किसानों की दृढ़ एकता स्थापित होगी।" ग़ौरतलब है कि यहाँ भी चारु मजुमदार की सोच में मज़दूर वर्ग के अपनी वर्गीय (आर्थिक और राजनीतिक) माँगों पर जनान्दोलन संगठित करने और ट्रेड यूनियन कार्यों में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका का कोई स्थान नहीं है। मज़दूरों के संघर्षों में मदद करने के अतिरिक्त राजनीतिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वह मज़दूरों को क्रान्तिकारी राजनीति के प्रभाव में लाना मानते थे, ताकि मज़दूर गाँवों में जाकर किसानों के सशस्त्र संघर्ष में भागीदारी कर सकें। स्पष्ट है कि यह नज़रिया मज़दूर आन्दोलन में पार्टी की भूमिका की लेनिनवादी समझदारी के एकदम उलट था। यह नज़रिया नरोदवादी आतंकवादियों के नज़रिये से काफ़ी हद तक मेल खाता था।

1967-71 के दौरान भारतीय बुर्जुआ व्यवस्था और संशोधनवादियों की घृणित अर्थवादी-ट्रेड यूनियनवादी राजनीति के विरुद्ध भारतीय मज़दूर वर्ग के सामूहिक मानस में विद्रोह की जो प्रलयंकारी भावना उमड़-घुमड़ रही थी और स्वत:स्फूर्त उग्र संघर्षों के रूप में फूटकर सामने आ रही थी, उसे भारत का कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन यदि अपने प्रभाव में न ले सका और एक ऐतिहासिक अवसर का लाभ उठाने से चूक गया तो इसका बुनियादी कारण "वाम" दुस्साहसवादी भटकाव था, जिसके सूत्रधार और नेता चारु मजुमदार थे।

"हम एक छोटे-से समूह में एक ढलान भरे और मुश्किल रास्ते पर मार्च कर रहे हैं, एक दूसरे का हाथ मज़बूती से पकड़े हुए। हम हर तरफ़ से शत्रुओं से घिरे हैं और हमें लगभग लगातार उनकी गोलाबारी के बीच आगे बढ़ना है। हम शत्रु से लड़ने के मकसद से एक मुक्त रूप से अपनाये गये निर्णय से साथ आये हैं, न कि आस-पास के उस दलदल में जाने के लिए जिसके निवासी शुरू से ही हमें एक अलग समूह में अलग हो जाने के लिए और मेल-मिलाप की बजाय संघर्ष का रास्ता चुनने के लिए धिक्कारते रहे हैं। और अब हममें से ही कुछ लोग चीख-चिल्लाहट मचा रहे हैं: चलो दलदल में चलें! और जब हम उन्हें शर्मसार करना शुरू करते हैं, तो वे कठोरता से प्रत्युत्तर देते हैं: कैसे पिछड़े लोग हो तुम! क्या तुम्हें हमारी इस आज़ादी को छीनने पर शर्म नहीं आती कि हम तुम्हें एक बेहतर रास्ते पर ले जाने का आमन्त्रण दे रहे हैं! ओह, हाँ, भद्रजनो! आप हमें आमन्त्रण देने के लिए ही नहीं बल्कि जहाँ भी आपको जाना है, वहाँ जाने के लिए स्वतन्त्र हैं, यानी दलदल में। दरअसल, हमें लगता है कि दलदल ही आपकी सही जगह है, और हम वहाँ पहुँचने में आपको हर मदद देने को तैयार हैं। बस हमारा हाथ छोड़ दीजिये, हमें पकड़ कर मत रखिये और महान शब्द आज़ादी को मैला मत करिये, क्योंकि हम भी जहाँ चाहें जाने को "आज़ाद" हैं, न सिर्फ़ दलदल के विरुद्ध लड़ने के लिए बल्कि उनके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए भी जो दलदल की ओर मुड़ रहे हैं!"

– लेनिन, **क्या करें?**, 'कठमुल्लावाद और 'आलोचना की स्वतन्त्रता'' (1901)

उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं

● अभिनव सिन्हा

समझदारों का गीत
हवा का रुख़ कैसा है, हम समझते हैं
हम उसे पीठ क्यों दे देते हैं, हम समझते हैं
हम समझते हैं ख़ून का मतलब
पैसे की क़ीमत हम समझते हैं
क्या है पक्ष में विपक्ष में क्या है, हम समझते हैं
हम इतना समझते हैं
कि समझने से डरते हैं और चुप रहते हैं

चुप्पी का मतलब भी हम समझते हैं
बोलते हैं तो सोच-समझ कर बोलते हैं हम
हम बोलने की आज़ादी का
मतलब समझते हैं
टुटपुँजिया नौकरी के लिए
आज़ादी बेचने का मतलब हम समझते हैं
मगर हम क्या कर सकते हैं
अगर बेरोज़गारी अन्याय से
तेज़ दर से बढ़ रही है
हम आज़ादी और बेरोज़गारी दोनों के

ख़तरे समझते हैं
हम ख़तरों से बाल-बाल बच जाते हैं
हम समझते हैं
हम क्यों बच जाते हैं, यह भी हम समझते हैं।
.....
हम सरकार से दुखी रहते हैं
कि समझती क्यों नहीं
हम जनता से दुखी रहते हैं
कि भेड़ियाधँसान होती है

हम सारी दुनिया के दुख से दुखी रहते हैं
हम समझते हैं
मगर हम कितना दुखी रहते हैं यह भी
हम समझते हैं
यहाँ विरोध ही वाजिब कदम है
हम समझते हैं
हम कदम-कदम पर समझौते करते हैं
हम समझते हैं
हम समझौते के लिए तर्क गढ़ते हैं
हर तर्क गोल-मटोल भाषा में
पेश करते हैं, हम समझते हैं
हम इस गोल-मटोल भाषा का तर्क भी
समझते हैं

वैसे हम अपने को किसी से कम
नहीं समझते हैं
हर स्याह को सफ़ेद और
सफ़ेद को स्याह कर सकते हैं
हम चाय की प्यालियों में
तूफ़ान खड़ा कर सकते हैं
करने को तो हम क्रान्ति भी कर सकते हैं
अगर सरकार कमज़ोर हो
और जनता समझदार
लेकिन हम समझते हैं
कि हम कुछ नहीं कर सकते हैं
हम क्यों कुछ नहीं कर सकते हैं
यह भी हम समझते हैं।

– ***गोरख पाण्डेय***

हाशिये पर खड़े लोगों के अपने दु:ख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं। सवाल देखने के नज़रिये और ज़ोर का होता है। हाल ही में, हाशिये पर खड़े वामपन्थी आन्दोलन से लम्बे समय से जुड़े रहे एक बुद्धिजीवी रवि सिन्हा ने हाशिये पर खड़े अपने अन्य बिरादरों के लिए भारत में साम्प्रदायिक फासीवाद के उभार के बरक्स कुछ सबक पेश किये हैं (*http://nsi-delhi.blogspot.in/2014/05/lesson-for-saner-segments-of-margins.html* व हिन्दी अनुवाद 'समकालीन तीसरी दुनिया' के जून, 2014 के अंक में प्रकाशित)। लेकिन इन सबकों को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि ये सबक हमेशा हाशिये पर ही कैसे खड़े रहें, इसका 'यूज़र मैनुअल' है। यूँ भी कह सकते हैं कि यह आज के सबसे ज़रूरी कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक के लिए स्थगित कर देने का प्रस्ताव है।

इस लेख की एक विस्तृत आलोचना पेश करना हम कई कारणों से ज़रूरी समझते हैं, हालाँकि इस लेख में हाशिये पर खड़े (पड़े!?) लोगों का आवाहन किया गया है!

पहला कारण यह है कि यह लेख 'हाशिये' को काफ़ी आकर्षक बना देता है; नतीजतन, जो अभी हाशिये पर नहीं है और राजनीतिक मुख्य भूमि की ओर जा सकते हैं, या फिर जो हाशिये पर अपनी इच्छा या चुनाव से नहीं हैं या सम्भवत: हाशिये पर अपनी अवस्थिति के बारे में सचेत भी नहीं हैं; ऐसे सभी लोगों के लिए यह लेख 'हाशिये' को एक वांछनीय स्थान बना देता है। **दूसरा कारण** यह है कि 'हाशिये' को मनमोहक बनाने की प्रक्रिया में यह लेख इतिहास और विचारधारा दोनों के ही साथ बदसलूकी करता है। फासीवाद के इतिहास और विचारधारा की इस 'समझदारों के पाठ' में जो समझदारी पेश की गयी है, उसे अधिकतम सम्भव उदारता के साथ लचर और बचकाना कहा जा सकता है। इसलिए कुछ अहम विचारधारात्मक और इतिहास-सम्बन्धी मुद्दों पर साफ़-नज़र होने के लिए भी हम इस लेख की आलोचना को ज़रूरी समझते हैं।

लेख में जो बातें कहीं गयीं हैं, उनकी क्रमानुसार या महत्वानुसार आलोचना की जा सकती है। चूँकि लेख में शैली और अन्तर्वस्तु की निरन्तरता कमोबेश बनी रही है, इसलिए क्रम का निर्धारण महत्व से ही हुआ है। और पाठकों की सुविधा के लिए लेख में पेश मुद्दों के क्रम के अनुसार अपनी आलोचना रखना ही उचित होगा। चूँकि प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में कुछ स्थानों पर हमें शुद्धता का अभाव महसूस हुआ इसलिए हम मूल अंग्रेज़ी लेख को ही अपने स्रोत के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। जहाँ कहीं भी हमने लेखक को उद्धृत किया है, वह हमारा अनुवाद है।

सबकों की पृष्ठभूमि की तैयारी: भाषा में अन्तर्निहित भूगोल और स्थलाकृति

'जब बदलाव करना सम्भव था
मैं आया नहीं: जब यह ज़रूरी था
कि मैं, एक मामूली सा शख़्स, मदद करूँ,
तो मैं हाशिये पर रहा।'

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'सेण्ट जोन ऑफ दिन स्टॉकयार्ड्स'*)

लेखक मानता है कि उनका सरोकार उस हाशिये से नहीं है जो कि राजनीतिक मुख्यभूमि

के दक्षिण में पड़ता है, बल्कि उस हाशिये से है जो कि इस मुख्यभूमि के वाम पक्ष में पड़ता है। लेखक चिन्तामग्न है कि पूरा का पूरा वाम अब इस हाशिये पर ही चला गया है। यद्यपि परम्परागत वाम इस बात को अभी स्वीकार नहीं कर सका है। लेखक यह भी मानता है कि स्वयं उसके जीवन का बहुलांश इस हाशिये पर बीता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस हाशिये पर नये वामपन्थी आगन्तुकों का वह एक बहुआयामी विडम्बना-बोध के साथ स्वागत कर रहा है। इस विडम्बना-बोध का एक आयाम तो यह है कि इसके नवागन्तुकों का एक बड़ा हिस्सा अब तक राजनीतिक मुख्यभूमि में था और अब दक्षिणपन्थ के उभार ने उसे हाशिये पर धकेल दिया है! और इसका दूसरा आयाम यह है कि लेखक इन नवागन्तुकों का स्वागत करते हुए भी यह जानता है कि हाशिये पर रहने के लम्बे अनुभव से लैस एक समझदार व्यक्ति (wise man) द्वारा दिये जा रहे सबकों पर ये नवागन्तुक कान नहीं देंगे! इससे पहले कि लेखक द्वारा प्रयोग में लायी गयी शब्दावली की राजनीति पर अपनी बात रखते हुए हम अपनी आलोचना की विधिवत् शुरुआत करें, पहले इस शब्दावली में अन्तर्निहित भूगोल (geography) और स्थलाकृति-विज्ञान (topography) को भी समझ लिया जाय, विशेष तौर पर, राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये को।

यहाँ राजनीतिक मुख्यभूमि संसद व विधानसभा प्रतीत होते हैं, हालाँकि ने लेखक ने सम्भवतः इरादतन इसके बारे में अस्पष्टता बनाये रखी है। समाज विज्ञान और आलोचनात्मक सिद्धान्त बहुत पहले ही बता चुका है कि चुप्पियों (silences) के भी अर्थ होते हैं, और अकसर वे 'टेक्स्ट' से भी अहम होते हैं। वस्तुतः, सामाजिक सिद्धान्त की किसी भी शाखा का असल मकसद शब्दों से ज़्यादा इन चुप्पियों को विकूटीकृत (decipher) करना होता है! बहरहाल, यहाँ **राजनीतिक मुख्यभूमि** का अर्थ संसद-विधानसभा ही प्रतीत होता है। क्योंकि संसदीय वाम के अतिरिक्त जो वाम है, वह तो पहले से ही हाशिये पर है! **ऐसे में, जिन नवागन्तुकों के हाशिये में आगमन की बात की जा रही है, वह निश्चित तौर पर संसदीय वाम ही है, यानी भाकपा, माकपा, भाकपा (माले) लिबरेशन इत्यादि।**

लेकिन **हाशिये** का अर्थ यहाँ केवल गैर-संसदीय वाम नहीं प्रतीत होता। बल्कि यह भूभाग उन शक्तियों का है जिनका समाज में कोई विशेष आधार या पकड़ नहीं है। पहले तो हाशिये पर वह वाम ही था जिसे आम तौर पर चलताऊ राजनीतिक शब्दावली में *'लेफ्ट ऑफ सीपीएम'* कहा जाता है। लेकिन अब दक्षिणपन्थी फासीवाद के इस नये उभार ने उस वाम को भी हाशिये पर पहुँचा दिया है जो *'सीपीएम* या *राइट ऑफ सीपीएम'* हैं! ऐसे में, लेखक चिन्तित है। वह खुद के लम्बे समय से हाशिये पर ही रहने से उतना चिन्तित नहीं है, जितना कि इस बात से कि जो संसदीय वामपन्थी हाशिये पर नहीं थे वे भी हाशिये पर आ गये हैं और हाशिया 'ओवरक्राउडेड' हो गया है! फिर भी, वह भारी मन और भरे दिल से इन संसदीय वामपंथियों का हाशिये पर खुली बाहों के साथ स्वागत भी कर रहे हैं! कम-से-कम लेखक के शब्दों के प्रयोग-व्यवहार या प्रयोग-धर्म से तो उनके राजनीतिक भूविज्ञान के यही अर्थ सम्प्रेषित होते हैं। क्योंकि उन्होंने राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये की कोई विवादित सीमा-रेखा भी स्पष्ट नहीं की है। बहरहाल, यहाँ से हम अपनी आलोचना के पहले प्रमुख बिन्दु पर आ सकते हैं।

शब्दावली में निहित इस भूविज्ञान से एक बात स्पष्ट है: लेखक 'वाम' या 'वामपन्थ' को एक 'जेनेरिक' शब्द के रूप में इस्तेमाल करते हैं और इसका उग्रता के साथ तर्कपोषण करते हैं। 'समझदार लोगों' से लेखक का क्या तात्पर्य है, यह उन्होंने यह

कहकर बताने से इंकार कर दिया है कि ऐसी कसौटियाँ निर्धारित करने का पाण्डित्य-प्रदर्शन उन्हें नहीं करना है! लेकिन बाद में वह अपने आपको ऐसे पाण्डित्य-प्रदर्शन से रोक नहीं पाये हैं और एक बेहद व्यापक पैमाना उन्होंने पेश कर ही दिया है! इसमें वे सभी लोग हैं, जो कि उन "पागलों से भरी परिधि" में नहीं हैं जो कि संशोधनवादी वामपन्थ और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फर्क करते हैं! इस बात को लेखक ने प्रहसनात्मक ढंग से कहा है: *"जो बाकी सभी दूसरे लोगों पर संशोधनवाद, ग़द्दारी और इससे भी बुरे आरोप लगाकर ही ज़िन्दा रहते हैं!"* स्पष्ट है कि अगर लेनिन या माओ ज़िन्दा होते तो वह भी लेखक के अनुसार इसी पागलपन की परिधि में आते! हम स्पष्ट कर दें कि **सवाल यहाँ यह नहीं है कि कोई क्रान्तिकारी मार्क्सवादी संशोधनवादियों के सैद्धान्तिकीकरणों से विचारधारात्मक तौर पर 'इंगेज' करेगा या नहीं!** सवाल यह है कि वह उनसे कोई बहस या संवाद इसलिए नहीं चलाता है कि वह उन्हें क्रान्तिकारी वाम का अंग मानता है या उनसे कोई उम्मीद रखता है! लेनिन या बाद में माओ ने अगर संशोधनवादियों से विचारधारात्मक संघर्ष चलाया तो इसका मक़सद क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की हिफ़ाज़त और क्रान्तिकारी कतारों की शिक्षा थी। लेकिन यहाँ सभी क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को जानबूझकर एक श्रेणी में रख दिया गया है: वे बचकाने लोग जो अपने सिवा बाकी सभी लोगों को संशोधनवादी, ग़द्दार आदि की संज्ञा देकर ज़िन्दा रहते हैं; वे बचकाने लोग जो मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच के पुराने पड़ चुके फर्क की माला जपते रहते हैं, जबकि दूसरी ओर साम्प्रदायिक फासीवादी उभार सिर पर खड़ा है! निश्चित तौर पर, यह स्वर पराजयबोध और निराशा के गर्त में पड़े लोगों को वाकई 'वाइज़ मैन' का स्वर प्रतीत हो सकता है! लेकिन सच्चाई यह है कि 'वाइज़ मैन' के पास न तो फासीवाद की कोई ऐतिहासिक समझदारी है और न ही उसके प्रतिरोध को संगठित करने की रणनीतियों के बारे में। वह इस बात से भी नावाकिफ़ है कि इतिहास में फासीवादी उभार में योगदान करने वाले कारकों में एक अहम कारक रहा है सामाजिक-जनवादियों की ग़द्दारी और मज़दूर आन्दोलन को बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों और वैधिकता (legality) का कैदी बनाये रखना।

बहरहाल, रवि सिन्हा 'वामपन्थ' और 'वाम' जैसे शब्दों के अपने इस प्रयोग-धर्म और उसके तर्क-पोषण के ज़रिये शेष लेख का स्वर और इसमें सिखाये गये "पाठों" की अन्तर्वस्तु निर्धारित कर देते हैं। लेखक कहता है कि किसी को अच्छा लगे या न लगे, उन्हें तो इन परिधिगत वामपन्थी पागलों को भी वाम में शामिल करना ही पड़ेगा और अफसोस की बात यह है कि उससे सरोकार रखे बिना, उसके विषय में चिन्तित हुए बिना भी नहीं रहा जा सकता है! लेकिन लेखक इस बात को लेकर आश्वस्त है कि ये पागल लोग उनके इस लेख में सिखाये गये पाठों को नहीं सीखेंगे और अन्त में इसे लेकर आपस में झोंटा-झुटव्वल करेंगे! इस कथन के पीछे का सन्देश यह है, *'अगर तुमने मेरे द्वारा दिये गये सबक की आलोचना की तो मैं तुम्हें संकीर्ण हितवादी, स्वार्थी, झगड़ालू और बन्द-दिमाग़ बुलाऊँगा!'* बहरहाल, इस ख़तरे को उठाते हुए भी हम आलोचना के कार्यभार को पूरा करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

16 मई को नरेन्द्र मोदी की लोकसभा चुनावों में अभूतपूर्व विजय के बारे में अपनी समझदारी को सामने रखते हुए लेखक शुरुआत करते हैं। **बुर्जुआ चुनावों की जीत-हार का यहाँ जो विश्लेषण पेश किया गया है, वह प्रतीतिगत यथार्थ को ही सारभूत यथार्थ के तौर पर देखता है।** लेखक की यह दलील निश्चित तौर पर कुछ वज़न रखती है कि मोदी की जीत के बाद वामपन्थी खेमे (यहाँ हम भी 'वामपन्थी' शब्द का इस्तेमाल सिर्फ़

तात्कालिक स्पष्टता के लिए 'जेनेरिक' विशेषण के तौर पर कर रहे हैं!) में तमाम लोग *'डिनायल मोड'* में चले गये थे। इससे मोदी की विजय से उनमें पैदा हुए मानसिक सदमे का अनुमान लगाया जा सकता है। इन लोगों की लेखक ने एक सही आलोचना पेश की है और कहा है कि यह मानना चाहिए कि इन चुनावों में धुर दक्षिणपन्थ को स्पष्ट तौर पर ज़बरदस्त जनादेश मिला है। लेकिन इसके बाद लेखक इस जनादेश के लिए जनता से थोड़ा नाराज़ से नज़र आते हैं! इस नाराज़गी को वह अभी थोड़ा छिपा रहे हैं। लेकिन लेख में आगे बढ़ते-बढ़ते उनका संयम जवाब दे जाता है। लेकिन बाद की बातों पर बाद में। यहाँ लेखक यह बताने की कोशिश करते हैं कि बुर्जुआ चुनावों में जनता ने नरेन्द्र मोदी को जो जनादेश दिया है वह **जनता द्वारा अपनी इच्छा और विवेक का प्रकटीकरण** था, हालाँकि उसमें कारपोरेट मीडिया व धनबल का भी हाथ है। इस बात से रवि सिन्हा वामपंथियों (जो कि जनता पर अनालोचनात्मक भरोसा करते हैं!) के लिए यह सबक निकालते हैं: **उन्हें जनता के विवेक पर अपनी अनालोचनात्मक आस्था के साथ इस बात का सामंजस्य बिठाना पड़ेगा कि आखिर उनकी महान जनता ने नरेन्द्र मोदी को जनादेश कैसे दे दिया!**

बुर्जुआ चुनावों में विजय और पराजय का यह विश्लेषण, बहुत छूट देकर कहें तो, एक पस्तहिम्मत उदार निम्न-पूँजीवादी बुद्धिजीवी के हारे हुए दिल की कराह है। कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति यह जानता है कि बुर्जुआ चुनावों में पूँजीपति वर्ग जनता से शासन करने की *सहमति* लेता है; इस मायने में यह वर्ग समाज का पहला शासक वर्ग है जो कि सहमति लेकर शासन करता है और इसीलिए उसके शासन का मूल आधार वर्चस्व है, महज़ प्रभुत्व नहीं; उसका शासन दिव्य रूप से प्रदत्त (divinely-ordained) नहीं होता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि बुर्जुआ समाज में यह 'सहमति' निर्मित होती है, 'मैन्युफैक्चर' की जाती है। **इसलिए सीधे यह कहना कि जनता ने 'अपने विवेक से' नरेन्द्र मोदी और संघ परिवार को जनादेश दिया है, कम-से-कम एक गम्भीर रूप से अधूरी बात तो मानी ही जायेगी।** जनता अपने *स्वत:स्फूर्त* विवेक से इतिहास में पहले भी बर्बरों का साथ दे चुकी है, चाहे वह उन समाजों की जनता ही क्यों न हो जिन्हें लेखक आधुनिक समाज मानता है! जनता की स्वत:स्फूर्त चेतना ही यदि सर्वहारा चेतना होती तो सर्वहारा वर्ग के हिरावलों की आवश्यकता शायद ही पड़ती! बहरहाल, पहली बात तो यह है कि जनता 'अपने विवेक से' कभी प्रतिक्रियावाद के पक्ष में नहीं खड़ी होती है, ऐसा किसी विवेकवान वामपन्थी का मानना नहीं है। **लेनिन** ने कहीं लिखा था कि जनता अत्यधिक श्रान्ति की स्थिति में प्रतिक्रिया के पक्ष में जाकर खड़ी हो जाती है और इसके लिए मूल तौर पर स्वयं जन समुदायों को नहीं बल्कि उनके बीच क्रान्तिकारी शक्तियों की अनुपस्थिति को ज़िम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण, या मज़दूर वर्ग की राजनीतिक वर्ग चेतना मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार से नि:सृत होती है, जो समाहार मज़दूर वर्ग के सदस्य बिरले ही करते हैं। आम तौर पर, ऐसे लोग मध्य वर्गीय बौद्धिक जमातों से आते हैं। हम यहाँ कोई भी नयी बात नहीं कह रहे हैं। लेकिन चूँकि रवि सिन्हा भी यहाँ कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि पुराने अवसादग्रस्त उदार बुर्जुआ 'ऑर्थोडॉक्सी' को ही नये पाण्डित्यपूर्ण शब्दों में पुनर्जीवित कर रहे हैं, इसलिए हम भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान द्वारा दिये गये जवाबों को ही प्रस्तुत करने को बाध्य हैं। यहाँ तमाम प्रयासों के बावजूद भारत की नालायक जनता से रवि सिन्हा की नाराज़गी टपक ही जाती है; लेकिन यह तो सिर्फ़ ट्रेलर है! कुल मिलाकर, इस पूरे हिस्से में बुर्जुआ चुनावों का एक बेहद सतही विश्लेषण है और जनता द्वारा नरेन्द्र मोदी को

दिये गये जनादेश की भी एक अनालोचनात्मक समझदारी सामने आती है। इसके अलावा, जनता को कोई एक एकाश्मीय, सजातीय प्रवर्ग के तौर पर पेश किया गया है। दूसरे शब्दों में, रवि सिन्हा के विश्लेषण से वर्ग दृष्टि पूर्ण रूप से अनुपस्थित है। इस पर हम आगे थोड़ा विस्तार से आयेंगे। साथ ही, इस पूरे विश्लेषण में जनता के राजनीतिक निर्णयों और कार्रवाइयों में अगुआ क्रान्तिकारी शक्तियों की उपस्थिति/अनुपस्थिति/अपर्याप्त उपस्थिति की भूमिका को एक चर राशि (variable) के तौर पर शामिल ही नहीं किया गया है। यह एक उदार बुर्जुआ रूपवादी (formalist) व प्रत्यक्षवादी (positivist) विश्लेषण है, जो विशेष तौर पर फासीवादी उभार का विश्लेषण करते हुए अक्सर हताशा और अवसाद अथवा अवसरवाद में ही समाप्त होता है।

नरेन्द्र मोदी की विजय के बाद लेखक हर बात को लेकर दु:खी भी नहीं है! उनकी यह दलील दुरुस्त है कि नरेन्द्र मोदी की अगुवाई में भाजपा व संघ परिवार अपनी निर्णायक विजय के बाद खुले और व्यापक दंगों की रणनीति नहीं अपनायेगा। हमारा भी मानना है कि अब गुजरात-2002 जैसे नरसंहार कराने की आवश्यता नहीं है। न तो यह पूँजी के हितों के लिए बेहतर है और न ही बुर्जुआ जनवाद के विभ्रम को बरक़रार रखने के लिए अच्छा है। बस मुसलमानों का घेट्टोकरण करके और एक प्रकार की अघोषित 'अपार्थाइड' की नीति के ज़रिये उनका हिन्दुओं से पार्थक्य स्थापित करना पर्याप्त होगा। लेखक का यह प्रेक्षण भी **कमोबेश** ठीक लगता है। लेकिन इसके बाद वह अपने पहले सबक पर जाते हैं और यह बताते हैं कि भारत में भगवा साम्प्रदायिक फासीवादियों की कार्यपद्धति में सत्ता में आने के बाद यह बदलाव क्यों होगा, और यहीं से भयंकर दिक्कतें शुरू होती हैं। आइये, रवि सिन्हा के विश्लेषण और उनके तर्कों पर एक निगाह डालते हैं।

पहला सबक: आओ चलें संसद, विधानसभाओं और अदालतों की ओर!

"जो काम बल-प्रयोग से किया जाता है वह अच्छा नहीं होता। मैं उनमें से नहीं हूँ। अगर भूख और दरिद्रता के हालात ने बचपन में ही मुझे हिंसा सिखायी होती तो मैं भी उनमें से एक होता और कोई प्रश्न नहीं पूछता। लेकिन जैसा है वैसा है। इसलिए मुझे जाना चाहिए।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ आर्तुरो उई'*)

रवि सिन्हा का मानना है कि फासीवादियों के सत्ता में आने के बाद वे देश के सामाजिक ताने-बाने के साथ क्या करते हैं यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह कि वे *"राज्य और उसकी संरचना के साथ क्या कर सकते हैं और क्या नहीं।"* उनके अनुसार जो बात यहाँ वामपंथियों के लिए आकाशवाणी के समान या सहज उपलब्ध तथ्य के समान नहीं है, काउण्टर-इण्ट्यूटिव (counter-intuitive) है, वह समझना ज़्यादा अहम है। बकौल रवि सिन्हा फासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है, लेकिन अपनी इस शक्ति के बूते वे राज्य की संरचनाओं को अपनी सामाजिक विचारधारा के अनुसार नहीं बदल सकते हैं। लेखक मानता है कि यह तर्क सामान्य बोध से समझा जा सकता है कि एक बार सत्ता में आने के बाद फासीवादियों को पूँजीवादी राज्य सत्ता में अहम बदलाव करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह राज्यसत्ता कारपोरेट हितों की सेवा करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन सिर्फ़ इतना समझना

लेखक के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि यह एक अहम नुक्ते को पकड़ने से चूक जाना होगा। उनके अनुसार यह नुक़्ता उस फ़र्क में अन्तर्निहित है जो कि एक प्रबुद्ध बुर्जुआ-जनवादी कल्याणकारी राज्य और एक हिटलर जैसी फासीवादी तानाशाही के बीच होता है। रवि सिन्हा पूछते हैं कि क्या इस अन्तर के एक वामपन्थी के लिए कोई मायने नहीं हैं? उनके अनुसार *"भारतीय राज्यसत्ता एक ऐसे समाज की गोद में बैठी है जो कई बार ऐसे लोगों को सत्ता में बिठा सकता है जो कि एक फासीवादी-तानाशाहाना रास्ते को अख़्तियार करना पसन्द करेंगे।"* लेकिन भारतीय संवैधानिक बुर्जुआ जनवादी राज्यसत्ता का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए, बल्कि शुक्र मनाते हुए, वह इस बात पर राहत का अहसास करते हैं कि भारत में फासीवादी सत्ता में काबिज़ होने के बावजूद अपनी चाहतों और विचारधाराओं के अनुसार यह सब नहीं कर पायेंगे! उनके अनुसार, इस पूरे विश्लेषण से वामपंथियों के लिए जो पहला सबक निकलता है वह है भारतीय राज्यसत्ता और भारतीय समाज के बीच के पहेलीनुमा रिश्तों को समझना। उनके अनुसार, *"आपको इस बात पर ग़ौर करना चाहिए कि समाज बर्बर शक्तियों को पैदा करता है और उन्हें राज्यसत्ता की ज़िम्मेदारी सौंपता है लेकिन राज्यसत्ता बर्बरों को सभ्य बनने के लिए और संवैधानिक ढाँचे के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती है। इतिहास ने एक अभी-तक-आधुनिक-नहीं-हुए-समाज के बीच से एक आधुनिक राजनीति को ढाला है। इस समाज का निर्माण करने वाली तमाम संस्कृतियाँ और प्रथाएँ आधुनिक राजनीतिक संरचना के साथ असुविधाजनक रूप से अस्तित्वमान हैं। और फिर भी राजनीतिक संरचना काफ़ी हद तक सुरक्षित है। बच्चा एक ऐसी माता के गोद में बैठा है जो बच्चे को कई बार अजनबी और यहाँ तक कि शत्रुतापूर्ण पाती है, लेकिन वह फिर भी बच्चे को अपनी गोद में लिए रहती है।"*

यहाँ रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के सम्बन्धों की एक समझदारी पेश करते हुए इससे अपना पहला सबक निकाला है। अगर मौजूदा हालात में नये फासीवादी शासक वामपंथियों के विरुद्ध अपना अभियान जारी करते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? वह कहते हैं कि वामपन्थी कहेंगे कि हम जनता के बीच जायेंगे और उनकी शक्ति के बूते फासीवादियों से लड़ेंगे; यह उनके अनुसार *पूरी तरह से ग़लत* नहीं होगा। लेकिन वह हिदायत देते हैं कि फिर फासीवादी शक्तियाँ आप से भी ज़्यादा लोगों तक पहुँचेंगी! फिर आप क्या करेंगे? फिर वह एक ग़ज़ब का उदाहरण देते हैं। वह कहते हैं कि अगर वामपन्थी पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों पर तृणमूल कांग्रेस से नहीं लड़ पाये तो फिर अगर सारे वामपन्थी साथ भी आ जायें, जिसकी उम्मीद कम है, तो भी अन्धकार के इस नये राजकुमार से वे शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में कैसे लड़ेंगे? वह भी तब जबकि नये राजकुमार को यूनानी देवताओं के समान जनसमुदायों की सराहना, डरों और प्रार्थनाओं से जीवन शक्ति मिलती है? **इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक नये फासीवादी शासकों को जनता के बीच राजनीतिक संघर्ष करने के लिए न्यौता देने से पहले अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए!** रवि सिन्हा के अनुसार ज़्यादा बेहतर तरीका होगा कि वामपन्थी अपने आपको पहले से अस्तित्वमान राजनीतिक ढाँचे में यानी कि संसद, विधानसभाओं, अदालतों आदि में बचाने का प्रयास करें जिसमें कि वे संविधान और कानून की पूरी मदद ले सकते हैं। यहाँ पर वह मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ के साहसिक संघर्षों का उदाहरण देते हैं, जो कि अहमदाबाद की सड़कों पर नहीं हुआ बल्कि अदालतों में हुआ। बाद में वह एक *कैविएट* जोड़ते हैं, जिसे एक बेशर्म दलील पेश करने के बाद इज़्ज़त बचाने का प्रयास कहना ज़्यादा उचित होगा। वह कहते हैं कि हमें आधुनिक राज्यसत्ता और राजनीति व उनकी संरचनाओं से ज़्यादा उम्मीदें भी नहीं

करनी चाहिए क्योंकि जब बर्बर शक्तियाँ सत्ता में आती हैं तो वे इन संरचनाओं को भी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार एक हद तक तोड़ती-मरोड़ती हैं, लेकिन फिर भी, उनके अनुसार, उनकी उपरोक्त दलील मूलतः और मुख्यतः सही ठहरती है।

अब आइये लेखक के पहले सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क पद्धति के गुणों और अवगुणों के आधार पर इसका मूल्यांकन करते हैं। हम यहाँ शुरुआत अपने नतीजों से नहीं करेंगे क्योंकि फिर इस बात की पूरी गुंजाइश होगी हमारी बात सुनने से पहले ही हाशिये पर खड़े या पड़े समझदार लोग हमें 'वाम की पागल परिधि' की संज्ञा दे दें! इसलिए हम लेखक द्वारा पेश की गयी दलीलों की एक क्रमबद्ध पड़ताल करेंगे और उससे उनकी तर्क पद्धति और विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति को निःसृत करने का प्रयास करेंगे और देखने की कोशिश करेंगे कि यह तर्कपद्धति फासीवाद के इतिहास और विचारधारा की समस्याओं और उससे लड़ने की रणनीति और रणकौशलों के विषय में इतिहास के सबकों को किस हद तक समझ पाती है।

रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के चरित्र के बीच एक विरोधाभास पेश किया है। **उनके अनुसार भारतीय समाज अभी आधुनिक नहीं बना है, जबकि कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से उसे एक आधुनिक बुर्जुआ उदार जनवादी संवैधानिक राज्य प्राप्त हुआ है।** इसके लिए उन्होंने ऊपर बतायी गये माँ और बच्चे वाले रूपक को पेश किया है (हालाँकि यह रूपक सटीकता के पैमाने पर दुरुस्त नहीं ठहरता है)। उनके अनुसार फासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है क्योंकि समाज पुनर्जागरण, धर्म-सुधार आन्दोलन व प्रबोधन जैसे आन्दोलनों की अनुपस्थिति में प्राक्-आधुनिक रह गया है, जबकि राज्य और उसकी संरचनाएँ बुर्जुआ उदार जनवादी हैं व संवैधानिक नियम-कायदों से बँधी हुई हैं। इसी बुनियादी तर्क पर उन्होंने अपने सबक निकाले हैं। लेखक के अनुसार भारत में समाज ऐसा है जो अपनी अन्तर्निहित प्रकृति से फासीवादी, धुर दक्षिणपन्थी और तानाशाहाना ताक़तों को सत्ता में लाता है; लेकिन भला हो भारत के जनवादी राज्य का जिसके कारण सत्ता में आने के बाद फासीवादी ताक़तों को अपने हाथ बाँधने पड़ते हैं, क्योंकि वे इस बुर्जुआ जनवादी राज्य संरचना को या संविधान को बदल नहीं सकते हैं; वास्तव में, ये राज्य, राजनीति और उसकी संरचनाएँ एक प्रकार से फासीवादी बर्बर ताक़तों को सभ्य बनने पर मजबूर करती हैं, उन्हें अपने अनुकूल अनुशासित करती हैं! यह पूरी समझदारी कई बल्कि लगभग हर स्तर पर ग़लत, अनैतिहासिक, समाजशास्त्रीयतावादी (sociologist) है और बुर्जुआ विभ्रमों का भयंकर तरीके से शिकार है।

पहली बात तो यह है कि भारतीय समाज और राज्यसत्ता का यहाँ क्रमशः प्राक्-आधुनिक व आधुनिक के तौर पर सारभूतीकरण (essentialization) किया गया है, जो कि वास्तविकता से बहुत दूर है। दूसरी बात यह कि फासीवादी आन्दोलन और विचारधारा का भी यहाँ एक प्राक्-आधुनिक परिघटना या प्राक्-आधुनिक स्रोतों से पैदा हुई परिघटना के तौर पर सारभूतीकरण किया गया है, जो कि न सिर्फ़ हमारे देश के सन्दर्भ में बल्कि फासीवाद के पूरे वैश्विक इतिहास के सन्दर्भ में ग़लत है। तीसरी बात यह कि फासीवादी उभार का राजनीतिक अर्थशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण इस लेख से पूरी तरह अनुपस्थित है। यह एक बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है और वह भी ख़राब गुणवत्ता का; यदि किसी को फासीवादी उभार का उदार बुर्जुआ और समाजशास्त्रीय विश्लेषण ही पढ़ना होगा तो इससे बेहतर विकल्प मौजूद हैं। **और**

चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज और राज्यसत्ता के बीच के सम्बन्धों का जो विश्लेषण पेश किया गया है वह न सिर्फ़ अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक और भोंड़ा प्रत्यक्षवादी विश्लेषण है, बल्कि वह वास्तव में अमेरिकी ड्यूई़वादी व्यवहारवाद से काफ़ी कुछ उधार लेता है। इस विश्लेषण का क्रान्तिकारी वामपन्थी या मार्क्सवादी विश्लेषण से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक उदार बुर्जुआ फेबियनवादी व व्यवहारवादी विश्लेषण कहा जा सकता है। इसके अलावा, रवि सिन्हा चलते-चलते भारतीय वामपन्थ पर ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करते हैं, जो उन पर लागू नहीं होती। मिसाल के तौर पर, उनका प्रश्न है कि क्या वामपन्थी उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य और एक तानाशाहाना फासीवादी बुर्जुआ राज्य में फर्क नहीं करते हैं या फिर पर्याप्त रूप से फ़र्क करते हैं? कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रश्न मूल्यरहित नहीं है और इसमें एक आक्षेप अन्तर्निहित है। लेकिन हमें ताज्जुब होता है कि लेखक इस बात से वाक़िफ़ नहीं है कि दुनिया भर में मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के बीच यह स्थापित तथ्य है कि एक उदार बुर्जुआ राज्य और एक फासीवादी बुर्जुआ राज्य के बीच फर्क किया जाना चाहिए; इस फर्क को मार्क्सवादियों ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से और पूँजीवाद के ऐतिहासिक विश्लेषण से स्पष्ट किया है और इस फर्क के मुताबिक रणनीतिक और रणकौशलात्मक नतीजे भी निकाले हैं। हम जानते हैं कि ऐसा कहना कतई ग़लत होगा कि फासीवादी और विशेष तौर पर वर्तमान फासीवादी उभार के बारे में कम्युनिस्टों ने सारा विश्लेषण पहले ही कर रखा है! लेकिन रवि सिन्हा का यह इशारा कि कम्युनिस्टों को उदार बुर्जुआ राज्य और फासीवादी बुर्जुआ राज्य में फर्क करने का सबक भी हाशिये से प्रसारित होते उनके सबकों से लेना होगा, अनुचित लगता है।

बहरहाल, अब रवि सिन्हा द्वारा भारत में राज्य और समाज के रिश्तों की जो अवधारणा पेश की गयी है, उस पर आते हैं। भारतीय समाज को एक प्राक्-आधुनिक समाज के रूप में पेश किया गया है, जिसमें नैसर्गिक तौर पर सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियाँ मौजूद है और इन प्रवृत्तियों के चलते ही वह स्वत:स्फूर्त तौर पर कई बार फासीवादियों और तानाशाहों को सत्ता सौंप देता है! **यह भारतीय समाज का एक अनैतिहासिक सारभूतीकरण (ahistorical essentialization) है।** निश्चित तौर पर, भारतीय समाज पश्चिम के समान पुनर्जागरण, धर्म सुधार आन्दोलन और प्रबोधन की प्रक्रिया से नहीं गुज़रा और जिस समय यहाँ पुनर्जागरण और प्रबोधन के अलग किस्म के संस्करणों की ज़मीन तैयार हो रही थी, उसी समय उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में बुर्जुआ आधुनिकता के तत्वों के प्रकट होने और पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं को कुचल दिया। अंग्रेज़ी औपनिवेशिक राज्य ने अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए एक शिक्षा व्यवस्था, कानून के समक्ष समानता आदि की स्थापना की तो दूसरी ओर भारतीय समाज के पुनरुत्थानवादी, प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रश्रय भी दिया। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की नीति का द्वन्द्व बार-बार प्रकट होता रहता था, जैसा कि 'सहमति की आयु' विवाद, कानून के समक्ष समानता को लेकर हुए विवाद, और भूमि व्यवस्था (land settlement) को लेकर फ़िज़ियोक्रैट्स और यूटिलिटैरियन फरके में चली बहस आदि में देखा जा सकता है। एक ओर सामन्ती शासक वर्ग और प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ संश्रय बनाने की आर्थिक और राजनीतिक ज़रूरत थी, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक राज्य की अन्य प्रशासनिक व राजनीतिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मैकाले की शिक्षा व्यवस्था और एक कानूनी, संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना भी वांछनीय थी। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की इस दोहरी और परस्पर अन्तरविरोधी ज़रूरतों और उसके नतीजे के तौर पर सामने आने वाली दोहरी

और एक हद तक अन्तरविरोधी नीतियों के कारण राष्ट्रवादी आन्दोलन के उदय में हमें दो धाराएँ देखने को मिलती हैं: पुनरुत्थानवादी धारा और पश्चिमी प्रबोधन व तर्कणा से प्रभावित आधुनिकतावादी धारा। ये दोनों धाराएँ कुछ अर्थों में 1916 के बाद के राष्ट्रवादी आन्दोलन में आकर संलयित हुईं और इस प्रक्रिया के प्रतीक पुरुष गाँधी थे। गाँधी में जहाँ पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के स्पष्ट तत्व मौजूद हैं तो वहीं उनमें बुर्जुआ आधुनिकता, मानवतावाद और उदारतावाद के तत्व भी दिखायी पड़ते हैं। **लेकिन कुल मिलाकर कहा जाय तो राष्ट्रवादी आन्दोलन मुख्य तौर पर एक आधुनिकतावादी आन्दोलन था** (यहाँ हम सबऑल्टर्न इतिहासकारों की तरह राष्ट्रवादी आन्दोलन को आधुनिक नहीं कह रहे हैं)। यह महज़ एक देशभक्तिपूर्ण (patriotic) आन्दोलन नहीं था बल्कि एक राष्ट्रवादी आन्दोलन था; 'राष्ट्र' की अवधारणा अपनी प्रकृति से ही एक बुर्जुआ आधुनिक अवधारणा या परिकल्पना है। **कोई राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः और मुख्यतः प्राक्-आधुनिक हो ही नहीं सकता है। इस आन्दोलन में अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में पुनरुत्थानवादी और प्राक्-आधुनिक तत्व हो सकते हैं, जिन्हें आधुनिक बुर्जुआ राष्ट्रवाद ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक सहयोजित किया हो, जैसा कि भारत में मामले में कहा जा सकता है।** ख़ैर, सवाल यह है कि आज़ादी के बाद जो भारतीय समाज सामने आया और आज़ादी के बाद से लेकर अभी तक भारतीय समाज में जो विकास हुए उसके फलस्वरूप आज जो भारतीय समाज हमारे सामने है, क्या आज हम उसे एक प्राक्-आधुनिक समाज कह सकते हैं? हमारा विचार है कि यह सूत्रीकरण सिरे से ग़लत है।

हमारे सामने जो समाज है वह एक उत्तर-औपनिवेशिक (उत्तरऔपनिवेशिक नहीं) आधुनिक समाज है; भारत में इस उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकता में पर्याप्त मात्रा में प्राक्-आधुनिक, आदिम (primordial) तत्व मौजूद हैं और ये तत्व इस विशिष्ट किस्म की आधुनिकता के द्वारा सहयोजित, समायोजित और *आर्टिकुलेटेड* (articulated) हैं। इसके अलावा हम और कोई अपेक्षा भी नहीं कर सकते हैं। और इस समाज ने जिस राज्यसत्ता, राजनीतिक परम्पराओं और संरचनाओं को जन्म दिया वह इसी सामाजिक ढाँचे की हिफ़ाज़त के लिए है। यह कहना एक बात है कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचे और राजकीय व राजनीतिक अधिरचना के बीच 'बराबर' का चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है और उनके बीच अन्तरविरोध होने के कारण एक **संगति (correspondence)** का सम्बन्ध होता है; कोई भी मार्क्सवादी समाज विज्ञानी इस बात से सहमति ज़ाहिर करेगा; **लेकिन समाज और राज्य के बीच जिस प्रकार के द्विभाजन (dichotomy) और विरोधाभास (paradox) रवि सिन्हा पेश करते हैं, वह कतई बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है जो कि अपने ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव से पहचाना जा सकता है।** ऐसे विरोधाभासी सम्बन्ध के साथ कोई राज्य और समाज दीर्घकालिक अवधि के लिए अस्तित्व में रह ही नहीं सकते हैं। वास्तव में, भारतीय राज्य और समाज के बीच के सम्बन्ध को समझने में रवि सिन्हा ठीक इसलिए असफल रहते हैं क्योंकि वे भारतीय समाज के चरित्र और भारतीय राज्य के चरित्र को समझने और उसे एक विशिष्ट किस्म के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी विकास के आख्यान में अवस्थित कर पाने में नाकाम रहते हैं। राज्य और समाज के चरित्र और उनके बीच के सम्बन्धों का एक आधिभौतिक दृष्टिकोण हमारे सामने पेश किया जाता है जो कि उनके सम्बन्धों को समझने का दावा करने के बावजूद उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करता है, बल्कि उन्हें अलग-थलग करके (in isolation) विश्लेषित करता है और अन्ततः उनके रिश्तों

का एक गतिक (dynamic) दृष्टि पर नहीं बल्कि एक स्थैतिक (static) दृष्टि पर पहुँचता है।

रवि सिन्हा भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य को और उसकी राजनीतिक संरचनाओं को आधुनिक क़रार देते हैं; **लेकिन क्या यहाँ की राजनीतिक और राजकीय संरचनाओं व परम्पराओं को क्लासिकीय अर्थों में और अनालोचनात्मक तौर पर आधुनिक कहा जा सकता है?** हमें नहीं लगता। क्या धार्मिक कानूनों का व्यक्तिगत मामलों में लागू किया जाना एक सेक्युलर आधुनिक राज्य या संविधान की निशानी है? क्या हम राजनीतिक व राजकीय अधिरचना को यहाँ धर्म से पूर्ण रूप से अलग तौर पर देख सकते हैं? पाश्चात्य आधुनिकता राजनीतिक संस्थाओं में धर्म या धार्मिक संस्थाओं में राजकीय/राजनीतिक संस्थाओं की मौजूदगी का पूर्ण रूप से निषेध करती है, जिसे फ्रांसीसी भाषा में ***लाईसाईट*** **(laïcité)** की अवधारणा के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है, और जिसे बुर्जुआ आधुनिकता का एक बुनियादी संघटक तत्व माना जाता है। क्या भारत में हम इसका दावा कर सकते हैं? भारत राज्यसत्ता और धर्म के पूर्ण अलगाव की बात नहीं करती बल्कि सभी धर्मों को बराबर मानने की बात करती है और इसी आधार पर धार्मिक आधार पर 'पर्सनल लॉ' की व्यवस्था की गयी है। **इसलिए भारतीय राज्य और संविधान को अनालोचनात्मक तौर पर और क्लासिकीय अर्थों में एक आधुनिक संस्था मानना भी एक भूल है।**

वास्तव में, भारत में जिस प्रकार की उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज और अर्थव्यवस्था आयी उन्होंने उसी प्रकार के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य और संविधान को भी जन्म दिया। समाज और राज्य दोनों में ही आधुनिकता और पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के तत्व मौजूद हैं और शासक वर्गों के लिए अपने शासन को जारी रखने की ख़ातिर इन तत्वों का मिश्रण काफ़ी उपयोगी भी हैं। रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में भारतीय पूँजीवाद के विशिष्ट चरित्र की कोई द्वन्द्वात्मक समझदारी नहीं है। **वह अपनी उदार बुर्जुआ व्यवहारवादी (pragmatist) दृष्टि से प्रस्थान करते हैं और राज्य और समाज के बीच लगभग वैसा ही द्विभाजन पेश करते हैं, जो कि ड्यूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादियों और उनका अनुसरण करते हुए अम्बेडकर ने किया था।** उनकी नज़र में उदार बुर्जुआ संवैधानिक कल्याणकारी राज्य सबसे तार्किक अभिकर्ता होता है; समाज की अव्यवस्था, अनियमितता और असंगतियों को वह प्रति-सन्तुलित करता है! और भारत में तो रवि सिन्हा के मुताबिक इसकी बेइन्तहाँ ज़रूरत है क्योंकि भारतीय समाज की बात तो छोड़ दें, पाश्चात्य समाजों में भी (जो कि रवि सिन्हा के मुताबिक सर्वसत्तावादी, आदिम और प्राक्-आधुनिक नहीं हैं) कुछ असंगतियाँ, असमानताएँ आदि होती हैं जिन्हें कि राज्य अपनी सकारात्मक कार्रवाई के ज़रिये प्रति-सन्तुलित करता है। रवि सिन्हा का सैद्धान्तिकीकरण पूरी तरह ड्यूई या रॉल्स का अनुसरण तो नहीं करता, लेकिन यह कहना होगा कि उस पर ड्यूई और रॉल्स की छाया बराबर बनी रहती है। रवि सिन्हा के विश्लेषण में भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य का ढाँचा पूर्वप्रदत्त नियतांक (given constant) है। भारतीय समाज मुख्यत: और मूलत: प्रतिक्रियावादी, सर्वसत्तावादी और प्राक्-आधुनिक है और समय-समय पर बर्बरों को सत्ता में पहुँचा देता है; लेकिन सत्ता में पहुँचने के बाद बेचारे बर्बरों को भारतीय राज्यसत्ता और संविधान सभ्य बनने पर मजबूर करने लगते हैं! यह हास्यास्पद है और भारतीय इतिहास के तथ्यों का मखौल बनाना है। **भारतीय राज्य और संविधान ने इतिहास ने बार-बार दिखलाया है कि धुर दक्षिणपन्थी ताक़तें और प्रतिक्रियावादी ताक़तें बिना संवैधानिक ढाँचे और**

राज्य की संरचनाओं से खिलवाड़ किये, अपने राजनीतिक 'डिज़ाइन' पर अमल कर सकती हैं। बल्कि कहना चाहिए कि भारतीय राज्य और संविधान में शुरू से ही इस बात की सुषुप्त सम्भावना मौजूद थी कि उसके बुनियादी ढाँचे में कोई परिवर्तन किये बिना या फिर किसी मामूली परिवर्तन के ज़रिये उससे फासीवादी और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी हितों की सेवा करवायी जा सकती है। इसके बावजूद, रवि सिन्हा का यह प्रेक्षण कि भारतीय राज्य और संवैधानिक ढाँचा बर्बरों को सत्ता में आने के बाद सभ्य बनने के लिए बाध्य करेगा, यह दिखलाता है कि भारतीय इतिहास की उनकी समझदारी बेहद दरिद्र है और साथ ही यथार्थवादी होने के नाम पर वास्तव में बुर्जुआ समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में पेश आद्यरूपीय श्रेणियों (archetypal categories) को वास्तविक इतिहास में ढूँढने का असफल प्रयास करती रहती है।

यहाँ हम रवि सिन्हा के विश्लेषण में एक और अजीबो-ग़रीब सूत्रीकरण को देख सकते हैं। **उनके अनुसार, फासीवादी ताक़तों के चरित्र और उनकी शक्ति के स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क़रार दिया गया है।** यह वास्तव में उदारवादी बुर्जुआ विश्लेषण से भी पीछे जाने के समान है। ज़ाहिर है, फासीवाद क्या है और उसके उभार के ऐतिहासिक कारण क्या हैं, इसकी जो व्याख्या रवि सिन्हा पेश करते हैं उसमें राजनीतिक अर्थशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण ग़ायब है। **फासीवाद का उभार बुर्जुआ उदारवादी राज्य और व्यवस्था के आख्यान (narrative) में किसी विच्छेद (rupture) को प्रदर्शित नहीं करता है, बल्कि उसकी निरन्तरता (continuity) को भी प्रदर्शित करता है।** अगर विच्छेद का कोई तत्व है भी तो वह रूप के धरातल पर ज़्यादा है। पूँजीवादी राज्य के लिए ऐतिहासिक तौर पर और आम तौर पर ज़्यादा मुफ़ीद अस्तित्व-रूप (modus vivendi) निश्चित तौर पर बुर्जुआ जनवादी राज्य है (चाहे वह कल्याणकारी हो या न हो)। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था का असमाधेय संकट द्वैध सुषुप्त सम्भावनाओं को जन्म देता है। यह संकट मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के राजनीतिक तौर पर तैयार होने और उसकी हिरावल शक्तियों के तैयार होने की सूरत में इतिहास को क्रान्तिकारी परिवर्तनों की दिशा में *ले जा सकता* है, और ऐसा न होने की सूरत में संकट प्रतिक्रियावादी समाधान (फासीवाद या किसी अन्य प्रकार के प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी उभार) की ओर ले सकता है। फासीवाद पूँजीवाद के महाख्यान में कोई विच्छेद नहीं बल्कि उसी का एक हिस्सा है। **फासीवाद वास्तव में एक आधुनिक परिघटना है जिसे हम मोटे तौर पर बड़ी पूँजी की बर्बर और नग्न तानाशाही और साथ ही टटपुँजिया वर्गों के रूमानी उभार के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, यह समाज में मौजूद पुनरुत्थानवाद और प्राक्-आधुनिक तत्वों का इस्तेमाल करता है लेकिन वह इससे स्वयं कोई प्राक्-आधुनिक राजनीतिक परिघटना नहीं बन जाता है।** फासीवाद कोई भी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी उभार नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक आन्दोलन है। लेकिन इसे सिर्फ़ एक सामाजिक आन्दोलन कहना पर्याप्त नहीं होगा; साथ ही, इस राजनीतिक सामाजिक आन्दोलन का वर्ग विश्लेषण करना भी यहाँ अपरिहार्य होगा, अन्यथा उसे रवि सिन्हा के समान पूरे समाज और पूरी जनता पर यह कहकर थोपा जा सकता है कि 'जनता ने अपने विवेक' से फासीवादियों को सत्ता में पहुँचाया।

फासीवाद पूँजीवादी संकट का एक प्रतिक्रियावादी और बर्बर समाधान पेश करता है, जिसका कतई यह अर्थ नहीं है कि वह राजनीतिक तौर पर आधुनिक नहीं है। बुर्जुआ

आधुनिकता का अनालोचनात्मक तौर पर जश्न नहीं मनाया जा सकता है, जैसा कि रवि सिन्हा करते हैं; न ही उसे पूरा का पूरा कचरा-पेटी में फेंका जा सकता है जैसा कि तमाम उत्तरआधुनिकतावादी, उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्तकार और सबऑल्टर्न सिद्धान्तकार करते हैं (हालाँकि, ये सारे के सारे स्वयं बुर्जुआ आधुनिकता के दायरे का अतिक्रमण नहीं करते हैं, बल्कि उसके दक्षिणपन्थी, प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी हिस्से में वास करते हैं)। एंगेल्स 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में बुर्जुआ आधुनिकता का एक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पेश करते हैं और उसके एक दौर में ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील चरित्र की बात करते हुए, उसे बुर्जुआ वर्ग के शासन के नैसर्गिकीकरण के तौर पर भी देखते हैं। आज के दौर में जब पूँजीवादी व्यवस्था अपने सबसे पतनशील और मानवद्रोही दौर में प्रवेश कर चुकी है और पूरी मानवता के भविष्य पर उसने एक सवालिया निशान लगा दिया है, तो फिर बुर्जुआ आधुनिकता अपने आपको तमाम मानवद्रोही, जनविरोधी, बर्बर और प्रतिक्रियावादी रूप में पेश करेगी और कर भी रही है। जो व्यक्ति बुर्जुआ प्रबोधन और तर्कणा के प्रति भक्ति का रुख़ अपनाये हुए हो और *एनाक्रॉनिस्टिक* ढंग से उसके हैंग-ओवर में फँसा हुआ हो, केवल वही फासीवाद के उभार पर यह सोच सकता है कि यह बुर्जुआ आधुनिकता का अंग नहीं है, बल्कि समाज में मौजूद सर्वसत्तावादी रुझानों से पैदा हुआ है, जबकि राज्यसत्ता आधुनिक निकाय के तौर पर फासीवादियों की बर्बरता को अपनी आधुनिक सभ्य-ता से प्रतिसन्तुलित कर रही है। **रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में बुर्जुआ आधुनिकता प्रति एक *फेटिश* (fetish) को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।** और बुर्जुआ आधुनिकता के नैसर्गिक अंग और पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक परिणति के तौर फासीवाद के उभार के बरक्स स्वयं रवि सिन्हा भी एक प्रकार के 'डिनायल मोड' में चले गये हैं और बार-बार फासीवादी उभार के चरित्र और उसके स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क़रार देने पर तुले हुए हैं, जबकि वास्तव में ये दोनों ही निहायत आधुनिक चीज़ें हैं। **ऐसा करके वस्तुगत तौर पर रवि सिन्हा बुर्जुआ आधुनिकता के एक 'अपॉलोजिस्ट' के तौर सामने आते हैं।**

फासीवाद के उभार का पूर्ण विश्लेषण पूँजीवादी व्यवस्था की राजनीतिक अर्थशास्त्रीय आलोचना और ऐतिहासिक व्याख्या के बिना केवल समाजशास्त्रीयतावादी और प्रत्यक्षवादी ही हो सकता है। और रवि सिन्हा के विश्लेषण के साथ यही समस्या है। यह विश्लेषण फासीवाद के उभार की अब तक की गयी मार्क्सवादी-लेनिनवादी और यहाँ तक कि अराजकतावादी और सामाजिक जनवादी व्याख्याओं से या तो अनभिज्ञ है या उन्हें सुविधाजनक चुप्पी के साथ नज़रन्दाज़ करता है। वामपन्थी विद्वानों के बीच फासीवाद के उदय और विकास के कारणों को लेकर भारी बहस मौजूद रही है। **कर्ट गॉसवीलर, ऐंसन रैबिनबाख़, टिम मेसन, माईकल कालेकी, ब्रेष्ट, लूकाच, डेविड अब्राहम, डेरेक लिण्टन** आदि के विषय में रवि सिन्हा का विश्लेषण अनभिज्ञ है। अलग-अलग दृष्टिकोणों के बावजूद इन वामपन्थी विद्वानों के बीच एक बात को लेकर सहमति है: फासीवाद एक आधुनिक परिघटना है और इसे किसी भी रूप में प्राक्-आधुनिक या आदिम प्रवृत्तियों से गड्ड-मड्ड करना केवल यह दिखलाता है कि आप पूँजीवादी आधुनिकता को ही नहीं समझते हैं। रैबिनबाख़ का यह कथन ग़ौर करने योग्य है: **"फासीवाद निस्सन्देह रूप से एक आधुनिक परिघटना है। युद्धोत्तर उन्नत पूँजीवाद के दौर में पैदा हुए राज्य और समाज के सम्बन्धों के रूपान्तरण में यह बात सबसे अधिक देखी जा सकती है, हालाँकि यह उदार जनतन्त्र के सन्दर्भों में हुआ है।"** (रैबिनबाख़, **'टुवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट थियरी ऑफ फाशिज़्म'**, *रेज़िस्टिबल राइज़*, सं.-मार्गिट

कोव्स व शास्वती मजुमदार, लेफ्ट वर्ड बुक्स, 2005, पृ. 71) आगे रैबिनबाख़ स्पष्ट करते हैं कि फासीवादी उभार का चरित्र और आवश्यकताएँ ही ऐसी हैं कि वह टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी के लिए ज़रूरी विचारधाराओं के लिए अतीत में देखता है और साथ ही उसकी भावी योजना समाज और अर्थव्यवस्था का एक अतिरेकपूर्ण पूँजीवादी आधुनिक पुनर्गठन की होती है।

यह भी ग़ौरतलब है यहाँ जिस अतीत की विचारधारा का फासीवाद आवाहन करता है, वह कोई प्राक्-आधुनिक चीज़ नहीं है। वह वास्तव में एक गौरवशाली अतीत की आधुनिक कल्पना, आविष्कार और नवोन्मेष होता है। अतीत के "गौरव" के आवाहन की अनुगूँज टटपुँजिया जनसमुदायों के बीच इसलिए मिलती हैं क्योंकि इन वर्गों का संकट भी आधुनिक है और उसके समाधान की उनकी *फैण्टास्टिक* (fantastic) अपेक्षाएँ भी मूलतः आधुनिक हैं! रैबिनबाख़ ने ही आगे लिखा है, **"फासीवाद के वे सिद्धान्त जो इन असंगत दिखने वाले क्षणों को नहीं समझते–यानी कि इसकी तकनोलॉजिकल और राजनीतिक आधुनिकता और इसका विचारधारात्मक परम्परावाद–वे अपूर्ण हैं।"** (वही) रैबिनबाख़ के पूरे सिद्धान्त से सहमति न रखते हुए भी इस प्रेक्षण को कमोबेश सही माना जा सकता है। **वाल्टर बेंजामिन** ने एक जगह लिखा था, **"अतीत का ऐतिहासिक आर्टिकुलेशन पेश करने का यह अर्थ नहीं है कि उसकी पहचान ठीक उस रूप में की जाये 'जैसा कि वह वास्तव में था' (रांके)। इसका अर्थ होता है स्मृति की उस कौंध को पकड़ना जो कि ख़तरे के क्षण में उपस्थित होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद अतीत की उस छवि को कायम रखना चाहता है जो कि इतिहास द्वारा अकेले किये गये व्यक्ति के समक्ष ख़तरे के क्षण में अनपेक्षित रूप में उपस्थित होती है। यह ख़तरा परम्परा की अन्तर्वस्तु और इसके प्राप्तकर्ताओं, दोनों को ही प्रभावित करती है। एक ही जोखिम उनके सिर पर लटक रहा होता है: शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का।"** (वॉल्टर बेंजामिन, **'थीसीज़ ऑन दि फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री'**, *इल्यूमिनेशंस*, फोण्टाना/कॉलिंस, ग्लास्गो, 1977, पृ. 257) इस उद्धरण में मौजूद जुडाइक मसीहावाद के प्रभाव को छोड़ दें, तो यह प्रेक्षण बिल्कुल सही है कि परम्पराओं और उसके प्राप्तकर्ताओं दोनों के सामने ख़तरे के क्षण में शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का जोखिम मौजूद रहता है।

रवि सिन्हा का विश्लेषण एक अन्य मायने में फासीवाद के उदय की व्याख्या करने वाले तमाम स्कूलों में से उदार बुर्जुआ स्कूलों के साथ जाकर खड़ा होता है और वास्तव में उनकी अवस्थितियों का एक दरिद्र मिश्रण है। इसमें से एक है **फ्यूहरर-स्टेट का सिद्धान्त** जो कि हिटलर जैसे किसी तानाशाह के सत्ता में पहुँचने को 'जनता की इच्छा' की अभिव्यक्ति मानते हैं! इस सिद्धान्त में जनता या समाज को एक जैविक पूर्णता (biological totality) या एकाश्मीय निकाय के तौर पर देखा जाता है। न तो यह सिद्धान्त समाज का कोई वर्ग विश्लेषण पेश करता है और न ही फासीवादी तानाशाही के वर्ग चरित्र को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर पाता है। इसलिए इसमें तानाशाह पर भी कुछ अति-केन्द्रण हो जाता है। ऐसा विश्लेषण ही 'अन्धकार के राजकुमार'-मार्का भाषा का इस्तेमाल कर सकता है। निश्चित तौर पर, 'राजकुमार', 'बर्बरों' आदि जैसे रूपकों का इस्तेमाल फासीवाद के एक सम्पूर्ण वर्ग विश्लेषण में किया जा सकता है। लेकिन अगर पूरे विश्लेषण की जगह ही ऐसे साहित्यिक रूपक ले लें तो बात दिक्कततलब है!

रवि सिन्हा का विश्लेषण फासीवाद के विश्लेषण को आधुनिक और प्राक्-आधुनिक

के द्विभाजन के उपकरण द्वारा व्याख्यायित करने के प्रयास में (सम्भवतः अपनी इच्छा से स्वतन्त्र) पूँजीवादी व्यवस्था को दोषमुक्त कर देता है! क्योंकि फासीवादी उभार उनके लिए पूँजीवादी व्यवस्था के आख्यान का एक नैसर्गिक अंग नहीं है बल्कि भारतीय या ऐसे समाजों में निहित सर्वसत्तावादी, प्राक्-आधुनिक, आदिम, बर्बरतापूर्ण प्रवृत्तियों का नतीजा है और उनकी प्रतिसन्तुलनकरी ताक़त अम्बेडकर द्वारा निर्मित बुर्जुआ उदार जनवादी संविधान और उसके द्वारा संचालित (?) राज्य व्यवस्था है! यह अद्वितीय विश्लेषण न चाहते हुए भी रवि सिन्हा को **हेनरी ऐशबाई टर्नर** जैसे असुधारणीय रूप से उदारवादी बुर्जुआ सिद्धान्तकारों की कतार में खड़ा कर देता है, जो कि फासीवादी उभार और पूँजीवादी व्यवस्था के बीच के नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को जाने या अनजाने या तो ग़ायब कर देता है या फिर कमज़ोर कर देता है। आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता की 'बाइनरी' का रवि सिन्हा (केवल इस लेख में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों पर भी) जिस प्रकार इस्तेमाल करते हैं, उसे **गाइल्स देल्यूज़** ने सही नाम दिया है : **'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' (dysjunctive synthesis)**, यानी, छद्म विकल्पों का समुच्चय। रवि सिन्हा जो 'बाइनरी' हमारे सामने पेश कर रहे हैं और वास्तव में जिस बाइनरी से उनका पूरा विश्लेषण और उनके द्वारा दिये जाने वाले 'सबक' निर्धारित होते हैं, वह वास्तव में एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस', एक छद्म विकल्पों की 'बाइनरी' है। फासीवाद के विरुद्ध पूरे संघर्ष को इस 'बाइनरी' में अपचयित (reduce) कर दिया गया है। और जो नतीजे निकले हैं, वे भयंकर हैं!

इसके अलावा, रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण पर फासीवाद के उभार के एक अन्य बुर्जुआ सिद्धान्त की छाया भी देखी जा सकती है, जिसे **राष्ट्रीय विशिष्टता के सिद्धान्त** से भी जाना जाता है। इसके एक सिद्धान्तकार **जूर्गेन कोका** ने दलील पेश की है कि जर्मन समाज सही मायने में कभी बुर्जुआ आधुनिक समाज नहीं था और यही कारण है कि वहाँ फासीवाद का उदय हुआ; क्योंकि वहाँ अतार्किक, प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं और बर्बर मूल्यों व सिद्धान्तों के फलने-फूलने की ज़मीन मौजूद थी। **यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करने में असफल रहता है कि फासीवाद के उभार का पूँजीवाद के विकास के एक विशिष्ट क्षण से रिश्ता है और इस विशिष्ट क्षण में ही दुनिया के कई देशों में फासीवादी आन्दोलन पैदा हुए थे, हालाँकि उन्हें सफलता जर्मनी, इटली और एक हद तक स्पेन, हंगरी, पुर्तगाल, यूनान आदि जैसे देशों में ही मिली थी।** आज के दौर में भी जब विश्व पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट से गुज़र रहा है, तो न केवल हम यूनान जैसे दक्षिण यूरोपीय देश में 'गोल्डेन डॉन' जैसी फासीवादी ताक़तों का उभार देख रहे हैं, बल्कि फ्रांस जैसे आधुनिक समाज में (यानी, जितने अधिक से अधिक आधुनिक की आप कल्पना कर सकते हैं!) 'नेशनल फ्रण्ट' जैसी धुर दक्षिणपन्थी फासीवादी पार्टी के उभार को भी देख रहे हैं। 'आधुनिक' और 'प्राक्-आधुनिक' के छद्म विकल्पों के समुच्चय के ज़रिये आज फासीवादी और धुर दक्षिणपन्थी ताक़तों के वैश्विक उदय की व्याख्या नहीं की जा सकती है। न तो भारत में फासीवादी उभार की विशिष्टता को रवि सिन्हा की पद्धति से पहचाना जा सकता है और न ही इसे फासीवाद के वैश्विक उभार की सामान्यता में अवस्थित किया जा सकता है।

यह है रवि सिन्हा द्वारा राज्य और समाज के सम्बन्धों के विषय में प्रस्तुत समझदारी, जिसे भरपूर उदारता के साथ राजनीतिक तौर पर उदार बुर्जुआ, व्यवहारवादी, सुधारवादी और सामाजिक-जनवादी और विचारधारात्मक तौर पर अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और अतार्किक कहा जा सकता है। ऐसे विश्लेषण से निकाले गये उनके पहले

सबक के बारे में भी यही कहा सकता है। रवि सिन्हा का कहना है कि फासीवादी उभार का मुकाबला करने के लिए फिलहाल जनता के पास जाना, उन्हें संगठित करना उपयुक्त रणनीति नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर फासीवादी भी जनता के बीच जायेंगे और उनकी पहुँच आपसे ज़्यादा होगी। लेखक वामपन्थ की पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस के हाथों हार का उदाहरण देते हुए पूछते हैं, *"अगर वामपन्थ, मिसाल के तौर पर, पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों में तृणमूल के ख़िलाफ़ नहीं लड़ पाया तो यह पूरे देश के शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में अन्धकार के नये राजकुमार से कैसे लड़ेगा, अगर सारे वामपन्थी साथ आ जायें तो भी, जिसकी कम ही उम्मीद है।"* रवि सिन्हा इस बात से पर्याप्त भयाक्रान्त नज़र आते हैं कि अन्धकार के नये राजकुमार को जनता से पर्यात सराहना, भय और प्रार्थनाएँ मिल रही हैं! हम देख सकते हैं कि समाज और जनता पर भरोसे के अभाव में वह काफ़ी डर गये हैं और इसीलिए उन्होंने विश्लेषण के लिए सही आरम्भ बिन्दु नहीं चुना, यानी कि **फासीवाद का उभार हुआ क्यों है और क्या हमारे पहले से ही जनता के बीच न जाने का इसमें कोई योगदान है?** यही कारण है कि अन्त में वे बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक संस्थाओं जैसे कि संसद और विधानसभाओं और साथ ही न्यायपालिका में फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान करते हैं और उनके आदर्श हैं मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़।

पहली बात तो यह कि उनके नतीजे में इस बात का कोई विश्लेषण नहीं है कि फासीवाद का उभार हुआ ही क्यों है, जिसे हमने पहले सही आरम्भ-बिन्दु का चुनाव न करना कहा है। निश्चित तौर पर, इसके वस्तुगत और मनोगत कारण दोनों ही हैं। पूँजीवाद का संकट वह वस्तुगत पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिसमें फासीवादी शक्तियाँ फलती-फूलती हैं। लेकिन यह वस्तुगत आधार अपने आप में फासीवादी शक्तियों को सत्ता में नहीं पहुँचा देता है; वह फासीवादी शक्तियों के उदय की एक पूर्वशर्त है। वस्तुतः, यही पूँजीवादी संकट क्रान्तिकारी परिस्थितियों को भी तैयार करता है और एक क्रान्तिकारी सम्भावना को भी जन्म देता है। लेकिन यह भी केवल एक पूर्वशर्त की पूर्ति ही होता है। इतिहास के ऐसे दौर में जिस प्रकार का अभिकर्ता (agent) राजनीतिक-विचारधारात्मक तौर पर अधिक तैयार, सांगठनिक तौर पर अधिक सुदृढ़ और अधिक व्यापक सामाजिक पहुँच रखता है, उसी प्रकार की सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील होने की गुंजाइश ज़्यादा होती है। फासीवाद का उदय इस रूप में वास्तव में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों की असफलता को दर्शाता है। जर्मनी, इटली, पुर्तगाल, स्पेन और हंगरी में भी नात्सीवादी और फासीवादी उभार समाजवादी आन्दोलन और मज़दूर आन्दोलन के खण्डहर पर हुआ था। फासीवाद का उभार प्रतिरोध्य से अप्रतिरोध्य इसलिए नहीं बन जाता कि सम्बन्धित समाज में कुछ ऐसी अन्तर्निहित सर्वसत्तावादी रुझानें होती हैं जो कि समय-समय पर फासीवाद को सत्ता में पहुँचा देती हैं, जैसा कि रवि सिन्हा हमें यक़ीन दिलाना चाहते हैं! कम-से-कम फासीवाद का वैश्विक इतिहास तो ऐसा कुछ भी नहीं दिखलाता है; न ही फासीवादी उभार का राजनीतिक आर्थिक विश्लेषण ऐसा कुछ सिद्ध करता है। **क्या जर्मनी और इटली में फासीवाद के उदय का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि सामाजिक-जनवाद की ग़द्दारी ने इसमें एक बहुत बड़ी भूमिका निभायी थी? क्या जर्मनी का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि वीमर गणराज्य के दौर में पूँजी और श्रम के बीच का असुविधाजनक विवाह अन्त में पूँजीवादी और टटपुँजिया प्रतिक्रिया के अंकुरण और प्रस्फुटन की ओर ले गया? क्या जर्मनी का 1920 के दशक का पूरा इतिहास इस बात का गवाह नहीं है कि पूँजीवादी संकट ने जो क्रान्तिकारी सम्भावना पैदा की थी, मज़दूर वर्ग की सच्ची हिरावल शक्तियाँ अपनी**

विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक कमज़ोरियों के कारण उन्हें हकीकत में तब्दील करने में नाकामयाब रहीं? ऐसे प्रश्न इटली, हंगरी, पुर्तगाल और स्पेन के इतिहास के बारे में भी पूछे जा सकते हैं। क्या इसे रवि सिन्हा-मार्का "वाम" का सामूहिक राजनीतिक *एम्नीज़िया* नहीं कहेंगे कि वह भूल गया है कि अतीत में भी फासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य क्यों और कैसे बन गया? क्योंकि ऐसी विस्मृति के फलस्वरूप ही कोई फासीवादी उभार से लड़ने का ऐसा बासी सामाजिक-जनवादी रास्ता सुझा सकता है, जो कि रवि सिन्हा सुझा रहे हैं और जो न सिर्फ़ इतिहास में बार-बार पिट चुका है बल्कि साथ ही फासीवाद के उभार का कारण भी बना है। **यह एक मज़ाकिया डर है कि अगर हम जनता के बीच जाकर फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए उसे गोलबन्द और संगठित करेंगे तो सत्ताधारी फासीवादी भी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और हमारे लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर देगा!** वास्तव में फासीवाद सत्ताधारी बना इसलिए क्योंकि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन हमारे देश में विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर बिखरा हुआ और कमज़ोर है और जनता के व्यापक हिस्सों में पहुँच नहीं रखता है! बाईबिल की भाषा में बात करें तो यहाँ 'मूल पाप' सामाजिक-जनवादियों के कुकर्म हैं कि उन्होंने संघी फासीवादियों को सड़क पर 'इंगेज' करने का साहस और मज़बूती ही नहीं दिखलायी। साथ ही हमारे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का कठमुल्लावाद और संकीर्णतावाद भी इसके लिए उतने ही ज़िम्मेदार हैं कि उन्हें जहाँ होना था वे वहाँ नहीं हुए; कि उन्होंने भारत के विशाल सर्वहारा वर्ग को फासीवादी कारपोरेटिज़्म और संशोधनवादियों के भरोसे छोड़ दिया। और अब उसी 'मूल पाप' के नये सिरे से और पहले से भी ज़्यादा भयंकर दुहराव का नुस्खा हमें रवि सिन्हा सुझा रहे हैं। फासीवाद के उदय के पीछे वस्तुगत ज़मीन तैयार होने के अलावा (क्योंकि वे तो किसी भी सूरत में आवर्ती चक्रीय क्रम में बार-बार तैयार होंगी ही) मनोगत शक्तियों की जो तमाम कमज़ोरियाँ ज़िम्मेदार थीं, रवि सिन्हा उनमें से कम-से-कम कुछ को दुहराने की वकालत कर रहे हैं और उसके पक्ष में पाण्डित्यपूर्ण भाषा में तर्क भी पेश कर रहे हैं। उनका मूल तर्क यह है कि फासीवादी शक्तियों से सड़क पर, समाज में संघर्ष को फिलहाल अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया जाना चाहिए और फिलहाल अपने संघर्ष को अदालत और संसद-विधानसभा जैसी संवैधानिक संस्थाओं में सीमित कर दिया जाना चाहिए। इसी बाबत मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ की मिसाल दी गयी है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ का संघर्ष कई मायनों में साहसिक है और उन्होंने समझौताविहीन कानूनी संघर्ष चलाया है। **लेकिन उनके संघर्ष अपनी साहसिकता और सिद्धान्तनिष्ठ होने के बावजूद क्या ठीक इसी बात की ताईद नहीं करते हैं कि *महज़* ऐसे संघर्षों से फासीवाद का मुकाबला कर पाना, फासीवादी उभार को रोक पाना सम्भव नहीं है?** क्या वे ठीक इसी बात को सिद्ध नहीं करते हैं कि ऐसे तमाम संघर्ष वास्तव में बर्बर फासीवादियों को सभ्य बनने पर मजबूर करने में नाकाम रहे हैं? बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गुजरात नरसंहार तक क्या इक्के-दुक्के निम्न स्तर के लम्पटों, गुण्डों या छुटभैया नेताओं को कुछ समय तक सलाखों के पीछे रखने के अलावा ऐसे कानूनी संघर्ष (जिन वांछनीयता पर कोई प्रश्न नहीं है) कुछ और कर पाये हैं? निश्चित तौर पर, फासीवाद के विरुद्ध बुर्जुआ संवैधानिक और कानूनी संघर्षों की फासीवाद-विरोधी जन गोलबन्दी और आन्दोलन के एक अंग के तौर पर ही कोई प्रासंगिकता है। लेकिन समूचे फासीवाद-विरोधी संघर्ष को कुछ समय के लिए भी महज़ कानूनी-संवैधानिक संघर्ष तक सीमित कर देना बुर्जुआ संवैधानिक जनवाद के प्रति रवि सिन्हा के भयंकर विभ्रमों को ही दिखलाता है।

फासीवाद के इतिहास पर भी नज़र डालें तो ऐसे कानूनी संघर्ष वास्तव में फासीवाद के लिए खुजली का कारण भी नहीं बने हैं, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा खुजली का ही कारण बने हैं! **कोस्ता गावरास** जैसा एक रैडिकल फिल्मकार भी इस सच्चाई को *ज़ेड* नामक अपनी प्रसिद्ध फिल्म में खूबसूरती के साथ पेश करता है। **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** ने भी *दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ आर्तुरो उई* में इस सत्य को उघाड़कर सामने रखा है। और जहाँ तक अकादमिक और ग़ैर-अकादमिक मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण की बात है, तो बुर्जुआ संविधान और कानून के दायरे में फासीवाद-विरोधी संघर्षों की उपयोगिता और साथ ही सीमाओं पर पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है, जिनमें से कुछ नामों का हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेकिन रवि सिन्हा की 'विवेकवान' व्यवहारवादी वाम अवस्थिति कोस्ता गावरास जैसे रैडिकल फिल्मकार की अवस्थिति से भी पीछे जा चुकी है। वास्तव में, यह अवस्थिति एक किस्म के पराजयवाद और हताशा से पैदा हुई अवस्थिति है और साथ ही फासीवादी उभार के समक्ष क्रान्तिकारियों के अपरिहार्य कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक स्थगित या रद्द करने देने का घोषणापत्र पेश करती है। और ग़ौरतलब बात यह है कि अकादमिक और आम बौद्धिक मानकों से भी देखा जाय तो यह अवस्थिति बेहद दरिद्र है। **स्पष्ट है कि कानूनी और संवैधानिक दायरे में फासीवादी ताक़तों के विरुद्ध होने वाला संघर्ष आम तौर पर और ऐतिहासिक तौर पर केवल बुर्जुआ *लीगैलिटी* की सीमाओं को ही दिखलाने के तौर पर उपयोगी सिद्ध हुआ है। लेकिन अगर कोई इससे ज़्यादा उम्मीद लगाकर बैठा है तो उसे भारी सदमे के लिए तैयार रहना चाहिए।**

दूसरा सबक: बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक उदार कल्याणकारी राज्य की जय हो!

पीचम: "कानून केवल एक चीज़ के लिए बना था, उन लोगों के शोषण के लिए जो इसे नहीं समझते, या जो नग्न दरिद्रता के कारण इसका पालन नहीं कर पाते। जो भी इस शोषण के कुछ टुकड़े चाहता है उसे स्वयं कानून का सख़्ती से पालन करना चाहिए।"

ब्राउन: "अच्छा, तो आप मानते हैं कि हमारे न्यायाधीश भ्रष्ट बनाये जा सकते हैं।"

पीचम: "कतई नहीं, महाशय, कतई नहीं। हमारे न्यायाधीश तो बिल्कुल भ्रष्टाचार से परे हैं: लेकिन सिर्फ पैसा उन्हें एक न्यायपूर्ण फैसला सुनाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता है।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'थ्री पेनी ऑपेरा'*)

रवि सिन्हा का दूसरा सबक इस बाबत है कि जनवाद की प्रक्रियाएँ और रूप कैसे होने चाहिए? यानी कि जनवाद का पूरा ढाँचा कैसा हो। इस बारे में उनका मानना है कि जनवाद का केवल मज़बूत होना, तृणमूल धरातल पर होना और भागीदारी से भरा हुआ होना पर्याप्त नहीं है। वह तमाम नव दार्शनिकों, एनजीओ सिद्धान्तकारों, सामाजिक आन्दोलनों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने केवल भागीदारी जनवाद, तृणमूल जनवाद आदि जैसी अवधारणाओं पर बल दिया है। लेखक उन तमाम भागीदारी जनवाद समर्थकों की इस बात के लिए आलोचना करता है कि उन्होंने 'आम आदमी पार्टी' के रूप में भारतीय राजनीतिक दृश्यपटल पर उपस्थित हुए नये योद्धाओं की सराहना की जिन्होंने 'नीचे से जनवाद', 'भागीदारी जनवाद', 'मुहल्ला जनवाद' आदि जैसी अवधारणाओं को लागू करने का प्रयास किया, हालाँकि इन बौद्धिकों में कुछ ऐसे भी थे जो इनके रखवाले वाले रुख़ (vigilantism) को लेकर सशंकित थे। लेकिन इसके बावजूद ऐसे

बौद्धिकों ने 'व्यवस्था को अन्दर तक हिला डालने' के लिए 'आप' की प्रशंसा की। रवि सिन्हा तृणमूल जनवाद या भागीदारी जनवाद की अपने कारणों और अपने तरीके से हिमायत करने वाले वामपंथियों की भी इस बात की आलोचना करते है कि उन्होंने भी भागीदारी जनवाद के समर्थन के चक्कर में एक अहम नुक्ता नज़रन्दाज़ कर दिया है। रवि सिन्हा के अनुसार भागीदारी जनवाद राजनीतिक प्रक्रिया को गाढ़ा या सघन बनाता है और साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया को धुंधला और अपारदर्शी बनाता है। लेकिन रवि सिन्हा के अनुसार केवल तृणमूल या भागीदारी जनवाद की अवधारणा जनवाद पर कहर भी बरपा कर सकती है, जैसा कि खाप पंचायतों और 'आप' के शासन के दौरान खिड़की एक्सटेंशन की घटना ने दिखलाया; लेकिन अपने उदाहरणों में चलते-चलते रवि सिन्हा 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' को भी जोड़ देते हैं, जिसके दौरान भीड़ के जनवाद ने अपने जौहर दिखाये थे! इस पर हम थोड़ा आगे आयेंगे। रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी लोग भागीदारी जनवाद का समर्थन इस ज़मीन से करते हैं कि उनके लिए बुर्जुआ जनवाद की किसी संस्था या प्रथा का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि वे सभी तो पूँजी के हितों की सेवा के लिए बनायी गयी थीं। और इसीलिए वामपन्थी लोग पूँजीवाद के तहत भी बस जनवाद को अधिक से अधिक भागीदारीपूर्ण और प्रत्यक्ष बनाने के लिए संघर्ष करते हैं! रवि सिन्हा के मुताबिक ये सारे लोग भागीदारी जनवाद की हिमायत करते हुए यह बात भूल जाते हैं कि एक मज़बूत जनवादी परम्परा और संवैधानिक-प्रातिनिधिक-उदार जनवादी व्यवस्था और संरचना के बिना तृणमूल या भागीदारी जनवाद एक ऐसी दीवार होती है जो दोनों तरफ़ गिर सकती है, एक दुधारी तलवार होती है। **इसलिए एक कानून और नियम से बँधा जनवादी संवैधानिक राज्य होना बहुत आवश्यक है क्योंकि प्राक्-आधुनिक जनता पर भरोसा नहीं किया जा सकता है।**

चलते-चलते वामपंथियों पर यह दृष्टिकोण भी थोप दिया जाता है कि उनका यह मानना है कि बुर्जुआ जनवाद को लाने के लिए जनता ने कुछ भी नहीं किया, यह तो पूँजी के हितों में पूँजीपतियों द्वारा बनाया गया एक उपकरण मात्र है। फिर लेखक सीख देता है कि समाजवाद आने पर बुर्जुआ जनवाद की कई संस्थाओं को हमें लेना होगा और उनमें समाजवाद के केन्द्रीय सिद्धान्तों के मुताबिक बदलाव करना होगा। क्योंकि बुर्जुआ जनवाद केवल राज्य और सत्ता की संरचनाओं का मसला नहीं है बल्कि इसका रिश्ता नागरिकों के अधिकारों, पसन्द और आज़ादियों से भी जुड़ा हुआ है! इसके बाद रवि सिन्हा कहते हैं कि जनवाद राज्यसत्ता की सरंचना को संघटित करने का रूप भी होता है और सत्ता की सभी संरचनाएँ अन्तिम विश्लेषण में स्वतन्त्रता का निषेध करती हैं। इसलिए इंसानियत को अगर तरक्की करनी है तो उन्हें सत्ता की संरचनाओं को अधिक से अधिक कमज़ोर और पारदर्शी बनाते जाना होगा और इसी प्रक्रिया में अन्त में वे विलोपित हो जायेंगी। ऐसा सच में होगा इसको लेकर लेखक थोड़ा सशंकित है लेकिन वह मानता है कि इससे कम-से-कम यह तो साबित होता ही है कि हमें जनवाद और राज्य की संरचनाओं को अधिक से अधिक पारदर्शी बनाना होगा। राज्य ऐसे में सिंकुड़ेगा और जीवन के तमाम क्षेत्र उसकी पकड़ से बाहर होंगे। लेकिन रवि सिन्हा के मुताबिक पूँजीवाद के मातहत यह आज़ादी को बढ़ायेगा नहीं बल्कि राज्य की पकड़ से जो कुछ छूटेगा वह बाज़ार की पकड़ में जायेगा। इसलिए पूँजीवाद के तहत राज्य का पारदर्शी होना बहुत ज़रूरी है और ऐसा केवल भागीदारी जनवाद से नहीं बल्कि एक जनवादी संवैधानिक राज्य व्यवस्था के ज़रिये ही हो सकता है क्योंकि भागीदारी जनवाद किसी युग की जनवादी भावना और संस्कृति को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करता है। यह काम रवि

सिन्हा के मुताबिक एक संवैधानिक जनवादी राज्य करता है! उनके अनुसार ऐसे राज्य को लोग भी बना सकते हैं और यह भागीदारी जनवाद के उसूलों का खण्डन भी नहीं होगा। अब दूसरे सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क प्रणाली का थोड़ा अध्ययन कर लिया जाय।

इस दूसरे सबक का मर्म यह है कि भागीदारी जनवाद या तृणमूल जनवाद अपने आप में पर्याप्त नहीं है, विशेष तौर पर हमारे यहाँ और अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में क्योंकि वहाँ समाज या जनसमुदाय "उस युग की आधुनिक भावना" को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करते हैं; ऐसे में, यदि कोई नियम व कानून से बँधा हुआ जनवादी राज्य नहीं होगा, तो जनता का भागीदारी जनवाद वास्तव में जनवाद को नष्ट भी कर सकता है! लेकिन राज्य यहाँ "युग की आधुनिक भावना" का नैसर्गिक वाहक माना गया है। यहाँ रवि सिन्हा का **ड्यूईवादी व्यवहारवाद** पूरी तरह खुलकर सामने आया है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, ड्यूई का यही सिद्धान्त था कि राज्य सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता (most rational actor/agent) होता है और समाज में मौजूद असंगतियों और अन्तरविरोधों को अपने सकारात्मक तार्किक हस्तक्षेप से प्रति-सन्तुलित करता है। ड्यूई का दूसरा उपकरण समाज में एक नैतिक संहिता की मौजूदगी था जिसकी आपूर्ति एक समानतामूलक धर्म द्वारा भी की जा सकती थी; अम्बेडकर ने इन्हीं दोनों ड्यूईवादी दलीलों को हूबहू अपनाया था; लेकिन रवि सिन्हा इन दोनों बातों को हूबहू नहीं अपनाते हैं; उनके सैद्धान्तिकीकरण में नैतिक संहिता की जगह जॉन रॉल्स की **सार्वजनिक तर्कणा (public reason)** जैसी कोई चीज़ ले लेती है। यहाँ जॉन रॉल्स के विचारों का रवि सिन्हा पर असर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **चूँकि भारतीय व अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में ऐसी सार्वजनिक तर्कणा मौजूद नहीं है; चूँकि समाज ने "युग की आधुनिक भावना" को आत्मसात नहीं किया है, इसलिए उनके सैद्धान्तिकीकरण में एक बुर्जुआ जनवादी उदार संवैधानिक राज्य की भूमिका और भी ज़्यादा बढ़ जाती है।** अगर ड्यूई और रॉल्स में राज्यसत्ता की भूमिका एक **सुगठित समाज (well-ordered society)**, यानी कि एक सार्वजनिक तर्कणा और राजनीतिक बहुलता को अपनाने वाले समाज में पैदा होने वाले विरोध में पंच या मध्यस्थ की होती है, तो रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण में एक जनवादी संवैधानिक राज्य की मौजूदगी प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी समाज की बर्बरता को रोकने की गारण्टी है। लेकिन ड्यूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादी, उदार बुर्जुआ चिन्तकों से पद्धति की समानता को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। राज्य दोनों ही सूरत में आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप (embodiment of modern reason) है। उसकी अवस्थिति रवि सिन्हा के सिद्धान्तों में वही है जो कि हेगेल की विचार-पद्धति में *देमी उर्गोस* (परम विचार) की है। रॉल्स पर काण्ट के विचारों के असर से लोग वाक़िफ़ हैं।

काण्ट के राज्य के सिद्धान्त के दो बुनियादी आधार हैं। पहला यह कि साथ रहने वाले मनुष्य स्वतन्त्र तभी हो सकते हैं जब उनके पास एक दूसरे के बरक्स कुछ अधिकार हों (जिसे काण्ट बाह्य स्वतन्त्रता कहते हैं); आन्तरिक स्वतन्त्रता का रिश्ता मनुष्य के नैतिक व तार्किक निर्णय-निर्माण प्रक्रिया से है; दूसरा यह कि ऐसा तभी सम्भव है जब सभ्यता/नागरिकता (civility) की स्थिति को सुनिश्चित किया जाये और इसे सुनिश्चित करने का कार्यभार तर्कणा के मूर्त रूप के तौर पर राज्य करता है। अगर इन विचारों की रोशनी में हम रवि सिन्हा के राज्य और समाज के सम्बन्धों के सिद्धान्त को देखें तो हम पाते हैं कि उनका चिन्तन उदार बुर्जुआ विचारधारा की परम्परा में मज़बूती से जड़ित (embedded) है।

उनके दूसरे सबक में, यानी कि भागीदारी जनवाद के अपने आप में अपर्याप्त होने और एक नियमबद्ध संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य की वांछनीयता में, हम स्पष्ट तौर पर इस चीज़ को देख सकते हैं। निश्चित तौर पर, जैसा कि वह खुद भी मानते हैं, यह दूसरा सबक उनके पहले सबक की ही निरन्तरता में है और उससे जुड़ा हुआ है। और यह निरन्तरता क्या है? आधुनिक राज्य और प्राक्-आधुनिक समाज का वही अनैतिहासिक और ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन जिस पर रवि सिन्हा का पूरा सिद्धान्त खड़ा है। यहाँ एक प्रासंगिक प्रसंगान्तर कर हम आगे बढ़ सकते हैं। ग्राम्शी का भी यह मानना था कि इतालवी समाज में पिछड़ेपन और परम्परागत विचारों के प्रभाव में टटपुँजिया आबादी और यहाँ तक कि मज़दूर आबादी के एक हिस्से ने फासीवाद का समर्थन किया था और समाज के कुछ हिस्सों में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक तौर पर ऐसी सम्भावना-सम्पन्नता थी कि वह बर्बरता की ताक़तों का समर्थन करे। लेकिन ग्राम्शी का स्पष्ट तौर पर यह मानना था कि यह बर्बरता पूँजीवाद और पूँजीवादी आधुनिकता द्वारा समायोजित है और साथ ही किसी भी किस्म का बुर्जुआ राज्य आज उसे सीमित, अनुशासित या नष्ट नहीं कर सकता है; केवल एक सर्वहारा वर्ग का राज्य ही ऐसा काम कर सकता है। ग्राम्शी की पूरी अवस्थिति पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन दिलचस्पी रखने वाले पाठक उनके लेख **'ऑन फाशिज़्म'** (1921) में देख सकते हैं। अब रवि सिन्हा के तृणमूल भागीदारी जनवाद और संवैधानिक बुर्जुआ उदार जनवादी राज्य के तुलनात्मक अध्ययन की चर्चा पर लौटते हैं।

रवि सिन्हा का कहना है कि सभी विचारधाराओं के लोगों में इस बात को लेकर सहमति है कि एक मज़बूत, तृणमूल, भागीदारी जनवाद वांछनीय है। इसमें वे नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों, एनजीओ-पंथियों, वामपंथियों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं जैसे सभी लोगों को जोड़ देते हैं। नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों और एनजीओ-पन्थियों की आलोचना रवि सिन्हा यहाँ यह नहीं समझने के लिए करते हैं कि भागीदारी जनवाद के साथ एक जनवादी संवैधानिक राज्य की अनिवार्यता है! **यह वैसा ही है कि कोई ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करे!** साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों, बुर्जुआ सरकारों और पूँजीपतियों के वित्त-पोषण से चलने वाले 'सामाजिक आन्दोलनों' और एनजीओ वालों की विचारधारा क्या है और वह वस्तुगत तौर पर क्या भूमिका अदा कर रहे हैं, रवि सिन्हा की आलोचना का निशाना यह नहीं है। वैसे भी 'सामाजिक आन्दोलन' किस बला का नाम है यह हम आज तक नहीं समझ पाये! यह शब्द मेरे विचार में जयप्रकाश नारायण के 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के जैसा शब्द है, इन अर्थों में कि ये दोनों ही शब्द पुनरुक्तिपूर्ण (tautological) हैं। मतलब, कौन-सा आन्दोलन सामाजिक नहीं होता है? और कौन-सी क्रान्ति सम्पूर्ण नहीं होती है? जब इस प्रकार की पुनरुक्ति मौजूद हो तो वास्तव में उसके पीछे दूसरे अर्थ छिपे होते हैं। मिसाल के तौर पर, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया ही वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन और लहर को व्यवस्था द्वारा सहयोजित कर लेने के लिए गया था। उसी प्रकार, सामाजिक आन्दोलन एक दूसरे प्रकार के आन्दोलन, यानी कि राजनीतिक आन्दोलन के विकल्प के तौर पर पेश किया गया है। **'सामाजिक आन्दोलन', मतलब कि जो राजनीतिक न हो; जो राज्यसत्ता के प्रश्न को न उठाये!** आज के सारे तथाकथित सामाजिक आन्दोलनों की यही तो ख़ासियत है–वे जनता की तमाम समस्याओं को उठाने की बात करते हुए कभी यह नहीं बताते कि शत्रु कौन है? लड़ना किसके ख़िलाफ़ है? लेकिन रवि सिन्हा एनजीओपंथियों और सामाजिक आन्दोलन वालों की यह आलोचना पेश नहीं करते हैं! वह तर्जनी उठाकर उन्हें

सीख देते हैं, 'दोस्तो! सिर्फ भागीदारी जनवाद से काम नहीं चलेगा, बल्कि एक संवैधानिक जनवादी राज्य भी ज़रूरी है!' या यूँ कहें कि इन बेचारों ने "युग की आधुनिक भावना" को पर्याप्त रूप से आत्मसात नहीं किया है, इसलिए रवि सिन्हा ने इनकी आलोचना पेश की है! इसीलिए हमने कहा कि यह ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करने के समान है।

संवैधानिक जनवादी राज्य की वांछनीयता को न समझने और दूसरे कारणों से भागीदारी जनवाद का समर्थन करने के लिए रवि सिन्हा वामपन्थियों को भी लताड़ते हैं! वास्तव में, एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट राजनीतिक रूप से अयोग्य और नपुंसक शब्दावली में जनवाद के प्रकार या उनकी वांछनीयता के बारे में चर्चा करता ही नहीं है। यहाँ पर भी रवि सिन्हा ने एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' पेश की है–**भागीदारी जनवाद बनाम संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद! यह शब्दावली अंशतः आई.एम.एफ.-वर्ल्ड बैंक विमर्श, अंशतः वर्ल्ड सोशल फोरम विमर्श और अंशतः रूसो, लॉक, ड्यूई, रॉल्स की उदार बुर्जुआ चिन्तन परम्परा से उधार ली हुई है।** मार्क्सवाद जनवाद के प्रश्न को इस तरह से देखता ही नहीं है। **पहली बात तो यह है कि संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद और जिसे रवि सिन्हा भीड़ जनवाद कहते हैं, भारत में उनके बीच कोई विशेष और वास्तविक अन्तरविरोध अभी तक उपस्थित ही नहीं हुआ है और इसकी उम्मीद भी कम है कि भविष्य में ऐसा होगा।** निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति खाप पंचायतों के "भागीदारी जनवाद" का विरोध करेगा; लेकिन आकाशकुसुम की अभिलाषा करने वाला कोई भोला-भाला और उदार बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार कोई प्रगतिशील व्यक्ति ही इस भयंकरता का मुकाबला करने के लिए इस देश की अदालतों और नियमबद्ध कानून व्यवस्था पर भरोसा कर सकता है। हमारे देश के स्वातन्त्र्योत्तर इतिहास पर निगाह डालें तो कुछ अपवादों को छोड़कर आप एक भी उदाहरण दे सकते हैं जिसमें हमारे लेखक की प्राच्य प्राक्-आधुनिक बर्बरता का मुकाबला हमारे देश की आधुनिक सभ्य/नागरिक कानूनबद्ध राज्य व्यवस्था द्वारा किया गया हो? या फिर कभी उदार बुर्जुआ संवैधानिक राज्य ने फासीवादी बर्बरों को सभ्य बनाया हो, इसका कोई उदाहरण आप दे सकते हैं? अगर ऐसा होता तो 2002 गुजरात नरसंहार का घटित होना भी सम्भव था? क्या गुजरात नरसंहार को अंजाम देने वाली ताक़तों का अदालती या कानूनी संघर्ष वास्तव में कुछ ख़ास बिगाड़ पाया? अगर कोई झूठी उम्मीद इतने वर्षों के अनुभवों के बावजूद बनी हुई है तो इसे असुधारणीय बुर्जुआ विभ्रम न कहा जाय तो क्या कहा जाय?

सच तो यह है कि भागीदारी जनवाद या संवैधानिक जनवादी राज्य व्यवस्था दोनों ही अपने आप में दमनकारी या बर्बर भी हो सकते हैं और वे वास्तव में प्रगतिशील और जनता की पहलकदमी को खोलने वाले भी हो सकते हैं। इन रूपों (forms) के बीच कोई द्विभाजन खड़ा करके और इस प्रकार का रूपवादी (formalist) विश्लेषण पेश करके इनके बारे में सिर्फ़ विभ्रम ही फैलाये जा सकते हैं। असल प्रश्न यहाँ इन अलग-अलग किस्म की संस्थाओं के वर्ग चरित्र और उसके नेतृत्व का है। अगर जनता के सत्ता के अपने तृणमूल निकायों में जनता की राजनीतिक चेतना और सक्रियता नहीं होगी और अगर वहाँ एक सर्वहारा हिरावल का नेतृत्व मौजूद नहीं होगा, तो निश्चित तौर पर ऐसी संस्थाएँ अज्ञात चर राशि (unknown variable) बन सकती हैं। क्योंकि क्रान्तिकारी जन-चेतना कोई सहज उपलब्ध और आदर्श रूप में मौजूद वस्तु नहीं होती है, बल्कि सतत् राजनीतिक व विचारधारात्मक वर्ग

संघर्ष के ज़रिये और द्वन्द्वात्मक रूप में नि:सृत होती रहती है। असल प्रश्न यहाँ जनवाद की संस्था की किस्म का या फिर उस समाज (मानो कि वह कोई एकाश्मीय निकाय हो!) के सारत: आधुनिक या प्राक्-आधुनिक होने का नहीं बल्कि उनकी राजनीतिक-विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु का है, जिसका निश्चित तौर पर एक वर्ग चरित्र होता है। लेकिन रवि सिन्हा का पूरा विश्लेषण जनवाद के रूप पर ही सीमित है। उसकी वर्ग अन्तर्वस्तु के बारे में उनका विश्लेषण शान्त है। अगर हम यह भी मान लें कि लेख की विषय-वस्तु केवल पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर फासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति तक सीमित है, तब भी वह बुर्जुआ जनवाद के दो रूपों के तुलनात्मक अध्ययन से आगे नहीं जाते और उनमें फर्क करने की उनकी कसौटी आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता है। यही कारण है कि रवि सिन्हा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जागृत जन पहलकदमी और खाप पंचायत और "खिड़की एक्सटेंशन गणराज्य" में कोई फर्क नहीं कर पाते हैं। उनकी वर्ग पक्षधरता ग़ायब है। उनके लिए आधुनिक बनाम प्राक्-आधुनिक के सिवा और कोई पैमाना नहीं है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान समाजवादी राज्य और व्यवस्था में मौजूद बुर्जुआ विरूपताओं और नौकरशाहाना विरूपताओं के ख़िलाफ़ जनता का जो आक्रोश फूटा था, वह प्यारे, नर्म-नर्म, शराफत भरे विमर्शवादी अन्दाज़ में नहीं अभिव्यक्त हो सकता था। वह एक राजनीतिक संघर्ष था जो चीन में समाजवादी सर्वहारा सत्ता के अस्तित्व का प्रश्न उठा रहा था। नतीजतन, उस संघर्ष में सर्वहारा जनसमुदायों के राजनीतिक व्यवहार में निश्चित तौर पर ग़ैर-जनवादी तत्व थे; उतने ही गैर-जनवादी तत्व जितना कि एक युद्ध में की जाने वाली हिंसा में मौजूद होते हैं। क्या युद्ध में की जाने वाली ठोस हिंसा में जनवाद होता है? हमें नहीं लगता। यूँ तो किसी भी आमूलगामी परिवर्तन या क्रान्ति की ठोस तात्कालिक प्रक्रिया औपचारिक तौर पर जनवादी नहीं होती है! सामन्ती वर्ग के बुद्धिजीवियों ने बास्तीय के कारागार पर धावे को भी भीड़ की हरक़त ही क़रार दिया था! लगभग उसी ज़मीन से उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी न सिर्फ़ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को भीड़ जनवाद आदि जैसी संज्ञा देते हैं, बल्कि मज़दूर वर्ग की तमाम अन्य कार्रवाइयों को भी भीड़ की कार्रवाई क़रार देते हैं। फैसला सुनाने का यह पूरा स्वर स्पष्ट तौर पर बुर्जुआ कुलीनता के रंग में रंगा हुआ है। वर्ग संघर्ष या कहें कि वर्ग युद्ध की ठोस अभिव्यक्तियों में यदि कोई उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी शराफ़त और विमर्श के तत्व ढूँढेगा तो उसे निश्चित तौर पर धक्का लगेगा; इस धक्के की *पैथोलॉजिकल* प्रतिक्रिया उसकी राजनीतिक दृष्टि को धूमिल कर देगी। **धूमिल दृष्टि के साथ हर वर्ग संघर्ष में भीड़ ही नज़र आती है! और यही रवि सिन्हा के साथ हुआ है।** और यही कारण है कि वे खाप पंचायत, खिड़की एक्सटेंशन की घटना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में कोई फर्क नहीं कर पाते हैं। बहरहाल, मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक प्रातिनिधिक, भागीदारीपूर्ण और संविधानबद्ध (अगर संविधान और कानून व्यवस्था बुर्जुआ मापदण्डों और मानकों के अनुसार भी प्रगतिशील हों) बनाने के लिए संघर्ष करता है, वहीं वह अपनी राजनीतिक प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाएँ भी खड़ी करता है। लेकिन रवि सिन्हा की रणनीति में इसका कोई स्थान नहीं है क्योंकि उनके लिए यह तथ्य आकाशवाणी समान (axiomatic) है कि भारत एक प्राक्-आधुनिक समाज है और उसमें जनता अगर ऐसी संस्थाएँ खड़ी भी करेगी तो वह भीड़ जनवाद का शिकार हो जायेगी या कम-से-कम हो सकती है और उसे भी संवैधानिक बुर्जुआ उदार राज्य से विनियमन की

आवश्यकता होगी! **ऐसे में मज़दूर अगर भारत में कल सोवियतों जैसी किसी संस्था का निर्माण करते हैं, तो रवि सिन्हा उसके प्रति सशंकित रहेंगे और बुर्जुआ राज्य द्वारा उसके विनियमन की वकालत करेंगे!** कम-से-कम उनकी तर्क पद्धति तो इसी नतीजे पर पहुँचती है।

आगे रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी 'कॉमन सेंस' यह है कि बुर्जुआ जनवाद की किसी भी संस्था या संघटक अंग को समाजवाद के दौरान नहीं अपनाया जायेगा; अधिकतम सम्भव बुर्जुआ जनवाद के लिए संघर्ष करना मज़दूर वर्ग का काम नहीं है और जितना बुर्जुआ जनवाद हासिल है उसे प्राप्त करने में जनता ने कुछ नहीं किया है। **यह रवि सिन्हा का मार्क्सवाद के बारे में उदार बुर्जुआ 'कॉमन सेंस' हो सकता है, कम-से-कम सही मार्क्सवाद का ऐसा दृष्टिकोण नहीं है।** यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद पर थोप दिया गया है। सर्वहारा वर्ग भी प्रतिनिधित्वपूर्ण जनवाद में भरोसा करता है और निश्चित तौर पर सर्वहारा जनवाद बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के सामने इस प्रतिनिधित्व का अवसर उपस्थित करेगा। लेकिन निश्चित तौर पर समाजवादी जनवाद का अस्तित्व-रूप (modus vivendi) बहुपार्टी उदार संसदीय पूँजीवादी लोकतन्त्र नहीं हो सकता है (इस नुक़्ते पर आलोचनात्मक चर्चा के लिए देखें-इसी अंक में पृष्ठ 118-119)। समाजवादी राज्य एक संविधानबद्ध शासन भी देगा। लेकिन इस संविधान की वर्ग अन्तर्वस्तु अलग होगी। इस रूप में जहाँ तक संस्थागत पहलू का प्रश्न है सर्वहारा जनवाद अपनी नयी संस्थाओं का निर्माण करेगा। वह दिखलायेगा कि बुर्जुआ जनवाद का सिद्धान्त बुर्जुआ दार्शनिकों का एक आदर्शीकृत स्वप्न था और पूँजीवादी व्यवस्था के रहते हुए इसका अर्थ बेचने-ख़रीदने की स्वतन्त्रता, कानून के समक्ष औपचारिक समानता के अलावा ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता था और अन्ततः उसे किसी न किसी किस्म के प्रतिक्रिया में ही परिणत होना होता है। लेकिन रवि सिन्हा के लिए जनवाद की कोई वर्ग अन्तर्वस्तु नहीं है। उनके इस कथन पर ग़ौर करें, *"आधुनिक जनवाद का इतिहास पूँजीवाद के इतिहास को अतिच्छादित करता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है यह उसका समानार्थी है।"* यह दृष्टिकोण जनवाद और पूँजीवाद के प्रश्न को द्विभाजित तौर पर देखता है। जनवाद के विकास को भी एक **योगात्मक प्रक्रिया (aggregative process)** के तौर पर देखता है। इसके अनुसार, पूँजीवाद के दौर में आधुनिक जनवाद विकसित हुआ और फिर समाजवाद में यह और विकसित हो जायेगा! इस पूरी प्रक्रिया में कहीं कोई विच्छेद (rupture) का तत्व नहीं है। इस प्रकार का क्रमवाद (gradualism) और विकासवाद (evolutionism) वास्तव में उसी समाजशास्त्रीयतावाद की निशानी है, जिसका कि रवि सिन्हा का विश्लेषण बुरी तरह से शिकार है। **पूँजीवाद के उद्भव और उसके विकास और फिर उसके पतन का इतिहास पूँजीवाद जनवाद के उद्भव, विकास और पतन का भी इतिहास होता है।** वास्तव में, आर्थिक संकट के साथ आर्थिक कट्टरवाद के पैदा होने और राजनीतिक संकट के साथ राजनीतिक कट्टरवाद के पैदा होने के साथ ही समूची पूँजीवादी व्यवस्था अपनी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचती है। पूँजीवाद के आदि से अन्त तक जनवाद का विकास एकरेखीय नहीं होता बल्कि जन्म, शीर्ष पर पहुँचने और फिर पतन की कहानी कहता है। बुर्जुआ जनवाद प्रगतिशील सम्भावना के जन्म, उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचने और फिर हर प्रकार की प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त होने के साथ उसके पतन की मंज़िलों से होकर गुज़रता है। रवि सिन्हा की बुर्जुआ जनवाद के पूरे ऐतिहासिक आख्यान की समझदारी इस रूप में भयंकर भोण्डे क्रमवाद और विकासवाद की शिकार है।

समाजवाद बुर्जुआ जनवाद के आदर्शों से सीखता है, लेकिन साथ ही इसका यथार्थवादी रूपान्तरण भी करता है और स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि सच्चा जनवाद मज़दूर वर्ग का शासन ही दे सकता है, जो सही मायने में बहुसंख्यक मेहनतकश जनता का जनवाद हो; साथ ही, वह यह भी दिखलाता है कि जनवाद कोई वर्गेतर अवधारणा नहीं होती। **यदि जनवाद सभी के लिए हो, तो फिर समानता और जनवाद में कोई वास्तविक व प्रभावी अन्तर नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि समानतामूलक समाज बनाने की कम्युनिस्ट परियोजना को पहले सामाजिक जनवाद का नाम दिया गया, यानी वह आन्दोलन जो कि जनवाद का समाजीकरण करे। बाद में बेशक़ इसे अपर्याप्त होने और नये ऐतिहासिक अर्थ ग्रहण करने के कारण क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन ने त्याग दिया। बहरहाल, जनवाद का कोई अर्थ ही तभी निकल सकता है, जब उसके वर्ग चरित्र को स्पष्ट किया जाय।**

रवि सिन्हा दलील देते हैं कि बुर्जुआ जनवाद केवल बुर्जुआ राज्य और सत्ता की अन्य संरचनाओं को संघटित करने का रूप ही नहीं होता, बल्कि वह व्यक्तिगत नागरिकों के लिए अधिकारों, चुनाव के विकल्पों (choices) और आज़ादियों के एक क्षेत्र को भी निर्मित करता है! यह विचार वास्तव में बुर्जुआ राज्य की उसी उदारवादी बुर्जुआ अवधारणा को प्रदर्शित कर रहा है, जो राज्यसत्ता को **अधिकार-विमर्श (rights-discourse)** के दायरे में परिभाषित करती है। निश्चित तौर पर, बुर्जुआ राज्यसत्ता से जनता ने लड़कर तमाम जनवादी अधिकार हासिल किये हैं। साथ ही, बुर्जुआ राज्यसत्ता स्वयं भी कई जनवादी और नागरिक अधिकार देती है। **लेकिन बुर्जुआ राज्यसत्ता का मूल और मुख्य सरोकार नागरिकों को अधिकार देने का नहीं होता, बल्कि जनता को विनियमित (regulate) करने का होता है। इस विनियमन के बग़ैर बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व का एक बुनियादी संघटक तत्व अनुपस्थित होगा।** और यह बात केवल आम नागरिक कानूनों के बारे में ही नहीं बल्कि सभी कानूनों, मसलन श्रम कानूनों और अपराध दण्ड कानूनों पर भी लागू होती है। मार्क्सवाद बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान द्वारा दिये जाने वाले अधिकारों को **विनियमन-विमर्श (regulation discourse)** के ज़रिये समझता है। यहाँ भी यह दिख जाता है कि आधुनिक बुर्जुआ उदार कल्याणकारी राज्य के "वैभव" से लेखक किस कदर चमत्कृत है।

जनवाद और सत्ता के सन्दर्भ में वर्ग चरित्र के प्रश्न को न उठाने के ही कारण रवि सिन्हा लिखते हैं, **"सभी सत्ता की संरचनाएँ आखिरी विश्लेषण में स्वतन्त्रता के प्रतिकूल होती हैं।"** किसकी स्वतन्त्रता? कैसी सत्ता संरचनाएँ? यहाँ भी वर्ग विश्लेषण अनुपस्थित है। इस कथन पर **मिशेल फूको** के विचारों का असर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। निश्चित तौर पर, राज्य का क्षेत्र दमन का क्षेत्र होता है, जैसा कि एंगेल्स ने कहा था। और इस रूप में सर्वहारा राज्य भी दमन का उपकरण होगा। लेकिन अगर इस सवाल को गोल कर दिया जाय कि किसका दमन और किसके द्वारा दमन तो यह एक निष्क्रियतावादी आमूलगामी जनोत्तेजन (passive radical demagoguery) से ज़्यादा और कुछ नहीं होगा। लेखक का मानना है कि मानव विकास का मकसद राज्य की संस्थाओं को विरल और पारदर्शी बनाते हुए समाप्ति की ओर ले जाना होता है, हालाँकि वह इस बारे में संशकित हैं कि राज्य का वाकई कभी विलोपन होगा या नहीं! यह शंका राज्यसत्ता के उद्भव, विकास और अन्ततः विलोपन के विषय में लेखक के अनैतिहासिक दृष्टिकोण को अनावृत्त करती है। लेकिन यहाँ भी वह इस विलोपन की प्रक्रिया का एक क्रमवादी और विकासवादी नज़रिया पेश करते हैं। उनके

अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था के दौर में प्रगतिशील ताक़तें राज्य की संस्थाओं को विरल बनाने और पारदर्शी बनाने का कार्य शुरू कर देंगी और यह काम पूरा होगा समाजवाद के दौरान। वास्तव में, पूँजीवाद के दौरान जनवादी स्पेस और अधिकारों के लिए संघर्ष पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल नहीं बनाता है और न ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल बनाने के लिए यह संघर्ष करते ही हैं। **कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान के वायदों और प्रतिबद्धताओं के साथ इसलिए *ओवर-आइडेण्टिफाई* (over-identify) करते हैं और उनके लिए इसलिए संघर्ष करते हैं क्योंकि यह संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था और उदार बुर्जुआ जनवाद को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु (point of impossibility) तक पहुँचाता है।** इस प्रक्रिया के उपोत्पाद के तौर पर यदि बुर्जुआ राज्य अधिक पारदर्शी या विरल बनता है तो यह अलग बात है। यही कारण है कि लेनिन ने कहा था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवाद के तहत जनवादी अधिकारों के लिए जुझारू संघर्ष करता है क्योंकि एक ओर यह सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और वर्ग संघर्ष के लिए सबसे मुफीद ज़मीन मुहैया कराता है, वहीं पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब भी करता है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था के तहत बुर्जुआ जनवादी स्पेस और अधिकारों को अधिकतम बनाने का संघर्ष पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष का एक हिस्सा है।

रवि सिन्हा मानते हैं कि राज्य को क्रमिक प्रक्रिया में जीवन के अधिकांश क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण से मुक्त करना होता है और इसी प्रक्रिया में वह सिंकुड़ता जाता है और उसका विलोपन होता है। लेकिन उनके अनुसार पूँजीवाद के तहत ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि राज्य के नियन्त्रण क्षेत्र से पूँजीवाद के तहत जो भी बाहर जायेगा वह बाज़ार के मातहत आयेगा! यह भी ग़जब की समझदारी है। इसके अनुसार, आज बुर्जुआ राज्य के मातहत जो क्षेत्र हैं, वह मुनाफ़े और बाज़ार के मातहत नहीं हैं! **यहाँ भी हम एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन देख सकते हैं और इसके पीछे एक कल्याणकारी राज्य का सामाजिक-जनवादी यूटोपिया और साथ ही उदार बुर्जुआ राज्य की एक आदर्शवादी समझदारी है। यह द्विभाजन है राजकीय विनियमन बनाम बाज़ार विनियमन। दूसरे शब्दों में नियोजन बनाम बाज़ार का द्विभाजन।** अर्थशास्त्रीय तौर पर इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक नवकीन्सीय समझदारी कहा जा सकता है, जिसके शिकार पॉल स्वीज़ी भी थे। उन्होंने समाजवादी संक्रमण पर चली बहस में नियोजन को समाजवाद और बाज़ार को पूँजीवाद का पैमाना माना था, जिसकी बेतेलहाइम ने कमोबेश सन्तुलित आलोचना पेश की थी। यह द्विभाजन ही ग़लत है, जब तक कि राज्य और बाज़ार दोनों के ही राजनीतिक चरित्र के सवाल को नहीं समझा जाता है। **आज के दौर में भी जो राज्य के मातहत है वह वास्तव में बाज़ार के मातहत ही है। बल्कि कहना चाहिए कि आज जिसे यह नहीं दिख रहा है उसे राजनीतिक अन्धता का शिकार न कहा जाय तो क्या कहा जाय?** राजकीय क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने की पद्धति शुद्ध बाज़ार के क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने के तरीके से कुछ भिन्न होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजकीय विनियमन के तहत आने वाले क्षेत्रों में बाज़ार का नहीं बल्कि किसी कल्पित उदार कल्याणकारिता का साम्राज्य होता है! **यह भी बुर्जुआ उदार राज्य के प्रति रवि सिन्हा के अनालोचनात्मक *फेटिश* को ही प्रदर्शित कर रहा है।** उनके तर्क का मर्म यह है कि पूँजीवाद के रहते तो हमें उदार बुर्जुआ संवैधानिक जनवादी राज्य की और भी ज़रूरत महसूस करनी चाहिए क्योंकि एक ओर यह प्राक्-आधुनिक बर्बरता को सन्तुलित करेगा वहीं यह बाज़ार की शक्तियों को विनियमित

करेगा। एक ऐसे समय में ऐसा तर्क देना जब राज्य सबसे ज़्यादा नंगे तौर पर बाज़ार की शक्तियों की लूट के लिए मैदान खाली कराने का काम कर रहा है, हास्यास्पद है। अकादमिक और राजनीतिक हलकों में हालिया दौर में यह बहस चलती रही है कि राज्य नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के दौर में ज़्यादा हस्तक्षेपकारी (interventionist) हुआ है या फिर वह अधिक से अधिक अदृश्य और अनुपस्थित होता जा रहा है। हमारा मानना है कि राज्य कभी भी कम हस्तक्षेपकारी या अनुपस्थित नहीं हुआ है बस इसके हस्तक्षेप और उपस्थिति के रूप बदलते रहे हैं। तथाकथित "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद के दौर में भी राज्य एक अलग तरीके से विनियमनकारी और हस्तक्षेपकारी भूमिका निभाता था। कल्याणकारी राज्य के दौर के बारे में तो कोई बहस ही नहीं है, जब राज्य ने पूँजी के दूरगामी हितों के मद्देनज़र कई बार वैयक्तिक पूँजी की इच्छाओं के विपरीत आचरण किया और जनता के लिए कुछ कल्याणकारी नीतियाँ लागू कीं। लेकिन आज के दौर में बारे में कई लोगों का कहना है कि राज्य की भूमिका कम होती जा रही है, उसका हस्तक्षेप घटता जा रहा है। यह एक दृष्टिभ्रम से ज़्यादा और कुछ नहीं है। वास्तव में, आज राज्य पहले से ज़्यादा हस्तक्षेपकारी हो गया है। लेकिन कल्याणकारी दौर के विपरीत अब यह नंगे और बेशर्म तरीके से पूँजी के हितों के लिए हस्तक्षेप करता है। चाहे वह देश की प्राकृतिक सम्पदा या फिर सस्ते श्रम की लूट को सुगम बनाने में राज्य की भूमिका हो या फिर श्रम कानूनों के विनियमन के ज़रिये हासिल होने वाली सुरक्षा को समाप्त करने में राज्य की भूमिका हो, राज्य के हस्तक्षेप को कहीं भी पहले के दौर से कम नहीं माना जा सकता; बल्कि ज़्यादा ही मानना पड़ेगा। ऐसे में यह तर्क देना कि पूँजीवाद के मातहत राज्य के नियन्त्रण से जीवन के जो क्षेत्र बाहर जायेंगे वे बाज़ार की पाशविक शक्तियों के मातहत चले जायेंगे, उदारवादी भोलापन है और केवल यह दिखलाता है कि बुर्जुआ समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र की पुस्तकों में पेश पूँजीवाद की तस्वीर को रवि सिन्हा ने कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है। पूँजीवाद के मातहत राज्य और बाज़ार के बीच इस प्रकार का कोई द्विभाजन या विरोधाभास नहीं होता है क्योंकि वे दोनों ही पूँजीवादी राज्य और पूँजीवादी बाज़ार होते हैं। उनके बीच के अन्तरविरोधों को समझने की यह पद्धति पूँजीवाद के तहत राज्य और बाज़ार के सम्बन्धों की कभी सही व्याख्या नहीं कर सकती है।

बुर्जुआ संवैधानिक उदार जनवादी राज्य के प्रति रवि सिन्हा का दृष्टिकोण यह है कि ऐसा राज्य पारदर्शी होता है! यह भी एक भयंकर विभ्रम है। उनके अनुसार ऐसा पारदर्शी संवैधानिक और नियमबद्ध जनवादी राज्य तृणमूल भागीदारी जनवाद के अतिरेकों को सन्तुलित कर सकता है क्योंकि यह जहाँ एक ओर पारदर्शी होता है वहीं यह आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप होता है। ऐसे राज्य को वह जनता के तृणमूल जनवाद का शत्रु नहीं बल्कि पूरक मानते हैं और मानते हैं कि ऐसे राज्य को जनता भी गठित कर सकती है! लेकिन अगर हम भारत ही नहीं बल्कि दुनिया के उदारतम बुर्जुआ कल्याणकारी जनवादी राज्यों पर निगाह डालें तो क्या हम ऐसा कोई पारदर्शी बुर्जुआ राज्य देख पाते हैं, जिसकी कल्पना रवि सिन्हा कर रहे हैं? दुनिया भर में पूँजीवादी आधुनिक राज्य कारपोरेट घरानों के साथ गोपनीय जनविरोधी समझौतों में लिप्त है; हर जगह पूँजीवादी राज्य राष्ट्रवाद और आन्तरिक सुरक्षा के नाम पर तमाम अहम सूचनाओं को सार्वजनिक संज्ञान से बाहर रखते हैं; अमेरिका समेत दुनिया के तमाम पूँजीवादी राज्यों ने ऐसे दमनकारी और विशिष्ट कानून बनाये हैं जो कि जनता के जनवादी और संविधान-प्रदत्त अधिकारों को छीनते हैं; कहने की ज़रूरत नहीं है कि उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य में यह अपारदर्शिता और भी ज़्यादा होगी। लेकिन किसी भी नस्ल के उदार

बुर्जुआ जनवादी राज्य से पूर्ण पारदर्शिता की उम्मीद करना अहमकाना होगा।

रवि सिन्हा जनवाद की राजनीतिक अन्तर्वस्तु को नहीं देखते बल्कि उसका एक **संस्थावादी (institutionalist)** विश्लेषण करते हैं। यानी कि कुछ जनवादी संस्थाएँ (संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य) सही मायने में आधुनिक और जनवादी होंगी, जबकि अन्य (मुहल्ला पंचायतें, कमेटियाँ या अन्य भागीदारी जनवाद की संस्थाएँ) कम जनवादी होंगी और उनमें जनवाद को नष्ट कर देने की प्रवृत्तियाँ भी मौजूद होंगी। और यह संस्थावादी विश्लेषण अन्त में फिर से आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के द्विभाजन पर आकर ख़त्म होता है, जिसके सतहीपन का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं। फासीवाद के हालिया उभार और सत्तारूढ़ होने के बरक्स उसके प्रतिरोध के बारे में रवि सिन्हा के पहले और दूसरे सबक का सारतत्व यही है: **पहला,** फासीवाद का मुकाबला करने के लिए फासीवाद के विरुद्ध जनता की गोलबन्दी और सड़क की लड़ाई के प्रयास आत्मघाती सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि (1) भारत की जनता स्वयं वह प्राक्-आधुनिक सर्वसत्तावादी समुदाय है जिसके 'अपने विवेक' से दिये गये समर्थन के बूते फासीवाद सत्ता में पहुँचा है और (2) अगर प्रगतिशील ताक़तें जनता के पास जायेंगी तो फासीवादी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और चूँकि समाज प्राक्-आधुनिक है और फासीवादियों के बर्बर आवाहनों को इस समाज में प्रगतिशील आवाहनों से ज़्यादा अनुगूँज मिलेगी, इसलिए जनता के बीच या सड़क की लड़ाई में विजय की उम्मीद करना व्यर्थ है; इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को आधुनिक संवैधानिक उदार राज्य के दायरे में सीमित कर देना चाहिए क्योंकि यही राज्य प्राक्-आधुनिक बर्बर फासीवादियों पर भी सभ्य बनने का दबाव डालता है। दूसरा, जनवाद के लिए संघर्ष में राज्य के निकायों को अधिक से अधिक पारदर्शी और राजनीतिक प्रक्रिया को अधिक से अधिक विरल बनाने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए न कि तृणमूल भागीदारी जनवाद के मॉडल खड़े करने पर क्योंकि तृणमूल भागीदारी जनवाद के भीड़ जनवाद में तब्दील हो जाने के ख़तरे मौजूद रहेंगे; कारण एक बार फिर यह है कि समाज प्राक्-आधुनिक और सर्वसत्तावादी रुझानों से भरा हुआ है। इन दोनों सबकों के आधार पर हम कुछ और प्रेक्षण और रखेंगे और फिर लेखक के तीसरे सबक की ओर बढ़ेंगे।

पहली बात तो यह है कि भारतीय उत्तर-औपनिवेशिक समाज में प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी और बर्बर रुझान हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन इन रुझानों की एक **ऐतिहासिकता (historicity)** है, जिसे रवि सिन्हा पकड़ नहीं पाते हैं और इसीलिए उनका **सारभूतीकरण (essentialization)** करते हैं। इसका कारण यह है कि एक उत्तर-औपनिवेशिक राज्य और समाज में आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के द्वन्द्व और *आर्टिकुलेशन* को समझने में वह नाकाम रहते हैं। इस द्वन्द्व में अगर प्रधान पहलू की बात करें तो वह निश्चित तौर पर आधुनिकता है, जिसने प्राक्-आधुनिक बर्बर और सर्वसत्तावादी रुझानों को अपने अनुसार सहयोजित किया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह पूँजीवादी आधुनिकता है और पूँजीपति वर्ग इसकी चालक शक्ति है। ऐसे में, एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीपति वर्ग जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक *आर्किटेक्टॉनिक (architectonic)* के सुगम परिचालन के लिए आधुनिकता को अपनाता है तो वहीं अपने राजनीतिक वर्चस्व को **बहुसंस्तरीय (multi-layered)** और व्यापक बनाने के लिए एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक तत्वों को भी अपनाता है। इसलिए भारतीय समाज और राज्य भी, कई बार अगर प्राक्-आधुनिक तत्वों का प्रदर्शन करते हैं, तो इससे पूँजीवादी आधुनिकता के प्रति

फेटिश रखने वाले लोगों को इनके प्राक्-आधुनिक होने का दृष्टिभ्रम (optical illusion) पैदा हो सकता है। रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इसी के शिकार हैं।

दूसरी बात यह है आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के इस द्वन्द्व को अलग-थलग तौर पर देखना रवि सिन्हा को उदार बुर्जुआ चिन्तन की परम्परा में सुदृढ़ तौर पर अन्त:स्थापित कर देता है। वास्तव में इस द्वन्द्व के पीछे वर्ग शक्तियों की अन्योन्यक्रिया (interplay) जारी रहती है। इसलिए रूप के धरातल पर मौजूद आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के सामाजिक वर्ग संघर्ष के साथ नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को समझे बग़ैर किसी भी विश्लेषण के समक्ष एक संस्थावादी विश्लेषण के गड्ढे में गिरने का ख़तरा मौजूद रहता है। अगर भारतीय समाज में प्राक्-आधुनिकता के तत्व मौजूद हैं तो उसकी प्रतिशक्ति के तौर पर आधुनिकता की शक्तियाँ भी मौजूद हैं, और निश्चित तौर पर उसमें केवल मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ नहीं शामिल हैं। बल्कि कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रति-सन्तुलित करने में पूँजीवादी आधुनिकता की ताक़तें अब तक अपर्याप्त ही साबित हुई हैं। **आज के दौर में क्रान्तिकारी सर्वहारा प्रबोधन की शक्तियों के ज़रिये, और अगर हमें इस शब्द का प्रयोग करने की आज्ञा दी जाये, तो *सर्वहारा आधुनिकता* के ज़रिये ही भारतीय समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक, प्रतिक्रियावादी ताक़तों का मुकाबला किया जा सकता है, जो कि विशेष तौर पर एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में उस तर्कणा और आधुनिकता के उसूलों की सही वारिस है, जिसे बुर्जुआ वर्ग के क्रान्तिकारी दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया था और जो बुर्जुआ वर्ग के शासन के वास्तविक रूप ग्रहण करने के साथ धूल में फेंक दिये गये।**

यहीं से हम अपने **तीसरे नुक़्ते** पर आ सकते हैं। **वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर नहीं किया जा सकता है।** यह बात इतिहास के हर दौर के लिए सही सिद्ध होती है। आज भारतीय पूँजीवादी उत्तर-औपनिवेशिक समाज में जो प्राक्-आधुनिक तत्व मौजूद हैं, वह बस सीधे तौर पर किसी बीते सामन्ती या प्राक्-पूँजीवादी युग के अवशेष या उनकी निरन्तरता नहीं हैं। यह बीते युग की बर्बरताओं के आधुनिक युग की बर्बरताओं के साथ होने वाले *आर्टिकुलेशन* से पैदा हुई विशिष्ट रूप की बर्बरता है, जिसे सही मायनों में सामन्ती, प्राक्-पूँजीवादी या प्राक्-आधुनिक कहा भी नहीं जा सकता है। यहाँ तक कि खाप पंचायतों के इतिहास के अध्ययन भी दिखलाते हैं कि ये महज़ कोई प्राक्-पूँजीवादी प्राक्-आधुनिक निरन्तरता नहीं है, बल्कि आज के दौर की विशिष्ट परिघटना है और पूँजीवादी आधुनिकता के हाथों सुविधाजनक और सुगम रूप से सहयोजित है। इस विशिष्ट किस्म की उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिक बर्बरता का मुकाबला आप 16वीं और 17वीं सदी में खड़े होकर नहीं कर सकते हैं; पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आन्दोलन और प्रबोधन और उसके बाद वैज्ञानिक क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति की प्रक्रिया से गुज़रकर पैदा हुई पूँजीवादी आधुनिकता की ज़मीन पर खड़े होकर आज की इस चुनौती का मुकाबला नहीं किया जा सकता है। प्रबोधनकालीन बुर्जुआ दार्शनिकों ने पूँजीवादी व्यवस्था और शासन के जिस आदर्शीकृत रूप की कल्पना की थी उसकी ज़मीन पर खड़े होकर और इस किस्म के किसी *एनाक्रॉनिस्टिक नॉस्टैल्जिया (anachronistic nostalgia)* के बूते आप आज भारतीय समाज में मौजूद बर्बरता के तत्वों का सामना नहीं कर सकते हैं। **आज इसका मुकाबला करने के लिए एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन की ज़रूरत है। आज सर्वहारा वर्ग ही यह काम कर सकता है, चाहे उसके भीतर प्राक्-आधुनिक विचारों का जो भी प्रभाव हो।** निश्चित तौर पर, मज़दूर

वर्ग ऐसा स्वत:स्फूर्त तौर पर नहीं कर सकता है और उसके लिए एक सर्वहारा हिरावल की ज़रूरत होगी जो कठमुल्लावाद और जड़सूत्रवाद को छोड़ भारतीय पूँजीवादी राज्य और समाज की विशिष्टता को समझते हुए अपने विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यभार निकाले। मज़दूर वर्ग के पास स्वत: और सहज उपलब्ध चेतना, या यूँ कहें कि स्वत:स्फूर्त मज़दूर चेतना ही सर्वहारा चेतना नहीं होती है। इस सर्वहारा चेतना के लिए सतत् विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्ग संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान से लैस हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की दरकार होती है। लेकिन इतना तय है कि आज कोई प्रबुद्ध मध्यवर्गीय टटपुँजिया बुद्धिजीवी वर्ग इस कार्यभार को पूरा करने में अगुवाई नहीं कर सकता है और न ही इसका मुकाबला केवल अदालतों और कानूनी फ्रेमवर्क में चलने वाले संघर्षों से ही किया जा सकता है। इतिहास के जो कार्यभार भारत में औपनिवेशिकीकरण के कारण छूट गये उन्हें इतिहास में वापस जाकर पूरा करना सम्भव नहीं है। **इतिहास की गति इसी प्रकार होती है; मानव प्रगति की *रीडेम्प्टिव* गतिविधि (redemptive activity) इसी प्रकार की होती है।**

तीसरा सबक: 'रोम में रहो तो वह करो जो रोमवासी करते हैं'

"आप किस चीज़ पर काम कर रहे हैं?" श्रीमान क. से पूछा गया। श्रीमान क. ने जवाब दिया: "मैं काफ़ी दिक्कत से गुज़र रहा हूँ; मैं अपनी अगली ग़लती की तैयारी कर रहा हूँ।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'महाशय कॉयनर की कहानियाँ'*)

"छोटे बदलाव, बड़े बदलावों के दुश्मन होते हैं।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट)

रवि सिन्हा का तीसरा सबक बुर्जुआ राज्य की नीतियों और कार्यक्रम के सम्बन्ध में है जिसमें वे उन बुनियादी माँगों की बात करते हैं जिसके लिए आज वामपंथियों को लड़ना चाहिए। यहाँ वह कोई नया सबक नहीं दे रहे हैं। वास्तव में, वह जो बात कह रहे हैं वह सी. पी. चन्द्रशेखर, जयति घोष, प्रभात पटनायक आदि जैसे सामाजिक-जनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री हर हफ्ते *दि हिन्दू, फ्रण्टलाइन, मैक्रोस्कैन, नेटवर्क आइडियाज़,* आदि जैसी पत्र-पत्रिकाओं और वेबसाइटों पर देते रहते हैं। यह और कुछ नहीं है बल्कि पुराना कीन्सीय नुस्खा है, जिसके अनुसार वामपंथियों को कल्याणकारी राज्य और पूँजी की निर्बाध गति के विनियमन के लिए लड़ना चाहिए। इसके पीछे के लेखक के कारण बिल्कुल वैसे नहीं हैं, जैसे कि उपरोक्त सी.पी.एम.-ब्राण्ड अर्थशास्त्रियों के हैं। क्योंकि उनके कारणों के नीचे एक मज़बूत कीन्सीय, हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी (under-consumptionist), काऊत्स्कीपन्थी, सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक ज़मीन है। रवि सिन्हा सीधे वे कारण बता नहीं सकते वरना पहचान का संकट पैदा हो जायेगा; लेकिन उन कारणों के स्थानापन्न के तौर पर वह या तो कोई कारण बता ही नहीं पाते हैं, या फिर उनके बताये हुए कारण हास्यास्पद हैं।

लेखक दलील देता है कि भारतीय पूँजीवाद आज विशेष तौर पर हिंस्र और खूँखार मंज़िल में है और इसके दो प्रमुख कारक हैं। पहला यह है कि भारत में प्रचुर मात्रा में मौजूद सस्ता श्रम और दूसरा यह है कि भारत में जंगलों, खानों-खदानों के रूप में अधिकांश प्राकृतिक सम्पदा और साथ ही अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं। यह पूरा प्रेक्षण एक बार फिर दिखलाता है कि लेखक उत्तर-औपनिवेशिक

पूँजीवादी विकास के सामान्य प्रक्षेप-पथ (trajectory) को समझ नहीं पाया है। पहली बात तो यह है कि लेखक द्वारा बताया गया दूसरा कारक तथ्यतः सटीक नहीं हैं। भारत में मौजूद प्राकृतिक संसाधन और अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ मुख्य तौर पर पूँजी में तब्दील हो चुकी हैं। पूँजी में तब्दील होने का अर्थ है कि उत्पादन उपभोग हेतु नहीं बल्कि विपणन हेतु हो रहा है, यानी कि विनिमय के लिए। यानी कि माल-मुद्रा-माल का चक्र अब मुद्रा-माल-मुद्रा में तब्दील हो चुका है। भारत में छोटी सम्पत्तियों का बाहुल्य कृषि क्षेत्र में देखा जा सकता है। आज से करीब एक दशक पहले ही देश के 60 प्रतिशत ग्रामीण घरों के आय का मुख्य स्रोत उजरती श्रम था; दूसरे स्थान पर छोटे माल उत्पादन के विपणन से होने वाली आय थी; 20 प्रतिशत घरों में बेशी उत्पादन के विपणन से होने वाली आय और मज़दूरी से होने वाली आय बराबर थी। देश के परिधिगत किसानों, यानी कि सबसे छोटी जोत वाले किसानों के उत्पादन का भी 40 प्रतिशत हिस्सा बेचने के लिए था। निश्चित तौर पर, पिछले दस वर्षों में स्थितियाँ और बदली होंगी। दूसरी बात जिसे समझना ज़रूरी है वह यह है कि पूँजी द्वारा श्रम प्रक्रिया को औपचारिक तौर पर अपने मातहत लाना (formal subsumption) और वास्तविक तौर पर अपने मातहत लाना (real subsumption)। मार्क्स ने इन दोनों चरणों मे स्पष्ट फर्क किया था और बताया था कि पूर्ण रूप से पूँजीवादी संचय दूसरे चरण के साथ ही शुरू होता है। पहले पूँजी पहले से मौजूद श्रम प्रक्रिया को अपने मातहत लाती है। इस चरण में पूँजी उत्पादन के साधनों को अपने मातहत लाती है और उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में तब्दील कर देती है और पूँजी संचय को सम्भव बनाती है। लेकिन श्रम प्रक्रिया मोटा-मोटी पहले के समान ही जारी रहती है। दूसरे चरण में पूँजी अपने हितों के अनुरूप पूरी की पूरी श्रम प्रक्रिया और तकनीक को अपने मातहत लाती है और उसका रूपान्तरण कर देती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इस दूसरे चरण के साथ ही परिपक्व रूप ग्रहण करती है। इसे हम मैन्युफैक्चर से मशीनोफैक्चर तक की यात्रा से भी समझ सकते हैं। क्लासिकीय तौर पर पूँजीवाद के विकास में इन दो चरणों के बीच सैद्धान्तिक तौर पर और साथ ही एक हद तक ऐतिहासिक तौर पर एक रेखा खींची जा सकती है। **लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी देशों में पूँजीवादी विकास की यह एक विशिष्टता है कि उसके ऐतिहासिक विकास के कई क्षण (moments) सहअस्तित्वमान होते हैं।** इसलिए हमें भारत में बेहद उन्नत पूँजी संचय की मिसालें बड़ी संख्या में मिल सकती हैं तो साथ ही हमें ऐसे इलाके भी मिल सकते हैं जहाँ कालानुक्रम-दोष के साथ "आदिम" पूँजी संचय के क्षण भी दिख सकते हैं जिसमें कि छोटे उत्पादकों, आदिवासियों आदि को उनके जल, जंगल और ज़मीन से उजाड़ा जा रहा है और उनके प्राकृतिक संसाधनों की कारपोरेट लूट का रास्ता साफ़ किया जा रहा है। वैसे भी मार्क्स के लिए "आदिम" पूँजी संचय कोई शुद्धतः कालिक (temporal) अवधारणा नहीं थी। यूँ तो चाहे कोई भी देश हो पूँजीवादी विकास अपनी प्रकृति से ही काल और दिक् दोनों के ही आयामों पर असमान होता है, लेकिन एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवाद में यह असमानता विशिष्ट और चमत्कृत कर देने वाले रूपों दिखलायी पड़ती है। लेकिन इन सबके बावजूद यह कहना कि समूची अर्थव्यवस्था में छोटे मालिकाने की सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं, सच्चाई से बहुत दूर है। यह ज़रूर है कि देश में छोटी सम्पत्तियाँ चाहें वे कृषि के क्षेत्र में हों या उद्योग के क्षेत्र में, अभी कारपोरेट इज़ारेदार पूँजी के वर्चस्व के तहत पूरी तरह से नहीं आयी हैं। इसलिए कारपोरेट पूँजीवाद के साथ-साथ हमारे देश में

टटपुँजिया पूँजीवाद भी मौजूद है, हालाँकि स्पष्ट तौर पर पहले की हिस्सेदारी अर्थव्यवस्था के आकार में काफ़ी ज़्यादा है।

लेकिन अगर रवि सिन्हा इन दो कारकों को आज पूँजीवादी पशु के ज़्यादा भूखे होने के लिए ज़िम्मेदार बता रहे हैं, तो बात समझ में नहीं आती है। **क्योंकि सस्ते श्रम की मौजूदगी और प्राकृतिक सम्पदा और छोटी सम्पत्तियों की भारी मौजूदगी भारत में आज से नहीं बल्कि पिछले कई दशकों से है, तो फिर भारतीय पूँजीवाद में यह विशिष्ट चरण आज ही क्यों आया है!** उनके अनुसार यह आज भारतीय पूँजीवाद के विशेष तौर पर लुटेरे चरित्र को दिखलाता है! अगर ऐसा है तो यह विशिष्टता पहले ही पैदा हो जानी चाहिए थी क्योंकि उनके दोनों कारण आज से नहीं बहुत पहले से मौजूद हैं। यह सही है कि आज भारतीय पूँजीवाद विशेष तौर पर लुटेरे दौर में है। लेकिन इसकी व्याख्या भारतीय पूँजीवाद के इतिहास के एक नये चरण से की जानी चाहिए। यहाँ दो कारक हमारे विचार में विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य हैं: **पहला,** भारतीय पूँजीवाद का 1990 में सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद से खुले नवउदारवादी पूँजीवाद के दौर में प्रवेश जिसके साथ देश भर की वह श्रम सम्पदा और प्राकृतिक सम्पदा जो अभी तक निजी पूँजी की निर्बाध लूट के दायरे से बाहर थी, वह अधिक से अधिक उसकी लूट के दायरे में आती गयी; और **दूसरा,** भारतीय व्यवस्था का वैश्विक वित्तीय पूँजीवादी तन्त्र में पहले से अधिक और जैविक समेकन, जिसके कारण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में मन्दी और संकट के हिचकोले भारतीय अर्थव्यवस्था में भी सीधे तौर पर और पहले से ज़्यादा महसूस किये जाने लगे। ये दो ऐसे कारक हैं जो पहले मौजूद नहीं थे और आज भारतीय पूँजीवाद की विशिष्टता को सन्तोषजनक रूप से व्याख्यायित कर सकते हैं। लेकिन इन दोनों ही कारकों को समझने में लेखक नाकाम रहता है और उन नियतांकों को गिनाता है जो कि पहले से मौजूद हैं और अपने आप में मौजूदा परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकते हैं।

बहरहाल, रवि सिन्हा भारतीय पूँजीवाद के इस विशिष्ट तौर पर लुटेरे चरण में वामपंथियों को दो माँगों पर लड़ने की सलाह देते हैं: पहला, कल्याणकारी राज्य के लिए और दूसरा पूँजी की निर्बाध लूट को विनियमित करने के लिए। वह कहते हैं कि एक कल्याणकारी राज्य प्रगतिशील कराधान प्रणाली के ज़रिये जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी लेगा। इसके अलावा, प्राकृतिक संसाधनों (बशर्ते कि उनका राष्ट्रीकरण न हो जाये) और छोटी सम्पत्तियों (बशर्ते कि उन्हें नये उद्यमों में स्थायी शेयरहोल्डर न बना दिया जाय) को पूँजी में तब्दील करने से रोकने के लिए एक कानूनी ढाँचे के लिए लड़ना होगा। इन दोनों माँगों के 'इण्डिया अगेंस्ट करप्शन' और बाद में 'आप' द्वारा ले उड़ने पर रवि सिन्हा दुखी हैं और इसे फासीवादी उभार में अन्ततः मददगार भी मानते हैं और साथ ही मानते हैं कि ये माँगें कम्युनिस्टों को उठानी चाहिए। लेकिन ये दोनों ही माँगें न सिर्फ़ आर्थिक तौर पर अव्यावहारिक हैं बल्कि लेखक की निम्न पूँजीवादी और अनैतिहासिक राजनीतिक सोच को दिखलाती हैं। इनमें से दूसरी माँग तो आज सबसे निकृष्ट किस्म के सामाजिक-जनवादी भी बिरले ही करते हैं। ख़ैर, यहाँ जिन दो माँगों के लिए लड़ने का सुझाव दिया गया है वह तमाम संशोधनवादी राजनीतिक पार्टियों और बुद्धिजीवियों और दूसरी ओर रवि सिन्हा के बीच के सारे अन्तर समाप्त कर देता है। वैसे रवि सिन्हा ने पहले ही लेख में स्पष्ट कर दिया है कि जो "परिधि पर खड़े पागल" संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फर्क करते हैं, उनसे उन्हें कोई उम्मीद नहीं है और वे उनके सबकों पर संकीर्णतापूर्ण सवाल उठायेंगे! चूँकि हमें पूर्वानुमानपूर्ण

फैसले में पागल घोषित कर ही दिया गया है, इसलिए हम इस नुक्ते पर अपनी पूरी बात कह ही देते हैं!

क्या क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कल्याणकारी राज्य के लिए लड़ते हैं? हमारा मानना है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर जनता की उन सभी माँगों के लिए लड़ते हैं जो कि संवैधानिकता के दायरे में आती हैं और कानूनसम्मत होती हैं और उनके बाहर भी होती हैं। वास्तव में, नागरिक अधिकार और जनवादी अधिकार के बीच यही फर्क होता है। हमारी लड़ाई जनता के रोज़गार, रिहायश और शिक्षा के बुनियादी हक़ के लिए होती है। लेकिन कल्याणकारी राज्य की माँग करना एक अलग राजनीतिक माँग बनती है और लघुकालिक तौर पर भी वे कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं करते हैं क्योंकि इसके साथ एक राजनीतिक अर्थशास्त्र और राजनीति जुड़ी हुई है। यह कीन्सीय और हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी समझदारी है जिसकी माला आज प्रभात पटनायक, जयति घोष से लेकर सी. पी.चन्द्रशेखर तक जप रहे हैं। यानी कि कल्याणकारी और अल्पउपभोगवादी नीतियों द्वारा घरेलू माँग को बढ़ाकर संकट को दूर करने और जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने का नुस्खा। **क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट जनता के हरेक कानूनी और साथ ही साथ जायज़ हक़ के लिए लड़ते हैं और फिर भी उस लड़ाई को कल्याणकारी राज्य के लिए संघर्ष में तब्दील नहीं करते हैं।** वे उन सभी माँगों के लिए लड़ते हुए जो कुछ पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में हासिल किया जा सकता है, हासिल करते हैं और जो नहीं हासिल किया जा सकता है, उससे व्यवस्था को बेनक़ाब करते हैं और उसे उसकी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाते हैं। हमारा संघर्ष समाजवादी व्यवस्था के लिए होता है। मुद्दे तो वही होते हैं लेकिन लड़ने की पहुँच और पद्धति भिन्न होती है। आज भारतीय समाज में हमेशा से ज़्यादा इस बात की ज़मीन तैयार है कि हम जनता को सिर्फ़ केक के लिए नहीं बल्कि पूरी बेकरी हथियाने के लिए लड़ना सिखाएँ! ऐसे में, कल्याणकारी राज्य की माँग को उठाना प्रतिगामी है।

जर्मनी में फासीवादी ताक़तों के उदय का एक कारण यह था कि सामाजिक जनवादियों ने कल्याणकारी राज्य को बचाये रखने की लड़ाई लड़ी न कि समाजवाद की लड़ाई जो कि पूँजीवादी दायरे का अतिक्रमण करती हो। एक मज़बूत मज़दूर आन्दोलन के बूते पर वे पूँजी की शक्तियों को कुछ समय के लिए श्रम की शक्तियों के साथ समझौता करने और कल्याणकारी राज्य को बनाये रखने के लिए मजबूर करने में सफल भी हुए। लेकिन इस बीच वे जनता के बीच इसके विभ्रमों को तोड़ने के राजनीतिक कार्य की बजाय उन्हें मज़बूत बनाते रहे क्योंकि उनका राजनीतिक जुमला (rhetoric) ही कभी कल्याणकारी राज्य के आगे नहीं गया। नतीजतन, जैसे ही संकट के दौर में श्रम और पूँजी के बीच का यह समझौता दबाव के मातहत आने लगा और जर्मन पूँजीपति वर्ग मुनाफे के सिंकुड़ने (profit squeeze) का शिकार हुआ, वैसे ही उसने हिटलर और नात्सी पार्टी को टटपुँजिया वर्गों की गोलबन्दी के ज़रिये मज़दूर आन्दोलन को ध्वस्त करने के लिए राजनीतिक मंच सौंप दिया और इसी के साथ वीमर गणराज्य का पतन हुआ। अगर आज के दौर में भी हमारा राजनीतिक माँगपत्रक कल्याणकारी राज्य की माँग करेगा तो हम इतिहास में वही ग़लती दुहरायेंगे। **हमारी माँग शिक्षा, रोज़गार और रिहायश को जन्मसिद्ध अधिकार बनाने की माँग होते हुए भी कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं होती है।** दूसरी बात यह है कि आज कल्याणकारी राज्य की माँग एक अनैतिहासिक माँग है। कल्याणकारी राज्य के इतिहास के रंगमंच से अनुपस्थित होने का रिश्ता उस क्षण से है जिसमें आज

विश्व पूँजीवाद है; न तो आज पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों के लिए कल्याणकारी राज्य का ख़र्च उठा पाना सम्भव है और न ही उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े पूँजीवादी देशों के लिए। रवि सिन्हा का मानना है कि हमें ठोस तथ्यों के आधार पर लड़ाई का एजेण्डा तय करना चाहिए और ठोस तथ्य यह है कि कल्याणकारी राज्य की माँग ही आज की यथार्थवादी माँग है, हालाँकि वामपन्थी इसे बीते ज़माने की बात मानते हैं। इसके प्रासंगिक होने के प्रमाण के तौर पर वह इस तथ्य का बयान करते हैं कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन ने भी धुर दक्षिणपन्थी नवउदारवादी भाजपा के समक्ष कल्याणकारी राज्य का ही एजेण्डा रखा था, हालाँकि वह इसे लागू करने में असफल रही थी। वामपन्थी (सीपीआई, सीपीएम, आदि) इसे लागू करने या करवाने के लिए सबसे अच्छी स्थिति में थे, लेकिन उन्होंने परमाणु समझौते के प्रश्न पर यूपीए-एक से बाहर जाने की मूर्खता कर दी! रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इस मूर्खता को फासीवादी उभार और 16 मई को मोदी के सत्ता में आने का कारण मानते हैं! **वास्तव में, ये सारे तथ्य जैसे कि कांग्रेस द्वारा कल्याणकारी राज्य के जुमले का इस्तेमाल यह नहीं दिखलाता कि कल्याणकारी राज्य की माँग आज की प्रासंगिक और यथार्थवादी माँग है! यह इसके बिल्कुल विपरीत को दिखलाता है–यह आज के दौर में एक अनैतिहासिक और प्रहसनात्मक माँग है।** यह माँग आज के दौर में न केवल राजनीतिक तौर पर ग़लत है, बल्कि अव्यावहारिक भी है। इस माँग के संसदीय राजनीति में जुमले के तौर पर इस्तेमाल को तो समझा जा सकता है, लेकिन किसी कम्युनिस्ट द्वारा आज कल्याणकारी राज्य की माँग करना (ग़ौर करें, जनता की ज़रूरतों से जुड़ी माँगों को उठाते हुए व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु तक ले जाने और समाजवादी विकल्प का प्रचार करने की नहीं, बल्कि कल्याणकारी राज्य को ही लक्ष्य बनाकर माँग करना) प्रतिगामिता नहीं तो और क्या है? यात्री को जब आगे कुछ नहीं दिखायी देता है, तो वह पीछे ही देखता है। एक बार फिर लेखक वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अतीत की ज़मीन पर खड़ा होकर करना चाहता है। रवि सिन्हा के मुताबिक आज वामपंथियों को नेहरूवियन कल्याणकारी राज्य या ऐसे किसी अतीत के लिए लड़ना चाहिए! ऐसा इतिहास में पहले भी हुआ है कि यथार्थवादी होने और ठोस तथ्यों को आधार बनाने के नाम पर निराशावाद, समझौतापरस्ती और पराजयवाद परोसा गया है।

रवि सिन्हा की दूसरी माँग भी यही करती है, बल्कि इससे कुछ ज़्यादा करती है। उनके अनुसार प्राकृतिक संसाधनों को जब तक राज्य की सम्पत्ति न बना दिया जाये तब तक पूँजी में उनके रूपान्तरण का विरोध किया जाना चाहिए। यहाँ तक तो बात कमोबेश ठीक है, लेकिन साथ ही वह यह माँग उठाने की वकालत करते हैं कि छोटी सम्पत्तियों का तब तक पूँजी में रूपान्तरण नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उनके पूँजी में रूपान्तरण से पैदा होने वाले भावी उद्यमों में उन्हें स्थायी हिस्सेदार (share-holder) न बनाया जाय! यह तो भयंकर है। इसके अनुसार अगर छोटे कारखाना मालिकों और टटपुँजिया उत्पादकों को यदि कोई बड़ी पूँजी निगलना चाहती है तो उन्हें नये उद्यमों में हिस्सेदारी देनी चाहिए! उसी प्रकार अगर कोई एग्रो-बिज़नेस करने वाली कम्पनी छोटी या मँझोली किसानी को निगलता है तो उजड़े हुए किसानों को नये फार्म में हिस्सेदारी दी जानी चाहिए! किसानों के प्रश्न पर कुछ आगे चर्चा करते हैं, **लेकिन किसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट को छोटे कारखाना मालिकों और छोटी पूँजी के उजड़ने पर क्यों पेट दर्द होगा?** यह माँग हर सूरत में प्रतिगामी है। यह इतिहास को पीछे की ओर धकेलने की वकालत करती है। कई माँगें पूँजीवादी दायरे के भीतर संघर्ष करने के लिए उपयुक्त होती

हैं। लेकिन ये मध्यवर्ती माँगें वे माँगें होती हैं जो कि पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब करती हैं और व्यापक मेहनतकश आबादी के लिए कुछ फौरी राहत दे सकती हैं। लेकिन इस माँग में तो ये दोनों ही गुण नहीं हैं। जहाँ तक किसान आबादी का प्रश्न है, तो व्यापक किसान आबादी भी आज छोटे मालिकाने के विभ्रमों से मुक्त हो रही है। 2003 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में 40 प्रतिशत छोटे व मँझोले किसानों ने बताया कि वे मौका मिलने पर खेती छोड़ना चाहेंगे। इसी सर्वेक्षण में पता चलता है कि खेती में करीब 11 करोड़ भूमि के स्वामी किसान हैं जबकि 10 करोड़ खेतिहर मज़दूर। 11 करोड़ स्वामी किसानों की 60 प्रतिशत आबादी के जीविकोपार्जन का मुख्य स्रोत खेती नहीं बल्कि उजरती श्रम है। ऐसे में ग्रामीण आबादी के 22 करोड़ कृषि में लगे लोगों में से करीब 16 करोड़ लोग पहले ही सर्वहारा अथवा अर्द्धसर्वहारा की स्थिति में पहुँच चुके हैं। अमित बसोले और दीपांकर बसु का अध्ययन (http://sanhati.com/wp-content/uploads/2009/05/india_surplus_may_ 11.pdf) दिखलाता है कि छोटे किसानों को बचाने या छोटी जोत की खेती को बचाने का प्रयास करने की पूँजीवाद के दायरे के भीतर भी कोई प्रासंगिकता नहीं है; **यह मध्यवर्ती माँग भी नहीं बनती है क्योंकि यह किसानों को लेनिन के शब्दों में 'आत्म-शोषण' के भयंकर कुचक्र में धकेलने के समान होगा।** अगर आँकड़ों के आधार कहें तो अगर आज पुनर्वितरण वाले भूमि सुधार किये जायें तो हरेक किसान के हिस्से 1.25 हेक्टेयर भूमि आयेगी, जो कि कतई अपर्याप्त है। ऐसे में, इस प्रकार के सुधारों की माँग मध्यवर्ती माँग के तौर पर भी अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है। और जहाँ तक खेती में छोटे खेतों के अधिग्रहण से पैदा होने वाले नये कृषि या ग़ैर-कृषि उपक्रमों में स्थायी हिस्सेदारी का प्रस्ताव है, तो यह हास्यास्पद होने की हद तक अव्यावहारिक भी है और राजनीतिक तौर पर प्रतिगामी भी। **कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ऐसी माँग की वकालत क्यों करेगा?** आज तो इतिहास ने इस बात के लिए और भी ज़्यादा मुफ़ीद हालात मुहैया कराये हैं कि छोटे और निम्न मध्यम किसानों के उजड़ने पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम का एक नये रूप में प्रचार किया जा सके। ऐसे में, हम उजड़ने वाले किसानों को वापस छोटे मालिक या छोटे हिस्सेदार के तौर पर ग़रीबी और बदहाली के कुचक्र में धकेलने की वकालत क्यों करें? जब पूरा तन्दूर ही हमारा है तो फिर सिर्फ नान क्यों माँगें?

और ये सारी सलाहें या सबक हमें यथार्थवाद, व्यावहारिकता और ग़ैर-कठमुल्लावादी रुख़ रखने के बहाने से दिया जाता है। यह व्यावहारिकता नहीं बल्कि व्यवहारवादी समझौतापरस्ती और प्रतिगामिता है। संसदीय वामपंथियों की मूर्खता और "कठमुल्लावाद" पर लेखक बेतरह नाराज़ है। उसके अनुसार संसदीय वामपंथियों ने यूपीए-एक सरकार से अपने उस राष्ट्रवादी कीड़े के कारण परमाणु क़रार के मुद्दे पर रिश्ता तोड़ लिया जो कि अन्त में मोदी के नेतृत्व में फासीवादी उभार का एक कारक बना, जो कि औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौर में उसके भीतर घुस गया था! यह भी चमत्कृत कर देने वाला विश्लेषण है। हम यहाँ संसदीय वामपंथियों की इस कथित भूल की तो विस्तार में चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि नन्दीग्राम, सिंगूर और लालगढ़ में अपने असली सामाजिक फासीवादी रवैये को प्रदर्शित करने वाले संसदीय वाम के विषय में लेखक का विभ्रम बीमारी की हद तक है। वह तृणमूल कांग्रेस के लम्पटों और माकपा के लम्पटों में माकपा के लम्पटों को बेहतर मानता है! इसके विश्लेषण में औपनिवेशिक दौर में पैदा हुए राष्ट्रवाद को बेवजह ही घुसा दिया गया है। माकपा और भाकपा केवल उन्हीं अर्थों में "राष्ट्रवादी" कहे जा सकते हैं जिनके अनुसार वे देशी छोटी पूँजी की नुमाइन्दगी करते हैं,

हालाँकि अब ये काम भी वे बहुत मन से नहीं करते हैं। **सिंगूर की घटनाओं के बाद माकपा ने अपने बचाव में जो कुछ लिखा उसका सार ये था कि बड़ी पूँजी ऐतिहासिक तौर पर ज़्यादा प्रगतिशील है और टटपुँजिया पूँजीवाद और खेती के क्षेत्र में छोटी किसानी की हिफ़ाज़त ऐतिहासिक तौर पर प्रतिगामी है! हालाँकि इससे उन्होंने ये नतीजा निकाला कि इस छोटी किसानी को उजाड़ने के लिए माकपा को ही सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए!** बहरहाल, चूँकि रवि सिन्हा के लिए वामपन्थ एक 'जेनेरिक' श्रेणी है और वह उस "पागलपन भरी परिधि" में नहीं जाना चाहते हैं जो कि संशोधनवाद, सामाजिक जनवाद आदि जैसे पुराने पड़े शब्दों को इस्तेमाल करती है (!) इसलिए इस बाबत हमें उनकी अवस्थिति के विषय में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं महसूस होती।

रवि सिन्हा के अनुसार भारतीय वामपंथियों की दो समस्याएँ हैं। एक है कठमुल्लावाद जिसके कारण वे भविष्य के समाजवाद की एक व्यावहारिक रूपरेखा या एक व्यापक कार्यक्रम जनता के सामने नहीं पेश कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि तमाम नये समाजवादी सिद्धान्तकारों का तथाकथित 'इक्कसवीं सदी का समाजवाद' और 'भावी समाजवाद' बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों का बन्दी बना हुआ है और उससे आगे नहीं देख पा रहा है। इसका कारण यह है कि इन वामपंथियों के लिए बीसवीं सदी का समाजवाद एक प्रामाणिक (canonical) मॉडल बना हुआ है। **जहाँ तक हम जानते हैं समाजवाद के तमाम नये सिद्धान्तकारों को यहाँ बेकार में ही घसीट दिया गया है।** इसका कारण यह है कि चाहे **इस्तेवान मेस्ज़ारोस** हों, **माइकल लेबोवित्ज़** हों या फिर **मार्ता आनेकर** जैसे बुद्धिजीवी हों, वे बीसवीं सदी के समाजवादी मॉडल के प्रति एक 'रिजेक्शनिस्ट' रुख़ रखते हैं और कम-से-कम उनके बारे में यह कहना कि वे बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों के बन्दी बने हुए हैं, हास्यास्पद हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि वे भयंकर स्मृति-लोप का शिकार हैं। सोवियत समाजवादी प्रयोगों की उनकी समझदारी और जानकारी के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा है। मिसाल के तौर पर, इस्तेवान मेस्ज़ारोस अपनी एक हालिया रचना में लिखते हैं कि स्तालिन ने ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन लाने के लिए उन्हें 'कन्वेयर बेल्ट', 'ट्रांसमिशन बेल्ट' आदि की संज्ञा दी थी! कोई भी सोवियत इतिहास का जानकार जानता है कि लेनिन ने ये शब्द इस्तेमाल किये थे और वह भी केवल ट्रेड यूनियनों के लिए नहीं बल्कि बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी के लिए जिसके लिए उन्होंने 'कॉग व्हील्स' और 'कन्वेयर बेल्ट' या 'ट्रांसमिशन बेल्ट' के रूपक का प्रयोग किया था। दूसरी बात यह कि उन्होंने ऐसा ठीक इसलिए किया था क्योंकि वह त्रात्स्की द्वारा ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण के ख़िलाफ़ थे! लेकिन मेस्ज़ारोस यहाँ सारे ऐतिहासिक विवरणों को गड्ड-मड्ड कर अजीब खिचड़ी पका देते हैं। ऐसे ही उदाहरण हम लेबोवित्ज़ और आनेकर की रचनाओं से भी दे सकते हैं, जिसके लिए हमारे पास यहाँ स्थान नहीं है। लेकिन एक बात तय है–"भावी समाजवाद" और "इक्कसवीं सदी के समाजवाद" के इन सिद्धान्तकारों के लिए बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग न केवल कोई मॉडल नहीं हैं, बल्कि उनके अनुसार इन मॉडलों में सीखने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं है। इसके अलावा, अगर बेदियू, ज़िज़ेक आदि की बात करें तो वे तो रवि सिन्हा से भी आगे बढ़कर बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को आपदा (disaster) मानते हैं, लिहाज़ा, रवि सिन्हा निश्चित तौर पर उनके बारे में तो बात नहीं ही कर रहे हैं। **इसलिए रवि सिन्हा यहाँ तथ्यतः ग़लत हैं।**

यह ज़रूर है कि भारत में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में कठमुल्लावाद एक अहम समस्या है; विशेष तौर पर, कार्यक्रम के प्रश्न पर। जिस कठमुल्लावाद की बात रवि सिन्हा कर रहे हैं, उसके बारे में वे कुछ विस्तार से लिखते तो ज़्यादा बेहतर होता। **लेकिन एक बात तय है कि इस कठमुल्लावाद को जो भी संघटित करता हो, इसके विकल्प के तौर पर जो धुरीविहीन "मुक्त" चिन्तन वह पेश कर रहे हैं वह न केवल कोई नया व्यावहारिक समाजवादी कार्यक्रम के निर्माण की ओर नहीं ले जा सकता है, बल्कि दरअसल वह पुराने दन्त-नखविहीन सामाजिक-जनवाद, संशोधनवाद, उदार बुर्जुआ व्यहवारवाद और सुधारवाद का ही एक विचित्र मिश्रण है।** इसे बस पाण्डित्यपूर्ण भाषा की नयी बोतल में पेश करने का प्रयास किया गया है।

रवि सिन्हा के अनुसार, भारतीय वामपंथियों के लिए दूसरी समस्या है लोकरंजकतावाद जिसके कारण वे उदार बुर्जुआ वर्ग जितना भी रैडिकल नहीं हो पाते। वे युग की ऐतिहासिक चेतना और जनता की अस्तित्वमान लोकप्रिय चेतना के बीच के अन्तर को कम करने के लिए उतने साहसिक कदम भी नहीं उठा पाते जितना कि उदार बुर्जुआ लोग उठा लेते हैं। यहाँ के वामपन्थी 'नॉस्टैल्जिक' होकर राष्ट्रवाद के दौर को गाँधीवादी समुदायवादी भावना को याद करते हैं जब कम्युनिस्ट पार्टी का किसानों से जैविक रिश्ता बना हुआ था और फिर जनता से रिश्ता टूट जाने पर वामपन्थ की असफलता का दोष डाल देते हैं! यहाँ सारी बातें जानबूझकर गड्डमड्ड कर दी गयी हैं। पहला प्रश्न यह है कि युग की कौन-सी ऐतिहासिक चेतना और कौन-से उदार बुर्जुआ की बात यहाँ की गयी है? लेख के पहले के स्वर और अन्तर्वस्तु से हम बता सकते हैं यहाँ युग की ऐतिहासिक चेतना का रिश्ता भी आधुनिकता से है और उदार बुर्जुआ के रूप में हम इतिहास में अम्बेडकर को देख सकते हैं और आज के दौर में सम्भवत: तीस्ता सेतलवाड़ या मुकुल सिन्हा जैसे लोगों को। **हमारा समझना है कि युग की ऐतिहासिक चेतना आज पूँजीवादी आधुनिकता से आगे निकल चुकी है। और ठीक इसीलिए आज स्पष्ट तौर पर उन उदार बुर्जुआ लोगों और उनकी राजनीति से ज़्यादा की ज़रूरत है जिनकी बात रवि सिन्हा कर रहे हैं।** दूसरा प्रश्न यह है कि आज कौन-से क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट गाँधीवादी समुदायवाद को लेकर 'नॉस्टैल्जिक' हैं? चूँकि मार्क्सवाद और वामपंथ की लेखक की परिभाषा अभूतपूर्व रूप से व्यापक है इसलिए हो सकता है कुछ ऐसे लोग हों! लेकिन वामपन्थी लोग किसानों या जनता से कम्युनिस्ट पार्टी के अतीत के जुड़ाव को लेकर 'नॉस्टैल्जिक' हैं और उसके टूट जाने से दुखी हैं। और उनके इस दुखी होने से लेखक दुखी है! हालाँकि, अगर कोई कम्युनिस्ट जनता से जुड़ाव के टूटने पर अफ़सोसज़दा है, तो इसमें ग़लत क्या है? लेकिन बात यह है कि हमारी जानकारी में कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट केवल इसी को एकमात्र समस्या नहीं मानता है। अगर हमारी जानकारी कम है और ऐसे लोग भी हैं तो हम निश्चित तौर पर रवि सिन्हा की इस बात से सहमत हैं कि केवल जनता से जुड़ाव होना ही सारी समस्याओं का समाधान नहीं है और एक सही विचारधारात्मक और राजनीतिक कार्यदिशा का होना भी उतना ही ज़रूरी है। लेकिन हमें नहीं लगता कि इस दिशा में लेखक द्वारा दिये गये सबकों से कोई लाभ होता है, हानि की सम्भावना ज़रूर है। **साथ ही हमें ऐसा भी लगता है कि जिन लोगों के हाशिये पर होने का एक अहम कारण जनता से जुड़ाव नहीं होना भी है, कम-से-कम उन्हें तो इस बारे में अफ़सोसज़दा होना ही चाहिए!**

चौथा सबक: 'समझदारों को सलाह देना आसान होता है'

(सर्बियाई लोकोक्ति)

"मैं हमेशा सिखाता रहता हूँ। मैं कब सीखूँगा?"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'गैलीलियो'*)

"वह जो चीज़ों से किनारा करके खड़ा रहता है, उसके साथ यह जोखिम होता है कि वह अपने आपको दूसरों से बेहतर समझने लगे और समाज की अपनी आलोचना का दुरुपयोग अपने निजी हितों के लिए विचारधारा के तौर पर करने लगे।"

(थियोडोर अडोर्नो)

जैसा कि लेखक स्वयं मानते हैं, यह चौथा और आख़िरी सबक वास्तव में कोई सबक नहीं है बल्कि हालिया स्वत:स्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों की एक पड़ताल करने का प्रयास है और इस बाबत वामपन्थ के कार्यभारों को सूत्रबद्ध करने की दिशा में एक कदम है। लेकिन जैसे ही आप इस उम्मीद के साथ आगे बढ़ते हैं कि इन आन्दोलनों का एक विश्लेषण आपके सामने पेश किया जायेगा, तो आपको एक के बाद एक नाउम्मीदियों का सामना करना पड़ता है। स्पष्टत: लेखक ने बेवजह यह चौथा सबक अपने लेख में डाल दिया है क्योंकि बेहद संक्षेप में इन आन्दोलनों के इतिहास और वर्तमान का एक बेहद ग़लत विश्लेषण पेश किया गया है। सम्भवत: इस "सबक" को लेख में बस इसलिए डाल दिया गया है कि लेख अपने समय की सही तरीके से नुमाइन्दगी कर सके! क्योंकि जो विषय इसमें उठाया गया वह निश्चित रूप से व्यवस्थित आलोचनात्मक चर्चा का हक़दार था।

यहाँ रवि सिन्हा ने हाल में हुए 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' जैसे आन्दोलनों की चर्चा करते हुए दावा किया है कि इनमें से कुछ ने आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न उठाये तो कुछ ने राजनीतिक प्रश्नों को भी एजेण्डे पर लिया। लेकिन इन सबमें जो बात साझा थी वह यह कि इन आन्दोलनों ने आधुनिकता और आधुनिकता के ज़रिये पहचानी जाने वाली एक पूरी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। ऐसा कैसे हुआ और आधुनिकता द्वारा प्रोत्साहित जीवन शैली पर इन आन्दोलनों ने किस रूप में प्रश्न खड़ा किया इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। शायद इसका कारण यह है कि लेखक इन आन्दोलनों की परिघटना के उत्स को 1960 के दशक के छात्र आन्दोलनों, नारीवादी आन्दोलनों, नस्लवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी आन्दोलनों में देखते हैं, जिसमें निश्चित तौर पर कुछ सच्चाई भी है। इन आन्दोलनों को नव-वामपंथियों का समर्थन मिला और साथ ही इनके उभार में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा प्रोत्साहित आमूलगामिता की भी एक भूमिका थी। लेकिन लेखक के अनुसार इन आन्दोलनों ने ऐसे नये सामाजिक आन्दोलनों के युग की शुरुआत की जो कि कम्युनिस्ट पार्टियों की अगुवाई में चले मज़दूर आन्दोलनों और राष्ट्रवादियों और साथ ही वामपंथियों की अगुवाई में चले उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों से काफ़ी भिन्न थे। बकौल रवि सिन्हा इनमें से कुछ आन्दोलनों को काफ़ी सफलता मिली और उन्होंने मानवता के सामाजिक-राजनीतिक-विचारधारात्मक-सांस्कृतिक भूदृश्य को बदल डाला। कुछ अन्य जिन विशिष्ट मुद्दों पर शुरू हुए थे, उन विशिष्ट मुद्दों के अप्रासंगिक होते हुए विश्व इतिहास के नेपथ्य में चले गये। लेखक के अनुसार, 1960 के दशक के आन्दोलनों और अब समकालीन स्वत:स्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के बूते पर कुछ नववामपन्थी आदि ये दावे कर रहे हैं कि

अब पार्टियों द्वारा या उनके नेतृत्व में संगठित आन्दोलनों का युग बीत गया है। अब नये स्वत:स्फूर्त या ढीले-ढाले तौर पर संगठित सामाजिक आन्दोलनों का युग आ चुका है। इस दावे पर रवि सिन्हा सन्देह करते हैं लेकिन इसके खण्डन के लिए कोई तर्क नहीं पेश करते। वह कहते हैं कि ये नये सामाजिक आन्दोलन अब उतने नये नहीं रह गये हैं। ग़ौरतलब है कि इनमें वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी जोड़ते हैं जो कि सामाजिक प्रश्नों तक सीमित रहा, और अरब बसन्त और तहरीर चौक को भी, जिन्होंने अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रश्नों को खड़ा किया। इसके बाद बस वह इतना ही कहते हैं कि पता नहीं ऐसे सामाजिक आन्दोलनों की हिमायत करने वाले लोग कब तक दुनिया को बदलने के कार्यभार में ऐसे सामाजिक आन्दोलनों का कोई विकल्प न होने, वामपंथियों और वर्ग-आधारित आन्दोलनों की असफलता की ओर इशारा करते रहेंगे?! इसका क्या मतलब है? निश्चित तौर पर वे तब तक ऐसा करते रहेंगे जब तक कि कम्युनिस्टों की ओर से सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के ही धरातल पर उन्हें उचित उत्तर नहीं दिया जाता! कम-से-कम ऐसे 'रेटॉरिकल' प्रश्नों को पूछने से तो वे नहीं रुकेंगे! बहरहाल, हम इन नये स्वत:स्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के विषय में रवि सिन्हा की समझदारी पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं।

रवि सिन्हा कहते हैं कि इन आन्दोलनों ने, जिसमें वे वर्ल्ड सोशल फोरम, ऑक्युपाई आन्दोलन, अरब बसन्त सभी को शामिल करते हैं, आधुनिकता और आधुनिकता द्वारा प्रेरित जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। हमें ऐसा नहीं लगता है और इस दावे के पक्ष में रवि सिन्हा ने कोई दलील पेश करना भी ज़रूरी नहीं समझा है। **पहली बात तो यह है कि जिन आन्दोलनों के नाम रवि सिन्हा ने गिनाये हैं उन्हें एक टोकरी में रखना सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात यह कि तमाम बेहद बुनियादी फर्कों के साथ अगर हम कोई एक साझा चारित्रिक आभिलाक्षणिकता इन आन्दोलनों में देखना ही चाहते हैं तो निश्चित तौर पर यह इनके द्वारा आधुनिकता और उसकी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा करना तो कतई नहीं है। अगर कोई एक साझी ख़ासियत है तो वह यह है कि इन सभी आन्दोलनों ने किसी न किसी तौर पर आज के अभूतपूर्व वैश्विक पूँजीवादी संकट के दौर में तमाम देशों में कल्याणकारी राज्यों के पीछे हटने पर, ख़त्म होती सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा और बढ़ती अनिश्चितता पर, असमानता और पूँजीवाद के अन्य तोहफ़ों जैसे कि बेघरी, पर्यावरणीय विनाश आदि पर प्रश्न खड़ा किया, चाहे इन आन्दोलनों में कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी क्यों न सक्रिय रही हों।** कुछ मामलों में ये आन्दोलन अपने इस विरोध के बारे में सचेत थे और इरादतन इन चीज़ों का विरोध कर रहे थे और अन्य मामलों में वे पूँजीवाद द्वारा लायी जा रही तबाही की **रोगात्मक प्रतिक्रिया (pathological reaction)** थे। ये आन्दोलन कुछ मामलों कुछ ज़्यादा या कुछ कम, ज़्यादा स्पष्ट या आकारहीन किस्म के हो सकते हैं; लेकिन यह बात उनमें समान थी: इनमें से अधिकांश स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन थे; और इस रूप में वे आधुनिकता के उन रूपों का विरोध कर रहे थे, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था और समाज अपने सबसे पतनशील, मरणासन्न और मानवद्रोही दौर में पैदा कर रहे हैं। **लेकिन अपने आप में उनका एजेण्डा आधुनिकता और उसकी जीवन-शैली का विरोध करना नहीं था। वास्तव में, ये आन्दोलन स्वयं आधुनिक आन्दोलन ही थे।** ये आन्दोलन भूमण्डलीकरण और नग्न नवउदारवादी नीतियों का विरोध कर रहे थे जो कि आज के ढाँचागत संकट के दौर में जनता के ऊपर कहर बरपा कर रहे थे। निश्चित तौर पर, अमेरिका में ये आन्दोलन 'ऑक्युपाई' आन्दोलन का ही रूप ग्रहण करते और

अरब विश्व में ये 'अरब बसन्त' का ही रूप ग्रहण करते; यह भी कहना पुनरुक्तिपूर्ण ही होगा कि 'कमज़ोर कड़ियों' में वैश्विक पूँजीवाद के संकट के फलस्वरूप अगर कोई स्वत:स्फूर्त आन्दोलन भी पैदा होगा तो उसका ज़्यादा राजनीतिक चरित्र होगा और उसमें संगठन का तत्व भी अपने पश्चिमी समानान्तरों से ज़्यादा होगा। इसका स्पष्ट कारण मिस्र समेत अन्य अरब देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास और अमेरिका या पश्चिमी व उत्तरी यूरोप के देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास के फर्क में अन्तर्निहित है। **इसलिए वैश्विक संकट ने अलग-अलग जगह अलग-अलग प्रकार के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया।** जो बात साझा थी वह था एक भूमण्डलीकृत पूँजीवादी विश्व का विश्व ऐतिहासिक सन्दर्भ सन्दर्भ यानी कि अब तक का सबसे ढाँचागत आर्थिक संकट और साथ ही इस पूँजीवाद के संकट का बोझ जनता पर डाले जाने के विरोध में जनता के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन। **लेकिन यही इन आन्दोलनों की कमज़ोरी भी थी: आज महज़ स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं है।** चूँकि इन आन्दोलनों की राजनीति और विचारधारा अस्पष्ट, अपूर्ण और धुंधली थी, इसलिए वे कोई सकारात्मक प्रस्ताव रख ही नहीं सके और पूँजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं पेश कर पाये। जैसा कि स्लावोय ज़िज़ेक ने 'ऑक्युपाई' आन्दोलन के बारे में कहा था, यह काफ़ी हद तक कल्याणकारी राज्य के नॉस्टैल्जिया में जी रहा है और उसकी वापसी की माँग कर रहा है, जबकि आज ज़रूरत है पूँजीवादी कल्याणकारी राज्य की माँग से आगे जाकर कम्युनिज़्म की माँग करने की, क्योंकि कल्याणकारी राज्य, वैसे भी, वापस आ ही नहीं सकता है। ज़िज़ेक से आम तौर पर सहमत न होते हुए भी इस प्रेक्षण से सहमति जतानी होगी। **आज पूँजीवाद जिस ढाँचागत संकट से गुज़र रहा है वह 1930 के दशक की महामन्दी से इन मायनों में भिन्न है कि अब कोई वास्तविक 'बूम' का दौर आयेगा ही नहीं।** कल्याणकारी राज्य एक अभूतपूर्व तेज़ी के दौर की पैदावार था, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी पूँजीवाद देख रहा था। अमेरिकी 'ऑक्युपाई' आन्दोलन कुछ अर्थों में अमेरिकी स्वर्ण युग के 'हैंगओवर' को ही अभिव्यक्त कर रहा था। ज़िज़ेक के विश्लेषण के तमाम नुक़्तों और कम्युनिज़्म के उनके मॉडल से बुनियादी असहमति रखने के बावजूद उनके इस प्रेक्षण को सही माना जाना चाहिए।

दूसरी ओर अरब बसन्त भी हालाँकि पूँजीवाद-विरोध से आगे नहीं जा सका, लेकिन यह कई मायनों में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन से भिन्न था। **पहली बात तो यह कि मिस्र के आन्दोलन में मज़दूर आन्दोलन सबसे अहम संघटक अंग था, हालाँकि बाद में यह एक सही और एकीकृत राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में टटपुँजिया आमूलगामिता में सहयोजित हो गया।** लेकिन टटपुँजिया आमूलगामिता थोड़े समय के लिए पैदा होती और फिर सोती रहती है। जब टटपुँजिया रूमानी आमूलगामिता घर बैठ गयी, तब भी मिस्र के महल्लम जैसे इलाकों में ज़बर्दस्त मज़दूर आन्दोलन जारी रहा और अब भी जारी है। तहरीर चौक से शुरू हुए आन्दोलन ने मिस्र में वे वस्तुगत परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं जब जनता व्यवस्थागत परिवर्तन के लिए तैयार थी और मिस्र का शासक वर्ग अपने शासन को जारी रखने में सक्षम नहीं था। लेकिन एक सही राजनीतिक विचारधारा और संगठन के अभाव में 'क्रान्ति की घड़ी बीत गयी' और मिस्र की जनता को पहले मुस्लिम ब्रदरहुड और फिर सेना के शासन के प्रतिक्रियावादी दौर को झेलना पड़ रहा है। आने वाले समय में भी मिस्र शान्त नहीं होने वाला है, लेकिन यह भी तय है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति को क्रान्ति में तब्दील करने के लिए जिस अभिकर्ता की आवश्यकता है, उसके अनुपस्थित रहते हुए शासन (regime) बदल सकता है

लेकिन व्यवस्था (system) नहीं। बहरहाल, हम यहाँ अरब बसन्त और विशेष तौर पर मिस्र के जनान्दोलन की व्याख्या नहीं पेश कर सकते। **मूल बात यह है कि रवि सिन्हा बिना कोई विश्लेषण पेश किये इन सभी आन्दोलनों को एक कोष्ठक में रख देते हैं और उन पर आधुनिकता और जीवन शैली का विरोध करने का बेजा आरोप थोप देते हैं, जो कि तथ्यतः भी ग़लत है और राजनीतिक तौर पर भी ग़लत है।**

जैसा कि हमने कहा है, इस प्रेक्षण में कुछ सच्चाई है कि आज के नव-वामपन्थी, उत्तर-मार्क्सवादियों, उत्तर-आधुनिकतावादियों के विचारधारात्मक उत्स को 1960 के दशक के आन्दोलनों में तलाशा जा सकता है, जैसा कि हमने कहीं और भी लिखा है ('सोवियत समाजवादी प्रयोग और समाजवादी संक्रमणः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ', पाँचवी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी, इलाहाबाद में पेश आधार-पेपर, arvindtrust.org पर उपलब्ध)। लेकिन ऐसा आज के पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों और विशेष तौर पर उनके समकालीन सिद्धान्तकारों के बारे में एक ही अर्थ में कहा जा सकता है: इन सिद्धान्तकारों और कम-से-कम पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों में हुए पूँजीवाद-विरोधी स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों के विचारधारात्मक उत्स को ही 1960 के दशक के आन्दोलनों में देखा जा सकता है क्योंकि उनका ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भ और पृष्ठभूमि पहले से गुणात्मक रूप से भिन्न है। आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों का 1960 के दशक के आन्दोलनों से सीमित अर्थों में कुछ विचारधारात्मक उत्सों को साझा करने से ज़्यादा कोई रिश्ता नहीं है। 1960 के दशक का अन्त कई बातों से पहचाना जा सकता था। पूँजीवाद का 'स्वर्ण युग' समाप्ति की ओर था; सोवियत संघ में समाजवाद के पतन और सामाजिक साम्राज्यवाद के उदय और पूर्वी यूरोप और दुनिया के अन्य हिस्सों में उसके कुकर्म और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ उसकी प्रतिस्पर्द्धा के साथ दुनिया भर में प्रगतिशील राजनीतिक और बौद्धिक हलकों में एक पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का जन्म, विशेष तौर पर यूरोप में; महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और माओवाद का यूरोप के बौद्धिक व राजनीतिक दायरों में दोहरा प्रभाव (यानी एक ओर माओवाद के प्रभाव में नयी माओवादी पार्टियों का जन्म और वहीं दूसरी ओर एक छद्म-माओवाद का पैदा होना जो कि अन्त में ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, ऑपराइज़्मो, काउंसिल कम्युनिज़्म, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के रास्ते से होता हुआ उत्तर-मार्क्सवाद की विभिन्न प्रजातियों के रूप में परिणत हुआ जो कि आज मार्क्सवाद से ज़्यादा रैडिकल किसी विचारधारा के दावे कर रहे हैं); नागरिक अधिकार और नस्लवाद-विरोधी आन्दोलनों का होना; स्त्रीवादी आन्दोलनों और विचारधार की दूसरी लहर (second wave) का आना; वित्तीय पूँजीवाद का द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर दौर में एक गुणात्मक रूप से नये परजीवी दौर में प्रवेश जिसे उत्तर-फोर्डवाद (post-fordism), ऋण-वित्तपोषित 'बूम', वि-विनियमन (deregulation), बाज़ार 'फ्लेक्ज़िबिलाइज़ेशन' आदि से पहचाना जाता है, जिसमें कि वित्तीय पूँजी अभूतपूर्व रूप से सट्टेबाज़ और अनुत्पादक रूप में सामने आयी; इसके साथ ही उत्तर औद्योगिक सिद्धान्त, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और उत्तरआधुनिकतावाद का पैदा होना और कई वामपन्थी बुद्धिजीवियों का इन 'रेटॉरिकल रैडिकैलिटी' वाले सिद्धान्तों में 'कन्वर्ज़न', जो कि सोवियत समाजवाद के पतन के 'पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया' का ही एक अंग था; इनमें और बहुत-सी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ जोड़ी जा सकती हैं, जिनसे कि 1960 के दशक को और साथ ही 1970 के दशक को भी पहचाना जा सकता था। उस दौर में जो सामाजिक आन्दोलन पैदा हुए उन

पर इन विचारधाराओं की अमिट छाप थी, जिसमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के अपराधों पर समूचे प्रबोधन, आधुनिकता, तर्कणा पर थोप दिया गया; मार्क्सवाद को प्रबोधन द्वारा प्रेरित तर्कणा और आधुनिकता के महाख्यान का ही एक अध्याय घोषित किया गया; हर प्रकार की **सामान्यता (generality)** या **सार्वभौमता (universality)** की अवधारणा को आधुनिकता की दमनकारी पाश्चात्य परियोजना का अंग माना गया और हर तरफ़ **खण्डों (fragments)** और **अन्तर (difference)** के जश्न को प्रोत्साहन दिया गया, हालाँकि यह और कुछ नहीं था बल्कि खण्डों और अन्तरों का सार्वभौमीकरण ही था! इस सारी दार्शनिक जुगाली का राजनीतिक निचोड़ यह था: **यह सच है कि उदार पूँजीवाद मानवता को तबाही और बरबादी दे रहा है, लेकिन इसका विकल्प पेश करने का दावा करने वाले लोगों ने भी क्या दिया? सर्वसत्तावाद!** इसलिए एक छद्म विकल्पों का समुच्चय पेश किया गया : उदार बुर्जुआ जनवाद, जो कम-से-कम कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार तो देता है, या फिर सर्वसत्तावाद (जो हर प्रकार की स्वतन्त्रता और अधिकार को कुचलकर रख देता है)! 1990 के दशक की शुरुआत तक यह छद्म विकल्पों का समुच्चय अपने सबसे बुरे रूप में सामने आ चुका था जब फ्रांसिस फुकोयामा ने 'इतिहास के अन्त' का नारा बुलन्द किया। ख़ैर, वह पूँजीवादी विजयवाद (triumphalism) का स्वर्ण युग था। 1990 के दशक का अन्त आते-आते उत्तरआधुनिक उन्मादी चीख-पुकार मिमियाहट में तब्दील हो चुकी थी क्योंकि पूँजीवाद 1997 के एशियाई बाघों के धराशायी होने के साथ एक अल्पजीवी तेज़ी के दौर के अन्त में आ चुका था, और सोवियत संघ के नकली लाल झण्डे के गिरने को लेकर पैदा हुआ उल्लास भी अब दुहरावपूर्ण और उबाऊ बन चुका था। 2000 के दशक में पूँजीवादी विजयवाद अपनी कब्र में जा चुका था और नंगे पूँजीवादी विजयवाद का ढोल बजाने वाले उत्तरआधुनिकतावादियों की बजाय सामाजिक आन्दोलन वाले, एनजीओपन्थी, उत्तरमार्क्सवादी कम्युनिज़्म की बात करने वाले बहेतू (vagabond) दार्शनिक पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के लिए ज़्यादा उपयोगी हो गये हैं।

आज तमाम पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों के सिद्धान्तकार जैसे नेग्री, हार्ट, बेदियू, हैलोवे, और थोड़ा अलग अर्थों में ज़िज़ेक (क्योंकि उनको सीधे नेग्री, हार्ट या बेदियू की श्रेणी में रखना विश्लेषण के लिए कई असुविधाएँ पैदा करता है) वास्तव में यह नहीं कह रहे कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है। वे एक नये किस्म के कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं; वास्तव में, वे पूँजीवाद का ही एक नया सैद्धान्तिकीकरण पेश कर रहे हैं, जिसमें पूँजीवाद एक अवैयक्तिक शक्ति (impersonal entity) बन जाता है; उसका विरोध करने वाले भी एक अवैयक्तिक, आकारहीन चीज़ बन जाते हैं, जिसे नेग्री और हार्ट 'मल्टीट्यूड' का नाम देते हैं; और जिस चीज़ के लिए लड़ना और जिसके ख़िलाफ़ लड़ना है वह भी अवैयक्तिक और अस्पष्ट सी चीज़ बन जाती है! पूँजीवाद की जगह 'एम्पायर' ले लेता है और सर्वहारा वर्ग की जगह 'मल्टीट्यूड' ले लेता है। बेदियू के मुताबिक मुक्तिकामी परियोजना के लिए राज्य और पार्टी जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं। 'सबट्रैक्शन' सिद्धान्त जैसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के सिद्धान्त आ रहे हैं जो दावा करते हैं कि आज क्रान्तिकारी परिवर्तन के आन्दोलनों को वैश्विक पूँजी के वर्चस्व के क्षेत्रों से अपने आपको वापस ले लेना चाहिए (withdraw) जिससे कि वैश्विक पूँजी का ढाँचा ढह जायेगा और जन भागीदारी के नये रूपों के ज़रिये राज्यसत्ता का राजनीतिक रूपान्तरण हो जायेगा; **यानी कि क्रान्ति कैसे न करें, इसके सैद्धान्तिकीकरण पेश किये जा रहे हैं। यह वैश्विक पूँजी के वर्चस्व की नयी रणनीति है: 'यह मत कहो कि दूसरी दुनिया सम्भव नहीं**

है! यह कहो कि बहुत-सी दूसरी दुनियाएँ सम्भव हैं! लेकिन किसी एक को भी बनाने के बारे में भी कुछ मत बताओ! और जो दूसरी दुनिया वाकई मुमकिन है, उसके लिए ज़रूरी बदलाव से अभिकर्ता और अभिकरण को छीन लो! परिवर्तनकामी सामाजिक ताक़तों को बताओ कि राज्य और पार्टी और वर्ग की अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं!' आज के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलनों को ये नये बहेतू दार्शनिक और विचारक यही बता रहे हैं और निश्चित तौर पर इस तरह के विचारों का उनके बताये बग़ैर भी इन आन्दोलनों पर अच्छा-ख़ासा प्रभाव है, क्योंकि इन आन्दोलनों के भीतर भी ऐसे ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी समूह सक्रिय हैं जो इन विचारों को मानते हैं। वैसे भी हमें भूलना नहीं चाहिए कि नेग्री और ट्रॉण्टी जैसे सिद्धान्तकारों का मूल मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रुझानों में ही था।

इस रूप में हम कह सकते हैं कि आज के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों पर उन विचारधाराओं का असर है जो कि काफ़ी हद तक 1968 के भ्रमित पेरिस में जन्मी थीं। लेकिन आज के आन्दोलन उस दौर के आन्दोलनों की निरन्तरता में नहीं रखे जा सकते और न ही यह माना जा सकता है कि 1960 के दशक के सामाजिक आन्दोलन (चाहे इसका जो भी मतलब होता हो!) आज के इन जनान्दोलनों की परिघटना के लिए मील का पत्थर थे, जैसा कि रवि सिन्हा मानते हैं। ऐतिहासिक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। और विचारधारात्मक तौर पर जो निरन्तरता का तत्व मौजूद है, उसे हम ऊपर चिन्हित कर चुके हैं। वास्तव में, आज जिस प्रकार के ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, संगठन-विरोध और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का प्रयोग नये विचारक व दार्शनिक इन आन्दोलनों से परिवर्तन का अभिकरण (agency) छीनने के लिए कर रहे हैं, रवि सिन्हा उसकी कोई सुसंगत आलोचना नहीं पेश करते। और तो और वह इन सामाजिक आन्दोलनों में वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी शामिल करते हैं; मतलब, उनके लिए 'आक्युपाई', अरब बसन्त और वर्ल्ड सोशल फोरम में कोई बुनियादी विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तर नहीं है और वे उन सभी की राजनीतिक अस्पष्टता, स्वत:स्फूर्ततावाद के लिए आलोचना करते हैं। जहाँ तक वर्ल्ड सोशल फोरम की बात है, तो निश्चित तौर पर हम एक बार फिर कह सकते हैं कि उसकी स्वत:स्फूर्तता के लिए आलोचना करना हिटलर की वायलिन ख़राब बजाने की आलोचना करने के समान है! **और दूसरी बात यह है कि वर्ल्ड सोशल फोरम इतना स्वत:स्फूर्त या अस्पष्ट है भी नहीं क्योंकि यह वास्तव में स्वत:स्फूर्तता और अस्पष्टता को सचेतनता और स्पष्टता की ओर बढ़ने से रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाया गया सांगठनिक रूप है!** यह सचेतन तौर पर संगठित स्वत:स्फूर्तता और अस्पष्टता की सांगठनिक अभिव्यक्ति है और इस कार्य के लिए इसे फ्रांस की सरकार से लेकर तमाम साम्राज्यवादी एजेंसियों से वित्त-पोषण प्राप्त होता है। एक साम्राज्यवादी वित्त-पोषित संस्था जो कि जनता के तमाम संघर्षों के सहयोजन के लिए बनायी गयी है, और अरब बसन्त में फर्क न करना रवि सिन्हा की राजनीतिक दृष्टि के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। बहरहाल, रवि सिन्हा इन तमाम आन्दोलनों की कोई आलोचना पेश करने की बजाय एक जुमलेनुमा सवाल पूछते हैं: कि आखिरी ऐसे आन्दोलन के विचारक कब तक वामपंथियों की नाकामयाबी पर उंगली उठाते रहेंगे? यह कैसी आलोचना है? **दरअसल, यह करुण और दारुण स्वर भी लेखक के खुद की दार्शनिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक अनिर्णय की अवस्था और डगमगाये हुए आत्मविश्वास को ही दिखलाता है।**

अन्तिम पैराग्राफ में रवि सिन्हा वामपन्थ की असफलता का कारण बताते हुए कहते हैं कि इसका कारण यह नहीं है कि उसने उपरोक्त सामाजिक आन्दोलनों का अनुसरण नहीं किया, बल्कि इसका कारण यह है कि उसके पास उपनिवेशवाद, राजतन्त्रवाद, सैन्य तानाशाहियों और सामन्तवाद से लड़ने की कला तो है, लेकिन ये दुश्मन अब बीते ज़माने के दुश्मन बन चुके हैं। आज के ज़माने के दुश्मन यानी कि पूँजीवाद-साम्राज्यवाद से लड़ने की कला उसे विकसित करनी होगी। वैसे तो यह एक हद तक *ओवरस्टेटमेण्ट* माना जायेगा क्योंकि रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति में रूसी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद से ही लड़ रहा था, हालाँकि वह एक नवजात, अशक्त और पिछड़ा पूँजीवाद था और अर्द्धसामन्ती शक्तियों की बैसाखी पर भी टिका हुआ था; लेकिन इस बात में सत्यांश है *आज के दौर के पूँजीवाद* से लड़ने की रणनीति और आम रणकौशल को विकसित करना भारत के लिए नहीं बल्कि दुनिया भर के मार्क्सवादियों के एजेण्डे पर सबसे केन्द्रीय प्रश्न है। विशेष तौर पर, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यपद्धति (modus operandi) में आये बेहद अहम बदलावों को समझना आज बेहद ज़रूरी है और उसके अनुसार नयी समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में आने वाली अहम बदलावों को सूत्रबद्ध करना भी बेहद आवश्यक है। **लेकिन इस नवोन्मेष के नाम पर अगर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान के बुनियादी उसूलों को कोई बिना किसी जायज़ तार्किक कारण रद्द करने की बात करता है, तो वह घातक है; अगर कोई राज्य और क्रान्ति की बुनियादी लेनिनवादी थीसिस को छोड़ने, क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद में फर्क करने, फासीवाद की एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को छोड़ने, और यथार्थवाद और ठोस तथ्यों पर नतीजे निकालने के नाम पर सामाजिक-जनवाद, सुधारवाद, समाजशास्त्रीयतावादी प्रत्यक्षवाद, व्यवहारवाद, अनैतिहासिकतावाद और उदार बुर्जुआ सिद्धान्तों की बासी खिचड़ी पेश करता है, तो निश्चित तौर पर ऐसी खिचड़ी की सही जगह इतिहास की कचरा-पेटी ही हो सकती है।** रवि सिन्हा का पूरा सैद्धान्तिकीकरण वास्तव में एक ऐसी ही खिचड़ी है, जिसे पाण्डित्यपूर्ण भाषा की चाशनी में डुबाकर परोसा गया है। यह निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी बौद्धिक हलकों में काफ़ी प्रभावी और लोकप्रिय सिद्ध होगा क्योंकि उन्हें हमेशा कुछ न करने के बहाने चाहिए होते हैं, या हाशिये पर बने अपने आरामदेह नेह-नीड़ में बने रहने के बहाने चाहिए होते हैं; क्योंकि जैसा कि हमने बिल्कुल शुरू में कहा था कि हाशिये पर रहने के अपने दुख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं; ये सुख उस सुविधा और सुरक्षा-बोध से पैदा होते हैं, जो कि हाशिये पर रहने वाले सम्भ्रान्त बौद्धिक हलकों को नसीब होता है। रवि सिन्हा का लेख 'हाशिये पर खड़े (पड़े) समझदार लोगों के लिए सबक' नहीं बल्कि 'उन समझदार लोगों के लिए सबक है जो कि हाशिये पर ही पड़े रहना चाहते हैं'।

"सभ्यता का ऐसा कोई दस्तावेज़ नहीं जो कि साथ ही में बर्बरता का दस्तावेज़ भी न हो।"

– वॉल्टर बेंजामिन

महान बहस के 50 वर्ष

● राजकुमार

आज 21वीं सदी के दूसरे दशक में खड़े होकर इतिहास पर नज़र डालें तो 20वीं सदी में सम्पन्न दो महान समाजवादी प्रयोगों के अनुभव हमारे सामने मौजूद हैं। हम कह सकते हैं कि कम्युनिस्ट आन्दोलन के विचारधारात्मक विकास और व्यावहारिक प्रयोग के पूरे दौर में नेतृत्व के बीच से संशोधनवादी भितरघाती पैदा होते रहे हैं, जो सर्वहारा क्रान्तियों के सबसे बड़े दुश्मन सिद्ध हुए हैं। मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन से लेकर स्तालिन तथा माओ तक कम्युनिस्ट आन्दोलन का सैद्धान्तिक विकास संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए हुआ है। विकास के इस पूरे दौर में स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन और माओकालीन चीन के महान क्रान्तिकारी समाजवादी प्रयोगों ने इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लागू किया और समाजवादी संक्रमण की विचारधारात्मक समझ को और परिपक्व बनाया।

सर्वहारा क्रान्तियों के विचारधारात्मक विकास की इस कड़ी में 1963-64 में माओ के नेतृत्व में चली महान बहस ने आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष करते हुए समाजवादी संक्रमण के बारे में पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों को एक सुव्यवस्थित मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त से हथियारबन्द किया। इस बहस ने स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन के अनुभवों और ख्रुश्चेव द्वारा पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का सैद्धान्तिक निचोड़ प्रस्तुत किया जो समाजवादी संक्रमण को समझने में एक मील का पत्थर है। इन अनुभवों के आधार पर महान बहस में माओ ने चीन में 1966 से 1976 तक चली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार की।

यह लेख 'समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ' विषय पर पाँचवी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (10-14 मार्च, 2014 इलाहाबाद) में आलेख के तौर पर प्रस्तुत किया गया था।

आज महान बहस की 50वीं वर्षगाँठ पर 2014 में पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों के सामने स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन के समाजवादी प्रयोग, ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के जन्म, और माओ के नेतृत्व में हुई चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महान अनुभव मौजूद हैं। इन अनुभवों ने आने वाले समय में सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रान्ति के महान लक्ष्य को पूरा करने और पूँजीवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज तक पूरे संक्रमण काल के क्रान्तिकारी नेतृत्व की मार्क्सवादी-लेनिनवादी सैद्धान्तिक समझ को आधुनिक हथियारों से लैस किया है।

1871 में पेरिस कम्यून के बारे में मार्क्स ने कहा था, "यदि कम्यून को नष्ट कर दिया जाता है, तब भी संघर्ष सिर्फ़ स्थगित होगा। कम्यून के सिद्धान्त सार्वभौमिक और अनश्वर हैं, ये तब तक बार-बार प्रकट होते रहेंगे जब तक मज़दूर वर्ग स्वतन्त्र नहीं हो जायेगा।"

1. महान बहस की पृष्ठभूमि

विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन में आधुनिक संशोधनवादियों के विरुद्ध चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा 1963 से 1964 के बीच चलायी गयी महान बहस ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद और आधुनिक संशोधनवाद के बीच एक विभाजन रेखा खीचकर निर्णायक संघर्ष का आरम्भ किया था। 24 फ़रवरी, 1956 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा प्रस्तुत किये गये गुप्त भाषण के साथ ही चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने स्तालिनकाल पर ख्रुश्चेव द्वारा उठाये गये सवालों पर अपनी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को स्पष्ट करने के कार्य को तत्काल आरम्भ नहीं किया था। चीनी पार्टी ने "सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभव" (4 अप्रैल, 1956) "सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभव के बारे में कुछ और बातें" (29 दिसम्बर, 1956) नाम से दो लेख प्रकाशित किये जिनमें सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्तालिनकाल के बारे में की गयी आलोचना के कई बिन्दुओं पर अपनी सहमति दर्ज़ करायी थी। इसके बाद विश्व सर्वहारा आन्दोलन की आम मार्क्सवादी-लेनिनवादी दिशा के प्रस्ताव के रूप में दुनिया की आठ कम्युनिस्ट-मज़दूर पार्टियों की भागीदारी से 1957 का घोषणापत्र (मास्को घोषणापत्र) और 81 कम्युनिस्ट पार्टियों की भागीदारी से 1960 का वक्तव्य (मास्को वक्तव्य) जारी किया गया।

इस दौर में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी 1957 का घोषणापत्र और 1960 का वक्तव्य के प्रस्तावों के विपरीत "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व", "शान्तिपूर्ण होड़", "शान्तिपूर्ण संक्रमण", "समूची जनता का राज्य" तथा "समूची जनता की पार्टी" जैसे संशोधनवादी सिद्धान्तों को पेश कर अपनी संशोधनवाद नीतियों को एक पूर्ण व्यवस्था के रूप में लागू करने तथा सर्वहारा वर्ग को साम्राज्यवादी शक्तियों के सामने निशस्त्र करने के काम में लगी थी (महान बहस *[आगे म.ब.]*, पृष्ठ 322)। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध 16 अप्रैल, 1960 को "लेनिनवाद ज़िन्दाबाद!" लेख छापा और इसके बाद 15 दिसम्बर, 1962 से 8 मार्च, 1963 के बीच सोवियत यूनियन द्वारा चीनी पार्टी पर किये जा रहे प्रहारों का जवाब देते हुए सात लेख लिखे, जिनमें चीनी पार्टी ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यदिशा को स्पष्ट करने का सैद्धान्तिक कार्य आरम्भ कर दिया था। लेकिन इस समय तब तक इसे खुली बहस के रूप में पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के सामने नहीं रखा गया था। (म.ब., पृष्ठ 39)

2. महान बहस, 1963 से 1964

1956 से 1962 के बीच ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नीतियों के विरुद्ध खुला संघर्ष न करने के बावजूद, भले देर से ही सही, लेकिन चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने माओ के नेतृत्व में आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध शानदार अवस्थिति लेकर पूरे कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का समाहार प्रस्तुत किया और समाजवादी संक्रमणकाल की समझ को गुणात्मक रूप से विकसित करते हुए मार्क्सवादी-लेनिनवादी आम कार्यदिशा के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभायी और मार्क्सवाद-लेनिनवाद तथा संशोधनवाद के बीच की एक विभाजन रेखा खींचने का काम किया। इस बहस के तहत चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने 14 जून, 1963 को "अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के बारे में एक सुझाव" में 25 सूत्रीय कार्यक्रम का प्रस्ताव सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के नाम प्रकाशित किया और इसके बाद 14 जुलाई, 1964 तक इसके 25 सूत्रीय कार्यक्रम की व्याख्या करते हुए एक के बाद एक 9 टिप्पणियाँ प्रकाशित कीं, जिन्हें महान बहस कहा जाता है। 1963-64 की महान बहस के नौ दस्तावेज़ों में आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध खुले संघर्ष में माओ के नेतृत्व में चीनी पार्टी ने जो अवस्थिति अपनायी वह उन संघर्षों से कम नहीं थी जो लेनिन ने काउत्स्की तथा बर्नस्टीन के संशोधनवाद के विरुद्ध और मार्क्स ने बाकुनिनपन्थियों के विरुद्ध अपने-अपने दौर में चलाये थे।

महान बहस से पहले अल्बानिया की कम्युनिस्ट पार्टी भी अनवर होज़ा के नेतृत्व में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की संशोधनादी नीतियों की आलोचना कर रही थी, और 16 नवम्बर, 1960 में मास्को में पूरी दुनिया की 81 कम्युनिस्ट पार्टियों की कॉन्फ्रेंस में पहली बार खुले रूप में अनवर होज़ा ने आधुनिक संशोधनवाद के वाहक के रूप में ख्रुश्चेव की आलोचना करते हुए अपना भाषण "सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस की संशोधनवादी नीतियों और ख्रुश्चेव गुट की मार्क्सवाद-विरोधी स्थिति का विरोध करो! मार्क्सवाद-लेनिनवाद की रक्षा करो!" दिया था। महान बहस से पहले चीनी पार्टी द्वारा लिखे गये दस्तावेज़ों में ऐसा लगता है कि उस समय तक चीनी पार्टी का यह मानना था कि सोवियत यूनियन के नेता संशोधनवादी भटकावों के शिकार हैं, और उन्हें समझा-बुझाकर सही राह पर लाया जा सकता है। यही कारण था कि 1957 के घोषणापत्र तथा 1960 के वक्तव्य में चीनी पार्टी शान्ति के सवाल पर सोवियत यूनियन को कुछ छूट देती हुई दिखायी देती है। 14 जून, 1963 में "आम दिशा के बारे में एक सुझाव" में चीनी पार्टी ने कहा था, "हमें हार्दिक आशा है कि चीनी और सोवियत पार्टियों की वार्ता के सकारात्मक परिणाम निकलेंगे।" (म.ब., पृष्ठ 41) लेकिन 21 नवम्बर, 1964 के महान बहस के अन्तिम दस्तावेज़ में चीन ने कहा था, *"ख्रुश्चेव का पतन हो गया है और उसके द्वारा ज़ोर-शोर से चलायी गयी संशोधनवादी दिशा भी दीवालिया हो गयी है।"* (म.ब., पृष्ठ 379)

माओ द्वारा ख्रुश्चेवकालीन सोवियत नेतृत्व की इस पृष्ठभूमि के आकलन में सैद्धान्तिक चूक हुई, जिसका कारण संशोधनवाद के प्रति उनकी उदारता बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता, बल्कि उस दौर की अपनी ऐतिहासिक सीमाएँ थीं। आज सोवियत यूनियन के अभिलेखों का जितना खुलासा हो चुका है और जितने सबूत दुनिया के सामने आ चुके हैं, उनके आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि ख्रुश्चेव द्वारा 20वीं पार्टी कांग्रेस में स्तालिन का पूर्ण निषेध और उसके बाद लागू की गयीं संशोधनवादी नीतियाँ विचारधारात्मक भटकाव नहीं,

बल्कि सोवियत यूनियन में पैदा हो चुके विशेषाधिकार-भोगी वर्ग द्वारा पूँजीवाद की पुनर्स्थापना की एक सोची-समझी रणनीति का हिस्सा थीं (तथ्यों के साथ इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे)। लेकिन उस समय मौजूद तथ्यों से यह आकलन करना सम्भव नहीं था और चीन की पार्टी क़तारों में भी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यदिशा तथा संशोधनवादी कार्यदिशा के बीच दो लाइनों का संघर्ष चल रहा था और पार्टी में पूँजीवादी रोडर मौजूद थे जो ख्रुश्चेव की संशोधनवादी लाइन का समर्थन कर रहे थे।

आज हम पीछे मुड़कर देखें तो कहा जा सकता है कि यदि चीनी पार्टी ने पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच 1956-57 में ही इस बहस को खुले रूप में शुरू किया गया होता तो ख्रुश्चेवी सुधारवादियों को स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन की महान उपलब्धियों पर कीचड़ उछालने और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बारे में विभ्रम पैदा करने का ज़्यादा मौक़ा नहीं मिला होता और कई देशों में कम्युनिस्ट आन्दोलन को संशोधनवादी विचलनों और भटकावों का शिकार होने से बचाया जा सकता था। चूँकि सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी लेनिन और स्तालिन के नेतृव में समाजवाद का निर्माण करने वाली तथा सर्वहारा वर्ग की महान क़ुर्बानियों के दम पर बनी पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी, इसलिए पूरी दुनिया में इसकी मान्यता थी जिसके कारण ख्रुश्चेव द्वारा संशोधनवादी लाइन अपनाने के बाद सोवियत यूनियन के भटकाव का असर भी पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलनों पर ज़्यादा गहरा हुआ। यदि ग़लत प्रवृत्तियों के विचारों के प्रचार का खुलकर विरोध न किया जाये और उनकी असलियत सबक़े सामने उजागर न की जाये तो समय के साथ वे ग़लत विचार आम धारणा बन जाते हैं, और तब उनके विरुद्ध संघर्ष करना भी अधिक कठिन हो जाता है।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने संशोधनवाद और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बारे में अपना विश्लेषण रखते हुए कहा था,

"मार्क्सवाद-लेनिनवाद एक विज्ञान है और विज्ञान बहस से नहीं कतराता। कोई भी चीज़ जो बहस से कतराती है, वह विज्ञान नहीं है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में चल रही वर्तमान महान बहस सारे देशों में मौजूद कम्युनिस्टों, क्रान्तिकारियों और क्रान्तिकारी जनता को प्रेरित कर रही है कि वे अपनी बुद्धि पर ज़ोर डालकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के अनुसार विश्व क्रान्ति और अपने देश की क्रान्ति से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करें। इस महान बहस के ज़रिये लोग सही और ग़लत में, और सच्चे व छद्म मार्क्सवाद-लेनिनवाद में अन्तर कर सकेंगे। इस महान बहस के ज़रिये विश्व की तमाम क्रान्तिकारी ताक़तें गोलबन्द हो जायेंगी, सभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारात्मक रूप से परिपक्व हो जायेंगे और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को ज़्यादा परिपक्व तरीक़े से अपने देशों के ठोस व्यवहार से जोड़ सकेंगे। इस प्रकार मार्क्सवाद-लेनिनवाद निस्सन्देह समृद्ध होगा, विकसित होगा और नयी ऊँचाइयों को छुयेगा।" (म.ब., पृष्ठ 274)

महान बहस के दस्तावेज़ों में बहस की अवस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है,

"अन्तिम विश्लेषण में, अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में चल रही महान बहस के केन्द्रीय मुद्दे ये हैं कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद का अनुसरण किया जाये या संशोधनवाद का, सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद का अनुसरण किया जाये या महाशक्ति अहंकारवाद का और एकता की इच्छा की जाये या फूट की।" (म.ब., पृष्ठ 269)

सोवियत यूनियन और चीन की समाजवादी क्रान्तियों में सर्वहारा वर्ग द्वारा किये गये समाजवादी निर्माण के महान प्रयोगों को करीब से देखने वाली अमेरिकी पत्रकार अन्ना लुईस

स्ट्रांग ने महान बहस के बारे में लिखा है, *"यह सिर्फ़ "झगड़ा" नहीं है। यह एक संकटपूर्ण दौर में इंसानियत के लिए रास्ता निर्धारित करने की एक कोशिश है। यह उस राह की तलाश है जिसके बारे में कई धर्म और अनेक दार्शनिक सदियों से चिल्लाते रहे हैं। मार्क्स से लेकर आज तक कुछ लोग वर्ग संघर्ष और इतिहास के सबक़ों से सीख लेते हुए इस राह को तलाश रहे हैं। कम्युनिस्ट इसे नीरसता से "पार्टी लाइन" कहते हैं।"* और *"जो क्रान्तिकारी बहिष्कार करने का जोखिम वहन कर लेंगे वे एक नये रूप में संगठित होने के लिए आगे आयेंगे। इससे विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन का कोई नुक़सान नहीं होगा।"*

3. विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास में संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष का इतिहास

वैज्ञानिक समाजवाद के जनक मार्क्स-एंगेल्स के दौर में 1864 में पहले इण्टरनेशनल की स्थापना की गयी। उस समय मार्क्स और एंगेल्स को छोड़कर पूरी यूरोपीय परम्परा में सुधारवादी अर्थवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं और उत्पादन के साधनों के विकास पर ज़ोर दिया जाता था। उस समय के बाकुनिनवादी मार्क्स पर हमला कर रहे थे और अपने संशोधनवादी कठमुल्ला विचारों को इण्टरनेशनल पर आरोपित करने का प्रयास कर रहे थे। मार्क्स-एंगेल्स ने बाकुनिनवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष किया और उन्हें खुली चुनौती दी, और अन्त में 1872 में बाकुनिनवादियों को पहले इण्टरनेशनल से निकाल बाहर कर दिया गया।

पहले इण्टरनेशनल में मार्क्स और एंगेल्स ने अवसरवाद और फूटपरस्ती के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए अन्तरराष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारी लाइन का विचारधारात्मक नेतृत्व स्थापित किया। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के गोथा कार्यक्रम की आलोचना के दौर में 1879 में मार्क्स ने कहा था, "लगभग चालीस वर्षों से हम लोग इस पर विशेष ज़ोर देते आ रहे हैं कि वर्ग संघर्ष इतिहास की प्रत्यक्ष चालक शक्ति है और विशेषकर पूँजीवादियों और सर्वहारा के बीच का वर्ग-संघर्ष आधुनिक सामाजिक क्रान्ति का महान उत्तोलक है; इसलिए हम लोगों के लिए उन लोगों के साथ सहयोग करना असम्भव है जो आन्दोलन से वर्ग-संघर्ष को मिटा देना चाहते हैं।" (म.ब., पृष्ठ 237-238)

1876 में पहले इण्टरनेशनल के अन्त की घोषणा की गयी और कई देशों में सामाजिक-जनवादी कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना हुई। 1889 में एंगेल्स के प्रभाव में दूसरा इण्टरनेशनल बना जो पूँजीवाद के विकास का एक शान्तिपूर्ण दौर था जिसमें क़ानूनी संघर्ष करते हुए कई पार्टियाँ क़ानूनवादी बन गयीं और अवसरवादी विचलनों की शिकार हुईं। अन्त में 1895 में एंगेल्स की मृत्यु के बाद ये अवसरवादी रुझानें दूसरे इण्टरनेशनल में और प्रभावी हुईं। यूरोपीय परम्परा में काउत्स्की और प्लेख़ानोव जैसे कई बड़े नेताओं पर इन अवसरवादी प्रवृत्तियों की ओर रुझान का असर दिखायी देता है। आन्दोलन में मौजूद इस अर्थवादी अवसरवादी भटकाव का असर उस दौर की कला और साहित्य पर भी पड़ा, जो कई लेखकों की रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है।

मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी कार्यदिशा को आगे बढ़ाते हुए अवसरवादियों के विरुद्ध संघर्ष की महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी लेनिन ने अपने हाथ में ली। लेनिन में रूस में मौजूद अवसरवादी रुझान का नेतृत्व करने वाले मेन्शेविकों के विरुद्ध मार्क्सवाद की रक्षा करते हुए समझौताविहीन संघर्ष किया और मार्क्सवादी सिद्धान्तों के मज़बूत आधार पर बोल्शेविक पार्टी को संगठित किया। 1912 में मेन्शेविकों को पार्टी से बाहर कर दिया गया। इस दौर में सभी अवसरवादियों

ने लेनिन को ख़ूब गालियाँ दीं और उन्हें फूटपरस्त घोषित कर दिया। उस दौर में लेनिन ने अवसरवादियों के हमले के जवाब में कहा था, *"एकता एक महान चीज़ है और एक महान नारा है। लेकिन मज़दूरों के कार्य को जिसकी ज़रूरत है वह है* ***मार्क्सवादियों की एकता****, न कि मार्क्सवादियों और मार्क्सवाद के विरोधियों और उसे विकृत करने वालों के बीच की एकता।"* (म.ब., पृष्ठ 239)

मेन्शेविज़्म के विरुद्ध संघर्ष करते हुए लेनिन ने दूसरे इण्टरनेशनल में काउत्स्की और बर्नस्टाइन के अवसरवाद के विरुद्ध आमने-सामने संघर्ष का एक सिलसिला चलाया। पहले विश्वयुद्ध में दूसरे इण्टरनेशनल के नेताओं ने मज़दूर वर्ग को खुलेआम धोखा दिया, जिसकी लेनिन ने दृढ़ता के साथ कड़े शब्दों में भर्त्सना की। और अन्त में 1919 में दूसरे इण्टरनेशनल की जगह तीसरे इण्टरनेशनल की स्थापना लेनिन के नेतृत्व में हुई। यह सोवियत यूनियन की महान समाजवादी क्रान्ति का दौर था जिसने कम्युनिस्ट आन्दोलन को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की नयी ऊँचाइयों पर पहुँचाया।

जिस समय सोवियत यूनियन में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद उपनी जड़ें जमा रहा था, तब कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल जैसा कोई मंच मौजूद नहीं था। लेकिन महान बहस के माध्यम से माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध एक निर्णायक संघर्ष किया और मार्क्सवाद-लेनिनवाद की हिफ़ाज़त की।

काउत्स्की के संशोधनवाद से जितना नुक़सान लेनिन के समय दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलनों को हुआ, उससे भी अधिक नुक़सान ख्रुश्चेव के संशोधनवादी पतन के दौर में दुनिया के सर्वहारा आन्दोलनों को उठाना पड़ा।

4. दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच सम्बन्धों का सवाल

1943 में पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों की आम सहमति के आधार पर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को भंग कर दिया गया था। महान बहस में इसे भंग करने के प्रस्ताव का ज़िक्र करते हुए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का कहना था कि,

"अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास के एक दौर में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों को केन्द्रीय नेतृत्व दिया। इसने अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और विकास को प्रोत्साहित करने में महान ऐतिहासिक भूमिका अदा की। लेकिन जब कम्युनिस्ट पार्टियाँ परिपक्व हो गयीं और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की स्थिति और जटिल हो गयी तब कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा केन्द्रीय नेतृत्व देना न तो व्यावहारिक रहा और न ही आवश्यक।" (म.ब., पृष्ठ 257)

4 फ़रवरी, 1964 को प्रकाशित महान बहस के सातवें दस्तावेज़ में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्ट पार्टियों के सम्बन्ध के बारे में लिखा कि *"सभी बिरादराना पार्टियाँ, चाहे वे बड़ी हों या छोटी, नयी हों या पुरानी, सत्ता में हों या सत्ता से बाहर, वे सभी स्वतन्त्र और बराबर हैं। बिरादराना पार्टियों की किसी बैठक या एकमत से स्वीकार किये गये किसी समझौते ने उन्हें कभी ऐसी शर्त में नहीं बाँधा है कि उनमें वरिष्ठ और अधीनस्थ पार्टियाँ होती हों, कि एक पार्टी पिता हो और अन्य पार्टियाँ पुत्र हों...।"* (म.ब., पृष्ठ 256) आगे कहा गया कि, *"अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास दिखाता है कि क्रान्ति के असमान विकास के कारण एक ख़ास ऐतिहासिक अवस्था में, कभी एक तो*

कभी दूसरे देश के सर्वहारा और उसकी पार्टी ने आन्दोलन की अग्रिम पंक्ति में मार्च किया है।" (म.ब., पृष्ठ 256) लेकिन इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि, *"अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन की अग्रिम पंक्ति में शामिल कोई भी पार्टी अन्य बिरादराना पार्टियों पर हुकुम चला सकती है, या कि अन्य पार्टियों को उसका पालन करना चाहिए।"* (म.ब., पृष्ठ 257)

सभी बिरादराना पार्टियों की समानता और उनके बीच सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को भंग करने के प्रस्ताव का समर्थन करने के साथ महान बहस में यह भी कहा गया है कि, *"बिरादराना पार्टियों को स्वतन्त्र और पूर्णत: समान दर्ज़े का होना चाहिए और साथ ही, उन्हें एकताबद्ध भी होना चाहिए। साझा सरोकार के सवालों पर उन्हें विचार-विमर्श के ज़रिये आम सहमति पर पहुँचना चाहिए और उन्हें साझा लक्ष्य के संघर्ष में अपने क्रिया-कलापों को केन्द्रित करना चाहिए। बिरादराना पार्टियों के बीच सम्बन्धों को निर्देशित करने वाले ये उसूल 1957 के घोषणापत्र और 1960 के वक्तव्य में साफ़-साफ़ दर्ज हैं।"* (म.ब., पृष्ठ 258)

आगे विश्व की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच सम्बन्धों के बारे में चीनी पार्टी ने कहा था, *"वास्तविक वर्तमान परिस्थितियों में, जिसमें कॉमिण्टर्न जैसा नेतृत्व न तो अस्तित्व में है न ही अपेक्षित, बिरादराना पार्टियों के बीच सम्बन्धों में बहुमत के समक्ष अल्पमत के झुकने के उसूल को लागू करना बिल्कुल ग़लत है। यह उसूल कि अल्पमत को बहुमत के सामने झुकना चाहिए और निचले स्तर के पार्टी संगठन को उच्च स्तर के पार्टी संगठन के सामने, एक पार्टी के भीतर तो माना जाना चाहिए। लेकिन इसे बिरादराना पार्टियों के बीच के सम्बन्धों पर लागू नहीं किया जा सकता। अपने पारस्परिक सम्बन्धों में प्रत्येक बिरादराना पार्टी अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखती है और उसी समय सभी के साथ एकतारबद्ध भी होती है। यहाँ उन सम्बन्धों का अस्तित्व ही नहीं है जिनमें अल्पमत को बहुमत के सामने झुकना चाहिए और वे सम्बन्ध तो निश्चित ही नहीं हैं जिनमें निचले पार्टी संगठन को ऊपरी पार्टी संगठनों के सामने झुकना चाहिए।* ***विचार-विमर्श के उसूल के अनुसार आम सहमति पर पहुँचना ही वह एकमात्र आधार है जिस पर बिरादराना पार्टियों के साझा हितों के सवालों पर कार्रवाई की जानी चाहिए।"*** तथा, ***"...एक पार्टी के भीतर अल्पमत बहुमत के मातहत होने के उसूल का पालन संगठनात्मक रूप से होना चाहिए। विचारधारात्मक समझदारी के मामले में यह नहीं कहा जा सकता है कि ग़लती की तुलना में सत्य की पहचान सदैव इस बात के आधार पर की जा सकती है कि कौन सी बहुमत की राय है और कौन सी अल्पमत की।"*** (ज़ोर हमारा है) (म.ब., पृष्ठ 260-261)

इन उद्धरणों पर ध्यान दें और मुड़कर सोवियत यूनियन और चीन में समाजवादी संक्रमण और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के इतिहास पर नज़र डालें तो यह एक विचार करने का विषय है कि **विचारधारात्मक विचार-विमर्श के माध्यम से एकताबद्ध होने** तथा **आम सहमति पर पहुँचने** के लिए यदि उस दौर में एक वैश्विक मंच मौजूद होता तो चीनी पार्टी को पूरी दुनिया की पार्टियों में ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों द्वारा पैदा किये गये विभ्रमों के विरुद्ध संघर्ष चलाने में सहायता मिली होती। जैसाकि 14 जून, 1964 में सोवियत यूनियन को लिखे जवाब "अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के बारे में" में 1957 के घोषणापत्र का ज़िक्र करते हुए हर देश में कम्युनिस्ट पार्टी की आवश्यकता तथा उसके सैद्धान्तिक कार्यभार की व्याख्या करते हुए कहा गया,

"अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के अनुभवों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सबक़ यह है

कि किसी भी क्रान्ति का विकास और विजय सर्वहारा वर्ग की पार्टी के अस्तित्व पर निर्भर है। क्रान्तिकारी पार्टी अवश्य होनी चाहिए।"

सर्वहारा पार्टियों को, *"आम मार्क्सवादी-लेनिनवादी सच्चाई को अपने देश की शान्ति और निर्माण के ठोस अमल के साथ... मिलाने के उसूल का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।"* आगे कहा गया है, *"...यह आवश्यक है कि हमेशा वास्तविकता से प्रारम्भ किया जाये, जनता के साथ घनिष्ठ सम्पर्क क़ायम रखा जाये, जन संघर्षों के अनुभवों का लगातार निचोड़ निकाला जाये तथा अपने देश के अनुकूल नीतियों और कार्यनीतियों को स्वतन्त्र रूप से बनाया जाये। अगर कोई ऐसा करने में असमर्थ रहा, अगर उसने अन्य कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों और कार्यनीतियों का यान्त्रिक रूप से अनुसरण किया, दूसरों की इच्छा को अन्धे होकर मान लिया, अथवा अन्य कम्युनिस्ट पार्टी के प्रोग्राम और प्रस्तावों को बिना विश्लेषण किये ही अपनी दिशा के रूप में स्वीकार कर लिया, तो वह कठमुल्लावादी ग़लतियाँ करेगा।"* (म.ब., पृष्ठ 36, 37)

अपने देश की परिस्थितियों के आधार पर अपने प्रोगाम को निर्धारित करने की आवश्यकता तथा हर क्रान्तिकारी पार्टी के इस कार्यभार को इंगित करते हुए आगे कहा गया है,

"अगर वह ऐसी पार्टी न हो, जो ख़ुद सोचने के लिए अपना दिमाग़ इस्तेमाल कर सकती हो तथा गम्भीर जाँच-पड़ताल व अध्ययन के ज़रिये अपने देश में अलग-अलग वर्गों के रुझानों की सही जानकारी प्राप्त कर सकती हो तथा जो यह जानती हो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद की आम सच्चाई को कैसे लागू किया जाये और अपने देश के ठोस अलम के साथ कैसे मिलाया जाये, बल्कि ऐसी पार्टी हो, जो दूसरों के शब्दों को तोते की तरह रट लेती है, विदेशों के अनुभव को बिना विश्लेषण किये नक़ल करती है, विदेशों के कुछ लोगों के निर्देश-दण्ड के मुताबिक़ कभी इधर दौड़ती है तो कभी उधर तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को छोड़कर संशोधनवाद, कठमुल्लावाद और हर दूसरी चीज़ की खिचड़ी बन गयी है, तो ऐसी पार्टी क्रान्तिकारी संघर्ष में सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता का नेतृत्व करने में बिल्कुल असमर्थ है, क्रान्ति में विजय प्राप्त करने में बिल्कुल असमर्थ है तथा सर्वहारा वर्ग के महान ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने में बिल्कुल असमर्थ है।" (म.ब. , पृष्ठ 37-38)

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए आज हमें 1943 में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को भंग किये जाने के सवाल पर एक बार फिर से विचार करना होगा, कि क्या जनवादी-केन्द्रीयता पर आधारित उसके विश्व पार्टी के ढाँचे तथा उत्तरदायित्व को बदल देना चाहिए था और दूसरे देशों में क्रान्ति की आम रणनीति तथा आम रणकौशल की दिशा देने के कार्य से मुक्त कर देना चाहिए था। यह कहना भी ग़लत नहीं होगा कि यदि इसकी भूमिका को पूरी दुनिया के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच आम सैद्धान्तिक दिशा को लेकर बहसें चलाने के एक मंच में रूपान्तरित कर दिया जाता तो महान बहस के दौरान, और वर्तमान समय में भी, पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन में पैदा होने वाले सुधारवादियों और त्रोत्स्कीपन्थियों के विरुद्ध संघर्ष चलाना, और हर पार्टी द्वारा अपनी अवस्थिति को सभी पार्टियों के सामने बहस के लिए रखना अधिक सुगम होता। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि ख्रुश्चेव द्वारा लागू की जा रही संशोधनवादी नीतियों के दौर में तीसरी दुनिया के कई देशों में अपरिपक्व कम्युनिस्ट पार्टियाँ मौजूद थीं जिन्हें परिपक्व दिशा-निर्देश की आवश्यकता भी थी।

आज पूरे वैश्विक परिदृश्य में कम्युनिस्ट आन्दोलन में जो भाँति-भाँति की संशोधनवादी

या अतिवामपन्थी प्रवृत्तियाँ आन्दोलन के विकास में बेड़ियाँ बनी हुई हैं, उसके आधार पर सोचने के लिए सारे रास्ते हमारे सामने खुले हैं, कि कम्युनिस्ट पार्टियों के अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर जो सिद्धान्त महान बहस के दौरान प्रस्तुत किये गये थे उसके लिए विश्व स्तर पर वाद-विवाद के एक मंच की आवश्यकता है।

5. समाजवादी संक्रमण की मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यदिशा

स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव ने अपने पूर्वनियोजित लक्ष्य के तहत सोवियत यूनियन में "शान्तिपूर्ण संक्रमण", "समूची जनता का राज्य", "शान्तिपूर्ण होड़" और "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" जैसी संशोधनवादी नीतियाँ लागू करना आरम्भ कर दिया था। महान बहस में चीन ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों के आधार पर यह रेखांकित किया कि ख्रुश्चेव जिस संशोधनवादी लाइन का नेतृत्व कर रहे थे, वह सोवियत यूनियन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करने की ग़द्दारी भरी नीतियाँ थी। चीनी पार्टी ने महान बहस में स्पष्ट किया कि समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत सतत् वर्ग-संघर्ष जारी रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि समाजवाद कम्युनिज़्म की ओर आगे बढ़ने का एक संक्रमण काल है। समाजवाद का लक्ष्य है संक्रमण के दौरान सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत कम्युनिस्ट समाज तक वर्ग-संघर्ष को जारी रखना जहाँ,

"वर्ग और वर्ग विभेद पूरी तरह मिट जाते हैं, समूची जनता की कम्युनिस्ट चेतना और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा हो जाता है तथा साथ ही श्रम के प्रति असीम उत्साह और पहलक़दमी पैदा हो जाती है, सामाजिक उत्पादनों की बहुतायत हो जाती है और "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार और हरएक को उसकी ज़रूरत के अनुसार" के उसूल को लागू किया जाता है जिसमें राज्यसत्ता मुरझा जाती है।" (म.ब., पृष्ठ 356)

महान बहस के दौरान यह स्पष्ट किया गया कि किसी एक देश में समाजवाद की स्थापना के बाद उसका उद्देश्य होगा कि,

"सभी वर्गों और वर्गभेदों के ख़ात्मे की ओर अभियान करना।...", "उत्पादन के साधनों पर समूची जनता की मिल्कियत की एकात्मक व्यवस्था की ओर अभियान करना।...", "सामाजिक उत्पादन की भारी बहुतायत की ओर अभियान करना तथा "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार और हरएक को उसकी ज़रूरत के अनुसार" के उसूल को अमल में लाना।...", "जनता की कम्युनिस्ट चेतना को ऊँचा करने की ओर अभियान करना।...", "राज्य के मुरझाने की स्थिति ओर अभियान करना।..." और *"मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुसार, समाजवाद के काल में सर्वहारा अधिनायकत्व पर क़ायम रहने का उद्देश्य ठीक यह होता है कि समाज के कम्युनिज़्म की दिशा में विकास करने की गारण्टी की जा सके।"* (म.ब., पृष्ठ 356, 357, 358)

मार्क्सवाद-लेनिनवाद बताता है कि, चूँकि समाजवादी समाज पूँजीवाद के गर्भ से पैदा होता है जिसमें संक्रमण के लम्बे दौर में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम करने वालों के बीच, शहरों और देहातों के बीच तथा मज़दूरों और किसानों के बीच अन्तर बने रहते हैं, और पूँजीवादी अधिकारों को अभी पूरी तरह समाप्त नहीं किया जाता है; श्रम अभी भी माल के रूप में मौजूद होता है, और खपत के माल का वितरण अभी भी श्रम की मात्रा के अनुरूप

ही होता है, न कि आवश्यकता के हिसाब से। इन अन्तरों को एक लम्बे दौर में ही समाप्त किया जा सकता है। सोवियत यूनियन तथा चीन के समाजवादी अनुभवों का निचोड़ यह है कि समाजवादी समाज एक अत्यन्त लम्बी ऐतिहासिक मंज़िल तक मौजूद रहता है। समाजवादी संक्रमण के इस पूरे क्रान्तिकारी रूपान्तरण के दौर में पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच वर्ग-संघर्ष जारी रहता है तथा पूँजीवादी रास्ते और समाजवादी रास्ते में से कौन विजयी होगा, यह सवाल बना रहता है। इस पूरे दौर में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का ख़तरा बना रहता है। (म.ब., पृष्ठ 324)

माओ ने बताया कि ***"समाजवाद की पूर्ण विजय एक या दो पीढ़ियों में नहीं हो सकती; इस सवाल को पूरी तरह हल करने के लिए पाँच या दस पीढ़ियों की अथवा इससे भी ज़्यादा लम्बे समय की ज़रूरत होती है।"*** (म.ब., पृष्ठ 329) इन अनुभवों के आधार पर चीनी पार्टी ने यह निष्कर्ष दिया कि, *"सर्वहारा वर्ग के सत्ता प्राप्त करने के बाद काफ़ी लम्बे समय ऐतिहासिक काल में वर्ग-संघर्ष मानव की इच्छा से स्वतन्त्र एक वस्तुगत नियम के रूप में जारी रहता है तथा सत्ता प्राप्त करने के पहले की तुलना में सिर्फ़ उसका रूप बदल जाता है।"* (म.ब., पृष्ठ 325)

स्तालिन की मृत्यु के पश्चात 1956 में सोवियत यूनियन में ख्रुश्चेव द्वारा पूँजीवाद की पुनर्स्थापना किये जाने के बाद उस दौर के अनुभवों के विश्लेषण के आधार पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि समाजवादी समाज में मौजूद अन्तरों और पुरानी आदतों के प्रभाव के कारण लम्बे समय तक समाज तथा पार्टी नेतृत्व के अन्दर पूँजीवादी पथगामी पैदा होते रहते हैं। यदि इन पूँजीवादी तत्वों के प्रति अधिरचना में सतत् वर्ग संघर्ष न चलाया जाये तो समाज के आर्थिक सम्बन्धों का पूँजीवादी सम्बन्धों और सर्वहारा अधिनायकत्व का पूँजीवादी अधिनायकत्व में रूपान्तरित होने का ख़तरा पैदा हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि आर्थिक मूलाधार के रूपान्तरण के साथ-साथ राजनीतिक-सांस्कृतिक वैचारिक अधिरचना में भी एक सतत् क्रान्ति हो, अन्यथा अधिरचना में पैदा होने वाले पूँजीवादी विचार आर्थिक मूलाधार में भी पूँजीवादी सम्बन्धों को बहाल कर पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कर सकते हैं, जिसका ख़तरा समाजवाद के पूरे काल में बना रहता है।

"राजनीति अर्थनीति की ही केन्द्रीय अभिव्यक्ति है।... राजनीति का अर्थनीति के मुक़ाबले अनिवार्यत: अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विपरीत दलील देने का मतलब है मार्क्सवाद की प्रारम्भिक जानकारी को भी भूल जाना।" (म.ब., पृष्ठ 354)

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने यूगोस्लाविया में टीटो का साम्राज्यवादियों के साथ गठजोड़ तथा ख्रुश्चेवी संशोधवाद के दौर में सोवियत यूनियन में पैदा होने वाले विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी पथगामी तत्वों की ज़मीन की जाँच-पड़ताल की और समाजवादी सोवियत यूनियन के समाज का विश्लेषण करते हुए कई सबूतों और उदाहरणों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि समाजावादी निर्माण के दौरान पार्टी क़तारों के बीच, सरकारी संस्थाओं में, सार्वजनिक संगठनों, आर्थिक विभागों तथा सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में लगातार एक विशेषाधिकार प्राप्त तबका पैदा होता रहता है। ये पूँजीवादी तत्व विचारधारा, संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण के मुक़ाबले पूँजीवादी विश्व-दृष्टिकोण को ला खड़ा करते हैं तथा सर्वहारा और अन्य मेहनतकश जनता को पूँजीवादी विचारधारा से आचरण-भ्रष्ट कर देते हैं। (म.ब., पृष्ठ 325-326)

"समाजवाद की समूची मंज़िल में राजनीतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक और सांस्कृतिक

व शैक्षणिक क्षेत्रों में सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का वर्ग संघर्ष कभी नहीं रुक सकता।" तथा "समाजवादी समाज का वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से कम्युनिस्ट पार्टी में भी प्रतिबिम्बित होता है। पूँजीपति वर्ग और अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद, ये दोनों ही यह समझते हैं कि एक समाजवादी देश को पतित करके पूँजीवादी देश बनाने के लिए पहले कम्युनिस्ट पार्टी को पतित करके संशोधनवादी पार्टी बना देना आवश्यक है। नये-पुराने पूँजीवादी तत्व, नये-पुराने धनी किसान और हर किस्म के पतनशील तत्व संशोधनवाद का सामाजिक आधार हैं तथा वे कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर अपने एजेण्ट खोजने के हरसम्भव उपाय अपनाते हैं। पूँजीवादी प्रभाव का अस्तित्व संशोधनवाद का आन्तरिक स्रोत है और साम्राज्यवादी दबाव के सामने आत्म-समर्पण उसका बाहरी स्रोत है। समाजवाद की समूची मंज़िल में समाजवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में मार्क्सवाद-लेनिनवाद और विभिन्न प्रकार के अवसरवाद - मुख्य रूप से संशोधनवाद - के बीच अनिवार्य रूप से संघर्ष होता है। इस संशोधनवाद की विशेषता यह है कि यह वर्गों और वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व से इनकार करता है, सर्वहारा वर्ग पर प्रहार करते समय पूँजीपति वर्ग का पक्ष-पोषण करता है तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को पूँजीपति वर्ग के अधिनायकत्व में बदल देता है।" (म.ब., पृष्ठ 327)

मार्क्स ने कहा था, "वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा अधिनायकत्व की ओर ले जाता है।", कि "पूँजीवाद और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक का दूसरे में क्रान्तिकारी रूपान्तरण होने का काल मौजूद रहता है। इसी के साथ-साथ एक राजनीतिक संक्रमण काल भी चलता है जिसमें राज्य का स्वरूप क्रान्तिकारी सर्वहारा अधिनायकत्व के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।" (म.ब., पृष्ठ 328)

यूगोस्लाविया में टीटो की नीतियों की आलोचना करते हुए महान बहस में बताया गया कि, *"सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हथियाये जाने के बाद भी काफ़ी समय तक एक समाजवादी देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों का होना, जिनमें निजी पूँजीवादी क्षेत्र भी शामिल है, आश्चर्य की बात नहीं है। महत्व इस बात का है कि सरकार निजी पूँजीवाद के प्रति किस किस्म का रवैया अपनाती है - उसे इस्तेमाल करने, नियन्त्रित करने, रूपान्तरित करने और मिटाने की नीति अथवा उसे चलने देने, उसका पालन-पोषण करने और उसे प्रोत्साहन देने की नीति। यह इस बात को तय करने का महत्वपूर्ण पैमाना है कि कोई देश समाजवाद की तरफ़ विकास कर रहा है या पूँजीवाद की तरफ़।"* (म.ब., पृष्ठ 112) इसी विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है, *"मार्क्सवाद-लेनिनवाद हमें सिखाता है कि व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था से, छोटी उत्पादक अर्थव्यवस्था से, हर रोज़ और हर घण्टे पूँजीवाद पैदा होता है।"* (म.ब., पृष्ठ 114)

ख्रुश्चेव के "शान्तिपूर्ण संक्रमण", "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" और "समूची जनता के राज" की वास्तविकता यह थी कि इसने सोवियत यूनियन में सर्वहारा अधिनायकत्व को पूँजीवादी अधिनायकत्व में रूपान्तरित कर दिया था, जहाँ पैदा हुआ पूँजीवादी तबका पार्टी सदस्यों से मिलकर भ्रष्टाचार की मदद से विशेष सुविधाएँ हासिल कर रहा था, व्यक्तिगत फ़ायदों के लिए सार्वजनिक उद्योगों से चोरी कर रहा था, और सार्वजनिक उपक्रमों पर अपने व्यक्तिगत अधिकार के लिए ज़मीन तैयार कर चुका था। यह विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी तबका अपने व्यक्तिगत हितों के लिए मज़दूरों का शोषण करने लगा था। पदाधिकारियों और जनता के बीच सम्बन्ध शोषक और शोषित के सम्बन्धों में बदल हो चुके थे और समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पुनः पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में रूपान्तरित हो चुके थे। (म.ब., पृष्ठ

333-334, 337-338)।

इन विश्लेषणों को और आगे विकसित करते हुए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवादी समाज में पार्टी के अन्दर पैदा होने वाले इन पूँजीवादी तत्वों के विरुद्ध सतत् वर्ग संघर्ष चलाने और व्यापक जन-चौकसी को मज़बूत बनाने की आवश्यकता को रेखांकित किया। इससे पहले सोवियत यूनियन में स्तालिनकाल तक यह माना जा रहा था कि समाजवाद में पूँजीवादी पुनर्स्थापना का मुख्य स्रोत साम्राज्यवादी हस्तक्षेप ही हो सकता है। लेनिन अपने अन्तिम दिनों में सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में चिन्तन कर रहे थे। 1923 में लेनिन ने कहा था, "यदि सारे किसान सहकारों में संगठित हो जाते तो अब तक हमारे दोनों पैर समाजवाद की ज़मीन पर होते। लेकिन सभी किसानों को सहकारी समितियों में संगठित करना उन्हें एक सांस्कृतिक स्तर पर लाने की माँग करता है, और किसानों की बड़ी संख्या के बीच यह काम एक सांस्कृतिक क्रान्ति के बिना पूरा नहीं किया जा सकता।" ... "हमारे देश में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति ने सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार की है, और यह सांस्कृतिक क्रान्ति आज हमारे सामने खड़ी है।" ... "सांस्कृतिक क्रान्ति की मदद से ही हम अपने देश को एक पूर्ण समाजवादी देश बनाने का काम पूरा कर सकते हैं। लेकिन इसमें हमारे सामने विशुद्ध सांस्कृतिक (जिसमें हम अभी अशिक्षित हैं) तथा भौतिक प्रकृति (जिसमें सुसभ्य होने से पहले हमें भौतिक उत्पादन के साधनों को एक स्तर तक अवश्य विकसित करना होगा, जिसके लिए एक भौतिक आधार होना ज़रूरी है) की वृहद कठिनाइयाँ मौजूद हैं।" (सहकारिता के बारे में, 6 जनवरी, 1923, लेनिन)

सांस्कृतिक क्रान्ति की आवश्यकता के बारे में लेनिन द्वारा छोड़ी गयी इस कड़ी को पकड़ते हुए माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने आर्थिक मूलाधार और अधिरचना में मौजूद पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारक तत्वों की गतिकी को समझा और समाजवाद में वर्ग संघर्ष के संचालन और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्नशील बुर्जुआ तत्वों के आधारों को नष्ट करने तथा कम्युनिज़्म तक संक्रमण की बारे में विचारधारात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किये। जिसके आधार पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के ऐतिहासिक प्रयोग ने "सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति" और "अधिरचना में क्रान्ति" के सिद्धान्तों का विकसित किया।

6. शान्तिपूर्ण संक्रमण का सवाल

आम दिशा के दस्तावेज़ों में कार्यनीति के संसदीय तथा शान्तिपूर्ण संक्रमण के सवाल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, *"क्रान्ति के दौरान सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता का नेतृत्व करने के लिए मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टियों को चाहिए कि वे संघर्ष के सब रूपों में माहिर हो जायें। ... सर्वहारा वर्ग का हरावल दस्ता सभी परिस्थितियों में अजेय तभी हो सकता है, यदि वह संघर्ष के सब रूपों में माहिर हो जाये - शान्तिपूर्ण और सशस्त्र संघर्ष में, खुले और गुप्त संघर्ष में, क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी संघर्ष में, संसदीय संघर्ष और जनव्यापी संघर्ष में, इत्यादि। जब संसदीय संघर्ष और संघर्ष के दूसरे क़ानूनी रूपों को अपनाया जा सके और अपनाया जाना चाहिए, उस समय उन्हें अस्वीकार कर देना ग़लत है। लेकिन अगर कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी क़ानूनपरस्ती या संसदीय जड़वामवाद का शिकार हो जाती है और संघर्ष को केवल उसी हद तक सीमित रखती है, जिस हद तक पूँजीपति वर्ग इजाज़त देता है, तो इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि वह सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व का*

परित्याग कर देगी।" (म.ब., पृष्ठ 13)

आगे कहा गया है कि *"यदि किसी ख़ास परिस्थिति में कोई कम्युनिस्ट पार्टी संसद में सीटों का बहुमत प्राप्त भी कर ले या चुनाव में जीतने की वजह से सरकार में शामिल भी हो जाये, तो इससे संसद और सरकार का पूँजीवादी स्वरूप नहीं बदल जायेगा, और इसका मतलब पुरानी राज्य-मशीनरी को चकनाचूर करना और नयी राज्य-मशीनरी की स्थापना करना तो बिल्कुल भी नहीं होगा। पूँजीवादी संसदों या सरकारों पर निर्भर रहकर बुनियादी सामाजिक परिवर्तन करना बिलकुल असम्भव है। प्रतिक्रियावादी पूँजीपति वर्ग राज्य-मशीनरी को अपने क़ब्ज़े में रखकर चुनाव को रद्द कर सकता है, संसद को भंग कर सकता है, सरकार में शामिल कम्युनिस्टों को बर्ख़ास्त कर सकता है, कम्युनिस्ट पार्टी को ग़ैर-क़ानूनी करार दे सकता है तथा जनता और प्रगतिशील शक्तियों का दमन करने के लिए बर्बर शक्ति का इस्तेमाल कर सकता है।"* (म.ब., पृष्ठ 302)

साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा 1973 में साम्राज्यवादियों द्वारा चिली में संसदीय चुनाव के माध्यम से अयेन्दे के नेतृत्व में सत्ता में पहुँची कम्युनिस्ट पार्टी के बर्बर ख़ूनी दमन और 1965 में इण्डोनेशिया में सुकर्णो के नेतृत्व में चुनाव जीतकर सत्ता में आये कम्युनिस्टों का सैनिक तख़्तापलट के बाद बर्बर हत्याओं की घटनाओं - इन दोनों देशों के अनुभवों ने चीनी पार्टी के शान्तिपूर्ण संक्रमण के विश्लेषण को व्यवहार में सही सिद्ध कर दिया है। चिली और इण्डोनेशिया दोनों देशों में कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव के माध्यम से सत्ता में आयी थी, लेकिन मौजूदा राज्य मशीनरी को क्रान्तिकारी रूप से ध्वस्त नहीं किया गया था, जिसका अन्त साम्राज्यवादी ताक़तों की सहायता से प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट और देश की संघर्षरत जनता के ख़ूनी दमन के रूप में हुआ। (लेख के अन्त में स्रोत देखें)

लेनिन और स्तालिन ने अपने मूल्यांकन में बताया था कि पूँजीवाद से समाजवाद में शान्तिपूर्ण संक्रमण कुछ विशेष परिस्थितियों में हो सकता है, जब भविष्य में कोई ऐसा पूँजीवादी देश होगा जो चारों तरफ़ से समाजवादी देशों से घिरा हो और सर्वहारा वर्ग का चौतरफ़ा दबाव उस पर हो तब वह शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता छोड़ देगा, और किसी भी परिस्थिति में यह सम्भव नहीं है। ('लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त', स्तालिन)

20वीं सदी तक आते-आते लेनिन ने तीसरी दुनिया के देशों में उपनिवेशवाद का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया था कि पूँजीवाद एक खुले दमनकारी तन्त्र के रूप में साम्राज्यवाद की अवस्था तक विकसित हो चुका था। लेनिन ने उस दौर की परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर बताया था कि साम्राज्यवाद लगातार खुद को हथियारबन्द कर रहा है, और ज़रूरत पड़ने पर पूँजीवादी जनतन्त्र की पूँजीवादी सत्ताएँ भी अपने जनवाद का मुखौटा हटाकर सेना और पुलिस का इस्तेमाल अपने देश के सर्वहारा जनता का खुला दमन करने में कोई संकोच नहीं करेंगी। लेनिन ने कहा था, "बुर्जुआ राज्यसत्ता को बलपूर्वक ध्वस्त करके उसकी जगह पर नयी राज्यसत्ता स्थापित किये बिना सर्वहारा क्रान्ति असम्भव है।" ('राज्य और क्रान्ति', लेनिन) कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स-ऐगल्स ने कहा था, "मज़दूर वर्ग पहले से मौजूद राज्यसत्ता को अपने नियन्त्रण में लेकर अपने लक्ष्य हासिल करने के लिए इसे इस्तेमाल नहीं कर सकता।" मार्क्स ने आगे कहा है कि सर्वहारा क्रान्ति का लक्ष्य "अफ़सरशाही की मशीनरी को एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तान्तरित करना नहीं है, बल्कि उसको ध्वस्त करना है... यह सभी सच्ची जन-क्रान्तियों की मूल शर्त है," (लुडविन कुगेलमान को कार्ल मार्क्स का पत्र, 17 अप्रैल 1871)

आज भी कई संशोधवादी अपने समर्थन में मार्क्स का सन्दर्भ देकर शान्तिपूर्ण संक्रमण की बात सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, लेकिन मार्क्स ने शान्तिपूर्ण संक्रमण की बात एक विशेष परिस्थिति में पूँजीवाद के विकास के आरम्भिक दौर में ब्रिटेन, अमेरिका और हॉलैण्ड के सन्दर्भ में की थी, जो पूँजीवाद के विकास का शान्तिपूर्ण दौर था। 15 सितम्बर 1872 में एक भाषण में मार्क्स ने शान्तिपूर्ण संक्रमण के साथ यह भी कहा था कि, "ऐसी स्थिति में, हमें ध्यान रखना चाहिए कि महाद्वीप के ज़्यादातर देशों में क्रान्ति का लीवर बल होगा..." (स्वतन्त्रता पर भाषण, 1872, कार्ल मार्क्स)

21वीं सदी में आज वैश्विक स्तर पर हो रही घटनाओं का विश्लेषण करें तो साम्राज्यवाद लगातार दूसरे देशों में हस्तक्षेप के माध्यम से मेहनतकश जनता का बर्बर दमन जारी रखने की कोशिशों में लगा है, और लगातार ज़्यादा हिंसक रूप में सामने आ रहा है। अपने अन्तरविरोधों के कारण जारी पूँजीवादी संकट के इस दौर में पूँजीवादी जनवाद का चरित्र भी लगातार अधिक फासीवादी होता जा रहा है, ऐसी विश्व परिस्थितियों में शान्तिपूर्ण समाजवादी संक्रमण की बात करना किसी भी दृष्टिकोण से सही नहीं है।

चीनी पार्टी ने महान बहस के सातवें दस्तावेज़ में लेनिन को उद्धरित करते हुए सही ही कहा था कि *"मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के सक्रिय लोग, जो अवसरवादी रुझान का अनुसरण करते हैं, वे पूँजीपति वर्ग के स्वयं उसकी अपेक्षा अधिक अच्छे रक्षक होते हैं।"* (म.ब., पृष्ठ 249-250)

7. स्तालिनकाल का मूल्यांकन

"स्तालिन के मूल्यांकन का सवाल उसूल का एक ऐसा महत्वपूर्ण सवाल है जिसका सम्बन्ध समूचे अन्तरराष्टीय कम्युनिस्ट आन्दोलन से है।" (म.ब., पृष्ठ 90)

महान बहस की तुलना में स्तालिनकाल के बारे में आज जितने खुलासे हो चुके हैं, और जो तथ्य हमारे सामने हैं, उनके आधार पर स्तालिनकाल और आधुनिक संशोधनवाद का मूल्यांकन और भी स्पष्ट रूप में किया जा सकता है। 1956 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा दिये गये गुप्त भाषण में स्तालिन के पूर्ण निषेध की आलोचना करते हुए महान बहस में कहा गया,

"...स्तालिन ने भूलें कीं। इन भूलों की अपनी विचारधारात्मक तथा सामाजिक और ऐतिहासिक जड़ें थीं। यह आवश्यक है कि स्तालिन की उन भूलों की आलोचना की जाये जो उन्होंने सचमुच कीं, न कि उन भूलों को जिन्हें बिना किसी आधार के उन पर मढ़ दिया गया है। और यह आलोचना सही आधार पर और सही तरीक़ों से की जाये। लेकिन हम लोगों ने ग़लत आधार पर और ग़लत तरीक़ों से की गयी स्तालिन की आलोचना का हमेशा विरोध किया है।" (म.ब., पृष्ठ 91)

स्तालिनकाल की उपलब्धियों का ज़िक्र करते हुए बहस में आगे कहा गया है,

"लेनिन के जीवनकाल में स्तालिन जारशाही से लड़े और मार्क्सवाद का प्रचार किया; अक्टूबर क्रान्ति के बाद पहले समाजवादी राज्य के निर्माण में सर्वहारा क्रान्ति की रक्षा के लिए लड़े।" ... "लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत यूनियन ने आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार के दुश्मनों से दृढ़संकल्प होकर लड़ने में सोवियत जनता का नेतृत्व किया।" ... "स्तालिन ने समाजवादी औद्योगिकीकरण और कृषि-सामूहिकीकरण की लाइन पर क़ायम रहने में तथा समाजवादी रूपान्तरण और समाजवाद की रचना में महान सफलताएँ प्राप्त करने

में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत जनता का नेतृत्व किया।" ... "स्तालिन ने फासीवाद-विरोधी युद्ध में महान विजय के लिए किये गये कठिन और तीखे संघर्ष में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी, सोवियत जनता और सोवियत सेना का नेतृत्व किया।" . .. "स्तालिन ने विभिन्न प्रकार के अवसरवाद के विरुद्ध, लेनिनवाद के शत्रुओं के विरुद्ध, त्रात्स्कीपन्थियों, जिनोवियेवपन्थियों, बुखारिनपन्थियों तथा अन्य बुर्जुआ एजेण्टों के विरुद्ध संघर्ष में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की रक्षा की और उसे विकसित किया।" (म.ब., पृष्ठ 91)

महान बहस में माना गया कि स्तालिन ने कुछ उसूली भूलें कीं और कुछ व्यावहारिक कार्यों के दौरान ग़लतियाँ हुईं, और कुछ ग़लतियों से बचा जा सकता था। विचारधारात्मक ग़लतियों के मामले में स्तालिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से विचलित हुए और कुछ सवालों पर अधिभौतिकवाद और मनोगतवाद के शिकार हुए। पार्टी के अन्दर के तथा पार्टी के बाहर के, दोनों ही प्रकार के संघर्षों में, कुछ मौक़ों और कुछ सवालों पर, हमारे और शत्रु के बीच तथा जनता के अपने अन्दर के, इन दो प्रकार के अन्तरविरोधों से निपटने के अलग-अलग तरीक़ों के बारे में भी वे भ्रान्तियों के शिकार हुए। यह घोषित करना कि सोवियत यूनियन में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं रह गये हैं, स्तालिन की एक विचारधारात्मक ग़लती थी। स्तालिन द्वारा 1936 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में कहा था,

"सभी शोषक वर्गों का उन्मूलन हो चुका है।" ... "पूँजीपति वर्ग को पहले ही समाप्त किया जा चुका है, और उत्पादन के साधन पूँजीपतियों से ज़ब्त कर राज्य को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं, जिनका नेतृत्व मज़दूर वर्ग के हाथ में है।" ... "अब सिर्फ़ मज़दूर वर्ग, किसान वर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग बचे हैं।" (अनुच्छेद 2, "सोवियत यूनियन के संविधान के मसौदे पर", स्तालिन द्वारा सोवियत यूनियन की आठवीं कांग्रेस, 25 नवम्बर, 1936 में पढ़ी गयी रिपोर्ट)

चीनी पार्टी द्वारा उस समय के मूल्यांकन के आधार पर कहा था, "1937 तथा 1938 में प्रतिक्रान्तिकारियों के दमन के कार्य को विस्तृत करने की भूल हुई। पार्टी और सरकार के संगठन के विषय में उन्होंने सर्वहारा जनवादी केन्द्रीयता का पूरी तरह से इस्तेमाल नहीं किया और कुछ हद तक उसका उल्लंघन किया। बिरादराना पार्टियों और देशों के साथ रिश्तों में उन्होंने कुछ ग़लतियाँ कीं। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उन्होंने कुछ ग़लत सुझाव भी दिये।" आगे कहा गया, "स्तालिन के गुण और उनकी ग़लतियाँ दोनों ही ऐतिहासिक, वस्तुगत यथार्थ के अंग हैं। इन दोनों की तुलना यह दर्शाती है कि उनके गुण उनके दोषों से कहीं बढ़कर थे।" ऐसी स्थिति में "स्तालिन की भूलों को, जो केवल गौण थीं, यदि ऐतिहासिक सबक़ की तरह लिया जाये ताकि सोवियत यूनियन तथा अन्य देशों के कम्युनिस्ट इससे चेतावनी ले सकें और उन भूलों को दुहराने से बच सकें या कम भूलें करें तो यह लाभदायक होगा।" (म.ब., पृष्ठ 92-93)

महान बहस के दौर की तुलना में सोवियत यूनियन के बारे में आज कई नये तथ्य सामने आ चुके हैं, जो उस दौर में ज्ञात नहीं थे। अमेरिकी रिसर्चर ग्रोवर फ़र और रूसी अनुसन्धानकर्ता यूरी जोख़ोव जैसे कई इतिहासकारों ने स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन के परालेखों (archive) के अध्ययन के आधार पर अनेक सबूतों के साथ खुलासे किये हैं। इन दस्तावेज़ों के आधार पर उस दौर में हुई व्यावहारिक ग़लतियों की पृष्ठभूमि समझने में मदद मिलती है कि किन परिस्थितियों में पार्टी में मौजूद पूँजीवादी तत्वों के विरुद्ध स्तालिन के नेतृत्व में संघर्ष किया जा रहा था। चूँकि सोवियत यूनियन में पहली बार समाजवादी निर्माण का

प्रयोग किया जा रहा था जिसका कोई अनुभव मौजूद नहीं था, ऐसे में उस समय स्तालिन पार्टी में पैदा हो रहे षड्यन्त्रकारियों और पूँजीवादी पथगामियों के पैदा होने की विचारधारात्मक ज़मीन नहीं तलाश सके। ग्रोवर फ़र ने अपनी पुस्तक "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष" के दो खण्डों में स्तालिन के दौर में पार्टी के भीतर जो संघर्ष चल रहे थे, सन्दर्भ सहित उनके विवरणों का खुलासा किया है।

1. 1920 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में हारने के बाद कई विरोधी तत्व उस समय नेतृत्व में मौजूद नेताओं की हत्या करने और तख़्तापलट की षड्यन्त्रकारी कोशिशें कर रहे थे। ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त भाषण में सारी ग़लतियों का दोष स्तालिन पर लगाया, लेकिन 1930 से 1938 के बीच सोवियत यूनियन में नेतृत्व को बदनाम करने के लिए जनता के दमन की षड्यन्त्रकारियों की गतिविधियाँ चल रही थीं उनका कहीं ज़िक्र नहीं किया गया। (बिन्दु 47, 57 "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 2, ग्रोवर फ़र)
2. दस्तावेज़ों में मिले सबूतों के आधार पर ग्रोवर फ़र ने खुलासा किया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले 1930 से 1938 के बीच और विश्वयुद्ध के बाद अपनी मृत्यु से पहले तक स्तालिन राज्य पर से पार्टी के प्रत्यक्ष नियन्त्रण को समाप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उनका प्रस्ताव था कि नेतृत्व के चुनाव के लिए गुप्त मतदान होना चाहिए, जिससे व्यापक जन-समर्थन वाले नेताओं को नेतृत्व में लाया जा सके। पार्टी में पहले से मौजूद नेतृत्व के उन लोगों के लिए, जो अपने व्यक्तिगत हितों के चलते विशेष-अधिकारों का एक घेरा तैयार कर चुके, स्तालिन का यह क़दम ख़तरनाक होता, यही कारण था कि यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। (बिन्दु 113-119, "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 1, ग्रोवर फ़र)
3. विश्वयुद्ध की समाप्ति के दौर में 1947 में स्तालिन और पोलिट ब्यूरो में उनका समर्थन करने वाले सदस्यों ने पार्टी नेतृत्व में मौजूद विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए पार्टी को राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से हटाने और जनवादी चुनावी प्रणाली लागू करने का प्रस्ताव पुनः रखा था जो लागू नहीं हो सका। 1952 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 19वीं कांग्रेस में अन्तिम बार स्तालिन ने इसका प्रयास किया, लेकिन इस कांग्रेस की रिपोर्ट का कोई ज़िक्र ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त भाषण में नहीं किया और आज तक यह रिपोर्ट तक प्रकाशित नहीं की गयी है। इस कांग्रेस में स्तालिन के भाषण का एक छोटा हिस्सा ही आज तक प्रकाशित किया गया है, जिसके अनुसार स्तालिन पार्टी के पद और संगठनात्मक ढाँचे में बदलाव करना चाहते थे। इन्हीं बदलावों के तहत स्तालिन ने पार्टी के महासचिव का पद समाप्त करने और ख़ुद महासचिव के पद से इस्तीफ़ा देकर 10 पार्टी सचिवों में से एक का हिस्सा बनने का प्रस्ताव रखा था। यदि स्तालिन के प्रस्ताव लागू कर दिये जाते तो उस समय राज्य के नियन्त्रण में मौजूद विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी पथगामियों और षड्यन्त्रकारियों का सत्ता में रहना मुश्किल हो जाता। (बिन्दु 2, 16, 17, 19, 21, "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 2, ग्रोवर फ़र)
4. सोवियत यूनियन के उस पूरे ऐतिहासिक दौर में स्तालिन द्वारा चलाये जा रहे संघर्षों की रोशनी में इन घटनाओं का विश्लेषण तथा सबूतों के आधार पर ग्रोवर फ़र ने मार्च 1953 में हुई स्तालिन की मृत्यु के बारे में लिखा है, "दौरा पड़ने के बाद या तो

स्तालिन को उनके दफ़्तर में मरने के लिए छोड़ दिया गया था या ज़हर देकर उनकी हत्या की गयी थी।" (बिन्दु 43, "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 2, ग्रोवर फ़र)।

5. स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत यूनियन का भविष्य पूरी तरह से पार्टी नेतृत्व के हाथों में आ गया। और इसने राज्य और आर्थिक क्षेत्र के सभी पदों पर अपनी इज़ारेदारी सुनिश्चित कर ली और पूरी तरह से किसी भी पूँजीवादी राज्य की तरह परजीवी के रूप में ख़ुद को सत्ता में स्थापित कर लिया। ख्रुश्चेव, गोर्बाचेव, येल्तसिन से लेकर पुतिन तक यही इज़ारेदार नेतृत्व आज तक रूस की सत्ता में मौजूद है जिन्होंने लम्बे समय तक अति-विशिष्ट कार्यकर्ताओं के रूप में सोवियत यूनियन की मेहनतकश जनता को निचोड़ा। (बिन्दु 45, 46, वही)

इस पूरे दौर का घटनाक्रम दर्शाता है कि अक्टूबर 1917 में क्रान्ति होने के बाद सोवियत यूनियन में पार्टी के अन्दर विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी पथगामी लगातार पैदा हो रहे थे और पहले समाजवादी राज्य की रक्षा में इन भ्रष्ट तत्वों के विरुद्ध स्तालिन के दौर में लगातार संघर्ष चलाया गया। लेकिन संघर्ष के सही विचारधारात्मक स्वरूप का विस्तार न कर पाने के कारण पूरा भरोसा राज्य के पदाधिकारियों पर किया गया और उनकी मदद से सज़ा देने का काम किया गया जिससे पार्टी में मौजूद षड्यन्त्रकारियों को अतिशय रूप से सज़ा देकर स्तालिन तथा राज्य को बदनाम करने का मौक़ा मिल गया। इन सभी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर देखें तो पार्टी और दुश्मन तथा जनता के बीच अन्तरविरोधों को हल करने की जो विचारधारात्मक समझ चीनी पार्टी ने महान बहस में प्रस्तुत की, यह सही है कि स्तालिन उस दौर में इन अन्तरविरोधों को हल करने की सही लाइन विकसित नहीं कर सके। यह स्तालिन की ग़लती नहीं, बल्कि उस दौर की एक व्यावहारिक सीमा थी। महान बहस के दौरान चीनी पार्टी ने सोवियत यूनियन के अनुभवों का सार संकलन करते हुए कहा,

"अगर कहा जा सकता है कि अक्तूबर क्रान्ति ने सभी देशों के मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सकारात्मक अनुभव प्रस्तुत किये तथा सर्वहारा वर्ग द्वारा राज्यसत्ता हथियाये जाने का रास्ता खोल दिया, तो यह भी कहा जा सकता है कि ख्रुश्चेव के संशोधनवाद ने उनके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण नकारात्मक अनुभव भी प्रस्तुत किये हैं, जिससे सभी देशों के मार्क्सवादी-लेनिनवादी, सर्वहारा पार्टी और समाजवादी राज्य के पतन की रोकथाम के लिए उचित सबक़ सीख सकें।" (म.ब., पृष्ठ 362)

सोवियत यूनियन के इन अनुभवों के आधार पर ही चीन की पार्टी ने पार्टी में मौजूद इन अन्तरविरोधों को हल करने तथा दो लाइनों के बीच संघर्ष की इस लाइन को महान सर्वहारा क्रान्ति के प्रयोग में सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाया तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के स्वरूप को और आगे विकसित किया।

8. सोवियत यूनियन की 20वीं पार्टी कांग्रेस (1956) में ख्रुश्चेव का गुप्त भाषण

स्तालिनकाल का मूल्यांकन और उस दौर के बारे में अब जितने खुलासे हुए हैं, उनके आधार पर हम ख्रुश्चेव के गुप्त भाषण के पीछे छिपे मूल मक़सद को समझ सकते हैं। 1917 में अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत यूनियन में समाजवादी निर्माण के पहले ऐतिहासिक प्रयोग

के दौरान लेनिन और फिर स्तालिन के नेतृत्व में सर्वहारा की संगठित शक्ति ने प्रतिक्रान्तिकारियों द्वारा क्रान्ति का तख़्तापलट करने के मंसूबों पर पानी फेरने से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक पूरी दुनिया को हिटलर और फासीवाद से मुक्ति दिलाने में अभूतपूर्व सफलता के साथ नेतृत्व किया था। सोवियत यूनियन में जनता के जीवनस्तर में गुणात्मक वृद्धि हुई थी, बेरोज़गारी और ग़रीबी जैसी पूँजीवादी बीमारियों को जड़ से समाप्त कर दिया गया था, महिलाओं को समाज में बराबरी का दर्ज़ा किसी भी अन्य पूँजीवादी देश से बेहतर रूप में मिला हुआ था, शिक्षा का समान अधिकार हर व्यक्ति को मिल चुका था और नाममात्र की जनसंख्या अशिक्षित बची थी, औद्योगिक-तकनीकी तथा वैज्ञानिक विकास के क्षेत्र में सोवियत यूनियन अनेक सफलताएँ हासिल कर रहा था। सोवियत यूनियन के समाजवादी प्रयोगों ने पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता के सामने यह सिद्ध कर दिया था कि सर्वहारा वर्ग की समाजवादी सत्ता, जो एक वर्गहीन समाज के निर्माण के लिए संघर्षरत है, मानव समाज के विकास में सभी पुराने वर्ग समाजों की तुलना में एक लम्बी अग्रवर्ती छलांग है।

स्तालिनकाल की इन महान सफलताओं में स्तालिन के नेतृत्व की मान्यता के रहते ख्रुश्चेव के चारों और संगठित हुए विशेषाधिकार प्राप्त भ्रष्ट गुटों और पूँजीवादी पथगामियों के लिए अपनी संशोधनवादी मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी नीतियाँ लागू करना सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में पार्टी के नेतृत्व पर क़ाबिज़ इस संशोधनवादी गुट के लिए ज़रूरी था कि अपनी सर्वहारा विरोधी सुधारवादी नीतियों पर पर्दा डालने के लिए पहले स्तालिन और स्तालिन के पूरे दौर को बदनाम करता। 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव ने 1956 तक सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर इस संशोधनवादी खेमे के समर्थन आधार का विस्तार किया और 1956 की 20वीं पार्टी कांग्रेस में अपना गुप्त भाषण पढ़ा जिसमें व्यक्ति पूजा समाप्त करने के नाम पर स्तालिन पर अनेक झूठे आरोप लगाये और सोवियत यूनियन के समाजवादी संक्रमण के दौरान हुई सभी ग़लतियों के लिए स्तालिन को दोषी ठहराकर उनका पूर्ण निषेध कर दिया। महान बहस में यह स्पष्ट रूप से चिन्हित किया कि,

"स्तालिन के ऊपर अपने भयानक हमले दुहराने में, सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का उद्देश्य इस महान सर्वहारा क्रान्तिकारी के अमिट प्रभाव को सोवियत संघ की जनता के बीच से और पूरी दुनियाभर से मिटा देना था, और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को, जिसकी स्तालिन ने रक्षा की थी और जिसे उन्होंने विकसित किया था, नकारने का रास्ता तैयार करना तथा संशोधनवादी कार्यदिशा को पूरी तरह लागू करना था। उनकी संशोधनवादी कार्यदिशा ठीक बीसवीं कांग्रेस से शुरू हुई और बाईसवीं कांग्रेस में पूरी तरह व्यवस्थित हो गयी। तथ्यों ने निरन्तर अधिक स्पष्टता से यह दिखाया है कि साम्राज्यवाद, युद्ध और शान्ति, सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व, उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में क्रान्ति, सर्वहारा की पार्टी इत्यादि के बारे में मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों के उनके संशोधन स्तालिन को उनके पूरी तरह नकारने से अविच्छेद्य ढंग से जुड़े हुए हैं।" (म.ब., पृष्ठ 101)

अपने भाषण में स्तालिन पर कीचड़ उछालकर ख्रुश्चेव ने सर्वहारा वर्ग के नेता के रूप में स्तालिन को ही नहीं, बल्कि उस पूरे दौर में लागू की गयी नीतियों, सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी संक्रमण के मूल मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को पूरी दुनिया में बदनाम करने की धूर्ततापूर्ण कोशिश की। जिसने पूरे विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलनों में सैद्धान्तिक स्तर पर एक विभ्रम की स्थिति पैदा कर दी थी। इस वक्तव्य के माध्यम से ख्रुश्चेव ने समाजवाद को बदनाम करने का एक और मौक़ा साम्राज्यवादियों की झोली में डाल दिया।

लेनिन ने अपने दौर में आन्दोलन में मौजूद ग़लत प्रवृत्तियों के प्रति बहसों का हवाला देते हुए कहा था कि *"कभी-कभी गरुड़ मुर्ग़ियों से नीचे उड़ सकते हैं, लेकिन मुर्ग़ियाँ कभी भी गरुण की ऊँचाई तक नहीं उठ सकतीं।"* (म.ब., पृष्ठ 93) इस उद्धरण को स्तालिन और ख्रुश्चेव के सन्दर्भ में आसानी से समझा जा सकता है। चीनी पार्टी ने ख्रुश्चेव द्वारा स्तालिन के पूर्ण निषेध के पीछे मूल कारण के बारे में कहा था, *"स्तालिन के प्रति इस गाली-गलौज में, ख्रुश्चेव, दरअसल, सोवियत व्यवस्था और राज्य की अन्धाधुन्ध भर्त्सना कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में उनका भाषण काउत्सी, त्रात्स्की, टीटो और जिलास जैसे भगोड़ों की भाषा से किसी भी तरह कमज़ोर नहीं, बल्कि वास्तव में, उनसे भी तीक्ष्ण है।"* (म.ब., पृष्ठ 97)

ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त वक्तव्य में स्तालिन को "हत्यारा", "निरंकुश शासक", "इतिहास का सबसे बड़ा तानाशाह" जैसे सम्बोधनों से नवाज़ा था और व्यक्तिपूजा के अनेक आरोप लगाये थे, जो सभी झूठ थे। आज यह पर्दा हट चुका है कि स्तालिन पर ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त भाषण में जो भी आरोप लगाये थे, सारे झूठ थे। इसका विस्तृत विवरण तथ्यों के साथ ग्रोवर फ़र की पुस्तक "ख्रुश्चेव के 61 झूठ" में देखा जा सकता है, जो पूरी सोवियत यूनियन के लेखागार के दस्तावेज़ों में मिले तथ्यों के अध्ययन पर आधारित है।

पूरी दुनिया में आज तक आधुनिक संशोधनवादी, त्रात्स्कीपन्थी, अराजकतावादी ख्रुश्चेव द्वारा तैयार किये गये "स्तालिन की ग़लतियों" के पर्दे की आड़ लेकर सर्वहारा वर्ग के साथ अपनी ग़द्दारी को छुपाने का काम कर रहे हैं। सर्वहारा वर्ग के प्रति ख्रुश्चेव की इस ग़द्दारी के झण्डे को उठाकर पूरी दुनिया के साम्राज्यवादी-पूँजीवादी आज तक कम्युनिस्ट आन्दोलनों को बदनाम करने और पूँजीवादी समाज में दमन-उत्पीड़न से जूझ रही मेहनतकश जनता के बीच समाजवाद के प्रति सन्देह पैदा करने के लिए हर सम्भव कोशिश में लगे हैं, ताकि आने वाले समय में कम्युनिस्ट आन्दोलनों को दिग्भ्रमित किया जा सके और व्यापक मेहनतकश जनता की लूटमार और शोषण पर खड़े अपने स्वर्ग के टापू को उजड़ने से बचाया जा सके।

9. साम्राज्यवाद के साथ सहअस्तित्व तथा युद्ध और शान्ति का सवाल

साम्राज्यवादियों द्वारा परमाणु बम की गीदड़भभकियों से भयभीत होकर ख्रुश्चेव पूरे समाजवादी खेमे में यह प्रचार कर रहे थे कि साम्राज्यवादी देशों के साथ समाजवादी देशों का शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व सम्भव है। और यदि समाजवादी अपनी तरफ़ से इस "शान्ति" के लिए प्रयास नहीं करेंगे तो आने वाले समय में परमाणु युद्ध से पूरी मानवता का भविष्य नष्ट हो जायेगा। इसी डर के प्रभाव में ख्रुश्चेव ने साम्राज्यवाद के साथ कई समझौते किये, और क्रान्तिकारी सोवियत जनता से साम्राज्यवादियों के सामने अपने हथियार डाल देने के अपने नीचतापूर्ण मंसूबों को अंजाम दिया। यह ख्रुश्चेव का एक बेहद कायरतापूर्ण क़दम था और मेहनतकश जनता की अनेक कुर्बानियों के साथ खुली ग़द्दारी थी। यदि कम्युनिस्ट नेताओं को जनता पर विश्वास न हो तो वे साम्राज्यवादियों की गीदड़-भभकियों से डर जाते हैं, और उनकी यह कायरता उन्हें जनता के साथ ग़द्दारी करने के लिए नये-नये बहाने गढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में ख्रुश्चेव इस ग़द्दारी और कायरता का जीता-जागता उदाहरण थे।

"आम दिशा के बारे में एक सुझाव" में चीनी पार्टी ने मानवीय उपादानों की भूमिका के बारे में कहा था, *"मार्क्सवादी-लेनिनवादियों का विचार है कि इतिहास का निर्माण जनता करती*

है। अतीत काल की ही तरह वर्तमान काल में भी मनुष्य निर्णयात्मक तत्व है। तकनोलॉजिकल परिवर्तन की भूमिका को मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवश्य महत्व देते हैं, लेकिन मनुष्य की भूमिका को कम आँकना तथा तकनोलॉजी की भूमिकी को बढ़ा-चढ़ाकर आँकना ग़लत है।"

"जैसे अतीत काल में नयी तकनोलॉजी का उदय पुरानी व्यवस्थाओं को उनके विनाश से नहीं बचा सका, उसी तरह नाभिकीय शस्त्रों का उदय न तो मानव जाति के इतिहास के विकास को रोक सकता है और न ही व्यवस्था को बचा सकता है।" (म.ब., पृष्ठ 22)

महान बहस ने युद्ध और शान्ति के सवाल को स्पष्ट करते हुए बताया कि वैश्विक स्तर पर शान्ति तब तक हासिल नहीं की जा सकती और साम्राज्यवादी युद्धों के ख़तरों को तब तक नहीं टाला जा सकता, जब तक पूरी दुनिया के सभी देशों की सर्वहारा जनता समाजवाद की स्थापना नहीं कर लेती। लेनिन ने पहले ही कहा था कि विदेश नीति का बुनियादी उसूल सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद है जो साम्राज्यवाद के आक्रमण और युद्ध की नीति के विरुद्ध है। उन्होंने कहा था, "...पूँजीपति वर्ग, चाहे कितना ही शिक्षित और जनवादी क्यों न हो, उत्पादन के साधनों की निजी मिल्कियत की रक्षा करने के लिए अब किसी भी किस्म का धोखा देने या अपराध करने में, लाखों मज़दूरों और किसानों की हत्या करने में नहीं हिचकिचाता।" (म. ब., पृष्ठ 206) ऐसे में *"विश्वशान्ति की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि लगातार साम्राज्यवाद का पर्दाफ़ाश किया जाये तथा साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए जनता को जगाया जाये और संगठित किया जाये..."* (म.ब., पृष्ठ 197)

अनुभवों का सारसंकलन करते हुए महान बहस में कहा गया है कि, *"समाजवादी देशों की विदेश नीति की आम दिशा की अन्तर्वस्तु यह होनी चाहिए : समाजवादी खेमे के देशों के साथ सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के उसूल के मुताबिक़ मैत्री, आपसी सहायता और सहयोग के सम्बन्धों का विकास करना; भिन्न समाज-व्यवस्था वाले देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए प्रयत्न करना तथा साम्राज्यवाद की आक्रमण व युद्ध की नीतियों का विरोध करना; तथा सभी उत्पीड़ित जनता और राष्ट्रों के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करना और उनकी सहायता करना। ये तीनों पहलू एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखते हैं तथा इनमें से एक को भी छोड़ा नहीं जा सकता।"* (म.ब., पृष्ठ 228)

साम्राज्यवाद के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के रास्ते के बारे में चीनी पार्टी का कहना था कि, *"यह विश्वशान्ति की रक्षा करने का रास्ता नहीं है, बल्कि युद्ध के अपेक्षाकृत अधिक ख़तरे की ओर ले जाने वाला ख़ुद युद्ध की ओर ले जाने वाला रास्ता है। ... दुनिया के कम्युनिस्ट और दुनिया की जनता निश्चित रूप से नया विश्वयुद्ध छेड़ने की साम्राज्यवादी साज़िश को चकनाचूर कर देंगे और विश्वशान्ति की रक्षा कर सकेंगे, बशर्ते कि वे साम्राज्यवादी धोखाधड़ी का पर्दाफ़ाश कर दें, संशोधनवादियों की झूठी बातों को पहचानें और विश्वशान्ति के कार्य को अपने कन्धों पर उठा लें।"* (म.ब., पृष्ठ 198-199)

ख्रुश्चेव की इन नीतियों से पर्दा उठाते हुए चीनी पार्टी ने महान बहस में स्पष्ट किया कि साम्राज्यवाद के मौजूद रहते विश्व शान्ति हासिल नहीं की जा सकती। हर समाजवादी राज्य का अन्तिम लक्ष्य पूरी दुनिया के स्तर पर एक साम्यवादी समाज की स्थापना करना है, अकेले एक देश में कम्युनिस्ट समाज की स्थापना सम्भव नहीं है और पूरी दुनिया के सभी देशों में एक साथ समाजवादी क्रान्ति भी सम्भव नहीं है, इसलिए एक देश में समाजवादी क्रान्ति होने के बाद उसकी भूमिका होगी कि वह अन्य देशों में संघर्षरत सर्वहारा की मदद करे।

"समाजवादी सभी देशों में एक साथ विजयी नहीं हो सकता। वह पहले किसी एक देश

में या कुछ देशों में विजयी होगा, जबकि बाक़ी देश कुछ समय तक पूँजीवादी या पूर्व-पूँजीवादी ही रहेंगे। एक देश में समाजवाद की स्थापना का दूरगामी उद्देश्य है कि वह समाजवादी देश पूरी दुनिया के स्तर पर कम्युनिस्ट आन्दोलनों की मदद करने में अपनी भूमिका निभाये।" (म.ब., पृष्ठ 201)

लेनिन और स्तालिन ने बताया था कि *"समाजवादी देश, जिसने सर्वहारा अधिनायकत्व क़ायम कर लिया है, विश्व सर्वहारा क्रान्ति को आगे बढ़ाने वाला एक अड्डा है।" "किसी देश में विजय प्राप्त करने वाली क्रान्ति को ख़ुद के बारे में यह नहीं समझना चाहिए कि वह अपने आप में पूर्ण इकाई है, बल्कि यह समझना चाहिए कि वह तमाम देशों के सर्वहारा वर्ग की विजय की रफ़्तार बढ़ाने की सहायक और साधन है।... वह इसके (विश्व क्रान्ति के) और अधिक विकास के लिए एक शक्तिशाली अड्डा बन जाती है।"* (म.ब., पृष्ठ 219)

दस्तावेज़ों में आगे कहा गया है कि,

"सर्वहारा वर्ग समूची मानव जाति को मुक्त कराने के बाद ही अन्त में ख़ुद मुक्त हो सकता है। सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक कार्य के दो पहलू हैं, एक अन्दरूनी और दूसरा अन्तरराष्ट्रीय। अन्दरूनी कार्य मुख्य रूप से यह है : सभी शोषक वर्गों को पूर्ण रूप से ख़त्म करना, समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकास की चरम सीमा पर पहुँचा देना, जनता की कम्युनिस्ट चेतना को ऊँचा उठाना, समूची जनता की मिल्कियत और सामूहिक मिल्कियत के फ़र्क़ को ख़त्म करना, मज़दूरों और किसानों, शहरों और देहातों तथा बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों के फ़र्क़ को मिटा देना, तथा "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार और हरएक को उसकी ज़रूरत के अनुसार" के उसूल पर अमल करने वाले कम्युनिस्ट समाज की स्थापना के लिए स्थितियाँ तैयार करना। अन्तरराष्ट्रीय कार्य मुख्य रूप से यह है : अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद के हमलों की (जिनमें सशस्त्र हस्तक्षेप और शान्तिपूर्ण उपायों से छिन्न-भिन्न करना दोनों शामिल हैं) रोकथाम करना तथा जब तक सभी देशों की जनता साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और शोषण-व्यवस्था को अन्तिम रूप से समाप्त नहीं कर लेती, तब तक विश्व क्रान्ति का समर्थन करते रहना। इन दोनों कार्यों की पूर्ति से पहले, तथा कम्युनिस्ट समाज के उदय से पहले, सर्वहारा अधिनायकत्व बिल्कुल अनिवार्य है।" (म.ब., पृष्ठ 330)

यूगोस्लाविया में साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ करके पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कर चुके टीटोपन्थियों का विश्लेषण कर चीनी पार्टी ने स्पष्ट किया कि, *"जब तक साम्राज्यवाद मौजूद है, तब तक यह कहने का कोई आधार नहीं है कि समाजवादी देशों में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का ख़तरा मिट चुका है।"* (म.ब., पृष्ठ 141) इसलिए पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों को अपने दीर्घकालिक लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए, *"पूँजीवादी देशों के कम्युनिस्टों को चाहिए कि वे फ़ौरी संघर्षों का सक्रियता से नेतृत्व करने के साथ-साथ उन्हें दीर्घकालिक और आम हितों के संघर्ष के साथ जोड़ दें, जनता को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की क्रान्तिकारी भावना से शिक्षित करें, उसकी राजनीतिक चेतना को लगातार ऊँचा उठाते जाये तथा सर्वहारा क्रान्ति का ऐतिहासिक काम पूरा करें।"* (म.ब., पृष्ठ 13)

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के तहत अलग-अलग समाज व्यवस्था वाले देशों के साथ समाजवादी देश के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का यह अर्थ नहीं है कि वह उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे। बहस में स्पष्ट किया गया कि *"वर्ग-संघर्ष, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष तथा विभिन्न देशों में पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण... ये सब संघर्ष कटु और जीवन-मरण के*

संघर्ष हैं, जिनका उद्देश्य समाज-व्यवस्था को बदलना है। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों की जगह नहीं ले सकता। किसी भी देश में पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण केवल उस देश की सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के ज़रिये ही हो सकता है।" (म.ब., पृष्ठ 220)

विश्व युद्ध और परमाणु बमों से डरकर युद्ध को नहीं रोका जा सकता, बल्कि उसे क्रान्ति के माध्यम से पूँजीवादी साम्राज्यवादी होड़ को ध्वस्त करने के बाद ही विश्व शान्ति स्थापित की जा सकती है।

10. महान बहस में सोवियत यूनियन के अनुभव का समाहार और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति

1963-64 के दौरान महान बहस में आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए माओ के नेतृत्व में चीनी पार्टी ने आने वाले समय में हुई **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की भूमिका तैयार की और सभी अनुभवों का सार-संकलन करते हुए मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सैद्धान्तिक विकास में एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी।** महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित एक महान राजनीतिक विचारधारात्मक क्रान्ति थी जिसमें व्यापक मेहनतकश जनता की भागीदारी का आह्वान करते हुए बहसों, आलोचना और राजनीतिक लामबन्दी के साथ वर्ग-संघर्ष को संचालित करने के लिए सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व लागू करने का पहला महान प्रयोग किया गया।

10 वर्ष तक चली सांस्कृतिक क्रान्ति में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मेहनतकश जनता की अपार शक्ति की मदद से आर्थिक जगत, सामाजिक संस्थाओं, संस्कृति और मूल्यों के साथ-साथ कम्युनिस्ट पार्टी के रूपान्तरण का काम शुरू किया गया था। पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष की शुरूआत करते हुए माओ ने व्यापक जनसमूह का आह्वान किया और कहा कि बुर्जुआ "मुख्यालयों को तहस-नहस कर दो" और "मुट्ठीभर पूँजीवादी पथगामियों को, जो समाज को वापस पूँजीवाद के चंगुल में धकेलना चाहते हैं, उखाड़ फेंको"।

चीन में सदियों से कलाकार, बुद्धिजीवी और विशेषज्ञ शहरों में संकेन्द्रित हो चुके थे और समाज की आम मेहनतकश जनता से कटे हुए थे। सांस्कृतिक क्रान्ति का एक उद्देश्य चीन में सदियों से मौजूद इस सांस्कृतिक केन्द्रीकरण को तोड़ना था जिसके तहत कलाकारों, डॉक्टरों, तकनीशियनों, वैज्ञानिकों तथा सभी तरह के शिक्षित लोगों को मज़दूरों और किसानों के बीच जाने और क्रान्तिकारी आन्दोलनों में शामिल होने का आह्वान किया गया। समाज में मौजूद मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच, शहरों और देहातों के बीच, उद्योगों और कृषि के बीच और पुरुष और महिलाओं के बीच अन्तर को समाप्त करने के लिए सामाजिक स्तर पर बहसों को प्रोत्साहित किया गया। नये समाजवादी मूल्यों का प्रसार करने और पूँजीवादी व्यक्तिवादी मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए "जनता की सेवा करो" और देहात की ओर चलो का नारा दिया गया और बड़ी संख्या में नौजवानों और विशेषज्ञों ने इस आह्वान का स्वागत किया। शिक्षा में आमूलगामी परिवर्तन किये गये, पहले शिक्षा और योग्यता को दूसरों से आगे रहने और दूसरों की तुलना में अधिक सुविधा और विशेषाधिकार प्राप्त करने का एक माध्यम माना जाता था, सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान शिक्षा

और योग्यता को सामूहिक हितों के लिए प्रोत्साहित किया गया। फ़ैक्टरियों में एक व्यक्ति द्वारा प्रबन्धन को समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह मज़दूरों, तकनीशियनों और कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की तीन-पक्षीय समितियों ने दैनिक प्रबन्धन को अपने हाथ में ले लिया।

महान सर्वहारा क्रान्ति के दौरान व्यापक जनसमूह की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए सही विचारों को परखने के लिए सार्वजनिक बहसें आयोजित की जाती थीं, जिससे पूँजीवादी विचारों को जनता के सामने लाकर उन पर वाद-विवाद किया जा सके। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान यह सिद्धान्त अपनाया कि सहयोगियों के साथ एकता को सुदृढ़ करो, ढुलमुल तत्वों को अपने पक्ष में लो, और विरोधी तत्वों को सार्वजनिक वाद-विवाद करते हुए जनता के सामने उजागर करो और अलगाव (Isolation) में डाल दो। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान विचारधारात्मक संघर्ष के महत्व को रेखांकित करते हुए माओ ने कहा था, "राजनीतिक सत्ता को उखाड़ फेंकने से पहले अनिवार्य रूप से इस बात की कोशिश की जाती है कि ऊपरी ढाँचे और विचारधारा पर अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया जाये, ताकि लोकमत तैयार किया जा सके, तथा यह बात क्रान्तिकारी वर्गों और प्रतिक्रियावादी वर्गों दोनों पर लागू होती है।" इस आधार पर माओ ने आह्वान किया कि "हम सर्वहारा तत्वों का पालन-पोषण करने के लिए और पूँजीवादी तत्वों को नेस्तनाबूद कर देने के लिए विचारधारा के क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष चलायें।" (महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अमर रहे, हुङछी का सम्पादकीय, अंक 8, 1966)

समाज के आर्थिक और वैचारिक रूपान्तरण के लिए व्यापक मेहनतकश जनता की राजनीतिक भागीदारी मानव इतिहास में इससे पहले कभी नहीं देखी गयी थी। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में आर्थिक सम्बन्धों, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं, और संस्कृति, आदतों तथा विचारों को बदलने में इतिहास का सबसे मौलिक प्रयोग किया गया।

महान सर्वहारा क्रान्ति ने 10 साल (1966 से 1976) तक चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना को रोके रखा और कई सामाजिक तथा संस्थागत बदलावों के साथ "जनता की सेवा करो" के आधार पर समाज को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। [References from & http://www.revcom.us]

1976 में माओ की मृत्यु के बाद देंग-सियाओ-पिङ के नेतृत्व में संशोधनवादी तख़्तापलट करके एक बार फिर सोवियत यूनियन के ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के इतिहास को दोहराया गया और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के लिए रास्ते खोल दिये गये। वर्तमान संशोधनवादी चीनी पार्टी चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना को पूरी तरह से अंजाम दे चुकी है। चीन में संशोधनवादियों द्वारा तख़्तापलट कर पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के साथ सर्वहारा क्रान्तियों का पहला ऐतिहासिक चक्र पूरा हो चुका है। आज साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण का यह दौर पूरी दुनिया में विभिन्न रूपों में पूँजीवाद की सुरक्षा पंक्ति बनकर पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों की गोद में बैठे सभी संशोधनवादी ग़द्दारों और साम्राज्यवाद द्वारा पाले-पोसे जा रहे अनेक संशोधनवादी सिद्धान्तकारों के विरुद्ध एक खुली बहस चलाने की माँग कर रहा है, ताकि आने वाले समय में सही विचारधारात्मक समझ के साथ क्रान्तियों का नया एक चक्र शुरू हो सके। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ ने कहा था कि पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग तथा पूँजीवाद और समाजवाद में "दो वर्गों और दो लाइनों के बीच संघर्ष एक, दो, तीन या चार सांस्कृतिक क्रान्तियों से तय नहीं हो पायेगा, बल्कि वर्तमान महान सांस्कृतिक क्रान्ति के परिणामों को कम से कम पन्द्रह

वर्षों तक सुदृढ़ करना होगा। हर सौ साल में दो या तीन सांस्कृतिक क्रान्तियाँ पूरी करनी होंगी। इसलिए हमें संशोधनवाद को उखाड़ फेंकने और किसी भी वक्त संशोधनवाद का विरोध करने के लिए अपनी ताक़त मज़बूत करने के काम को याद रखना होगा।" *(विदेशी सैनिक प्रतिनिधिमण्डल से अध्यक्ष माओ त्से-तुङ की बातचीत के अंश, 31 अगस्त, 1967)*

स्रोत सूची :

1 महान बहस, पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस, अन्तरराष्ट्रीय प्रकाशन

2 Documents of Great Debate (3 Volumes), International Publication

3 Political Economy (Sangai Political Text Book)

4 माओ त्से तुङ की संकलित रचनाएँ

5 राज्य और क्रान्ति

6 कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र

7 'Khrushchev Lied' by Grover Furr

8 "Stalin and the Struggle for Democratic Reform", Part 1 and 2 by Grover Furr

9 Documents of Great Proletarian Cultural Revolutions and Great Leap Forward on http://www.revcom.us

10 http://www.thisiscommunism.org

11 "On Cooperation" January 6, 1923, Lenin http://www.marxists.org/archive/lenin/works/1923/jan/06.htm

12 The Truth About the Cultural Revolution, http://www.revcom.us/a/1251/communism_socialism_mao_china_facts.htm

13 Documents of marxists.org

14 Reject the Revisionist Theses of the XX Congress of the Communist Party of the Soviet Union and the Anti-Marxist Stand of Krushchev's Group! Uphold Marxism-Leninism!" by Enver Hoxha, Moscow, 16 November, 1960

15 **C.I.A. Tie Aserted in Indonesia Purge, The New York Times,** July 12, 1990

[http://www.nytimes.com/1990/07/12/world/cia-tie-aserted-in-indonesia-purge.html?pagewanted=all&src=pm]

Commemorating Chile's Military Coup, September 11, 1973: Chile and Latin America Forty Years Later, Global Research, September 11, 2013

[http://www.globalresearch.ca/commemorating-chiles-military-coup-september-11-1973-chile-and-latin-america-forty-years-later/5349284]

CIA Admits Involvement in Chile, W A S H I N G T O N, Sept. 20

[http://abcnews.go.com/International/story?id=82588]

Commemorating Chile's Military Coup, September 11, 1973: Chile and Latin America Forty Years Later, Global Research, September 11, 2013

[http://www.globalresearch.ca/commemorating-chiles-military-coup-september-11-1973-chile-and-latin-america-forty-years-later/5349284]

'वामपन्थी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न'

प्रकाशक- पंज आब प्रकाशन, जालंधर
सम्पादक - बूटा सिंह

● सुखविन्दर

पिछले दिनों 'वामपन्थी अन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक कुछ प्रतिष्ठित समझे जानेवाले लेखकों के हिन्दी और अंग्रेजी से अनूदित लेखों व साक्षात्कारों का संग्रह है। इस में प्रो. रणधीर सिंह, सुमन्त बनर्जी और सुभाष गताड़े के लेखों के अलावा अरुन्धती राय और प्रो. उमा चक्रवर्ती के साक्षात्कार भीं शामिल किये गये हैं। पुस्तक का सम्पादकीय लेख हमें यह बताता है कि "हमारे देश का वामपन्थी आन्दोलन जनता के बीच अपने राजनीतिक प्रभाव और आधार को गहन और व्यापक बनाने के लिए कोई रास्ता निकाल पाने में असफल साबित हो रहा है। अकूत कुर्बानियों और बेशुमार संघर्षों की शानदार विरासत के बावजूद इस पर अतीत की भयंकर ग़लतियों और कमियों-कमज़ोरियों की काली परछाई भी है वहीं दूसरी तरफ वर्तमान और भविष्य की बड़ी चुनौतियों के बावजूद इससे उम्मीद की किरण भी मिलती है।" इन चुनौतियों और उनसे जुड़े प्रश्नों पर विचार विमर्श करने से अधिक इस पुस्तक के प्रकाशन का मकसद कदाचित उम्मीद की वह किरण दिखाना है जिसमें उपरोक्त 'नामवर चिन्तकों' के 'विचारों और टिप्पणियों' से मार्गदर्शन लेकर वामपन्थी आन्दोलन किसी नये रास्ते का संधान कर सकेगा और 'अतीत की 'भयंकर ग़लतियों और कमियों-कमजोरियों की काली परछाई' से स्वयं को मुक्त कर सकेगा। पुस्तक के सम्पादक और लेखकों का यहाँ वामपन्थी आन्दोलन से तात्पर्य सभी कम्युनिस्ट नामधारी

पार्टियों/संगठनों से है। इसमें वे घोषित रूप से संसदमार्गी हो चुकी पार्टियों यानी भाकपा, माकपा, और इनके विभिन्न हिस्सों और नक्सली कहे जाने वाले सभी ग्रुपों आदि को शामिल करते हैं। ज़ाहिर है वामपन्थी आन्दोलन की इस परिभाषा से ज़रा भी सहमत नहीं हुआ जा सकता। हमारे लिए वामपन्थी आन्दोलन से मतलब नक्सलबाड़ी आन्दोलन की ऐतिहासिक विरासत को मानने वाले उन ग्रुपों/संगठनों से है, जिन्होंने देश और दुनिया की परिस्थितियों के मूल्यांकन पर आपसी मतभेदों के बावजूद अपना सत्ता-विरोधी चरित्र बरकरार रखा हुआ है। भाकपा, माकपा और नक्सली पृष्ठभूमि वाले कई संगठन तो अब वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था के साथ पूरी तरह नाभिनालबद्ध हो चुके हैं। इन्हें वामपन्थी आन्दोलन का हिस्सा मानना, विचारधारात्मक दिवालियेपन के प्रदर्शन से अधिक कुछ नहीं है।

हर क्रान्तिकारी आन्दोलन अपने अतीत के व्यवहार से सीखता है, इसकी ग़लतियों, कमियों, कमज़ोरियों से भी और इसकी उपलब्धियों से भी। भारत के वामपन्थी या क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में भी यही सच है। इसके लिए उसे आन्दोलन से हमेशा एक सुरक्षित दूरी पर रहने वाले बुद्धिजीवियों की सलाह की कोई ज़रूरत नहीं होती। उनके बिना भी वह ऐसा करता रहा है। कम्युनिस्ट या कम्युनिस्ट आन्दोलन किसी से भी सीखने के लिए तैयार रहता है बशर्ते कि सिखाने वाला वास्तव में इस लायक हो। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो उपरोक्त पुस्तक के शुरू से अन्त तक कहीं भी न तो हमें कोई विचारधारात्मक अन्तर्दृष्टि मिलती है और न ही सोचने-विचारने लायक कोई प्रश्न। प्रो. रणधीर सिंह का लेख छोड़ दिया जाये (इसकी अपनी समस्याएँ हैं, जिनपर अलग से चर्चा की जायेगी) तो अन्य लेखक 'वामपन्थी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न' तो मुहैया नहीं कराते और न ही वे यह बताते हैं कि वामपन्थी आन्दोलन 'अतीत की ग़लतियों की काली परछाइयों' से कैसे मुक्त हो सकता है, उल्टे वे भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन और विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के गौरवमय इतिहास पर कीचड़ खूब उछालते हैं। सुमन्त बनर्जी जैसे लोग तो इस मामले में साम्राज्यवाद के भोंपू डिस्कवरी, नैट जीओ आदि चैनलों को भी मात दे रहे हैं।

दरअसल यह पुस्तक असंगतिपूर्ण, अनैतिहासिक दृष्टि और मनोगतवादी विश्लेषण का बेमिसाल नमूना है। इसकी शुरुआत तो सम्पादक द्वारा लिखी गई भूमिका से ही हो जाती है। पुस्तक का सम्पादक जिन 'गम्भीर ग़लतियों की काली परछाइयों' की बात करता है और लेखकगण जिन ग़लतियों के लिए, विशेषकर जाति प्रश्न के सन्दर्भ में, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन को कोसते नहीं थकते, वास्तव में वे ग़लतियाँ भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन ने कभी की ही नहीं। जाति प्रश्न, स्त्री प्रश्न आदि को सही ढंग से हल करने के मामले में अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो कमियाँ-कमजोरियां रही हैं उनकी जडों तक पहुँचने की बजाय ये लेखक (प्रो. रणधीर सिंह के सिवाय) इस प्रश्न को इस ढंग से उठा रहे हैं जैसे इसे हल करने में कम्युनिस्टों की नीयतन बेईमानी आड़े आ रही हो। उनमें कुछ तो (उदाहरण के तौर पर अरुन्धती राय) इसकी जड़ कम्युनिस्ट नेतृत्व की जातिगत संरचना में तलाशने लगते हैं।

जो व्यवहार और प्रयोग के धरातल पर कामों को अंजाम देता है, वह ग़लतियाँ भी करता है, यह व्यक्तियों के लिए भी सच है, पार्टियों और आन्दोलनों के लिए भी। दुनिया भर की कम्युनिस्ट पार्टियों से ग़लतियाँ हुई हैं और इन ग़लतियों से सीखते हुए ही वे आगे बढ़ी हैं। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अतीत में बहुत गम्भीर ग़लतियाँ की हैं लेकिन उन तमाम ग़लतियों के बावजूद उसने एक गौरवशाली इतिहास का निर्माण भी किया है।

रूस की अक्टूबर 1917 की विजयी समाजवादी क्रान्ति के बाद मार्क्सवाद का तेज़ प्रकाश

दुनिया के पिछड़े देशों, उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों की ओर भी फैलने लगा। रूसी क्रान्ति के प्रभाव में सबसे पहले 1920 में एम.एन.राय के नेतृत्व में ताशकन्द में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई लेकिन भारत में इसका कोई आधार नहीं था। फिर भारत में सक्रिय विभिन्न कम्युनिस्ट ग्रुपों की एकता के जरिये 1925 में सत्यभक्त के नेतृत्व में कानपुर में अलग से भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। औपनिवेशिक गुलामी से त्रस्त भारत में पैदा हुई यह कम्युनिस्ट पार्टी शुरू से ही विचारधारात्मक तौर पर बेहद कमज़ोर थी। 1933 तक इस पार्टी की कोई केन्द्रीय समिति तक नहीं थी। कोमिण्टर्न व चीन, जर्मनी और ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टियों के कई बार सुझाव देने के बाद 1933 में कानपुर कांग्रेस में भाकपा की पहली केन्द्रीय समिति चुनी गई। लेकिन इसके बाद भी पूरी पार्टी एक एकजुट बोल्शेविक केन्द्र के नेतृत्व में नहीं आ सकी। पार्टी में गुट बरकरार रहे। जब तक यह पार्टी एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टी बनी रही (1951 तक) इसने भारत के मेहनतकश लोगों की मुक्ति के लिए अकूत संघर्ष किया, अनेकों कुबार्नियाँ दीं। तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा वायलार इस गौरवशाली इतिहास के चमकते सितारे हैं। जहाँ एक तरफ पार्टी ने यह शानदार इतिहास रचा (1951 तक) वहीं दूसरी ओर पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी एक जन्मचिन्ह की तरह इससे चिपकी रही। 1951 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पास भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम नहीं था। 1951 में जैसे-तैसे एक कार्यक्रम तैयार किया गया वह भी सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के सुझावों को आधार बनाकर। भारत तब जनवादी क्रान्ति के दौर में था, कृषि क्रान्ति को इस क्रान्ति का धुरी बनना था, लेकिन पार्टी के पास कोई कृषि कार्यक्रम तक न था। मार्क्सवादी विज्ञान की कमज़ोर समझ के चलते भारत की कम्युनिस्ट पार्टी न तो सही अर्थों में अपना लेनिनवादी ढाँचा ही खड़ा कर सकी और न ही भारत की ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के आधार पर भारतीय क्रान्ति का एक सही कार्यक्रम, रणनीति और रणकौशल ही गढ़ पाई। अगर भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के अतीत की कमज़ोरियों की चर्चा की जाये तो इसकी केन्द्रीय कमज़ोरी मार्क्सवादी विज्ञान की इसकी कमज़ोर समझ थी, जिसके चलते मार्क्सवाद की सर्वजनीन सच्चाइयों को वह भारत की परिस्थितियों में सृजनात्मक ढंग से लागू नहीं कर सकी। विचारधारात्मक तौर पर वह हमेशा विश्व की बड़ी बिरादराना पार्टियों पर निर्भर रही। अतीत की विजयी क्रान्तियों की नकल करने की कठमुल्लावादी धुन इस पर सदा सवार रही। अगर ग़लतियों की बात की जाये तो भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर वास्तव में आज भी इस ग़लती की काली परछाई बरकरार है। आज भी कई क्रान्तिकारी ग्रुप देश और दुनिया के बदले हुए हालातों को समझने में असमर्थ हैं। उनके लिए दुनिया दूसरे विश्व युद्ध के पहले के समय में ही रुक गई है। भारत के कई क्रान्तिकारी ग्रुप तो आज भी भारत को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक देश मानते हैं जहाँ उन्हें नवजनवादी क्रान्ति सम्पन्न करनी है। उनके इस क्रान्ति का कार्यक्रम, रणनीति एक तरह से चीन की नवजनवादी क्रान्ति की हूबहू नकल पर आधारित है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के अतीत और वर्तमान के विभिन्न सामाजिक मसलों (जाति, लिंग, राष्ट्रीयता, धार्मिक अल्पसंख्यकों के मसले आदि) को हल करने में जो कमियाँ रही थीं/हैं उन्हें कम्युनिस्ट आन्दोलन की इस केन्द्रीय कमज़ोरी (विचारधारात्मक कमज़ोरी) के सन्दर्भ में रखकर देखा जाना चाहिए। इसी तरह से इसे सही ढंग से समझा जा सकता है और दूर किया जा सकता है। ज़ाहिर है कि उपरोक्त पुस्तक के सम्पादक और लेखक भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमज़ोरियों को सही सन्दर्भ में रखने में कामयाब नहीं हो सके।

अब हम इस पुस्तक में विभिन्न लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों की ओर लौटते हैं। सबसे पहले हम प्रो. रणधीर सिंह के लेख की चर्चा करते हैं। अन्य लेखकों के विचारों में काफ़ी कुछ साझा है उनकी चर्चा की ओर हम बाद में लौटेंगे।

प्रो. रणधीर सिंह के विचारधारात्मक विभ्रम

प्रो. रणधीर सिंह एक मार्क्सवादी चिन्तक के तौर पर जाने जाते हैं। लेकिन उनका मार्क्सवाद मार्क्स के ज़माने में ही रुक गया लगता है। वे मार्क्स के बाद मार्क्सवाद में लेनिन और माओ द्वारा किए गए इज़ाफ़े को नहीं समझते। वह मार्क्सवाद के पॉल स्वीज़ी-पन्थी संस्करण के पैरोकार हैं। कुछ समय पहले 'समाजवाद का संकट' नामक उनकी पुस्तक भी आई है जिसमें उन्होंने पॉल स्वीज़ी-पन्थी चश्मे से 20वीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को देखने की कोशिश की है और इससे भयानक नतीजे निकाले हैं। बेशक भारत की मेहनतकश जनता की मुक्ति और भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति प्रो. रणधीर सिंह के जेनुइन सरोकार हैं। इसके लिए वे चिन्तित भी रहते हैं। लेकिन विचारधारा के मामले में वह भी बुरी तरह विभ्रम के शिकार हैं। प्रस्तुत पुस्तक के उनके लेख में भी उनका विचारधारात्मक विभ्रम स्पष्ट झलकता है।

1992 में जालंधर के गदरी बाबाओं के मेले में दिया गया उनका वक्तव्य जो एक लेख की शक्ल में 'पंजाब के 1914-15 के क्रान्तिकारियों की याद में' शीर्षक से इस पुस्तक में शामिल है, इस बात को ही पुष्ट करता है कि स्वीज़ीपन्थी "मार्क्सवाद" के चश्मे ने चीज़ों को सही परिप्रेक्ष्य में उनके देखने समझने की प्रक्रिया को बुरी तरह बाधित कर रखा है। वक्तव्य में रूसी क्रान्ति के बारे में उनकी टिप्पणियों और भाकपा-माकपा जैसी संशोधनवादी पार्टियों के बारे में उनकी समझ को देखते हुए यह बात और स्पष्ट हो जाती है। वक्तव्य का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा भारत के 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' की समस्याओं को सम्बोधित है। 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' से उनका अभिप्राय मुख्य तौर पर 'मुख्य धारा के कम्युनिस्ट आन्दोलन से' है जिसका प्रतिनिधित्व माकपा और भाकपा करती हैं।

प्रस्तुत लेख में 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' की तुलना वे गदरी क्रान्तिकारी राजनीति से करते हैं और कुछ निराशाजनक नतीजों पर पहुँचते हैं। उनका कहना है कि गदरी क्रान्तिकारी राजनीति के तीन गहरे अन्तरसम्बन्धित पहलू ग़ौरतलब हैं। पहला, गदर के क्रान्तिकारियों के पास एक सुस्पष्ट रणनीतिक लक्ष्य था। दूसरा, तत्कालीन बुर्जुआ राष्ट्रवादी राजनीति की मुख्य धारा के सामान्तर उनके पास हथियारबन्द बग़ावत की एक आज़ाद और मुकम्मिल राजनीति थी। तीसरा पहलू था, गदरी क्रान्तिकारियों का जोशो-खरोश। आगे वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इन तीनों पहलुओं की दृष्टि से 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' यानी भाकपा, माकपा की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है। प्रो. रणधीर सिंह इस सरल सामान्य सी सच्चाई को समझ नहीं पा रहे कि जिसे वह 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' कह रहे हैं उसे काफ़ी पहले से ही इन तीनों ही चीजों की जरूरत नहीं रह गई थी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी 1951 तक इन तीनों ही पहलुओं से काफ़ी समृद्ध थी। भारतीय समाज की ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण, सही रणनीति व रणकौशल, आदि से सम्बन्धित तमाम समस्याओं के बावजूद पार्टी के पास भारत में समाजवाद की स्थापना का स्पष्ट रणनीतिक लक्ष्य था, बुर्जुआ राष्ट्रवादी आन्दोलन के समानान्तर एक आज़ाद ताकतवर कम्युनिस्ट आन्दोलन था और कम्युनिस्टों में क्रान्तिकारी जोश की कोई कमी नहीं थी। 1951 में पार्टी तेलंगाना का हथियारबन्द संघर्ष वापस लेने के बाद संसदमार्गी हो गई। 1951 में

सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के सुझावों के आधार पर भारत में लोक-जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम तैयार किया गया था, जो अपनी कई कमियों के बावजूद उस समय भारत के लिए प्रासंगिक था। लेकिन संसद की राह पकड़नेवाली पार्टी के लिए अब क्रान्ति का कार्यक्रम अलमारियों में धूल चाटने की चीज़ बन चुकी थी। 1956 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेव के संशोधनवादी गुट के सत्ता पर काबिज़ होने के साथ पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हुई और वहाँ से आए 'तीन शान्तिपूर्ण' के सिद्धान्त पहले से ही संशोधनवाद की राह पर चल रही भाकपा के लिए बिल्ली के भाग से छींका टूटने के समान था। 1964 में भाकपा में फूट पड़ गई और इसके एक धड़े ने अलग होकर माकपा का गठन किया। यह पार्टी तो पैदाइशी संशोधनवादी थी। अब इन पार्टियों का एकमात्र "रणनीतिक" लक्ष्य था- वोट के खेल में शामिल होकर संसदीय चुनाव के ज़रिए राज्यों और केन्द्र में सरकारें बनाना और पूँजीपति वर्ग की सेवा में सन्नद्ध होकर मजदूर वर्ग और आम मेहनतकशों का दमन करना। यही इनकी "आज़ाद और मुतबादल राजनीति" थी। ऐसी राजनीति के लिए किसी 'क्रान्तिकारी जोशो-खरोश' की कोई ज़रूरत नहीं थी। यह सब कुछ तो 1951 में ही घटित हो गया था और उस समय से लेकर 1992 तक (रणधीर सिंह का वक्तव्य आने के समय तक) तो इन पुलों के नीचे से काफ़ी गन्दा पानी बह चुका था। रणधीर सिंह के "मार्क्सवादी" शब्दकोश में संशोधनवाद नाम का शब्द ही गायब है। वह भाकपा, माकपा के पतन की बात तो करते हैं, लेकिन इसके कारणों को समझने से पूरी तरह अक्षम हैं। वह इन पार्टियों के क्षरित और मद्धिम पड़ चुके 'क्रान्तिकारी जोश' से बहुत दुखी और निराश हैं। उनका कहना है कि "लम्बे समय से दुख भोग रही यह मिट्टी, आज बिल्कुल हार चुकी है, इससे अब ऐसे दिल-गुर्दे वाले (गदरी क्रान्तिकारियों जैसे) इंसान जन्म नहीं लेते"।

प्रो. रणधीर सिंह काफ़ी लम्बे अरसे से भाकपा, माकपा के लिए काम करते रहे हैं। इन पार्टियों ने संशोधनवाद की राह पकड़ ली है (खासकर भाकपा, क्योंकि माकपा का तो जन्म ही संशोधानवाद के पालने में हुआ था), इस बात को वे नहीं समझते। अत: इन पार्टियों से वे निराश और दुखी भी हैं और साथ ही इनसे उम्मीदें भी पालते हैं। जब ये उम्मीदें पूरी होती नहीं दिखतीं देतीं तो इससे उपजी निराशा का वे सामान्यीकरण कर देते हैं (जैसाकि उपरोक्त कथन में उन्होंने किया है)। धरती को बांझ कहते हुए वे इस हकीकत को देख नहीं पाते कि भाकपा, माकपा द्वारा भारतीय क्रान्ति के साथ गद्दारी करने के बाद नक्सलबाड़ी धारा के क्रान्तिकारियों ने (कार्यक्रम की ग़लत समझ के बावजूद) महान क्रान्तिकारी परम्पराओं की हिफ़ाज़त की। यह सिलसिला आज भी जारी है। लेकिन रणधीर सिंह भाकपा, माकपा के प्रति अपने निराशापूर्ण मोहग्रस्तता के कारण इस सच्चाई को देखने से इन्कार कर देते हैं।

प्रो. रणधीर सिंह 1947 के बाद भारत में हुए परिवर्तनों को ठीक-ठीक चिह्नित करते हैं, और यहाँ हुए पूँजीवादी विकास की चर्चा करते हैं। वह कहते हैं कि मेहनतकशों की मुक्ति की लड़ाई अब किसी राष्ट्रवादी दायरे में नहीं लड़ी जा सकती। अब यह एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के साथ लड़ाई नहीं बल्कि देश के अन्दर ही सत्ता पर काबिज़ पूँजीपति वर्ग के खिलाफ़ मेहनतकश जनता की लड़ाई है। इसी तरह के विचार उन्होंने अधिक स्पष्टता के साथ अपने लेख 'एक राष्ट्रीय लक्ष्य का अन्त' में भी व्यक्त किए थे। उनका कहना है कि भारत के 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' राष्ट्रवाद की बीमारी से ग्रसित हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि उनके तथाकथित 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष के किसी भी चौखटे का कोई मतलब नहीं रह गया है। हालाँकि, उनकी यह बात कई नक्सली ग्रुपों के मामले में आज भी

सही साबित होती है। ये ग्रुप आज भी राष्ट्रवाद की बीमारी से मुक्त नहीं हो पाए हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद देश और दुनिया की परिस्थितियाँ भले ही आज कितनी भी क्यों न बदल चुकी हों लेकिन ये आज भी नवजनवादी क्रान्ति पर अड़े हुए हैं। इनके मुताबिक भारत में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार आज भी भारत के लोगों के एजण्डे पर है। जनवादी क्रान्तियों के कार्यभार ऐसे कार्यभार थे जो इतिहास ने 20वीं सदी के शुरू में मज़दूर वर्ग के कन्धों पर लाद दिए थे क्योंकि रूस में 1917 की अक्टूबर (समाजवादी) क्रान्ति के बाद एशिया, अफ्रीका व लातिनी अमेरिका आदि के उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और नव-उपनिवेशों का पूँजीपति वर्ग जनवादी क्रान्तियों को पूरा करने के अयोग्य हो गया था। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इतिहास ने मज़दूर वर्ग को इन कार्यभारों से मुक्त कर दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपरोक्त देशों ने विभिन्न ढंग से औपनिवेशिक जकड़बन्दी से मुक्ति हासिल की और पूँजीवादी विकास यहाँ आगे बढ़ा। आज ये देश साम्राज्यवाद से राजनीतिक तौर पर आज़ाद पूँजीवादी देशों की श्रेणी में आते हैं जो कि समाजवादी क्रान्ति के मंजिल में दाखिल हो चुके हैं। लेकिन हमारे ये क्रान्तिकारी ग्रुप मार्क्सवाद की कठ्ठमुल्ला समझ के चलते अतीत के कार्यभार वर्तमान में पूरा करने की ज़िद कर रहे हैं।

रणधीर सिंह ने अपने वक्तव्य में सोवियत संघ में समाजवाद की अवधि के बारे में भी कुछ दिक्कततलब टिप्पणियाँ की हैं। वह कहते हैं कि लेनिन के नेतृत्व में रूस में सर्वहारा क्रान्ति सफ़ल हुई लेकिन सत्तर वर्ष बाद उसके (लेनिन के) नालायक वारिसों के हाथों असफल हो गई। सोवियत संघ में ख्रुश्चेवी गुट द्वारा 1956 में सत्ता हथियाए जाने के बाद विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलन में यह बहस चल रही थी कि सोवियत यूनियन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो चुकी है या नहीं। आज यह प्रश्न ही ख़त्म हो चुका है लेकिन आज भी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन में इस प्रश्न पर बहस जारी है कि सोवियत यूनियन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कैसे और कब हुई। यह दोनों प्रश्न समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन प्रश्नों पर स्पष्टता की कमी या ग़लत अवस्थिति किसी भी विद्वान या पार्टी को संशोधनवाद की तरफ ले जाएगी।

1956 में ख्रुश्चेव गुट ने सोवियत संघ में जब पार्टी और राज्य को हथिया लिया तो तो सबसे पहले उसने लेनिन के बाद समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ानेवाले विश्व सर्वहारा वर्ग के महान नेता व शिक्षक स्तालिन पर हमला बोला। फिर मार्क्सवाद लेनिनवाद की मूल प्रस्थापनाओं पर प्रहार करते हुए उसने तीन शान्तिपूर्ण का सिद्धान्त और समस्त जनता की पार्टी, समूची जनता का राज्य आदि संशोधानवादी नीतियाँ प्रतिपादित की। यह स्पष्ट रूप में मार्क्सवाद से सम्बन्ध-विच्छेद था। यह सबकुछ "बदली परिस्थितियों" का हवाला देकर और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को विकसित करने के नाम पर किया जा रहा था। माओ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद को समझा और इसके खिलाफ़ संघर्ष चलाया। परन्तु पार्टी द्वारा ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के खिलाफ़ खुला संघर्ष चलाने में हुई देरी के कारण ख्रुश्चेव पन्थी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को भारी नुक़सान पहुँचाने में कामयाब रहे। सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बारे में माओकालीन चीनी पार्टी की समझ और विश्लेषण को इतिहास ने सही साबित किया। लेकिन आज भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जो सोवियत संघ में 1991 तक समाजवाद की मौजूदगी देखते हैं। प्रो. रणधीर सिंह भी 1991 तक सोवियत संघ में सर्वहारा सत्ता की मौजूदगी मानते हैं और 1991 में सोवियत संघ में 'समाजवाद को असफ़ल बनाने वालों' को वे लेनिन का वारिस कहते हैं। ऐसा बयान इतिहास के बारे में उनकी

ग़लत समझ को ही अभिव्यक्त करता है। इसी वक्तव्य में वह कहते हैं कि सोवियत संघ का 'वास्तविक समाजवाद' क्लासिकीय मार्क्सवाद द्वारा कल्पित समाजवाद का भद्दा रूप था। लेकिन इसकी कोई व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत नहीं की है। इसलिए इस बारे में हम यहाँ बस इतना ही कहेंगे कि किसी आदर्श समाजवाद के लिए किन्हीं आदर्श परिस्थितियों का इंतजार नहीं किया जा सकता। समाजवाद उपलब्ध वस्तुगत परिस्थितियों में पैदा होता और विकास करता है, और उसपर उन हालातों के जन्म-चिह्न का होना लाजिमी है। किसी आदर्श समाजवाद के लिए आदर्श परिस्थितियों का इंतजार निठ्ठले मुक्त चिन्तन की ओर ले जाती है।

इसके अतिरिक्त भी, उनके वक्तव्य में ऐसी कई टिप्पणियाँ हैं जो एतराज योग्य हैं लेकिन इन सभी पर चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं।

सुमन्त बनर्जी का कुत्साप्रचार

प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा महत्वपूर्ण लेख 'मार्क्स के बाद के हालात और क्रान्तिकारी परिवर्तन की चुनौतियाँ' है जो सुमन्त बनर्जी के किसी लम्बे लेख का संक्षिप्त संस्करण है। लेख पढ़कर ऐसा लगता है जैसे लेखक की मार्क्सवादी ज्ञान मीमांसा का मुख्य स्रोत नैट जीओ, डिस्कवरी जैसे साम्राज्यवादी मीडिया के भोंपू चैनल हैं। वह 20वीं सदी के समाजवादी निर्माण के गौरवशाली प्रयोगों पर जी भरकर कीचड़ उछालता है। मृत्युपर्यन्त समाजवाद की हिफ़ाज़त करने वाले और मज़दूर वर्ग के शत्रुओं का दृढ़तापूर्वक मुकाबला करनवाले महान नेता और शिक्षक कामरेड स्तालिन को यह निठल्ला अकादमिक बुद्धिजीवी 'आदर्शवादी क्रान्तिकारी' 'सनकी और वहशी' कहने की हद तक चला गया है। वह इन कम्युनिस्ट नेताओं पर चलते-चलाते ऐसी टिप्पणियाँ करता है, जिसके लिए न तो वह कोई दलील देना ज़रूरी समझता है और न ही कोई तथ्य। मार्क्स के बाद हुए परिवर्तनों को देखते हुए वह मार्क्सवाद के अधूरेपन की दम्भपूर्ण घोषणा करता नज़र आता है। कम्युनिस्ट पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा को वह तोड़ता-मरोड़ता है, और क्रान्ति व समाजवादी निर्माण में एक 'कम्युनिस्ट पार्टी' की भूमिका पर प्रश्न चिह्न लगाता है। कहा जाये तो उसके लेख में बुर्जुआ कुत्साप्रचार, उत्तर-आधुनिकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यावादी भूठ की भरमार है। यदि उसकी कोई बात सही भी है तो वह मौलिक नहीं है। त्रात्स्की के बारे में कहा जाता है कि जहाँ वह मौलिक बात करता है वहाँ वह ग़लत होता है और जहाँ वह सही बात करता है वहाँ वह मौलिक नहीं होता। जहाँ तक सुमन्त बैनर्जी का सवाल है तो उसके बारे में बस यही कहा जा सकता है कि वह कहीं भी मौलिक नहीं, न ही अपनी ग़लतियों के मामले में और न ही जब वह कोई सही बात करता है। आइये, अब हम इस लेख के कुछ महत्वपूर्ण नुक्तों की तरफ़ लौटते हैं।

1. लेखक को "नया" मार्क्सवाद चाहिए

अपने लेख के शुरू में ही लेखक मार्क्सवादियों (मार्क्सवादियों की आज विभिन्न किस्में मौजूद हैं। जिसमें हर कोई अपनी कथनी और करनी के लिए स्वयं ज़िम्मेदार है। लेकिन लेखक यहाँ कोई फर्क किए बगैर सभी को एक मानकर बात कर रहा है) की तुलना ऐसे शराबी से करता है जिसकी चाबियाँ गुम तो अँधेरी जगह में हुई हैं लेकिन वह ढूँढ़ उन्हें उस जगह रहा है जहाँ बल्ब का प्रकाश है। फिर वह प्रश्न करता है, "कभी-कभी मुझे हैरानी होने लगती है कि कहीं हमारा रवैया भी उसी शराबी जैसा तो नहीं? कहीं हम अपने समाज के

क्रान्तिकारी रूपान्तरण की चाबी एक ही राजनीतिक प्रकाश स्तम्भ के नीचे ढूँढने के लिए टक्करें तो नहीं मार रहे, हो सकता है कि चाबी उस बल्ब की रोशनी के दायरे के बाहर पड़ी हो। शायद यह हमारा विश्वास है कि हम जो तलाश करना चाहते हैं उसे परम्परागत मार्क्सवादी समझ के प्रकाश में ही ढूँढ़ा जा सकता है।" लेखक 'परम्परागत मार्क्सवादी क्लासिकीय' समझ को यहाँ पूरी तरह ख़ारिज नहीं करता। वह कहता है, "यह प्रकाश स्तम्भ पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और इसके मौजूदा बदनाम रूप नवउदारवादी वैश्वीकरण के बहुत सारे अँधेरे कोनों पर सचमुच ही रोशनी डाल रहा है।" लेकिन फिर पूछता है, "क्या पुराना मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ मौजूदा समाजिक-आर्थिक व्यवस्था के व्यापक बाहरी अँधेरे कोनों पर प्रकाश डालने के लिए काफ़ी है? क्या हमें मार्क्सवादी बल्ब की क्षमता नहीं बढ़ानी चाहिए जिससे यह वैश्वीकरण की नवउदारवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध के उन विभिन्न उभारों को अपने में समाहित कर सके जो ऐन पश्चिम के केन्द्र में और तीसरी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अमेरिकी वैश्विक रणनीति की ख़्वाहिशों के ख़िलाफ़ उठ रहे हैं? और साथ ही जिससे भारत के विभिन्न हिस्सों में रोषपूर्ण प्रदर्शनों के मौजूदा विस्फोटों के बीच से समाज के भावी क्रान्तिकारी रूपान्तरण की सम्भावनाएँ तलाशी जा सकें?"

लेख विसंगतियों से भरा है, एकतरफ लेखक "मौजूदा बदल चुके विश्व" को समझने और बदलने में मार्गदर्शन करने की मार्क्सवाद की क्षमता और प्रासंगिकता को मानता है तो दूसरी तरफ "परिवर्तनों" के बहाने वह मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाता है और इसे पूरी तरह खारिज करने तक जा पहुँचता है। वह कहता है, "आधुनिक विश्व में क्रान्तिकारी बदलाव की चाबी पुराने मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ के "पवित्र" दायरे के पार मौजूद है।"

इस पर सकारात्मक रूप से अपनी बात रखने से पहले लेखक से कुछ प्रश्न किए जा सकते हैं। मसलन, अगर समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की चाबी 'एक ही राजनीतिक प्रकाश स्तम्भ के नीचे' नहीं ढूँढ़ी जा सकती तो क्या इसे कई 'राजनीतिक प्रकाश स्तम्भों के नीचे' ढूँढना होगा? अगर 'पुराना मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ मौजूदा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के व्यापक बाहरी कोनों पर रोशनी डालने के लिए' नाकाफ़ी है तो उसका नया मार्क्सवादी 'प्रकाश स्तम्भ' कौन सा है? वह 'मार्क्सवादी बल्ब की क्षमता' को कैसे बढ़ाएगा या उसने यह क्षमता कितनी और कैसे बढ़ा ली है? अगर 'आधुनिक विश्व में परिवर्तन की चाबी पुराने मार्क्सवादी प्रकाश सतम्भ के पार कहीं मौजूद है' तो इस चाबी का दर्शन जरा हमें भी करवा दें?

लेखक ने "पुराने" मार्क्सवाद पर तो प्रश्नों की झड़ी लगा दी है लेकिन पूरे लेख में उसने कहीं भी अपने नये मार्क्सवाद के हमें दर्शन नहीं करवाए। लेखक के पास साकारात्मक रूप में कहने के लिए वास्तव में कुछ है भी नहीं। उसके लेख का एकमात्र मकसद कम्युनिस्ट आन्दोलन की भर्त्सना और कम्युनिस्ट कतारों में भ्रम पैदा करना ही है।

मार्क्स के बाद विश्व में बेशक काफ़ी परिवर्तन आए हैं। दुनियाभर के मार्क्सवादी इन बदलावों को खुले दिमाग से, वैज्ञानिकों जैसे साहस के साथ इन्हें समझने की कोशिशें भी करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। लेकिन इसके साथ ही कठमुल्ले मार्क्सवादियों की भी एक धारा रही है, जो परिवर्तनों की अनदेखी करके अप्रासंगिक हो चुके फार्मूलों को नयी बदली हुई परिस्थितियों पर लागू करने की कोशिश करती रही है। यह धारा आज भी विश्व वामपन्थी आन्दोलन में मौजूद है। इन कठमुल्लावादियों के अतिरिक्त मार्क्सवादी कहलाने वाले मुक्त चिन्तकों की भी एक धारा पूरी दुनिया में मौजूद रही है जो परिवर्तनों की आड़ लेकर

बुनियादी मार्क्सवादी अवधारणाओं पर प्रहार करती रही है, इन्हें ही ग़लत ठहरा कर, व्यवस्था का हिस्सा बनती रही है या सामाजिक परिवर्तन की परियोजना को त्याग कर भूतपूर्व "मार्क्सवादियों" या "कम्युनिस्टों" की उपाधियाँ हासिल करती रही है। सुमन्त बनर्जी के लक्षण भी इन्हीं मुक्त चिन्तकों जैसे ही हैं।

आजकल यह एक बहुत प्रचलित, फैशनेबल जुमला है कि मार्क्स के बाद दुनिया बहुत बदल गई है। अगर यह कहने वालों पलटकर प्रश्न करें कि क्या बदल गया है तो इनमें से अधिकतर फटी-फटी आँखों से देखने लगते हैं। अगर कहीं यह पूछ लिया जाए कि क्या कुछ ऐसा भी है जो मार्क्स के समय से लेकर अब तक नहीं बदला तो ये और भी घबरा जाते हैं। दुनिया निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द के जरिए विकास करती है। मार्क्स के बाद पूँजीवादी व्यवस्था में कई परिवर्तन आए हैं और कई पहलुओं की निरन्तरता भी बरकरार है। मुक्त चिन्तक सिर्फ बदलाव के पहलू पर ज़ोर देते हैं और कठमुल्ले सिर्फ निरन्तरता के पहलू पर। यह विश्लेषण की इनकी अधिभूतवादी पद्धति से पैदा होता है। द्वन्द्ववादी भौतिकवादी या कहें सच्चे मार्क्सवादी विकास प्रक्रिया के दोनों पहलुओं का अध्ययन करते हैं, उन्हें समझते हैं और फिर इसे बदलने की रणनीति व रणकौशल गढ़ते हैं।

मार्क्स के समय पूँजीवाद मुख्य रूप से एक यूरोपीय और उत्तर अमेरिकी परिघटना ही थी। यह स्वतंत्र प्रतियोगिता का पूँजीवाद था। 19वीं सदी के अन्त में स्वतंत्र प्रतियोगिता वाला पूँजीवाद एक नये दौर में दाखिल हुआ जिसे साम्राज्यवाद का दौर कहा जाता है। लेनिन ने पूँजीवाद की इस सर्वोच्च अवस्था, साम्राज्यवाद का विश्लेषण किया और इस बदले दौर में मज़दूर क्रान्तियों की रणनीति व रणकौशल गढ़े। पूँजीवादी विकास के इस दौर में लेनिन ने न सिर्फ मज़दूर आन्दोलन के भीतर और बाहर से मार्क्सवाद पर होने वाले हमलों से उसकी हिफ़ाज़त की बल्कि इसे आगे विकसित भी किया। मार्क्सवाद में लेनिन के अवदानों का समाहार करते हुए स्तालिन ने इन्हें लेनिनवाद कहा। उन्होंने कहा कि लेनिनवाद साम्राज्यवाद और मज़दूर क्रान्तियों के युग का मार्क्सवाद है। लेनिन के नेतृत्व में रूस में हुई पहली सफल क्रान्ति और इसके बाद लगभग चार दशकों में यहाँ हुए समाजवादी निर्माण के प्रयोगों ने मार्क्सवादी विचारधाारा को और समृद्ध बनाया।

1956 में ख्रुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो चुकी थी। दूसरे बड़े समाजवादी देश, चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा सामने था। माओ ने समाजवादी संक्रमण के दौर के चरित्र, पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरों के स्रोतों, और समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों को गहराई में समझा। उन्होंने सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त दिया जिसे महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी कहा जाता है। विश्वभर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने मार्क्सवाद के विकास में माओ के योगदानों का समाहार करते हुए इन्हें माओवाद का नाम दिया। इस तरह देखा जा सकता है कि मार्क्सवादी विचारधारा का विकास मार्क्स के समय में ही रुका नहीं रह गया और न ही दुनिया की बदलती परिस्थितियों की समझ से कम्युनिस्ट आन्दोलन वंचित ही है। बस सुमन्त बनर्जी जैसे विचारधारात्मक मोतियाबिंद के शिकार लोगों को ही यह असलियत दिखायी नहीं देती। वह मार्क्सवाद में लेनिन और उसके बाद माओ द्वारा किए गए इज़ाफ़े की तो कोई चर्चा नहीं करते। लेकिन कुछ अज्ञात लोगों को मार्क्स के विश्लेषण को और अधिक माँजने-निखारने का श्रेय देते हैं, 'आधुनिक राजनीति के वैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों के विभिन्न स्कूलों ने मार्क्स के विश्लेषण के औज़ारों को और अधिक निखारा व सुधारा है।' वह इन 'राजनीतिक विज्ञानियों और

समाजशास्त्रियों' का नाम बताने की ज़रूरत नहीं समझते और न ही यह बताने की कि उन्होंने 'मार्क्स के विश्लेषण के औज़ारों को' आखिर किस प्रकार 'और भी निखारा व सुधारा है'।

लेनिन और माओ के बाद भी दुनिया में परिवर्तनों का सिलसिला ज़ारी है। दुनियाभर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के प्रकाश के आलोक में इन परिवर्तनों को समझ रहे हैं और उसके मुताबिक अपनी रणनीति व रणकौशल गढ़ रहे हैं। जहाँ तक कठमुल्लों और मुक्त चिन्तकों की बात है वे परमहंस की अवस्था में पहुँच चुके हैं।

मार्क्स के समय में पूँजीवादी व्यवस्था, जो मुख्य तौर पर यूरोपीय और उत्तर अमेरिकी परिघटना थी, आज विश्वव्यापी परिघटना बन चुकी है। मार्क्स, एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखते समय ही पूँजीवाद के जिस परिवर्तनक्रम को देख लिया था वह आज हकीकत बन चुका है। पूँजीवाद ने अब 'हर जगह घोंसले' (कम्युनिस्ट घोषणापत्र) बना लिए हैं और हर जगह बसेरा' कर लिया है और 'हर जगह सम्बन्ध' स्थापित कर लिए हैं। तमाम परिवर्तनों के बावजूद हर जगह यह पूँजीवादी व्यवस्था ही है। मार्क्सवाद का 'प्रकाश स्तम्भ' न केवल इन परिवर्तनों को समझने में हमारी मदद कर रहा है, बल्कि एकमात्र यही अकेला ऐसा प्रकाश स्तम्भ है।

जो "परिवर्तन" सुमन्त बनर्जी के लिए अबूझ पहेली बने हुए हैं, और जिनकी व्याख्या के लिहाज़ से उन्हें मार्क्सवाद अधूरा लगता है उन्हें वह इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "समाज के वंचित और अदृश्य हिस्सों की अब तक नज़रान्दाज की गईं शिकायतें (मसलन आदिवासियों, नस्ली, सांस्कृतिक व भाषाई अल्पसंख्यकों, और स्त्रियों के विशेष अधिकार सम्बन्धी) और सामाजिक व राजनीतिक माँगें अब प्रतिरोध की लपट बन फूट रहे हैं। ये लपट उस व्यापक अँधेरे के उपेक्षित कोनों पर रोशनी डाल रहे हैं जो मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ के दायरे के बाहर मौजूद हैं।" 'मार्क्स और मार्क्स के बाद की राजनीति' की चर्चा करते हुए वह कहता है कि नवउदारवादी वैश्विक व्यवस्था में विकसित नई तकनोलॉजी ने जो परिवर्तन किये हैं उसने एक तरफ तो औद्योगिक मज़दूर वर्ग की संरचना बदल दी है वहीं दूसरी तरफ 'दबे कुचले समुदायों और हिस्सों' की अधिकार-चेतना को बढ़ाने का काम किया है। उसका कहना है मार्क्स के क्रान्तिकारी मॉडल की पूर्वशर्तों में से एक था 'पश्चिम के समकालीन विकसित पूँजीवादी राज्यों के औद्योगिक सर्वहारा का लाज़िमी तौर पर नेतृत्व'। 'मार्क्स के क्रान्ति के मॉडल' की अन्य 'पूर्वशर्तों' की चर्चा करते हुए वह आगे कहता है कि गुज़री सदी के दौरान मार्क्सवादी मॉडल की इन शर्तों को यूरोप व अन्य जगहों पर चुनौतियों का सामना करना पड़ा है।

यहाँ लेखक के हमले का निशाना है सामाजिक परिवर्तन (या समाजवाद के संघर्ष) में औद्योगिक सर्वहारा की नेतृत्वकारी भूमिका। अब से लगभग डेढ़ दशक पहले अरविन्द के नेतृत्व वाली भारत की कम्युनिस्ट लीग (माले) यही थीसिस लेकर आई थी। उसका कहना था कि अब 'क्रान्ति' में औद्योगिक मज़दूर वर्ग का नेतृत्व और वर्ग संघर्षों की जरूरत नहीं रह गई है अथवा यह सम्भव नहीं है। अब क्रान्ति 'नये सामाजिक आन्दोलनों' (पर्यावरण, जाति, लिंग आदि के मुद्दों पर संघर्ष) के जरिए सम्पन्न होगी। आज इस धड़े का हश्र हमारे सामने है। इन्होंने मज़दूर आन्दोलन से दूरी तो बना ही ली थी, 'नये सामाजिक आन्दोलनों' में भी वे कहीं नज़र नहीं आए। आज ये गैर सरकारी संगठनों का संचालन करते हुए व्यवस्था के पक्ष में जा खड़े हुए हैं। सुमन्त बनर्जी आज डेढ़ दशक बाद उन्हीं बातों को दोहरा रहे हैं और इस चोरी के माल को मौलिक चिन्तन बनाकर परोस रहा है।

पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंस और समाजवाद के निर्माण में औद्योगिक सर्वहारा की

नेतृत्वकारी भूमिका को ख़ारिज करना, मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। अपने जन्म और विकास के विभिन्न पड़ावों के दौरान वैज्ञानिक समाजवाद तीखे विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्षों का केन्द्र रहा है। इस संघर्ष का केन्द्रीय बिन्दु सर्वहारा का क्रान्तिकारी और मुक्तिदायी मिशन रहा है और एक नेतृत्वकारी क्रान्तिकारी सामाजिक ताकत के तौर पर इसके उभार और सरंचना की वैज्ञानिक समझ मार्क्सवाद की कुंजीभूत प्रस्थापना रही है। मार्क्सवाद के विरोधियों द्वारा लगातार इस पर हमले होते रहे हैं। बुर्जुआ इतिहासकारों के विभिन्न रूझानों के लेखन का, भले ही वे रूढ़िवादी (Conservative) हों या रैडीकल,यह एक मुख्य थीम रहा है, और आज भी है। सुधारवादी, अराजकतावादी, अतिवामपन्थी, निम्न-बुर्जुआ समाजवादी आदि सभी तरह के लोग इन हमलों में शामिल रहे हैं। बुर्जुआ इतिहासकारों के विभिन्न स्कूल जैसे कि सामाजिक अधिकार स्कूल (Social Right School) का इतिहास लेखन, संस्थावाद (Institutionalism) के विचारक (थर्स्टीन वेब्लेन), व्यावसायिक इतिहासकार, नवउदारवादी और मैनेज़रिज़्म स्कूल (जोसेफ शुम्पीटर) आदि नियमत: बुर्जुआज़ी या गाँव अथवा शहर के निम्न-बुर्जुआ तबकों को या अन्त में 'टेक्नोक्रेसी' को विश्व इतिहास की सामाजिक चालक शक्ति घोषित करते रहे हैं। निम्न बुर्जुआ समाजवादियों और अराजकतावादियों ने निम्न बुर्जुआ व लम्पट सर्वहारा को समाज की चालक शक्ति घोषित किया। इसे निम्न बुर्जुआ समाजवादी प्रूधों और अराजकतावाद के संस्थापक बाकूनिन की रचनाओं में देखा जा सकता है।

कुछ का यह कहना है कि पूँजीवाद के बारे में मार्क्स का विश्लेषण 19वीं सदी के लिए तो प्रासंगिक था लेकिन 20वीं सदी में पूँजीवाद बुनियादी तौर पर बदल गया है। इसलिए अब न तो मार्क्सवाद ही प्रासंगिक रह गया है, न सर्वहारा रह गया है और न ही अब उसकी मुक्ति का प्रश्न। आस्ट्रीयाई सामाजिक जनवाद के मशहूर सिद्धान्तकार कार्ल रेनन ऐसा ही कहते हैं, "मैं कार्ल मार्क्स की पूँजी दुबारा पढ़ रहा हूँ। लेकिन पाठ के हाशिये पर मुझे यह लिखना पढ़ रहा है कि चीजें अब कितनी भिन्न हो चुकी हैं।"[(1)] जर्मन दार्शनिक एस. शॉक (H. Shock) अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद का संशोधित संस्करण ' (Revision of Marxism-Leninism) में लिखता है: 'मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन द्वारा चित्रित बहादुर सर्वहारा अब नहीं रहा। नतीजतन, समूची मानवता के पक्ष में सर्वहारा की मुक्ति का प्रश्न भी नहीं रहा।" अब इन पुरानी बातों को नये सिरे से दोहराने वालों की कमी नहीं है। तकनीकी विकास, स्वचालन (ऑटोमेशन) के बढ़ने आदि से सर्वहारा के विलोपित होने का शोर फिज़ा में काफ़ी अधिक है। सुमन्त बनर्जी तकनीकी विकास के चलते 'सर्वहारा की सरंचना बदलने' के बहाना लेकर आबादी के गैर-सर्वहारा हिस्सों की राजनीतिक सक्रियता पर ज़ोर देते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में अरुन्धति राय भी यही बात कहती है, "जब मार्क्स सर्वहारा की बात करता है, तो सर्वहारा से उसका अभिप्राय मज़दूर वर्ग से है। अधिकतर जगहों पर मज़दूरों की तादाद घटाने की पूरी कोशिश की जा रही है अब वहाँ रॉबोट व उच्च तकनीक का इस्तेमाल हो रहा है। क्लासिकीय मायनों में श्रमिकों की तादाद भी अब वह नहीं जो हुआ करती है ।" (पन्ना नं-42) यह कलासिकीय मायने क्या हैं? इसके अन्तर्गत मजदूरों की तादाद कितनी होती थी? और अब यह कितनी कम हो गई है? लेखिका इन प्रश्नों का जबाव देना ज़रूरी नहीं समझतीं। ऐसे बुद्धिजीवी अपने मुँह से निकले शब्दों को 'गुरू की वाणी' समझते हैं। जिन्हें सुनते ही जनता निहाल हो जाएगी और कोई प्रश्न नहीं उठायेगी। पंजाब में तो काफ़ी लोग लेखिका के वचनों पर भक्तिभाव रखते भी हैं। उनके लिए अरुन्धति राय मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन

और माओ से भी बड़ी विद्वान हैं। ये लोग अब "मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी" नहीं रह गये बल्कि अरुन्धतिवादी हो गये हैं। अरुन्धति राय अपने कहे को किसी भी तार्किक नतीजे तक नहीं पहुँचाती। वे यह नहीं बताती कि अगर मज़दूर वर्ग की जगह रोबोट ले रहे हैं तो विश्व इतिहास की अब सामाजिक चालक शक्ति कौन सी है? शायद आदिवासी हैं! जो भारत के जंगलों में हथियारबन्द लड़ाई लड़ रहे हैं। जहाँ अरुन्धति राय जैसे बुद्धिजीवी कभी-कभार तीर्थ यात्रा कर आते हैं। और लौटकर कुछ जज़बाती लेखों के ज़रिये वे जनमुक्ति की झूठी उम्मीदें जगाने के अपने कर्तव्य पूरा करते रहते हैं।

दरअसल पूँजीवादी व्यवस्था में गैर-सर्वहारा निम्न बुर्जुआ का एक हिस्सा लगातार मज़दूरों में रूपान्तरित होता रहता है। पूँजीवादी विकास इनके नाममात्र के उत्पादन के साधन लगातार छीनता रहता है। मेहनतकश जनता के इन हिस्सों का भी इस कारण बुर्जुआ राज्यसत्ता के साथ टकराव बना रहता है। विभिन्न रूपों में इनकी सत्ता के साथ संघर्ष चलता रहता है। लेकिन पूँजीवादी उत्पादन में इन्हें कोई महत्वपूर्ण जगह नहीं मिली होती। दूसरे, इनकी नाममात्र की सम्पत्ति इन्हें आपस में बाँटकर रखती है। तीसरे, यह हिस्सा अक्सर पिछड़े उत्पादन में लगा हाता है। इसलिए इनके संघर्ष या उभार स्थाई नहीं होते और अपने बूते ये बुर्जुआ राज्यसत्ता का कुछ भी बिगाड़ पाने में अक्षम होते हैं।

दूसरी ओर मज़दूर वर्ग, खास तौर पर औद्योगिक मज़दूर वर्ग पूँजीवादी उत्पादन में सबसे अहम स्थान रखता है। पूँजीवादी समाज में लगभग सारी भौतिक दौलत इसके हाथों ही सृजित होती है। पूँजीवादी उत्पादन इसे बड़े औद्योगिक केन्द्रों में इकठ्ठा करता है और बहुत सारे दृश्य व अदृश्य कड़ियों के ज़रिए इसे न सिर्फ़ राष्ट्रीय पैमाने बल्कि अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर भी जोड़ता है। इस वर्ग के संघर्ष पूँजीवादी ढाँचे पर घातक चोट करते हैं। मार्क्स, एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में लिखा था कि "सर्वहारा एकमात्र वास्तविक क्रान्तिकारी वर्ग है।" पूँजीवादी समाज के निम्न बुजुर्आ हिस्सों का अस्तित्व लगातार ख़तरे में रहता है और ख़त्म होता रहता है। इसलिए ये हिस्से इतिहास की चालक शक्ति नहीं बन सकते। सिर्फ़ मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में ही इनका संघर्ष क्रान्तिकारी भूमिका निभा सकता है ।

सुमन्त बनर्जी और अरुन्धति राय जैसे लोग इस व्याख्या पर चीख-पुकार मचाने लगेंगे। वे कहेंगे कि अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और कदाचित वे हम पर कठमुल्ला (Dogmatic) होने का ठप्पा भी जड़ दें। यह उनकी अपनी कोई मौलिक सोच नहीं, सर्वहारा के विलोपित होने की थीसिस कर प्रतिपादन आज दुनिया भर के इस नमूने के तथाकथित सिद्धान्तकार कर रहे हैं। इन मूर्ख सिद्धान्तकारों को पहले यह जान लेना चाहिए कि सर्वहारा वर्ग के महान नेताओं, मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और न ही माओ ने कभी यह कहा कि औद्योगिक सर्वहारा पूँजीवादी समाज का बहुसंख्यक होता है। यह न तो मार्क्स के समय में था और न ही आज है। मार्क्स के समय यूरोप के कई देशों में अभी पूँजीवादी विकास जारी था। और सामन्ती अवशेषों को साफ़ करने का कार्यभार पूरा कर रहा था। तब यूरोपीय समाजों की बहुसंख्यक आबादी कृषि में लगी हुई थी। पूँजीवादी विकास के आगे डग भरने के साथ कृषि में लगी आबादी निरपेक्ष रूप से सिकुड़ती गई और औद्योगिक व सेवा क्षेत्र की आबादी में इज़ाफ़ा होता गया। पिछड़े क्षेत्रों में यह वृद्धि और भी तेज़ रही। आज नेपाल, भूटान जैसे बेहद पिछड़े देशों को छोड़ दिया जाये तो अपेक्षाकृत पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले अधिकांश देशों की कमोबेश यही तस्वीर है। विकसित पूँजीवादी देशों में औद्योगिक मज़दूरों की संख्या में निश्चय ही गिरावट आई है। इसकी मुख्य वजह यह है कि सस्ते कच्चे माल व सस्ती श्रम शक्ति की लूट

के लिए पूँजी यहाँ से निकलकर तीसरी दुनिया के देशों की ओर चली गई है। तीसरी दुनिया के इन देशों में औद्योगिक सर्वहारा की संख्या में तेज़ी के साथ वृद्धि हुई है। आज तीसरी दुनिया के देशों में औद्यागिक महानगर अस्तित्व में आ रहे हैं, जहाँ करोड़ों-करोड़ औद्योगिक मज़दूरों का महासागर देखा जा सकता है। गन्दी और बदहाल बस्तियों में भीषण जीवन परिस्थितियों के बीच रहते उनके जीवनमें आज भी 19वीं सदी के यूरोपीय साहित्य में चित्रित मज़दूरों के नारकीय जीवन का अक्स दिखाई पड़ता है। परन्तु अपने ही पाण्डित्य से चौंधियाये इन सिद्धान्तकारों को औद्योगिक सर्वहारा कहीं नज़र नहीं आता। इनकी समस्या यह है कि वे किसी एक-आध यूरोपीय देश की हक़ीकत का सामान्यीकरण कर पूरे विश्व पर थोप देते हैं। वे अंश को सम्पूर्ण बना देते हैं। सच्चाई यही है कि आज भी विश्व इतिहास की चालक शक्ति मज़दूर वर्ग ही है। यह मार्क्स के समय में जितना सच था उतना ही सच आज भी है। पूँजीवादी विकास के साथ जैसे-जैसे पूरी दुनिया में निम्न बुर्जुआ का एक हिस्सा उजड़कर सर्वहारा की कतारों में शामिल होता जा रहा है, यह सच और भी अधिक स्पष्ट हो कर सामने आता जा रहा है।

2. कम्युनिस्ट पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने की साज़िश

सुमन्त बनर्जी न सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा में तोड़-फोड़ करता है बल्कि 20वीं सदी के महान समाजवादी प्रयोगों पर कीचड़ उछालने का काम भी करता है। वह कहता है कि मध्यवर्ग बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा भ्रष्ट हो चुका है और सामाजिक दायरे व बौद्धिक जगत में प्रतिष्ठित मध्यवर्ग के इस 'पेशेवर तबके' को सहयोजित कर लेने की पूँजीवादी विश्व व्यवस्था की ताकत ने अब मार्क्सवादी आन्दोलन से मध्यवर्ग के इन चेतस बुद्धिजीवियों को ही छीन लिया है। इसलिए 'समाजवादी रूपान्तरण के लिए मधयवर्गीय बुद्धिजीवियों की एक "हिरावल दस्ते" के तौर पर (लेनिनवादी भावना के साथ) काम करने की न तो योग्यता रही और न ही ही कोई आकांक्षाा।

लेनिन ने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को कहीं भी समाजवादी रूपान्तरण का हिरावल दस्ता नहीं कहा है। उन्होंने मज़दूर वर्ग की पार्टी को हिरावल दस्ता कहा था जिसकी बहुसंख्या वर्ग-सचेत मज़दूरों की होती है। लेनिन ने तो यहाँ तक कहा था कि इस हिरावल दस्ते (कम्युनिस्ट पार्टी) में जहाँ एक बुद्धिजीवी हो वहीं आठ मज़दूर होने चाहिए और बाद में उन्होंने इसे संशोधित कर कहा कि एक बुद्धिजीवी पर सैंकड़ों मज़दूर होने चाहिए।

सुमन्त बनर्जी का एक और प्रचण्ड झूठ : वह कहता है कि "रूस में, शहरी मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी तबका बोल्शेविक क्रान्ति का नेतृत्वकारी शक्ति बना", ऐसा ही सफद झूठ वह चीनी क्रान्ति के बारे में बोलता है। सच तो यह है कि रूसी समाजवादी क्रान्ति का नेतृत्व वहाँ के औद्योगिक मज़दूर वर्ग ने किया था और हिरावल दस्ते के रूप में इस मज़दूर वर्ग का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी कर रही थी, जिसकी बहुसंख्या वर्ग-सचेत मज़दूरों की थी। यही बात चीनी क्रान्ति के बारे में भी सच है। जहाँ तक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रश्न है, वे भी इन क्रान्तियों में शामिल थे लेकिन मज़दूरों के मुकाबले इनकी संख्या काफ़ी कम थी। इन बुद्धिजीवियों से कइयों ने अपने वर्ग से नाता तोड़कर पूरी तरह अपनी नियति मज़दूर वर्ग के साथ जोड़ ली थी। समाजवादी मज़दूर आन्दोलन के पूरे इतिहास में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा हमेशा ही आन्दोलन में शामिल होता रहा है और आज भी हो रहा है ।

सुमन्त बनर्जी ने समूचे मध्य वर्ग को भ्रष्ट घोषित कर दिया है। वह इतनी सीधी-सरल-सी सच्चाई भी नहीं समझता कि पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी स्थिति के चलते मध्यवर्ग के बड़े हिस्से को भ्रष्ट होने का अवसर ही मुहैया नहीं हो सकता। मध्य वर्ग का नीचे का हिस्सा हमेशा पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पीड़ित रहता है और इस आबादी से बड़ी संख्या में नौजवान, मज़दूर आन्दोलन के साथ जुड़ते रहते हैं। मध्य वर्ग के ऊपरी हिस्से को ज़रूर पूँजीपति वर्ग ने भ्रष्ट कर दिया है। लेकिन यहाँ से भी लगातार कुछ बुद्धिजीवी सर्वहारा पार्टी की कतारों में शामिल होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं भले ही इनकी संख्या काफ़ी कम होती है।

बीसवीं सदी के महान समाजवादी प्रयोगों के पहले चक्र के पराजय के बाद जब विश्व मजदूर आन्दोलन अभूतपूर्व विपर्यय के अंधेरे दौर से गुज़र रहा है और जर्जर, मरणासन्न पूँजीवाद अपने अस्तित्व की अन्तिम लड़ाई में प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के ज़रिये नौजवानों और मेहनतकशों पर विचारधारात्मक और सांस्कृतिक हमला कर रहा है तब दुनिया भर के कम्युनिस्ट संगठन ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मजदूर आन्दोलन को नेतृत्व देने और बदली परिस्थितियों में नई राह खोजने में लगे हुए हैं। परन्तु सुमन्त बनर्जी को उनके नेतृत्व में बौद्धिक क्षमता की कमी नज़र आती है (जैसे सिर्फ़ इसी कमी के कारण आज क्रान्तियाँ सम्पन्न नहीं हो रही)। सारी बुद्धि का ठेका तो सुमन्त बनर्जी के पास है। जिसका डंका वह आये दिन पीटते ही रहते हैं और इस काम से फारिग होकर वह अपने हाथी दांत की मीनार में जा बैठते हैं और दुनिया के सबसे सरलतम कामों में स्वयं को व्यस्त कर लेते हैं। यानी समाज के क्रान्तिकारी बदलाव के संघर्ष में लोगों में ग़लतियाँ निकालना और इस संघर्ष से एक सुरक्षित दूरी बनाकर उन्हें सलाह देते रहना। यह देखा गया है कि सक्रिय क्रान्तिकारी राजनीति से रिटायर होने के बाद अकसर लोग इस घिनौने धन्धे में व्यस्त हो जाते हैं।

सुमन्त बनर्जी एक तरफ़ तो इस बात से चिंतित और परेशान हैं कि 'भ्रष्ट हो चुके' मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अब कम्युनिस्ट पार्टी में नहीं आ रहे जिससे पार्टी में नई स्पिरिट पैदा हो सके और दूसरी ओर वह कम्युनिस्ट पार्टी पर ही 20वीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों के पराजय का ठीकरा फोड़ते हैं। वह कहते हैं कि "पहले सोवियत संघ और फिर चीन में... पार्टी अधिपत्य ने आखिरकार कम्युनिस्ट आन्दोलन का नौकरशाहीकरण कर दिया।" यहाँ वह हार के कारणों का अतिसरलीकरण कर देता है। पार्टी अधिपत्य को हार की वजह बताना अपने आप में यह स्पष्ट कर देता है कि उतार-चढ़ाव से भरे समाजवादी संक्रमण और सतत् क्रान्ति के बारे में स्वयं सुमन्त बनर्जी की समझ कितनी भोथरी है। समाजवादी प्रयोगों की असफलता के कई वस्तुगत (क्रान्तियों और समाजवादी निर्माण का काम बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में सम्पन्न होना) और आत्मगत (सोवियत संघ में स्तालिन व चीन में माओ से हुई ग़लतियाँ) कारण थे, जिन्हें समझे बिना न तो 20वीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों की पराजय को समझा जा सकता है और न ही भविष्य में समाजवादी निर्माण के पथप्रदर्शक सिद्धान्त को विकसित ही किया जा सकता है (इसकी विस्तृत चर्चा अन्यत्र हो चुकी है लिहाजा यहाँ विस्तार में जाना गैर-ज़रूरी होगा)।[2]

सुमन्त बनर्जी के लिए 20वीं सदी की समाजवादी क्रान्ति के उत्तरवर्त्ती समाज में एक ही पार्टी के अधिपत्य का अनुभव 'त्रासदपूर्ण' था। लेकिन एक पार्टी सिद्धान्त का वह कोई विकल्प नहीं बताता। क्या वहाँ कई पार्टियों की 'हेजेमनी' होनी चाहिए थी? 20वीं सदी के समाजवादी निर्माण के प्रयोगों ने यह स्पष्त: दिखाया है कि सर्वहारा जनवाद का स्वरूप

बहुपार्टी नहीं हो सकता, जिन्होंने भी इस सबक को भुला दिया है, या इसकी अनदेखी की है वे संशोधनवाद की दलदल में जा धँसे हैं। इसका सबसे ताज़ा उदाहरण है प्रचण्ड के नेतृत्व वाली नेकपा (माओवादी), जिसे अब एनेकपा (माओवादी) के नाम से जाना जाता है।

3. क्रान्ति के दो रास्ते बनाम क्रान्ति के सभी बन्द होते रास्तों का प्रश्न

सुमन्त बनर्जी हमें अपने ज्ञान से समृद्ध करते हैं। वह बताते हैं कि क्रान्ति के "दो रास्ते" होते हैं। एक है संसदीय रास्ता और दूसरा हथियारबन्द संघर्ष का रास्ता। फिर वह कहते हैं कि इन दोनों ही रास्तों से क्रान्ति की कोशिशें सफल नहीं हुईं और वह कोई तीसरा रास्ता हमें बताते नहीं। यहाँ पाठक को भूलभुलैया में चक्कर काटता छोड़कर वह आगे बढ़ जाते हैं।

इसके उपरान्त संसदीय रास्ते की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह फ्रेडरिक एंगेल्स को बतौर वकील पेश करते हैं। इसके लिए वह बड़ी चालाकी के साथ मार्क्स की पुस्तक 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष 1848-1850' की एंगेल्स द्वारा लिखी भूमिका से हवाला देते हैं। एंगेल्स द्वारा लिखी इस भूमिका को जर्मन सामाजिक जनवाद के अवसरवादी रुझान द्वारा भी तोड़ा-मरोड़ा गया था। मार्च 1895 में विल्हेल्म लीबनेख़्त ने इस भूमिका से कुछ अंश लेकर अपनी मर्ज़ी से पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र फोरवॉर्ट्स (Vorworts) में प्रकाशित किया था। इस संदर्भ में 3 अप्रैल 1895 के पाल लफ़ार्ग को लिखे अपने ख़त में एंगेल्स ने कहा था कि लीबनेख़्त ने वह सबकुछ ले लिया "जो हर क़ीमत पर शांति के रणकौशल की हिफ़ाजत करने और ताकत के प्रति नफ़रत दिखाने के लिए उसकी सेवा कर सकता हो"।[3] 1 अप्रैल 1895 को एंगेल्स ने काउत्स्की को लिखा, "आज मैंने 'फोरवॉर्ट्स' में अपनी भूमिका का एक हिस्सा देखा जिस मेरी जानकारी के बिना छापा गया है और इसकी इस ढंग से काँट-छाँट की गई है कि मैं हर क़ीमत पर कानूनियत का पूजक नज़र आऊँ।"[4]

मार्क्स ने एक जगह लिखा था कि इतिहास खुद को दोहराता है पर हू-ब-हू नहीं, पहली बार त्रासदी के रूप में और दूसरी बार प्रहसन के रूप में। लेकिन सुमन्त बनर्जी ने यहाँ अवश्य ही मार्क्स को गलत सिद्ध कर दिया है। एंगेल्स को शांतिवादी, कानूनवादी सिद्ध करने के लिए वह उनकी बातों को तोड़-मरोड़कर रखने में जर्मन सामाजिक जनवाद के अवसरवादी रुझान का इतिहास हू-ब-हू दोहराता नज़र आता है।

एंगेल्स ने अपनी भूमिका में लिखा था कि सार्विक मताधिकार ने मज़दूर वर्ग को संघर्ष का नया तरीका दिया है वह हमारे प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन बन गया। इस मताधिकार ने हमें स्वयं अपनी शक्ति के बारे में और सभी विरोधी पार्टियों की शक्ति के बारे में सही सूचना दी और इस प्रकार हमारी कार्रवाइयों में सन्तुलन पैदा करने में मदद की है। वह कहते हैं कि चुनाव प्रचार के ज़रिये इसने हमें लोगों के सम्पर्क में रहने, और अपने विचारों और कार्यक्रम के प्रचार के लिए संसद के मंच का इस्तेमाल करने का अवसर प्रदान किया है। वह कहीं भी यह नहीं कहते कि संसदीय संघर्ष के जरिए समाजवाद आ जाएगा। वह कहते हैं कि अब 1848 की तरह की बगावतें और सड़कों पर मोर्चे बाँधकर लड़ाइयों का रूप बहुत हद तक अप्रासंगिक हो चुका है। इसके लिए वह सैन्य संख्या में वृद्धि, आधुनिक हथियारों, परिवहन के विकसित साधनों, मध्य वर्ग (1848 में बुर्जआजी) के मज़दूरों के पक्ष में न आने, शहरों की सरंचना में परिवर्तन आदि बदलावों का ज़िक्र करते हैं। लेकिन वह कहीं भी यह नहीं कहते कि अब शान्तिपूर्वक क्रान्ति हो जाएगी। वह कहते हैं, "क्या इसका मतलब यह है कि भविष्य में सड़कों की लड़ाई की कोई भूमिका नहीं रह जायेगी? नहीं, निश्चय ही नहीं!"

इसका मतलब केवल यह है कि 1848 के बाद से संघर्षरत जनता के लिए परिस्थितियाँ कहीं अधिक प्रतिकूल और सेना के लिए कहीं अधिक अनुकूल हो गई हैं।

सुमन्त बनर्जी क्रान्ति के "दो रास्तों" की बात करते हैं (हालांकि वह दोनों रास्ते बन्द भी कर देते हैं) लेकिन विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह सर्वस्वीकृत समझ है कि क्रान्ति का रास्ता एक ही है। वह है हिंसक क्रान्ति का रास्ता। संघर्ष के संसदीय रूप को कम्युनिस्ट रणकौशल की तरह इस्तेमाल करते हैं। यह उनके लिए रणनीति का प्रश्न होता ही नहीं है।

हमने सुमन्त बनर्जी द्वारा उठाए गए उन्हीं प्रश्नों को लिया है और उन पर अपना पक्ष रखा है जो मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं के बारे में भ्रम फैलाते हैं। उसका लेख तमाम तरह की ऊट-पटाँग बातों से भरा हुआ है। ज़ाहिरा तौर पर इन सब पर चर्चा करना हम अपनी ऊर्जा और समय का अपव्यय मानते हैं।

सुभाष गाताड़े का अम्बेडकरवाद

प्रस्तुत पुस्तक में एक अन्य वृहत्तर, निबन्धमार्का लेख मार्क्सवादी से अम्बेडकरवादी बने सुभाष गाताड़े का है। गाताड़े ने अपने इस लेख में जाति उन्मूलन के प्रति अतीत में भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का रुख़, दलित मुक्ति की अम्बेडकरवादी धारा के प्रति कम्युनिस्टों का रवैया, अम्बेडकर का मार्क्सवाद, और उनका भारत के कम्युनिस्टों और उपनिवेशवाद के प्रति दृष्टिकोण आदि मुद्दों को समेटा है। ग़ौरतलब है कि इन सभी मुद्दों पर गाताड़े को कम्युनिस्टों में सिर्फ़ गड़बड़ियाँ ही नज़र आती हैं जबकि अम्बेडकर की वह किसी आलोचनात्मक विवेक के बगैर हर हाल में हिफ़ाजत करने पर आमादा नज़र आते हैं। इन सभी प्रश्नों पर हम पहले भी काफ़ी विस्तार में लिख चुके हैं।[5] इसलिए यहाँ हम संक्षेप में ही अपनी बात रखेंगे।

सुभाष गाताड़े ने यह साबित करने में एड़ी चोटी का ज़ोर लगा दिया है कि भारत के कम्युनिस्टों ने अपने पूरे इतिहास में (और ख़ासकर औपनिवेशिक दौर में) किस प्रकार यहाँ जाति प्रश्न की अनदेखी की है। इसके लिए उन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेजों से काफ़ी उद्धरण भी दिए हैं। लेकिन भारत के कम्युनिस्टों ने इस देश के हर कोने में जातिवाद के खिलाफ़ व्यवहारिक धरातल पर उतरकर जो लड़ाई लड़ी है उसके बारे में उन्होंने ने पूरी तरह चुप्पी साध रखी है। औपनिवेशिक दौर में जाति प्रश्न को हल करने के प्रति भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की पहुँच में जो समस्याएँ रहीं और व्यवहारिक धरातल पर पार्टी ने इस मसले पर जो रुख़ अपनाया, उसके बारे में हम यहां संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 1925 में हुई थी और 1933 में इसने अपने नेतृत्वकारी केन्द्र (केन्द्रीय समिति) का गठन किया। इस दौर में पार्टी ने मज़दूरों, किसानों के गौरवशाली ऐतिहासिक संघर्षों का नेतृत्व किया। हर तरह के शोषण और उत्पीड़न से मेहनतकशों की मुक्ति के संघर्ष में कम्युनिस्टों ने साहस व त्याग के नये कीर्तिमान स्थापित किए। भारत में जाति-आधारित दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध भी कम्युनिस्टों ने अनेकशः लड़ाइयाँ लड़ीं परन्तु भारतीय समाज की इस विशिष्टता को समुचित रूप में समझने, इसके खात्मे के लिए एक कारगर रणनीति बनाने और एक विशेष कार्य के रूप में इसे हाथ में लेकर इसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ने में वे असफ़ल रहे। हालांकि बिल्कुल शुरू में ही पार्टी ने भारत में जातिवाद और छुआ-छूत की समस्या को पहचान लिया था।

यह सच है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति उन्मूलन के सवाल को अपने दस्तावेजों में शामिल करने और अपने जनसंगठनों द्वारा जातिवाद की समस्या पर कुछ प्रस्ताव पारित करने

से आगे बढ़कर, कभी भी इसे एक व्यापक आन्दोलन का मुद्दा नहीं बनाया। इस बात को भी बेझिझक स्वीकार किया जाना चाहिए कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में दलित प्रश्न, स्त्री प्रश्न और अन्य अधिरचना के प्रश्नों को देखने का एक वर्ग अपचयनवादी भटकाव पार्टी में मौजूद रहा है। यह भी एक तरह का वर्ग अपचयनवाद ही है कि आर्थिक प्रश्नों पर तो सोचा गया, इससे थोड़ा आगे बढ़े तो राजनीतिक अधिरचना के बारे में भी सोच लिया जैसेकि राजनीतिक वर्ग संघर्ष का स्वरूप क्या होगा, वर्गों की लामबन्दी किसप्रकार होगी। लेकिन वर्ग संघर्ष की जो सामाजिक सांस्कृतिक तैयारी का प्रश्न है, संघर्ष का जो सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र (Arena) है, उसके बारे में पार्टी ने कभी नहीं सोचा। इसकी मुख्य वजह यह है कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपने जन्म से ही विचारधारात्मक तौर पर काफ़ी कमज़ोर रही है। इस विचारधारात्मक कमज़ोरी की भी एक वजह है, वह है भारत का औपनिवेशिकीकरण, एक औपनिवेशिक सामाजिक ढाँचे में निर्मित पार्टी ऐसी ही हो सकती थी। लेकिन यह एक अलग चर्चा का विषय है। जैसे कि हमने ऊपर की पंक्तियों में उल्लेख किया है पार्टी 1925 में अपनी स्थापना के आठ वर्ष बाद भी अपने नेतृत्वकारी केन्द्र का गठन नहीं कर सकी थी। उस समय भारत एक अर्द्धसामन्ती-औपनिवेशिक देश था जो नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल में था, लेकिन पार्टी के पास क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक न था। और न ही नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल में होते हुए भी इसके पास अलग से कोई कृषि कार्यक्रम ही था। ऐसी हालत में इससे कैसे उम्मीद की जा सकती थी कि वह पूरे विश्व की सबसे जटिल परिघटनाओं में से एक जातिवाद की परिघटना को समझे और उसके बारे में एक दस्तावेज़ पेश करे? दूसरे, यह पार्टी अन्य देशों की बड़ी बिरादर पार्टियों ख़ासकर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी पर विचारधारात्मक तौर पर निर्भर रही। ज़ाहिर है अपने देश की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का इसका विश्लेषण भी बहुत सतही ही था। स्थिति यह थी कि पार्टी कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की नीतियों और मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के रूप में ख्यात रजनीपाम दत्त के ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल और 'इम्प्रेकोर' (दुनिया भर के क्रान्तिकारियों को एक दूसरे के विचारों और दस्तावेजों से परिचित कराने और समझ बनाने के उद्देश्य से 'थर्ड इण्टरनेशनल' द्वारा स्थापित मार्क्सवादी पत्रिका जो 1938 में बन्द हो गई) में छपे निबन्धों के आधार पर अपनी रणनीति एवं आम रणकौशल तय करती थी। जातिवाद जैसी बेहद जटिल परिघटना को समझ पाने और इसके उन्मूलन की कोई रणनीति निरूपित कर पाने में कम्युनिस्ट पार्टी की अक्षमता को उसकी इसी विचारधारात्मक कमज़ोरी के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाना चाहिए। समस्या को समझने का हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक होना चाहिए, किसी को कोसने और ग़लतियाँ निकालने का नज़रिया हमें महज अहमन्नयतापूर्ण और अनुत्पादक बहस में उलझाये रखेगा।

भारत की जाति व्यवस्था नस्लीय या रंग आधरित भेदभाव से बिल्कुल भिन्न व अत्यन्त प्राचीन है। रंग और नस्लीय भेदभाव आधुनिक इतिहास की परिघटनाएँ हैं जबकि जाति व्यवस्था की मौजूदगी प्राचीन इतिहास काल की निरन्तरता में है। जब भारत में गुलामी का युग था, जब गणराज्यों का युग था उसी समय से जाति व्यवस्था अपना रूप बदलती हुई मौजूद रही है। समाज के वर्ग अन्तरविरोधों का टकराव कहीं तो जातिगत अन्तरविरोधों से होता रहा है और कहीं इनकी ओवरलैपिंग (Overlaping) भी होती रही है। जिसके चलते जाति का सवाल और भी अधिक जटिल हो जाता है। ज़ाहिर है इसे समझ पाना भारत जैसी विचारधारात्मक तौर पर एक अत्यंत कमज़ोर कम्युनिस्ट पार्टी के लिए काफ़ी मुश्किल काम

था। दलित समस्या को अगर हम एक सामाजिक समस्या, सामाजिक अधिरचना के साथ जुड़ी समस्या के रूप में लें तो यह सच है कि इस मामले में अनेक प्रश्नों की अनदेखी हुई है।

परन्तु यह अनदेखी कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण थी, लिहाज़ा पार्टी का ज़ोर आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों पर केन्द्रित वर्ग संघर्ष पर अधिक रहा और सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों को न तो वह ठीक ढंग से समझ ही पाई और न ही इनके इर्द-गिर्द संघर्ष संगठित करने पर वह पूरा ज़ोर ही दे पाई। उस समय मोटे तौर पर कतारों तक में यह समझ पैठी हुई थी कि वर्ग संघर्ष जब आगे बढ़ेगा तो ऐसे सारे प्रश्न इस प्रक्रिया में हल हो जायेंगे। दूसरी यह धारणा भी उनके दिमाग में बैठी हुई थी कि कुछ मोटे-मोटे नारे देकर, मसलन, दो ही जातियाँ हैं एक अमीर और दूसरा ग़रीब, या कि जातिवाद के सारे फर्क भुलाकर सभी ग़रीब एक हो जाओ, कम्युनिस्ट आन्दोलन इस बात पर ध्यान नहीं दे पाया कि पूरे सामाजिक ताने-बाने में उसके एक-एक रेशे में, तमाम छोटी-छोटी सामाजिक संस्थाओं में जातिगत संस्कार घुले हुए हैं। उनके खिलाफ़ लगातार सांस्कृतिक क्रान्ति चलाए बिना, शासक वर्ग के विचारधारात्मक-सांस्कृतिक वर्चस्व को तोड़े बिना, जिसे बनाए रखने के लिए वह लोगों के बीच जड़ जमाए जातिगत संस्कारों का इस्तेमाल करता है, कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन विकास नहीं कर सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कम्युनिस्टों ने इन प्रश्नों पर कुछ किया ही नहीं, जैसा कि तमाम तरह के दलितवादी इलज़ाम लगाते हैं। कम्युनिस्टों ने अपने सहज वर्ग बोध से हर तरह की सामाजिक-आर्थिक असमानता, लूट-दमन, और अन्याय के खिलाफ़ हर जगह लड़ाई लड़ी। उल्लेखनीय है कि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में लड़े गए ऐतिहासिक तेलंगाना किसान संघर्ष की ज़मीन आंध्र महासभा ने तैयार की थी जिसमें कम्युनिस्ट प्रभावी हैसीयत में थे। इसने जातिवाद, स्त्रियों के दमन-उत्पीड़न, नशा व दहेज जैसी कुरीतियों के विरुद्ध छह-सात साल ज़बरदस्त सामाजिक आन्दोलन चलाया था। जिसके उपरांत तेलंगाना संघर्ष की ज़मीन तैयार हुई थी। तेलंगाना के महान संघर्ष के दौरान भी दलितों और स्त्रियों के दमन के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द की गई थी और इस आन्दोलन ने दलितों और स्त्रियों पर होनेवाले दमन-उत्पीड़न को काफ़ी हद तक रोका। सामन्तों और उच्च जातियों के लिए किये जाने वाले वेटी (बेगार) को, जिसे मुख्यत: दलित ही करते थे, ख़त्म कर दिया गया। इसके प्रभाव से खेतिहर मज़दूरों (जो मुख्य रूप से दलित ही थे) की उजरत में वृद्धि हुई। सामन्तों की लाखों एकड़ की ज़मीन ग़रीब, भूमिहीन और मँझोले किसानों के बीच (जिनमें दलित भी शामिल थे) बाँट दी गई। स्त्रियों के ख़िलाफ गैर-बराबरी और अन्याय तथा हर किस्म के भेदभाव और छुआछूत पर तेलंगाना के किसान विद्रोह ने जो ज़बरदस्त चोट की उसके बारे में सुन्दरैया लिखते हैं :

"इस संघर्ष में स्त्रियों ने पुरुषों के बराबर भागीदारी की थी, अत: समाज में युगों से प्रचलित इन विचारों के खिलाफ कि स्त्रियाँ, पुरुषों से कमतर होती हैं, अभियान चलाना आसान हो गया। राज्य ग्राम समितियों ने इस तरह के अभियान चलाये और यह घोषित किया कि स्त्रियों और मर्दों के अधिकार बराबर हैं। स्त्रियाँ ग्राम पंचायत समितियों में चुनी गईं... अनचाही शादियों पर (यानी लड़कियों को ऐसे व्यक्ति से शादी के लिए मज़बूर करना जिसे वे पसन्द नहीं करतीं) रोक लगाई गई और उचित मामलों में उनके लिए तलाक लेना साथ ही नये वैवाहिक जोड़े के लिए एक सम्मानजनक ज़िन्दगी बसर करना आसान बनाया गया।"

आगे वह छुआछूत के ख़ात्मे के बारे में लिखते हैं, "गाँवों में जाति-आधारित भेद-भाव काफ़ी गहरे थे। सरकार के विरुद्ध संघर्ष में जाति और धर्म के भेदभाव भुलाकर लोगों को जब

एकजुट होकर एकबारगी लड़ना पड़ा, तो छुआछूत के खिलाफ लड़ना भी उसके बाद अपेक्षाकृत आसान हो गया। गुरिल्ला दस्तों में समानता और परस्पर सम्मान पर सख़्ती से अमल किया जाता था। इस व्यवहार ने लोगों की सोच को बदलने का काम किया।

ईश्वर, भूत-प्रेतों आदि में विश्वास बहुत हद तक टूट गए। खासकर नौजवानों में यह उल्लेखनीय हद तक समाप्त हो गए।"(6)

ऐसी ही गतिविधियाँ कम्युनिस्टों ने कई जगहों पर संचालित किया। पूर्वी उत्तर प्रदेश में कम्युनिस्टों द्वारा संगठित संघर्ष की बदौलत आज़ादी के पहले ही गाँव के साझा कुओं से दलितों के पानी पीने पर रोक जैसी प्रथाएँ खत्म हो गई थीं। सुभाष गाताड़े जैसे लोगों को यह पता होना चाहिए कि वे कम्युनिस्ट ही थे जिन्होंने जातिवाद की बेड़ियों के खिलाफ़ जबरदस्त संघर्ष चलाते हुए दलितों के बीच लगातार रहकर इस प्रकार काम किया कि वे चमार ही कहे जाने लगे।

इस प्रकार कम्युनिस्ट कतारें अनुभववादी ढंग से जगह-जगह काम तो करती रहीं, लेकिन पार्टी नेतृत्व ने इसे सूत्रबद्ध नहीं किया। इन कामों को उन्होंने विचारधारात्मक आधार मुहैया नहीं कराया।

सुभाष गाताड़े का कहना है कि औपनिवेशिक भारत में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौर में कम्युनिस्ट आन्दोलन, और फूले व अम्बेडकर के आन्दोलन में एक रणनीतिक गठबन्धन की सम्भावना मौजूद थी। लेकिन डा. अम्बेडकर और जाति के प्रश्न पर कम्युनिस्ट पार्टी की ग़लत पहुँच के चलते ऐसा सम्भव नहीं हो सका। यह सरासर ग़लतबयानी है। औपनिवेशिक भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और अम्बेडकर के नेतृत्व वाले "आन्दोलन" में ऐसे किसी भी गठबन्धन की कोई सम्भावना नहीं थी। यह दोनों धाराएँ एक-दूसरे से विपरीत दिशाओं में बह रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टी औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति की लड़ाई लड़ रही थी जबकि अम्बेडकर दलितों की रहनुमाई करते-करते उपनिवेशवाद के पक्ष में जा खड़े हुए थे।

राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन काल में देश के जात-पात व अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन के तीन बड़े नाम हैं : ज्योतिबा फुले, अम्बेडकर और पेरियार (बेशक यह कोई इकलौता आन्दोलन नहीं था, इसी के समान्तर और इससे कहीं ताक़तवर कम्युनिस्ट आन्दोलन भी था, जो तमाम विचारधारात्मक कमजोरियों के बावजूद, अपने ढंग से जात- पात व अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ अपेक्षाकृत कहीं अधिक बड़े पैमाने पर और कामयाबी के साथ लड़ रहा था।) ज्योतिबा फूले अम्बेडकर के पहले थे, जबकि पेरियार उनके समकालीन। जाति के मूल और इसके उन्मूलन के सवालों पर इन तीनों के विचार अलग-अलग हैं, लेकिन भारत की औपनिवेशिक गुलामी के लिए ज़िम्मेदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति इनकी पहुँच एक समान थी। भारत के औपनिवेशीकरण से, ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों तथा सस्ती श्रमशक्ति के बेतहाशा शोषण के उपोत्पाद के बतौर यहाँ जिस पूँजीवादी विकास की शुरुआत हुई, उससे यहाँ के जातिगत कठोर श्रम-विभाजन में दरारें पड़ने लगीं। नये-नये धन्धों के पैदा होने से दलितों के एक हिस्से को भी अपने जाति आधारित धन्धे छोड़कर अन्य पेशों को अपनाने का मौक़ा मिला। अंग्रेज़ों द्वारा शुरू की गयी शिक्षा व्यवस्था में दलित जातियों के एक छोटे से हिस्से को भी पढ़ने का मौक़ा मिला। ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा किये गये ऐसे "सुधारों" के चलते फुले, अम्बेडकर तथा पेरियार जैसे समाज-सुधारक ब्रिटिश राज्य के प्रति प्रशंसा का रुख़ रखते थे। अम्बेडकर कहते हैं, "यह हिन्दू ईश्वर द्वारा पहले से

आदेशित नियति थी। ब्रिटिश के आने से पहले, अछूत, अछूत बने रहने में ही संतुष्ट थे। यह हिन्दू ईश्वर द्वारा पूर्व आदेशित नियति थी और हिन्दू राज्य इसे लागू करवाता था। इससे बचने का कोई उपाय नहीं था। दुर्भाग्य या सौभाग्य से, ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में अपनी सेना के लिए सैनिकों की आवश्यकता पड़ी और उसे अछूतों के अलावा और कोई नहीं मिला।... अछूतों से बनी सेना की मदद से ब्रिटिश ने भारत को जीता।..."[7] **अम्बेडकर कहते हैं कि इससे अछूतों को भी फ़ायदा हुआ, उन्होंनें अंग्रेज़ों से शिक्षा प्राप्त की। हालाँकि फूले तथा अम्बेडकर बीच-बीच में ब्रिटिश राज्य की आलोचना भी करते रहे हैं, मगर यह आलोचना ज़ुबानी जमाख़र्च से अधिक कुछ नहीं थी। व्यवहार में वह कभी भी औपनिवेशिक राज्य के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल नहीं हुए। फुले ब्रिटिश राज्य की आलोचना करते हुए भी अंग्रेज़ों के शुभाकांक्षी रहे और किसी प्रकार की माँग के लिए वे अपील करने तक सीमित रहते हैं।[8] अम्बेडकर तथा उनके समकालीन पेरियार ने तो राष्ट्रीय आन्दोलन के ख़िलाफ़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का साथ दिया। पेरियार नास्तिक थे। वह जात-पात विरोधी, ब्राह्मणवाद विरोधी होने के साथ-साथ उत्तर विरोधी तथा हिन्दी भाषा विरोधी भी थे। अम्बेडकर तथा फुले की तरह वह भी अपने समय के अन्तरविरोधों को समझने में नाकाम रहे। वह अंग्रेज़ों से भारत की आज़ादी के सख़्त विरोधी थे। उनका कहना था कि अंग्रेज़ों से आज़ादी का नतीजा ब्राह्मणवाद की वापसी होगा।**

अम्बेडकर कहीं तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का महिमागान करते हैं और कहीं इसकी आलोचना करते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का महिमागान करते हुए वह कहते हैं, "दलित वर्ग तथा ब्रिटिश एक असाधारण बन्धन में बँधे हुए हैं। दलित वर्गों ने अंग्रेज़ों का रूढ़िवादी हिन्दुओं के सदियों पुराने जुल्मों तथा अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वाले लोगों के रूप में स्वागत किया था। उन्होंने हिन्दुओं, मुसलमानों तथा सिखों के ख़िलाफ़ युद्ध लड़कर अंग्रेज़ों को भारत का यह विशाल साम्राज्य जीतकर दिया था, जिसके चलते उन्होंने दलित वर्गों के सरपरस्त की भूमिका ग्रहण की।"[9]

अपनी उक्त अवस्थिति से 180 डिग्री के कोण पर मुड़कर ब्रिटिश राज्य की कटु आलोचना करते हुए वह कहते हैं, "उन्नीसवीं शताब्दी के पहले 25 वर्षों में जब ब्रिटिश शासन एक यथार्थ बन गया, यहाँ पाँच अकाल पड़े, जिन्होंने क़रीब 10 लाख लोगों की जान ली। दूसरे 25 वर्षों में दो अकाल पड़े, लगभग चार लाख लोग मारे गये। तीसरे 25 वर्षों में छह अकाल पड़े, और मरने वालों की संख्या 50 लाख हो गयी। और सदी के अन्तिम 25 वर्षों में हम क्या देखते हैं? अठारह अकाल! और इनमें मरने वालों की संख्या अन्दाज़न डेढ़ से दो करोड़ है।... महानुभावो, इसका कारण क्या है! साफ़-साफ़ शब्दों में कहना हो तो यह ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गई नीति है, जिसका उद्देश्य हमेशा देश में व्यापार और उद्योग के विकास को रोकना रहा है।... इस नीति के चलते भारत को एक ग़रीब देश में बदल दिया गया है। ग़रीबी की स्थापना के मुख्य शिकार कौन हैं? वे दलित किसान जो अभी भी छह-छह महीने अपना पेट नहीं भर पाते, वह शिकारों की बहुसंख्या है...

"...ब्रिटिशों के आने से पहले अस्पृश्यता के चलते आपकी हालत अत्यन्त भयानक थी। क्या ब्रिटिश सरकार ने इस अस्पृश्यता को ख़त्म करने के लिए कुछ भी किया है? ब्रिटिशों के आने से पहले आप गाँव के कुँओं से पानी नहीं ले सकते थे। क्या ब्रिटिश सरकार ने आपको यह अधिकार देने की कोशिश की है? ब्रिटिशों के आने से पहले आप मन्दिरों में दाख़िल नहीं

हो सकते थे। क्या आप आज ऐसा कर सकते हैं? ब्रिटिशों के आने से पहले आपको पुलिस में नौकरी नहीं दी जाती थी। क्या ब्रिटिश सरकार अब आपको नौकरी दे रही है? ब्रिटिशों के आने से पहले आपको फ़ौज में भर्ती होने की आज्ञा नहीं थी। क्या अब आपके लिए यह मौक़ा है?... महानुभावो, आप एक भी सवाल का हाँ में जवाब नहीं दे सकते। जिन्होंने इस देश पर इतना लम्बा समय शासन किया है, हो सकता है कि उन्होंने कुछ अच्छी चीज़ें की हों। पर एक बात पक्की है कि आपकी हालत में इससे कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया है..."(10)

अम्बेडकर के ही शब्दों में ब्रिटिश शासन की एक शताब्दी (19वीं) में भारत में उसकी नीतियों की बदौलत पड़े अकालों के कारण 2 करोड़ से भी अधिक हिन्दुस्तानी (ग़रीब) मारे गये जिनमें बहुसंख्यक दलित थे। अम्बेडकर यह भी कहते हैं कि अंग्रेज़ों के आने से भारत में अछूतों की हालत में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया। इस सबके बावजूद वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल नहीं हुए, बल्कि उसका विरोध करते रहे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद से देश की आज़ादी के आन्दोलन में अछूतों के शामिल न होने (यहाँ पर अम्बेडकर सभी अछूतों की तरफ़ से बोल रहे हैं, भले ही अछूतों के एकमात्र नेता केवल वही नहीं थे। देश में जगह-जगह दलित कम्युनिस्टों के नेतृत्व में जाति उत्पीड़न के साथ-साथ देश की आज़ादी के लिए भी लड़ रहे थे) की वजह बताते हुए अम्बेडकर कहते हैं कि उसकी वजह, "यह नहीं है कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के औज़ार हैं, बल्कि उनका यह डर है कि भारत की स्वतंत्रता से हिन्दू प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा जो निश्चय ही उनके लिए जीवन, समृद्धि और खुशी प्राप्त करने की सभी संभावनाओं के द्वार बंद कर देगा।"(11)

अम्बेडकर देश की आज़ादी की लड़ाई को "कपटभरा आन्दोलन" "Dishonest Agitation"(12) कहते हैं। देश की आज़ादी के आन्दोलन का जातिवादी विश्लेषण पेश करते हुए वह कहते हैं कि आज़ादी की लड़ाई "मुख्य तौर पर हिन्दुओं द्वारा लड़ी जा रही है।" (गांधी और कांग्रेस ने अछूतों के साथ क्या किया, अम्बेडकर, What the Congress and Gandhi have done to the Untouchables) इसलिए दलितों को इस लड़ाई से दूर रहना चाहिए।

एक अन्य जगह पर अम्बेडकर कहते हैं, "डिप्रेस्ड क्लासेज़ (यानी अम्बेडकर तथा उनके नेतृत्व वाला आन्दोलन – लेखक) व्यग्र नहीं हैं, वे शोर नहीं मचा रहे हैं, उन्होंने यह माँग करते हुए कोई आंदोलन नहीं शुरू किया है कि ब्रिटिश द्वारा भारतीय जनता को तत्काल सत्ता का हस्तांतरण होना चाहिए। ...सीधे शब्दों में कहें तो उनकी अवस्थिति यह है कि हम राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण के लिए व्यग्र नहीं हैं..."(13)

अम्बेडकर इस विभ्रम के शिकार थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से आज़ाद होने के बाद भारत के दलितों की हालत में कोई सुधार नहीं आयेगा, बल्कि उनकी हालत और भी बुरी हो जायेगी। अंग्रेज़ों के भारत पर क़ब्ज़े के बाद यहाँ के दलितों की स्थिति में कुछ मामूली सुधार ज़रूर हुए थे, लेकिन अंग्रेज़ों ने यहाँ की जाति व्यवस्था को जस का तस रहने दिया था। मुख्य तौर पर इसी बिन्दु पर अम्बेडकर ब्रिटिश शासन की बार-बार आलोचना करते थे। और यहाँ की जाति व्यवस्था को ख़त्म करने का बार-बार अंग्रेज़ों से अनुरोध करते थे।

भारत के लोगों के जातियों में बँटवारे (इसी तरह धार्मिक, इलाक़ाई, राष्ट्रीय बँटवारों) को ख़त्म करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में नहीं था। उल्टे ऐसे बँटवारे लोगों में फूट डालकर

उन पर शासन करने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सहायक सिद्ध होते थे। इसीलिए उन्होंने यहाँ पहले से ही विद्यमान जाति व्यवस्था से कोई छेड़छाड़ नहीं की। लार्ड कार्नवालिस ने जिस नये भूमि-बन्दोबस्त (ज़मींदारी बन्दोबस्त) को लागू किया, उसमें दलितों की स्थिति ठीक वैसी ही बनी रही, जैसी ग्रामीण भाईचारे की व्यवस्था में थी। अंग्रेज़ों ने दलितों को पुलिस या सेना में भी भर्ती नहीं किया। बस अलग से एक महार रेजिमेण्ट बना दी थी। कहीं भी उन्होंने दलितों तथा अन्य जातियों के भारतीय सैनिकों की साझा रेजिमेण्ट नहीं बनायी।

दरअसल, ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत में हुकूमत करने के वास्ते यहाँ पर सामन्तवाद के साथ गठबन्धन बनाया था। उसने यहाँ पर सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को बरकरार रखा। इस व्यवस्था में दलितों की भारी बहुसंख्या कृषि मज़दूर या ग़रीब भूमिहीन किसान थे। एक छोटी सी दलित आबादी शहरों में निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम थी, जो अपने जाति आधारित पेशों में लगी हुई थी। इसलिए औपनिवेशिक भारत में उस समय के प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्धों को तोड़े बग़ैर दलित मुक्ति की बात करना हवा में क़िले बनाने जैसा था, और यही काम अम्बेडकर, फुले और पेरियार ने किया। वे भारत में जाति व्यवस्था की जड़ तक पहुँचने में नाकाम रहे। अपने भाववादी विश्वदृष्टिकोण के चलते वह जाति व्यवस्था की जड़ ब्राह्मणवादी विचारधारा में ही खोजते रहे। और अम्बेडकर ने तो इस खोज की ख़ातिर प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने में अपने जीवन का अच्छा-ख़ासा वक़्त बर्बाद किया। वह अपने समय के अन्तरविरोधों और उनमें से प्रधान अन्तरविरोध छाँटने में नाकाम रहे। यही दृष्टिकोण उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ मेल-मिलाप की तरफ़ ले गया। अपने समकालीन आन्दोलनों, कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन का अम्बेडकर ने जातिवादी विश्लेषण पेश किया। कांग्रेस के नेतृत्व वाले आन्दोलन को उन्होंने सवर्णों का आन्दोलन बताकर ख़ुद को इससे अलग कर लिया। इस तरह राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई का मैदान पूरी तरह सवर्णों के लिए खुला छोड़कर अम्बेडकर ने ख़ुद को गाँव के कुँओं से दलितों के पानी लेने के हक़, तथा दलितों के मन्दिरों में प्रवेश करने के "आन्दोलनों" तथा ब्रिटिश सरकार से दलितों के लिए रियायतों के कुछ टुकड़ों की भीख माँगने तक सीमित कर लिया।

अम्बेडकर के नेतृत्व में समाज-सुधार के जो आन्दोलन हुए भी, वे इतने मरियल तथा बेजान थे कि वे जाति व्यवस्था पर किसी तरह की प्रभावी चोट कर पाने में निहायत ही अयोग्य थे। उनके नेतृत्व में दलितों के मन्दिर प्रवेश के जो भी "आन्दोलन" हुए, उनमें से ज़्यादातर असफल ही रहे। एकाध मामले में ही उन्हें कामयाबी मिली (जैसे 1929 में बम्बई में एक सार्वजनिक स्थल पर गणेश की मूर्ति पूजा के हक़ के लिए दलित "आन्दोलन")।

अम्बेडकर के नेतृत्व में जो सबसे बड़ा दलित आन्दोलन हुआ वह था, उस समय के बम्बई महाप्रान्त के कोलाबा ज़िले के महाड़ क़स्बे में स्थित चावदार तालाब से दलितों द्वारा पानी लेने के लिए मार्च 1927 में हुआ आन्दोलन। इस आन्दोलन में लगभग 10 हज़ार दलितों ने हिस्सा लिया। अम्बेडकर के नेतृत्व में हज़ारों दलित महाड़ क़स्बे में जुटे, उन्होंने चावदार तालाब तक मार्च किया और वहाँ से पानी लिया। उसके बाद जब लोग छोटी-छोटी टुकड़ियों में अपने-अपने घरों को लौट रहे थे तो हिन्दू कट्टरपन्थियों ने उन पर हमला किया और उन्हें घेर-घेरकर पीटा। उसके बाद हिन्दू कट्टरपन्थियों ने अपने धार्मिक अनुष्ठानों से तालाब को शुद्ध किया और उस पर पुनः क़ब्ज़ा करके दलितों के वहाँ से पानी लेने पर पाबन्दी लगा दी।

दिसम्बर 1927 में अम्बेडकर के नेतृत्व में चावदार तालाब से दलितों द्वारा पानी लेने के लिए दोबारा आन्दोलन शुरू किया गया। मगर आन्दोलन शुरू होने से पहले ही हिन्दू

कट्टरपन्थियों ने स्थानीय अदालत से स्टे ले लिया। अम्बेडकर का आन्दोलन 25 दिसम्बर 1927 को महाड़ से पाँच मील दूर दसगाँव से शुरू हुआ। जैसे ही अम्बेडकर वहाँ पहुँचे, उन्हें ज़िला मजिस्ट्रेट से बुलावा आ गया और अम्बेडकर डी.एम. से मिलने पहुँचे। डी.एम. ने अम्बेडकर को क़ानून अपने हाथ में न लेने की "सलाह" दी और अम्बेडकर ने यह "सलाह" मान ली। बाद में डी.एम. खुद दलितों की सभा में पहुँचे और उसे सम्बोधित करते हुए उन्होंने दलितों को क़ानून का उल्लंघन करने पर सख़्त सज़ाओं की धमकी दी। इसके बाद 27 दिसम्बर को अम्बेडकर ने आन्दोलन वापस लेने का एलान कर दिया, ताकि सरकार दलितों से नाराज़ न हो।[14] अम्बेडकर के नेतृत्व में लड़े गये जिस सबसे बड़े आन्दोलन की चर्चा होती है वह इस प्रकार समाप्त हुआ।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ देश की आज़ादी की लड़ाई में शामिल न होने को अम्बेडकर यह कहकर जायज़ ठहराते रहे कि "हम एक ही समय में सभी दुश्मनों ने नहीं लड़ सकते।"[15]अम्बेडकर औपनिवेशिक भारत में दलितों के शोषण-उत्पीड़न की जड़ (साम्राज्यवाद-सामन्तवाद गठबन्धन) पर हाथ डालने की बजाय ब्राह्मणवाद विरोधी छोटे-मोटे सुधार "आन्दोलनों" में ही उलझे रहे। ऐसे सुधारों के लिए भी कभी भी वह क़ानून का उल्लंघन करने को तैयार नहीं थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में उस समय एक और बड़ी शक्ति थी, उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी। कम्युनिस्ट पार्टी ही उस समय साम्राज्यवाद-सामन्ती गठबन्धन के ख़िलाफ़ आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी। भारत में जाति प्रश्न का समाधान अटूट रूप से साम्राज्यवाद-सामन्ती गठबन्धन से भारत के तमाम मेहनतकश लोगों की मुक्ति के साथ जुड़ा हुआ था। यह सच है कि उस समय कम्युनिस्ट पार्टी एक हद तक वर्ग अपचयनवाद के भटकाव की शिकार थी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति प्रश्न के समाधान के लिए कुछ किया ही नहीं, जैसा कि आज के दलितवादी बुद्धिजीवी इल्जाम लगाते हैं। जैसा कि अम्बेडकर कम्युनिस्ट पार्टी की 'ब्राह्मण लड़कों का झुण्ड' कहकर भर्त्सना करते थे।[16]हर जगह कम्युनिस्टों ने हर तरह की सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी, शोषण-उत्पीड़न, अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में लड़े गये महान तेलंगाना किसान संघर्ष ने सामन्ती व्यवस्था द्वारा किये जा रहे महिलाओं तथा दलितों के शोषण-उत्पीड़न पर भी ज़ोरदार प्रहार किया था। (इस पर और अधिक विस्तार से जानने के लिए देखें, पी. सुन्दरैया, 'Telengana People's Struggle and Its Lessons')

लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमजोरियों के चलते कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथों से छीनने में नाकाम रही। इस कारण भारत के मेहनतकशों की मुक्ति की परियोजना (जाति प्रश्न के समाधान सहित) आगे नहीं बढ़ पायी।

अम्बेडकर ने कम्युनिस्टों की सिर्फ़ 'ब्राह्मण लड़कों का झुण्ड' कहकर ही भर्त्सना नहीं की, उन्होंने कम्युनिस्टों द्वारा अपनाये जाने वाले हिंसक तौर-तरीक़ों की भी भर्त्सना की।[17] हिंसा के सवाल पर भी अम्बेडकर का स्टैण्ड एकदम विरोधाभासी था। कहीं तो वह शोषित वर्गों द्वारा अपनी मुक्ति के लिए हिंसा का सहारा लिये जाने के ख़िलाफ़ (उपरोक्त) हैं और कहीं वह इसके हक़ में दिखायी पड़ते हैं। वह कहते हैं, "अहिंसा सबसे सही नियम है...जो व्यक्ति आपको मारने, या किसी स्त्री को बेइज़्ज़त करने आता है, या किसी दूसरे के घर को आग लगाता है, या चोरी करता है और भागने की कोशिश में मारा जाता है, वह खुद अपने पापों के द्वारा मारा जाता है जैसा कि सभी हमलावरों और दुष्ट लोगों

के साथ होता है... सच कहूँ तो नियम यह होना चाहिए कि जहाँ भी सम्भव हो वहाँ अहिंसा हो, और जब भी आवश्यक हो तब हिंसा हो।"[18]

हिंसा के सवाल पर अम्बेडकर के ख़यालात भले ही कितने भी विरोधाभासी रहे हों, लेकिन व्यवहार में उन्होंने हमेशा ही अहिंसा का पालन किया। उनके नेतृत्व में दलितों की हालत में सुधार के लिए चले "आन्दोलनों" में से कोई भी "आन्दोलन" कभी भी व्यवस्था से टक्कर लेने की राह पर आगे नहीं बढ़ा।

हिंसा कभी भी कम्युनिस्टों के लिए पहली पसन्द नहीं रही। यह उनके लिए आख़िरी उपाय है। कम्युनिस्ट शोषक वर्गों द्वारा फैलाई जाने वाली प्रति-क्रान्तिकारी हिंसा के प्रतिकार के लिए मेहनतकश जनता को क्रान्तिकारी हिंसा के लिए तैयार करते हैं, क्योंकि इसके बग़ैर शोषित जनों का कोई भी आन्दोलन कामयाबी की दिशा में एक इंच भी नहीं बढ़ सकता। हिंसा के प्रति नकारात्मक रुख़ या क़ानूनी दायरे में ही सीमित रहने के चलते अम्बेडकर के नेतृत्व वाला कोई भी समाज-सुधार "आन्दोलन" कभी भी वह स्तर हासिल नहीं कर पाया, जो कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तेलंगाना के किसान संग्राम ने हासिल किया था, जिसने सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों पर घातक प्रहार करने के साथ-साथ दलितों और महिलाओं को भी बड़े पैमाने पर हर तरह के शोषण-उत्पीड़न से राहत पहुँचायी।

अम्बेडकर के नेतृत्व वाला दलित आन्दोलन ज़्यादातर कुँओं से पानी भरने तथा मन्दिर प्रवेश जैसे मुद्दों में ही उलझा रहा। भले ही समाज में दलितों को बराबरी का दर्ज़ा दिलाने के लिए ये अहम मुद्दे थे। लेकिन इनसे भी अहम (सर्वाधिक अहम) मुद्दा था भूमि सुधारों, या सामन्तों के क़ब्ज़े वाली ज़मीन के ग़रीब तथा भूमिहीन किसानों में वितरण का मुद्दा, जो सभी जातियों के ग्रामीण ग़रीबों का साझा मुद्दा था। अगर इस तथा ऐसे ही सभी ग़रीबों के साझा मुद्दों पर जनता को लामबन्द किया जाता, तो मेहनतकश जनता के भीतर के अन्तरविरोधों (जैसे कि उच्च जातियों के ग़रीबों के जातीय पूर्वाग्रह) को भी हल किया जा सकता था। इस तरह 'ब्राह्मणवादी' शक्तियों (उच्च जाति के कुलीनों) को उन्हीं की जातियों के ग़रीबों से अलग-थलग किया जा सकता था। लेकिन अम्बेडकर दलित मुक्ति के सर्वाधिक अहम मुद्दों को उठाने की बजाय गौण मुद्दों में ही उलझे रहे। और अम्बेडकर द्वारा ग़लत क्रम से उठाये गये मुद्दे उच्च जातियों के ग़रीबों को भी (अपने जातीय पूर्वाग्रहों के चलते) ग़रीब दलितों के विरोध में खड़ा कर देते थे। इस तरह अम्बेडकर अनजाने ही 'ब्राह्मणवाद' को कमज़ोर करने की बजाय और मज़बूत ही बनाते थे।

जब अंग्रेज़ 'फूट डालो और राज करो' की अपनी नीति के तहत हिन्दू, मुसलमानों तथा सिखों के लिए अलग मण्डल बना रहे थे तो अम्बेडकर ने अंग्रेज़ों की चाल में आकर अछूतों के लिए अलग निर्वाचक मण्डल बनाये जाने की माँग उठा दी। लेकिन बाद में गाँधी के दबाव में वह इस माँग से पीछे हट गये (प्रसिद्ध पूना पैक्ट)। अम्बेडकर द्वारा उठाया गया यह भी एक ग़ैर-मुद्दा ही था। यह राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालता और उसे कमज़ोर बनाता था।

अम्बेडकर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में एक फूट-परस्त शक्ति के रूप में काम करते रहे। उन्होंने अपने प्रभाव वाले दलितों को राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई से दूर रखा। उन्होंने कम्युनिस्टों को 'ब्राह्मण लड़कों का झुण्ड' का नाम देकर दलितों को उनकी मुक्ति की असल विचारधारा तथा राह से दूर किया।

अम्बेडकर ने मज़दूर संघर्षों में भी फूट-परस्त की ही भूमिका निभायी, इसका उदाहरण है 1929 की बम्बई के टेक्सटाइल मज़दूरों की हड़ताल। बम्बई टेक्सटाइल मिलों के मालिक अपने

कारख़ानों में नयी मशीनें लाये, जिससे एक ही मज़दूर तीन लूम चला सके। नतीजे के तौर पर मज़दूरों की छँटनी शुरू हुई। इस छँटनी के ख़िलाफ़ कम्युनिस्ट नेतृत्व वाली मज़दूर यूनियन गिरनी कामगार महामण्डल के आह्वान पर डेढ़ लाख मज़दूर हड़ताल पर चले गये। ई.डी. सेसून मिल (E.D. Sassoon Mill) के मैनेजर फ़्रेडरिक स्टोन्ज़ की अपील पर अम्बेडकर ने हड़ताल में शामिल मज़दूरों को काम पर लौटने के लिए प्रेरित किया। अम्बेडकर के कहने पर दलित मज़दूरों के काम पर लौटने से, बम्बई के लाखों टेक्सटाइल मज़दूरों की हड़ताल टूट गयी। 26 अप्रैल 1929 को जब गिरनी कामगार महामण्डल के आह्वान पर बम्बई के टेक्सटाइल मज़दूरों ने दोबारा हड़ताल की तो अम्बेडकर ने इस हड़ताल की तोड़ने के लिए फिर से ज़ोरदार अभियान चलाया।

अम्बेडकर द्वारा इन हड़तालों का विरोध करने की वजह एक तो यह बतायी जाती है कि उस समय कपड़ा मिलों में बुनाई विभाग जैसे अधिक तनख़्वाह वाले विभाग में दलित मज़दूरों को काम करने की आज्ञा नहीं थी। और कोई भी ट्रेड यूनियन इस भेदभाव के ख़िलाफ़ नहीं लड़ रही थी। इसके अलावा अम्बेडकर समझते थे कि कम्युनिज़्म तथा हड़तालें अलग ना किये जा सकने वाले जुड़वा हैं। उनका मानना था कि हड़तालों का इस्तेमाल मज़दूरों की आर्थिक लड़ाई से ज़्यादा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है, जिससे दलितों की आर्थिक स्थिति अधिक बिगड़ जाती है।[19]

यहाँ पर अम्बेडकर कम्युनिज़्म से अपनी नफ़रत तथा मालिकों के प्रति वफ़ादारी दर्शाते हुए, फिर से मेहनतकशों की (दलित और ग़ैरदलित की) साझा दुश्मन के साथ लड़ाई को आगे बढ़ाने की बजाय जनता के बीच के दोयम दर्जे के अन्तरविरोधों को प्रधान बनाने की ग़लती करते हैं, जिससे दलित और ग़ैरदलित मज़दूरों दोनों को ही नुक़सान उठाना पड़ता है और फ़ायदा सिर्फ़ मालिकों को ही होता है।

अम्बेडकर की हर हाल हिफ़ाजत करने के चक्कर में लेखक है उपनिवेशवाद के प्रति अम्बेडकर की पहुँच की तुलना भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रभावों के बारे में 'मार्क्स की समझ' के साथ करता है। लेकिन ऐसा वह बेहद अवसरवादी ढंग से करता है और अपने कुकर्म को सही सिद्ध करने के लिए मार्क्स की रचना से कुछ पसन्दीदा हिस्से सन्दर्भ से काटकर छाँट लेता है। वह अपनी बात साफ-साफ कहने की बजाए एक प्रश्न के रूप में कहता है। वह प्रश्न करता है (जो कि दरअसल प्रश्न नहीं, बल्कि उत्तर है) कि "क्या यह कहना दुरुस्त न होगा कि अंग्रजों के अधीन भारत के बारे में फुले-अम्बेडकर की समझ की तुलना आंशिक तौर पर कार्ल मार्क्स की समझ से की जा सकती है? मार्क्स ने 1853 में लिखा है कि, "इंग्लैंड को भारत में दोहरा मिशन पूरा करना था, एक ध्वंस, और दूसरा पुनर्निर्माण का- पुराने एशियाई समाज का खात्मा भी और पश्चिमी समाज के नींव की स्थापना।" फिर चलताऊ ढंग से वह यह भी जोड़ देता है कि मार्क्स ने 1857 के जंग को जंगे आज़ादी' कहा था। फिर वह हमें बताते हैं कि 'मार्क्स को 'यह कहने में कोई हिचक नहीं कि अंग्रेजों ने नई सामाजिक क्रान्ति के बीज' बोए हैं।'

मार्क्स को अम्बेडकर के पक्ष में खड़ा करने का गाताड़े ने जो अवसरवादी कुकर्म किया है, उसके भण्डाफोड़ के भय से वे मार्क्स के उक्त उद्धरण का सन्दर्भ बड़ी चालाकी से गोल कर जाते हैं। ऐसी चालाकियों और शब्दों की बाजीगरी से कुछ लोगों को भरमाने में वह एक हद तक सफल तो हो ही जाते हैं। बहरहाल, 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में 22 जुलाई 1853 को प्रकाशित मार्क्स के आलेख 'भारत में ब्रिटिश शासन के भावी नतीजे' के जिस अंश के हवाले

से उन्होंने अपनी बात कही है उसी आलेख में आगे चलकर, जिसकी चर्चा से गाताड़े बच निकलते है, मार्क्स यह लिखते हैं, "अंग्रेज बुर्जुआजी को चाहें जो कुछ भी करने को बाध्य कर दिया जाये वह जनता को मुक्ति नहीं दिलाएगी, न ही भौतिक तौर पर उनकी सामाजिक स्थिति को बेहतर बनाएगी, ये दोनों ही बातें उत्पादक शक्तियों के विकास पर ही नहीं, बल्कि जनता द्वारा उनके विनियोजन पर भी निर्भर करती हैं। लेकिन जिस चीज़ को करने में अंग्रेज पूँजीपति वर्ग विफल नहीं होगा, वह है इन दोनों की भौतिक बुनियाद रखना। क्या बुर्जुआजी ने कभी इससे कुछ अधिक भी किया है? व्यक्तियों और जनता को ख़ून और गन्दगी, विपदा और दुर्गति में घसीटे बगैर भी क्या इसने कभी विकास किया है? भारतीय जनता ब्रिटिश बुर्जआ वर्ग द्वारा अपने बीच बिखेरे गए समाज के नये तत्वों का लाभ तब तक नहीं उठा सकेगी जब तक स्वयं ब्रिटेन में मौजूदा शासक वर्गों की जगह औद्योगिक सर्वहारा नहीं ले लेता, या जब तक हिन्दुस्तानी खुद इतने शक्तिशाली नहीं हो जाते कि अंग्रेजी जुए को पूरी तरह उतार फेंकें।[20]

ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्तों द्वारा भारत के प्राकृतिक संसाधानों की लूट के उपोत्पाद के तौर पर उत्पादक शक्तियों की यहाँ एक सीमित हद तक विकास के चलते, मार्क्स कहीं भी इस नतीजे पर नहीं पहुँचते कि ब्रिटिश गुलामी भारतीय जनता के लिए वरदान है, या इस गुलामी के बोझ को अपने गले से उतार फेंकने के लिए भारत की जनता को संघर्ष नहीं चाहिए। अम्बेडकर की ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रति पहुँच मार्क्स की पहुँच के बिलकुल विपरीत थी। वह भारत की औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति के घनघोर विरोधी थे। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रति मार्क्स और अम्बेडकर की पहुँच को एक समान बताना अत्यन्त सुनियोजित ढंग से किया गया कुत्सा प्रचार ही है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि अम्बेडकर मार्क्सवाद को समझे बगैर उसके प्रति कटु भाव रखते थे। वह मार्क्सवाद को 'सुअरों का दर्शन' कहने तक चले गए। लेकिन सुभाष गाताड़े मार्क्सवाद के प्रति अम्बेडकर की हमदर्दी का प्रमाण देने के लिए उनके लेख 'जाति उन्मूलन' से कुछ पंक्तियाँ चुनकर हमारे सामने धर देते हैं। और इस बात से हमें सहमत करने में अपनी पूरी काबिलियत लगा देते हैं कि किसी भी सामाजिक शोषण-उत्पीड़न के खात्मे के लिए अब मार्क्सवाद को अम्बेडकर और बुद्ध के विचारों से अपने को समृद्ध करना होगा। वह कहते हैं, "उनकी (अम्बेडकर की) एक शानदार रचना 'जाति उन्मूलन' पर एक सरसरी नज़र ही यह स्पष्ट कर देती है कि वे मार्क्सवाद की कद्र करते थे, लेकिन इसके भारतीय पैरोकारों का व्यवहार उनके लिए एक बड़ी पहेली जैसा ही था। उन्होंने अपने निबन्ध 'बुद्ध या कार्ल मार्क्स' में मार्क्स के क्रान्तिकारी समानतावाद के प्रति आस्था व्यक्त की है। वह यह मानते थे कि एक मुक्तिदाता विचारधारा के तौर पर मार्क्सवाद बुद्ध मत के बहुत करीब है। दोनों में कुछ बातें साझा हैं। बुद्ध मत की तरह, मार्क्सवाद भी निजी सम्पत्ति के खात्मे की वकालत करता था, गरीबी का सम्बन्ध सामाजिक लूट-खसोट के साथ जोड़कर देखता था और सामाजिक संताप का हल वहीं और उसी वक्त प्रस्तुत करता था।"

हमें यहाँ यथार्थ को समझना होगा।

अम्बेडकर ने यूँ तो अपने लेखन तथा भाषणों में कई जगह कम्युनिज्म और मार्क्सवाद पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की हैं। लेकिन 'बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स'[21] के अपने निबन्ध में उन्होंने मार्क्सवाद के बारे में अपने जिन विचारों का सविस्तार रखा है, मार्क्सवाद के बारे में अपनी जो समझ पेश की है तथा मार्क्सवाद की जो आलोचना प्रस्तुत की है, वह नितान्त चलताऊ, सतही और लचर है। उनके इस निबन्ध से ही यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि

उन्होंने मार्क्सवाद की एक भी मूल कृति को नहीं पढ़ा है।

अम्बेडकर अपने निबन्ध की शुरुआत इन शब्दों से करते हैं, "यदि कुछ लोगों को कार्ल मार्क्स और बुद्ध के बीच तुलना का काम मज़ाकिया लगता है, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।"[22] बुद्ध और कार्ल मार्क्स की तुलना करना अपने आप में निश्चय ही कोई मज़ाक़ की बात नहीं है। लेकिन उचित होता कि वे दोनों के सिद्धान्तों का पहले स्वयं भलीभांति अध्ययन करने के उपरान्त ही इस काम में हाथ डालते, तब यह पाठक के लिए ज्ञानवर्धक होता और लेखक के रूप में खुद अम्बेडकर के लिए भी। आगे अम्बेडकर लिखते हैं, "दोनों (बुद्ध और कार्ल मार्क्स – लेखक) के बीच तुलना आकर्षक तथा शिक्षाप्रद है।"[23] अफ़सोस कि अम्बेडकर द्वारा की गयी इस तुलना में से ये दोनों ही चीज़ें ग़ायब हैं। यह आकर्षक होने की बजाय बेहद उबाऊ और शिक्षाप्रद होने की जगह ग़लत जानकारियों से लबरेज़ है। आगे अम्बेडकर लिखते हैं, "यदि मार्क्सवादी अपने पूर्वाग्रहों को पीछे रखकर बुद्ध का अध्ययन करें और उन बातों को समझें जो उन्होंने कही हैं और जिनके लिए उन्होंने संघर्ष किया, तो मुझे यक़ीन है कि उनका दृष्टिकोण बदल जायेगा। वास्तव में उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि बुद्ध की हँसी व मज़ाक़ उड़ाने का निश्चय करने के बाद वे उनकी प्रार्थना करेंगे"[24] यहाँ पर अम्बेडकर पहले से ही यह मानकर चल रहे हैं कि मार्क्सवादी बुद्ध के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त हैं और उनकी हँसी व मज़ाक़ उड़ाते हैं। कौन ऐसे मार्क्सवादी हैं? अम्बेडकर यह नहीं बताते और न ही उनके ऐसे किसी लेखन का हवाला ही देते हैं। अगर हम थोड़ी देर के लिए अम्बेडकर से सहमत भी हो जायें कि कोई मार्क्सवादी बुद्ध के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त है और उनका मज़ाक़ उड़ाता है तब भी इसमें मार्क्सवाद का क्या दोष है? यह किसी मार्क्सवादी की समझ का दोष हो सकता है। मार्क्सवाद तो किसी भी दर्शन के पैदा होने, विकसित होने तथा पतन (और ऐसा होने के भौतिक आधार) को वैज्ञानिक ढंग से समझने में हमारी मदद करता है। मार्क्सवाद का दर्शन भौतिकवादी है तथा पद्धति द्वन्द्वात्मक। यह पद्धति हमें हर चीज़ को 'एक को दो में बाँटने' तथा सकारात्मक को नकारात्मक से अलग करना सिखाती है। इसी पद्धति से मार्क्सवादी बौद्ध धर्म या दर्शन का अध्ययन करते हैं। उसके सकारात्मक तत्वों को स्वीकार करते हैं तथा नकारात्मक तत्वों को नकारते हैं। वह बुद्ध की हँसी व मज़ाक़ तो बिल्कुल नहीं उड़ाते और ऐसा न करने के बावजूद भी वह बुद्ध की प्रार्थना तो क़तई नहीं करते।

आगे अम्बेडकर बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं या यूँ कहें कि वह बुद्ध और कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों की ख़ुद की समझ की व्याख्या करते हैं। बुद्ध के सिद्धान्तों के बारे में बताने के लिए तो वह कहते हैं कि "मैंने त्रिपिटक का अध्ययन किया।" लेकिन कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों के बारे में बताने के लिए उन्होंने मार्क्सवाद की कौन सी कृति का अध्ययन किया था, इसके बारे में वह कुछ नहीं बताते। मार्क्सवाद के बारे में जानकारी देते हुए वह कहते हैं, "मार्क्स आधुनिक समाजवाद या साम्यवाद का जनक है। परन्तु उसकी रुचि केवल समाजवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने व प्रस्तुत करने में ही नहीं थी। यह कार्य तो उससे बहुत पहले अन्य लोगों द्वारा कर दिया गया था। मार्क्स की अधिक रुचि इस बात को सिद्ध करने में थी कि उसका समाजवाद वैज्ञानिक है। उसका जेहाद पूँजीपतियों के विरुद्ध जितना था, उतना ही उन लोगों के विरुद्ध भी था, जिन्हें वह स्वप्नदर्शी या अव्यावहारिक समाजवादी कहता था।"[25] अगर अम्बेडकर ने मार्क्सवाद के बारे में बताने से पहले कुछ अध्ययन कर लेने की ज़रा सी भी जहमत उठाई होती तो वह इस तरह की हास्यास्पद बातें नहीं करते। वह यह नहीं बताते कि 'समाजवाद के सिद्धान्तों को प्रतिपादित व प्रस्तुत' करने

का काम कार्ल मार्क्स से 'बहुत पहले' किसने किया था? शायद उनका इशारा स सेंट-सीमों, शार्ल फूरिये, रॉबर्ट ओवेन के समाजवाद (यूटोपियाई) की तरफ़ है जो एक ऐसे समय में पैदा हुआ था जब सर्वहारा वर्ग अल्पसंख्यक और अविकसित था। यूटोपियाई समाजवाद के प्रवर्तकों के ख़िलाफ़ मार्क्सवाद के जेहाद या नापसन्दगी की बात तो दूर रही उल्टे आधुनिक (वैज्ञानिक) समाजवाद खुद को यूटोपियाई समाजवाद का वारिस मानता है। अपनी पुस्तिका 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में एंगेल्स यूटोपियाई समाजवादियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, वहीं वे उनके सिद्धान्तों की सीमाओं की भी चर्चा करते हैं। मार्क्सवाद का 'जेहाद' काल्पनिक समाजवादियों के अनुयायियों के विरुद्ध था जो विभिन्न धड़े व सम्प्रदाय बनाकर बिल्कुल अलग ही भूमिका अदा कर रहे थे। मज़दूर आन्दोलन के विकास के बावजूद काल्पनिक समाजवाद और कम्युनिज़्म के समर्थक पहले की ही भाँति हड़तालों, ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक संघर्ष के प्रति नकारात्मक रुख़ रखते थे। वे मज़दूरों को वर्ग संघर्ष के पथ से परे एक यूटोपिया के क्षेत्र में, समाजवादी मनसूबेबाज़ी के क्षेत्र में (जैसेकि कम्युनिस्ट कालोनियों की स्थापना का विचार) ले जाते थे। अम्बेडकर न तो काल्पनिक तथा वैज्ञानिक समाजवाद के पैदा होने की भिन्न भौतिक परिस्थितियों को ही समझते हैं और न ही दोनों के बीच के बुनियादी फ़र्क़ को। अम्बेडकर "मार्क्सवाद" की अपनी व्याख्या जारी रखते हुए "मार्क्स के सिद्धान्तों" की एक सूची बनाते हैं और एक के बाद एक उन पर कहर बरपा करते हैं। उनका कहना है, "मार्क्स की अवधारणा निम्नलिखित प्रमेयों पर आधारित है :-

"दर्शन का उद्देश्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की व्याख्या करना नहीं।"[26] इसी बात को अम्बेडकर दूसरे शब्दों में भी प्रस्तुत करते हैं, "दर्शन का कार्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है, विश्व की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण देने या समझाने में अपना समय नष्ट करना नहीं।" लेकिन मार्क्स ऐसा कुछ नहीं कहते। अम्बेडकर जो कहते हैं, वह मार्क्स द्वारा फ़ायरबाख़ पर लिखी गयी ग्याहरवीं थीसिस का बिगड़ा और ग़लत रूप है। मार्क्स कहते हैं, "दार्शनिकों ने तरह-तरह से दुनिया की केवल व्याख्या की है, सवाल उसे बदलने का है।"[27] ऐसा नहीं है कि अम्बेडकर ने मार्क्स की कही हुई बात को ग़लत रूप में समझा, बल्कि उन्होंने इसे समझा ही नहीं है। आगे अम्बेडकर कहते हैं कि मार्क्स के मुताबिक़, "समाज दो वर्गों में विभक्त है – मालिक तथा मज़दूर"। यहाँ भी अम्बेडकर ग़लत जानकारी ही दे रहे हैं। मार्क्सवाद पूँजीवादी समाज को (या किसी भी अन्य पूर्व पूँजीवादी वर्गीय समाज को सिर्फ़ दो वर्गों में बँटा हुआ नहीं मानता। मार्क्सवाद बताता है कि मालिक तथा मज़दूर पूँजीवादी समाज के दो मुख्य वर्ग हैं, मगर इनके अलावा वह समाज में अन्य (मध्य) वर्गों की मौजूदगी से इनकार नहीं करता है। अम्बेडकर हमें बताते हैं कि मार्क्स कहते हैं, "मज़दूरों का मालिकों द्वारा शोषण किया जाता है। मालिक उस अतिरिक्त मूल्य का दुरुपयोग करते हैं।" इसमें से अम्बेडकर आधी बात तो सही कहते हैं कि मालिक मज़दूरों का शोषण करते हैं, लेकिन मार्क्सवाद अतिरिक्त मूल्य के दुरुपयोग या सदुपयोग की बात नहीं करता। मार्क्सवाद हमें बताता है कि पूँजीपतियों के धन (मुनाफ़े) का एकमात्र स्रोत मज़दूरों के श्रम (अतिरिक्त मूल्य) का शोषण है। मार्क्सवाद ऐसा कुछ नहीं कहता कि अगर मालिक वर्ग इस अतिरिक्त मूल्य का दुरुपयोग करते हैं तो मज़दूरों का शोषण ग़लत है और अगर सदुपयोग करते हैं तो मज़दूरों का शोषण सही है।

आगे अम्बेडकर बताते हैं कि मार्क्सवादी सिद्धान्त के मौलिक संग्रह में से कई बातों को इतिहास द्वारा असत्य प्रमाणित कर दिया गया है। वह कहते हैं कि जब से मार्क्सवाद अस्तित्व

में आया है, तभी से इसकी काफ़ी आलोचना होती आ रही है। इस आलोचना के फलस्वरूप कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत विचारधारा का काफ़ी बड़ा ढाँचा ध्वस्त हो चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्स का यह दावा कि उसका समाजवाद अपरिहार्य है, पूर्णतया असत्य सिद्ध हो चुका है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सर्वप्रथम 1917 में, उसकी पुस्तक दास कैपिटल, समाजवाद का सिद्धान्त के प्रकाशित होने के लगभग सत्तर वर्ष बाद (अम्बेडकर इतना भी नहीं जानते कि 'पूँजी' कब प्रकाशित हुई थी) यहाँ तक कि साम्यवाद, जोकि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का दूसरा नाम है, रूस में आया, तो यह किसी प्रकार के मानवीय प्रयास के बिना किसी अपरिहार्य वस्तु के रूप में नहीं आया था। घनघोर अज्ञान! अम्बेडकर की मार्क्सवाद की समझ निहायत ही गयी-गुज़री है। मार्क्सवाद का सामान्य विद्यार्थी भी समझ सकता है कि यह एकदम वाहियात बकवास है। क्या मार्क्स ने कहीं भी कहा है कि समाजवाद अपरिहार्य है तो यह बिना किसी मानवीय प्रयासों के ही स्थापित हो जायेगा। मार्क्स बार-बार कहते हैं कि समाजवाद (सर्वहारा वर्ग की तानाशाही) सर्वहारा वर्ग के संगठित, सचेतन प्रयासों (वर्ग संघर्ष) के ज़रिये ही पूँजीवादी व्यवस्था को उलट कर ही स्थापित हो सकता है। अम्बेडकर कहते हैं कि 'साम्यवाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का दूसरा नाम है।' यह निहायत ही बचकानापन है। मार्क्सवाद के मुताबिक़ साम्यवाद समाजवाद के आगे की मंज़िल है। यहाँ वर्ग, वर्ग संघर्ष तथा इन वर्ग अन्तरविरोधों के उत्पाद राज्य का अस्तित्व नहीं रह जायेगा।

इसलिए साम्यवाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का ही दूसरा नाम नहीं है, बल्कि एक-दूसरे के विपरीत चीज़ें हैं।

यह दावा करने के बाद कि मार्क्सवाद का काफ़ी बड़ा हिस्सा ध्वस्त हो चुका है, अम्बेडकर हमें बताते हैं कि मार्क्सवाद की ये चार बातें ही बाक़ी बची रहती हैं :

1. दर्शन का कार्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है, विश्व की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण देने या समझाने में अपने समय को नष्ट करना नहीं।
2. एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ स्वार्थ व हित का टकराव व उनमें संघर्ष होता है।
3. सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से एक वर्ग को शक्ति प्राप्त होती है और दूसरे वर्ग को शोषण के द्वारा दुख पहुँचाया जाता है।
4. समाज की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करके, दुख का निराकरण किया जाये।[28]

इसके बाद अम्बेडकर बुद्ध और कार्ल मार्क्स के बीच तुलना करते हुए कहते हैं कि इन चार बिन्दुओं पर बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स में सहमति है और पहली बात पर बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स में पूर्ण सहमति है। हम देख चुके हैं कि मार्क्सवाद ('बाक़ी बचे') की अम्बेडकरवादी व्याख्या में जिस पहले बिन्दु की चर्चा की गयी है, वह सरासर ग़लतबयानी है। मार्क्स ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं। जहाँ तक दूसरे बिन्दु की बात है, उस पर अम्बेडकर कहते हैं कि बुद्ध के मुताबिक़ "राजाओं के बीच, कुलीनों के बीच, ब्राह्मणों के बीच, गृहस्थों के बीच, माता तथा पुत्र के बीच, पुत्र तथा पिता के बीच, भाई तथा बहन के बीच, साथियों तथा साथियों के बीच सदा संघर्ष चलता रहता है।"[29] अम्बेडकर के इस तर्क के जवाब में रंगनायकम्मा लिखती हैं, "अम्बेडकर की दृष्टि में इन टिप्पणियों का आशय वर्ग संघर्ष की बात करना है।"

यहाँ तक कि जो लोग वर्गों के बारे में बिल्कुल ही अनजान हैं, वो भी ऐसी दयनीय अवस्था में नहीं होंगे।

जब हम वर्गों की बात करते हैं तो हम 'मालिक-मज़दूर' सम्बन्ध के अस्तित्व की बात

करते हैं। हम श्रम के शोषण की भी बात करते हैं।...

श्रम के शोषण पर ही वर्ग टिके रहते हैं। वर्ग संघर्ष और विभिन्न हित वर्गों पर टिके रहते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हम किसी भी प्रकार के समाज में वर्गों को रेखांकित कर सकते हैं।...

हम वर्गों, वर्गों के भीतर विद्यमान तबकों और सामाजिक सम्बन्धों के पूरे समुच्चय को समझने में तभी सक्षम हो सकेंगे, जब हम श्रम के शोषण के बारे में स्पष्ट रूप से जानते हों।

अम्बेडकर के इस दावे का वर्गों से कुछ लेना-देना नहीं है कि 'बुद्ध ने वर्गों के बारे में पहले ही बता दिया था।' किन्तु यदि हम वर्गों को यथोचित रूप में समझ लें तो हम उन अन्तरविरोधों की प्रकृति को समझ सकते हैं, जिनका बुद्ध ने उल्लेख किया है।"[30]

तीसरे तथा चौथे बिन्दु की व्याख्या करते हुए अम्बेडकर बताते हैं कि कैसे बुद्ध ने दुखों की जड़ निजी सम्पत्ति का उन्मूलन किया, कि बौद्ध भिक्षु केवल आठ व्यक्तिगत वस्तुओं के अलावा कोई निजी सम्पत्ति नहीं रख सकते थे। अम्बेडकर की इस तुलना का निजी सम्पत्ति के उन्मूलन के मार्क्सवादी सिद्धान्त से कुछ भी लेना-देना नहीं। मार्क्सवादी शिक्षा के मुताबिक़ सर्वप्रथम सर्वहारा अपनी क्रान्तिकारी (कम्युनिस्ट) पार्टी के नेतृत्व में संगठित हो बुर्जुआ वर्ग से राज्यसत्ता छीनता है। इसके बाद वह उत्पादन के साधनों तथा फिर क्रमशः सम्पत्ति के अन्य रूपों का समाजीकरण करता जाता है तथा एक प्रक्रिया में वर्गविहीन समाज (कम्युनिज़्म) की तरफ़ बढ़ते जाना सर्वहारा सत्ता का उद्देश्य होता है। संन्यास तथा त्यागवाद (बुद्ध) से मार्क्सवाद का कुछ भी लेना-देना नहीं है। मार्क्सवाद का सरोकार मानवता की भौतिक तथा सांस्कृतिक ख़ुशहाली से है।

अपने लेख के अन्त में अम्बेडकर बुद्ध तथा मार्क्सवाद द्वारा अपने उद्देश्य (अम्बेडकर का कहना है कि दोनों का उद्देश्य एक ही है) को हासिल करने के साधनों की तुलना की है। अम्बेडकर का कहना है कि "साम्यवादी कहते हैं कि साम्यवाद को स्थापित करने के केवल दो ही साधन हैं, पहला है हिंसा।... दूसरा साधन है सर्वहारा वर्ग की तानाशाही।"[31] जहाँ तक हिंसा का प्रश्न है, इस पर अम्बेडकर कहते हैं, 'हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं किया जा सकता।' बुद्ध हिंसा के विरुद्ध थे। परन्तु वह न्याय के पक्ष में भी थे और जहाँ पर न्याय के लिए बल-प्रयोग अपेक्षित होता है, वहाँ उन्होंने बल-प्रयोग की अनुमति दी है।[32] लेकिन अम्बेडकर साम्यवादियों की हिंसा के लिए भर्त्सना करते हैं क्योंकि, "साम्यवादी हिंसा का प्रतिपादन एक निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में करते हैं।"[33] लेकिन अपने इस इल्ज़ाम के हक़ में अम्बेडकर कोई भी तथ्य पेश नहीं करते। वह यह मानकर चलते हैं कि साम्यवादी जब हिंसा की वकालत करते हैं तो यह हिंसा न्याय की ख़ातिर नहीं होती। अगर मेहनतकश वर्ग शोषण-उत्पीड़न से निजात पाने के लिए तथा शोषक वर्गों द्वारा उन पर थोपी प्रतिक्रियावादी हिंसा की प्रतिक्रिया में हिंसा का इस्तेमाल करते हैं तो क्या यह न्याय के लिए नहीं है? अगर यह भी न्याय के लिए नहीं है तो फिर अम्बेडकर की न्याय की परिभाषा क्या है? इस पर अम्बेडकर पूरी तरह मौन साधे हुए हैं।

तानाशाही तथा लोकतन्त्र आदि सवालों पर भी अम्बेडकर बुरी तरह से भ्रमित हैं। वह इतना भी नहीं समझते कि जिसे वह लोकतन्त्र कह रहे हैं, वह भी किसी ना किसी वर्ग की तानाशाही ही होता है। पूँजीवादी समाज में यह बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही होता है। यह बुर्जुआ वर्ग के लिए जनवाद तथा सर्वहारा वर्ग के लिए तानाशाही होता है। मार्क्सवादी बस इतना ही "गुनाह" करते हैं कि वह डण्डे को डण्डा कहते हैं। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सत्ताच्युत

किये बुर्जुआ वर्ग के लिए तानाशाही तथा सर्वहारा तथा अन्य मेहनतकश वर्गों के लिए जनवाद होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद की अम्बेडकरवादी व्याख्या तथा आलोचना बेहद बचकानी तथा हास्यास्पद है। यह अम्बेडकर के अज्ञान तथा राजनीतिक अनपढ़ता का उत्पाद है।

अरुन्धति राय के अनोखे लेकिन मौलिक विचार!

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की जाति प्रश्न के समाधान के लिए जो पहुँच रही है, उसके बारे में अरुन्धति राय के विचारों की हम पहले ही चर्चा कर आए हैं। इस पुस्तक में अरुन्धति राय का जो साक्षात्कार छपा है उसमें उसने कई अजीबो-गरीब विचार व्यक्त किए हैं, जिन पर चर्चा ज़रूरी है। बेशक उसने इस साक्षात्कार में कुछ सही बातें भी की हैं (कोई भी मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति सारी बातें ग़लत नहीं करता और न ही कर सकता है)। अपने साक्षात्कार के शुरू में ही अरुन्धती राय एक अर्धसत्य बात करती है। उसका कहना है कि आज लड़ाई मुख्य तौर पर उन लोगों के लिए लड़ी जा रही है, जिनके पास ज़मीन है। भाकपा (माओवादी) भी यही लड़ाई लड़ रही है। अरुन्धती राय ने यह बात ठीक ही पकड़ी है। किसी न किसी रूप में यह बात सभी नक्सली ग्रुपों पर लागू होती है। आज यह ग्रुप सम्पत्तिहीन मज़दूरों की लड़ाई को त्यागकर स्वामी वर्गों की लड़ाई लड़ रहे हैं। लेकिन अरुन्धति राय का यह कहना दुरुस्त नहीं है कि शहरी ग़रीब या दलित, जिनके पास कुछ भी नहीं है उनके लिए कोई भी नहीं लड़ रहा। ऐसी वाम शक्तियाँ हैं जो शहरी मज़दूरों को संगठित करने में लगी हुई हैं। बेशक आज ये अभी कमज़ोर हैं। यह अलग बात है कि अरुन्धती राय अपनी "बौद्धिक व्यस्तताओं" के चलते इन ग्रुपों के बारे में जानने के लिए वक्त नहीं निकाल पाती।

अपने साक्षात्कार में उसने कुछ ऐसी बातें कही हैं जिन्हें अनर्गल बातों की कोटि में ही रखा जा सकता है। कुछ झलकें देखें। उसका कहना है, "जो कुछ हो रहा है वह तो पूँजीपति भी नहीं करते। यहाँ जो मुकाबलेबाज़ी के लिए एकसमान मैदान होता है, वह अब नहीं है। कारोबारी लोगों (व्यपारियों) को कार्पोरेटों ने एक कोने में धकेल दिया है। छोटे व्यपारियों को मॉल ने कोने में धकेल दिया है। यह पूँजीवाद नहीं है। यह पता नहीं क्या है? यह कोई अन्य ही बला है?"

न जाने लेखिका के सपनों में कौन-सा पूँजीवाद बसता है, जहाँ मुकाबलेबाज़ी के लिए एकसमान मैदान होता है। ऐसा 'मैदान' तो पूँजीवाद के पूरे इतिहास में कभी नज़र नहीं आया। पूँजीवाद में मुकाबला हमेशा असमान होता है और ऐसा ही हो सकता है। इस मुकाबले में बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। यह जो हो रहा है, पूँजीवादी व्यवस्था में यही होता है। किसी अन्य तरह के पूँजीवाद की कल्पना करना मूर्खतापूर्ण भोलापन है। इस भोलेपन का एक और नमूना देखें, लेखिका कहती है, "नवउदारवादी नीतियाँ... ताकतवर को और ताकतवर बनाती हैं। यही तो कार्पोरेट पूँजीवाद है। हो सकता है यह क्लासिकीय पूँजीवाद जैसा न हो, क्योंकि क्लासिकीय पूँजीवाद उसूलों पर चलता होगा और वहाँ 'चेक व बैलेंस' की व्यवस्था होगी।" यह क्लासिकीय पूँजीवाद उसूलों पर चलने वाला पूँजीवाद भी लेखिका के ख्यालों में बसता है। पूँजीवाद के पूरे इतिहास में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। उभर रहे पूँजीवाद (अगर लेखिका का अर्थ इस पूँजीवाद से है) का बर्बर रूप मार्क्स, एंगेल्स, अनेकों मार्क्सवादी और

गैर-माक्सवादी इतिहासकारों, शेक्सपियर, बालज़ाक, डिकेन्स आदि अनेकों साहित्यकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है। अगर क्लासिकीय पूँजीवाद से लेखिका का अर्थ भाकपा, माकपा और इनसे जुड़े बुद्धिजीवियों की तरह सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता वाली "मिश्रित अर्थव्यवस्था" से है तो इसके लिए भारत की आज़ादी के बाद का इतिहास देखना ही काफ़ी रहेगा।

अरुन्धति राय ने कम्युनिस्ट पार्टियों के पतन के कारणों पर रोशनी डालता मौलिक सिद्धान्त भी खोज ही लिया है। उसका कहना है, "जब पार्टियाँ छोटी होती हैं,...तो हमारे पास नेक नीयत होती है। तुम अच्छी अवस्थितियों और उच्च नैतिक आधार अपना सकते हो। लेकिक अगर तुम....बड़ी पार्टी हो तो हालत और होती है।" यानी किसी पार्टी को पतन से बचना है तो उसे बड़ी पार्टी बनने से बचना होगा, छोटी पार्टी ही बने रहना होगा। है न अनोखा लेकिन मौलिक विचार। अरुन्धति राय का यह सिद्धान्त जानकर तो कई कम्युनिस्ट सिद्धान्तकार भी शर्मा गए होंगे कि इतना "महान" विचार उनके दिमाग में क्यों नहीं आया। ऐसे अनोखे लेकिन मौलिक विचार पढ़कर अरुन्धति राय के श्रद्धालुओं की समझ पर दया आती है, जो उसकी बौद्धिकता पर हमेशा मंत्र-मुग्ध हुए रहते हैं।

संदर्भ

1 The International Working Class Movement, Problems of History and Theory, Vol.1, P.629
2 देखें, प्रतिबद्ध, बुलेटिन 21 और 22 में छपा लेख 'सोवियत संघ विच समाजवादी प्रयोगां दे तजुर्बे - इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ' (पंजाबी)
3 Marx, The Class Struggle in France 1848 to 1850, P.5, Progress Publsihers, Moscow 1975 (vuqokn gekjk)
4 उपरोक्त
5 देखें, प्रतिबद्ध, बुलेटिन-20, (सितम्बर, 2013) में छपा लेख 'अम्बेडकर अते दलित मुक्ति' (पंजाबी)
6 P. Sundraya, Telengana People's Struggle and its Lessons, pages 126-27
7 Dr. Baba Saheb Ambedkar, Writings and Speeches, vol. 9, p. 189, vuqokn gekjk
8 Gail Omvedt, 'Dalits and Democratic Revolution', First Edition, 1994, p. 98
9 अम्बेडकर, सम्पूर्ण रचनाएँ (हिन्दी), भाग -5, पन्ना-16 (अनुवाद हमारा)
10 गेल की उपरोक्त पुस्तक में अम्बेडकर का उद्धरण, पन्ना 80-81, अनुवाद हमारा
11 Dr. Baba Saheb Ambedkar, Writings and Speeches, vol. 9, p. 189, अनुवाद हमारा
12 उपरोक्त, पन्ना 178
13 उपरोकक्त, पन्ना 63-64, अनुवाद हमारा
14 इस पर अधिक विस्तार में देखें Dhananjay Keer, 'Ambedkar Life and Mission', Chapter 6
15 Gail Omvedt, उपरोक्त, पन्ना 15
16 Gail Omvedt, उपरोक्त, पन्ना 183
17 देखें बहिष्कृत भारत (हिन्दी), 31 मई 1929

18 Dhananjay Keer, Ibid
19 इस पर अधिक जानकारी के लिए देखें, उपरोक्त पाठ 7-8
20 मार्क्स-एंगेल्स, 'बस्तीवाद बारे' (पंजाबी), पंजाब बुक सेंटर, चण्डीगढ़, पन्ना 93-94
21 सम्पूर्ण वांगमय (हिन्दी), खण्ड 7, डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्राकशित
22 उपरोक्त, पन्ना 343
23 उपरोक्त
24 उपरोक्त
25 'बुद्ध या कार्ल मार्क्स', उपरोक्त, पन्ना 345
26 उपरोक्त, पन्ना 346
27 Marx-Engles, 'The German Ideology', Progress Publishers, Moscow, p. 617
28 डा. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांगमय (हिन्दी), खण्ड 7, पन्ना 347
29 उपरोक्त, पन्ना 348
30 रंगानायकम्मा, 'जाति प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफ़ी नहीं, अम्बेडकर भी काफ़ी नहीं, मार्क्स ज़रूरी नहीं, (हिन्दी) पन्ना 357-58
31 डा. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांगमय (हिन्दी), खण्ड 7, पन्ना 354
32 उपरोक्त, पन्ना 355
33 उपरोक्त, पन्ना 356

भावुकतावादी क्रान्तिवाद बनाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी अप्रोच एवं पद्धति

● कात्यायनी

अनुभववादी भावुकतावादी क्रान्तिवादियों और मार्क्सवादियों में एक बुनियादी फर्क होता है। भावुकतावादी क्रान्तिवादी विचारधारा को मार्गदर्शक नहीं बनाते, इसलिए किसी क्रान्तिकारी संघर्ष से वे अति-आशावादी होकर उम्मीदें पाल लेते हैं, उसकी दिशा और विकास की गतिकी को नहीं समझ पाते और उस प्रयोग का विचारधारात्मक विचलन जब विफलता के नतीजे के रूप में सामने आ जाता है, तो फिर वे निराशा में डूब जाते हैं या मिथ्या आशा के किसी और स्रोत की तलाश में जुट जाते हैं।

जिन लोगों ने 1956 में सोवियत पार्टी के विचारधारात्मक विपथगमन को नहीं समझा और उसके बाह्य स्वरूप को देखकर उसके समाजवादी मानते रहे, वे उस समय मायूस हो गये जब सोवियत समाज का राजकीय पूँजीवादी चरित्र नंगा हो गया। कुछ फिर भी उसे समाजवादी मानते रहे, पर जब सोवियत संघ अपनी स्वाभाविक आंतरिक गति से विघटित हो गया और पूरे सोवियत ब्लॉक में "समाजवादी" मुखौटे वाला राजकीय पूँजीवाद नवउदारवादी निजी पूँजीवाद में बदल गया तब वे निराश हो गये। जो लोग 1976 में चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना को मार्क्सवादी विज्ञान के आधार पर नहीं समझ सके, वे "बाजार समाजवाद" का नंगा चेहरा सामने आने के बाद पस्तहिम्मत हैं। ऐसे ही कुछ लोग समाजवादी संक्रमण की प्रकृति और समस्याओं को समझे बिना, सोवियत संघ और चीन के अनुभवों से निराश होकर इक्कीसवीं सदी के नये समाजवाद के मॉडल की तलाश में निकल पड़े और

वेनेजुएला के ह्यूगो शावेज में उन्हें समाजवाद का नया मसीहा दीखने लगा। सच्चाई यह है कि वेनेजुएला में ज़्यादा से ज़्यादा एक साम्राज्यवाद-विरोधी, लोकप्रिय, कल्याणकारी बुर्जुआ राज्य है जो पेट्रो डॉलर (तेल-राजस्व) से पोषित बहुत सारे जनकल्याणकारी कदम उठा रहा है (ऐसा तो एक हद तक लीबिया और इराक में भी हुआ था)। वहाँ अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसकी कठपुतली संस्थाओं से लम्बे संघर्ष के अनुभव ने स्वत:स्फूर्त ढंग से आम जनता के बहुत सारे संगठनों, मंचों और संस्थाओं को जन्म दिया है, जिनका दबाव 'बोलिवारियन क्रान्ति' के जनपरक, रैडिकल चरित्र को बनाये रखने में फिलहाल एक भूमिका निभा रहा है। लेकिन यह इतिहास की एक अल्पजीवी परिघटना है। 'बोलिवारियन क्रान्ति' समाजवादी संक्रमण की आगे की मंजिलों में न तो कदम बढ़ा रही है, न ही बढ़ा सकती है। आर्थिक-सामाजिक गतिकी के सामान्य नियमों से इस प्रयोग को कालान्तर में ठहराव और विघटन का शिकार होना ही है। फिर भावुक क्रान्तिवादियों के लिए आशाओं का एक और स्रोत सूख जायेगा।

क्यूबा कुछ लोगों के लिए अभी भी आशाओं का स्रोत बना हुआ है। बेशक क्यूबाई क्रान्ति एक महान क्रान्ति थी और चे और फिदेल का क्रान्तिकारी नायकत्व निर्विवाद है। क्यूबा ने अमेरिकी साम्राज्यवाद की घेरेबन्दी और साज़िशों का शौर्यपूर्वक सामना करते हुए जनशक्ति की लामबंदी करके उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजीकरण, अर्थतंत्र के समाजवादी नियोजन तथा शिक्षा-स्वास्थ्य आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कदम उठाये। अमेरिका और पश्चिमी ब्लॉक के साथ अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में सोवियत साम्राज्यवाद ने क्यूबा को अपना संश्रयकारी बनाया, अफ्रीका महाद्वीप में उसका इस्तेमाल भी किया और बदले में उसे तकनोलॉजी, औद्योगिक उपकरणों, अनाज आदि (क्यूबा की चीनी के बदले) देकर काफ़ी मदद की। इस निर्भरता का नकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि क्यूबा में उत्पादन के सभी क्षेत्रों में संतुलित-सर्वांगसम विकास नहीं हो सका और वहाँ का अर्थतंत्र मुख्यत: कृषि (गन्ना-तम्बाकू आदि) आधारित बना रहा तथा चीनी और खनिजों को सोवियत संघ निर्यात करने पर टिका रहा। सोवियत संघ के विघटन के बाद, इसी वजह से एक दशक से भी अधिक समय तक क्यूबा की गम्भीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। यह मानना पड़ेगा कि जनता में व्याप्त समाजवादी स्पिरिट और अमेरिकी साम्राज्यवाद-विरोधी घृणा के चलते व्यापक जन-लामबन्दी करके क्यूबा की सरकार उस संकट से उबरने में सफल रही और एक हद तक स्वावलंबिता भी हासिल की। वेनेजुएला से तेल की मदद और अमेरिका-विरोधी अन्य लातिन अमेरिकी देशों से व्यापार सम्बन्धों ने भी उसकी समस्या को हल करने में एक भूमिका निभायी। लेकिन बेहद पिछड़ी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के आगे न बढ़ पाने की मूल समस्या क्यूबा में अभी भी बनी हुई है। बुनियादी बात यह है कि क्यूबाई क्रान्ति का नेतृत्व कभी भी इस बात को नहीं समझ सका कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों का निरन्तर उच्चतर रूप क़ायम करना होता है, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर, कृषि और उद्योग के अन्तर, गाँव और शहर के अन्तर - इन तीनों को क्रमश: कम करते हुए इनके आधार पर क़ायम बुर्जुआ अधिकारों को कम करते जाना होता है, और साथ ही साथ अधिरचना का निरन्तर क्रान्तिकारीकरण करते जाना होता है। यानी समाजवादी संक्रमण के दौरान, उत्पादक शक्तियों के विकास पर वर्ग संघर्ष को प्राथमिकता देकर, सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति और अधिरचना में सतत् क्रान्ति चलाकर ही समाजवाद को आगे ले जाया जा सकता है तथा पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोका जा सकता है। चीन की

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की यही शिक्षा थी, जो वहाँ की पार्टी ने सोवियत संघ के सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों से और अपने देश के वर्ग संघर्ष से हासिल की थी। हालाँकि इस नतीजे तक पहुँचने तक चीन में भी नये बुर्जुआ तत्व पार्टी, राज्य और समाज में अपनी जड़ें इतनी मज़बूत कर चुके थे और वर्ग-शक्ति सन्तुलन इस हद तक बदल चुका था कि पहली सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-76) के बाद ही, वहाँ भी प्रतिक्रान्तिकारी तख़्तापलट के बाद पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत हो गयी। पर सांस्कृतिक क्रान्ति की जो सैद्धान्तिक निष्पत्ति थी, उसका सार्वभौमिक महत्व लगातार बना रहेगा। क्यूबा की पार्टी ने चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति से कुछ भी नहीं सीखा और यह ज़रा भी आश्चर्यजनक नहीं है। यह क्यूबा की पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी ही थी कि उसने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीनी पार्टी के विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता की अवस्थिति अपनाई थी और बाद में तो उसने सोवियत संघ के इशारे पर खुला चीन-विरोधी रुख़ भी अपनाया था। इसका एक पहलू यह भी था कि विचारधारात्मक प्रश्नों और अन्तरराष्ट्रीयतावाद से हटकर इस पूरे विवाद में क्यूबा ने अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दी थी, जो अपने आपमें मार्क्सवाद-लेनिनवाद से एक विचलन है। 2012 में हुई क्यूबा की पार्टी की कांग्रेस ने साफ़ कर दिया कि अपने समाज के गतिरोध को तोड़ने के लिए क्यूबा की पार्टी समाजवादी संक्रमण की अग्रवर्ती मंज़िलों की ओर बढ़ने का साहस जुटाने और आंतरिक वर्ग संघर्ष के तूफ़ानों में उतरने के बजाय कुछ-कुछ उसी तरह "नियंत्रित खुले दरवाज़े की नीति" या "बाज़ार समाजवाद" की नीति अपनाने की दिशा में आगे बढ़ रही है, जैसे माओ की मृत्यु के बाद चीन की पार्टी बढ़ी थी। क्यूबा की पार्टी की पिछली कांग्रेस की तुलना कई मायनों में चीन की पार्टी की ग्यारहवीं कांग्रेस से की जा सकती है। क्यूबाई समाज में इन परिवर्तनों के प्रभाव अभी से ही दीखने लगे हैं। वहाँ की मुद्रा की अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त दो और समानान्तर अर्थव्यवस्थाएँ चल रही हैं : वैध डॉलर की सीमित अर्थव्यवस्था और अवैध डॉलर की समान्तर अर्थव्यवस्था। कालाबाज़ारी, बाहर से डॉलर लाने वाले पर्यटकों द्वारा लायी जा रही अपसंस्कृति, वेश्यावृत्ति और अपराध बढ़ रहे हैं। निजी स्वामित्व और निजी व्यापार के लिए दी गयी "नियंत्रित" छूटें अपना रंग दिखा रही हैं। जो मार्क्सवादी विज्ञान के आधार पर समाज की गतिकी को समझता है, वह बता सकता है कि देर-सबेर क्यूबा का भविष्य भी चीन और वियतनाम के "बाज़ार समाजवाद" जैसा ही होगा। या पूर्वी यूरोपीय देशों (प्रतिक्रान्तिकारी तख़्तापलट के बाद बुर्जुआ जनवाद का आना) जैसा भी हो सकता है। पर ऐसा कहने पर भावुक क्रान्तिवादी निराश हो जाते हैं, उन्हें लगता है कि समाजवाद की अनिष्टता की भविष्यवाणी करके उसे श्राप दिया जा रहा है और कोई पाप किया जा रहा है।

1990 के बाद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी दुनिया में बेकली से आसन्न विजयोन्मुख क्रान्तिकारी संघर्ष का कोई प्रकाश स्तम्भ तलाश रहे थे और उनका ध्यान पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) द्वारा चलाये जा रहे उस लोकयुद्ध की ओर बरबस गया जिसने पहले अलेन गार्सिया और फिर फूजीमोरी की सरकारों की नाक में दम कर दिया था। लेकिन उस पार्टी के कुछ विचारधारात्मक विचलन शुरू से ही स्पष्ट थे। पार्टी का ज़ोर शुरू से ही विचारधारा और राजनीति से अधिक हथियार पर था। थोड़ी सफलताओं के बाद पार्टी ने चेयरमैन गोंजालो के नाम पर 'गोंजालो चिन्तन' जोड़कर 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद-गोंजालो चिन्तन' कहना शुरू कर दिया जबकि 'गोंजालो चिन्तन' में ऐसी कोई भी मौलिक और सार्वभौमिक महत्व की बात नहीं थी जिसे विचारधारा में कोई आंशिक गुणात्मक इज़ाफ़ा भी माना जा सके। पेरू का

ग्रामीण क्षेत्र विशाल है, लेकिन आबादी का बहुलांश शहरी है। देश की 48 प्रतिशत आबादी अकेले राजधानी लीमा और उसके उपनगरीय इलाकों में रहती है। ऐसे देश में पेरू की पार्टी नवजनवादी क्रान्ति की बात कर रही थी। वहाँ सुदूरवर्ती क्षेत्रों में छापामार युद्ध तो लम्बे समय से चलाया जा सकता था, लेकिन भारी शहरी आबादी को छोड़कर राज्यसत्ता कब्ज़ा करने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। पेरू की पार्टी की क्रान्ति की मंज़िल की पूरी समझ ही ग़लत थी। नतीजा सामने है। गोंजालो की गिरफ़्तारी के बाद संघर्ष जल्दी ही बिखर गया और उस मॉडल से अतिशय उम्मीद पाल बैठे भावुकतावादी कम्युनिस्ट निराश हो गये।

फिर जल्दी ही उम्मीदों का नया केन्द्र नेपाल में उभरा। 1996 में प्रचण्ड के नेतृत्व में नेकपा (माओवादी) ने जनयुद्ध की शुरुआत की तो बहुतों को लगा कि जल्दी ही सगरमाथा पर लाल झण्डा फहरा जायेगा। पर वह झण्डा लेकर नेपाल की माओवादी पार्टी संसद में घुसी तो फिर उसी खेल में लग गयी। सच यह है कि पार्टी में शुरू से ही विचारधारात्मक विचलन मौजूद थे, जिनकी निरन्तरता में पेण्डुलम "वाम" से दक्षिण की ओर गया, प्रचण्ड इक्कीसवीं शताब्दी में सर्वहारा अधिनायकत्व-विषयक लेनिन की स्थापना में इजाफ़ा करते हुए बहुदलीय संसदीय जनवाद की समझदारी लेकर आये, फिर संविधान सभा चुनावों में भागीदारी 'टैक्टिक्स' से 'स्ट्रैटेजी' बन गयी, सरकार चलाना और संविधान बनाना ही परम पुनीत लक्ष्य बन गया, जन सेना को शासक वर्ग की सेना में मिला दिया गया, आधारक्षेत्र में विकसित लोक संस्थाओं को भंग कर दिया गया, भूस्वामियों से छीनी गयी ज़मीनें वापस कर दी गयीं, तरह-तरह के शब्दजालों के बावजूद, शान्तिपूर्ण संक्रमण का नया रास्ता सामने आ ही गया और "प्रचण्ड पथ" संसद पथ में रूपान्तरित हो गया। प्रचण्ड-भट्टराई के नवसंशोधनवाद की आलोचना करते हुए किरण वैद्य आदि ने विद्रोह करके नयी पार्टी बनायी जिसने नयी संविधान सभा का बॉयकाट करते हुए जनविद्रोह की धमकियाँ भी दी, लेकिन ग़ौरतलब है कि किरण वैद्य ने अपनी पूर्व पार्टी की मूल विचारधारात्मक अवस्थिति के संशोधनवादी चरित्र और उसके विकास की प्रक्रिया की, "प्रचण्ड पथ" की (यह नाम उन्होंने ही दिया था) कभी बुनियादी स्तर की आलोचना नहीं की, केवल लक्षणों और अभिव्यक्तियों की ही आलोचना की। अब यह पार्टी भी कहने लगी है कि सशस्त्र लोकयुद्ध के रास्ते की बजाय वह जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रश्नों पर आन्दोलन करते हुए आगे बढ़ेगी क्योंकि आज की बहुध्रुवीय दुनिया में शान्तिपूर्ण संघर्ष की सम्भावनाएँ प्रचुर हैं। यह पार्टी भी यही कह रही है कि फिलहाल बाहर से दबाव बनाया जायेगा कि संविधान सभा ज़्यादा से ज़्यादा जनपरक संविधान बनाये। तय है कि यह नयी पार्टी भी, चाहे जितना भी रैडिकल तेवर अपनाये, अपने जन्मकाल से ही विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर और संशोधनवादी विचलन की शिकार है। इससे अधिक उम्मीद पालने वाले भावुकतावादी क्रान्तिवादियों को भी भविष्य में फिर सदमा लगने वाला है। बार-बार ऐसे सदमों से दिल का दौरा पड़ने और कोमा में चले जाने की प्रचुर सम्भावना रहती है।

1980 में दुनिया के कई मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठनों और पार्टियों को लेकर एक 'क्रान्तिकारी अन्तरराष्ट्रीयतावादी आन्दोलन' (रिम) नामक मंच गठित करने की कोशिश शुरू हुई और 1984 में उसका घोषणापत्र जारी हुआ। इस मंच का विचारधारात्मक आधार शुरू से ही कमज़ोर था और कुछ को छोड़कर अधिकांश की अपने देश में न कोई ताक़त थी, न कोई आधार, न संघर्षों का कोई अनुभव। फिर भी कुछ लोगों को इस मंच से अधिक ही उम्मीदें पैदा हो गयीं थीं और वे 'रिम' की कोई भी विचारधारात्मक-राजनीतिक आलोचना सुनने को

तैयार नहीं होते थे। इस मंच के घटक माओ विचारधारा (जिसे पेरू की पार्टी और आर.सी.पी., यू.एस.ए. की पहल पर बाद में माओवाद कहा जाने लगा) में नया इज़ाफ़ा करने की बेहद जल्दबाज़ी में थे। सबसे पहले रिम के एक भारतीय घटक सी.आर.सी., सी.पी.आई. (एम.एल.) के सचिव के. वेणु सर्वहारा अधिनायकत्व की लेनिनवादी अवधारणा को ज़्यादा "जनवादी" बनाने के लिए बहुदलीय संसदीय जनवाद के रंग-गंध वाली सोच लेकर आये और 'रिम' से बाहर कर दिये गये। फिर उनका संगठन भी विसर्जित हो गया। फिर माओ त्से-तुङ बनाम माओ विचारधारा के सवाल पर मोहन विक्रम सिंह के नेतृत्व वाली पार्टी रिम का घटक बनी और संसदमार्गी होने के बाद उसे भी बाहर कर दिया। इस बीच रिम के कई घटक टूटते या विलुप्त होते रहे। कुछ क्रान्तिकारी संघर्षों में तो लगे थे, पर चीनी क्रान्ति के कार्यक्रम के जड़सूत्रवादी अंधानुकरण के चलते वे लम्बे समय से या तो एक ही जगह खड़े हैं या छीजते जा रहे हैं। 'रिम' लगभग एक दशक से सुषुप्त ही रहा है। इधर रिम के गठन में पहल लेने वाली प्रमुख पार्टी आर.सी.पी., यू.एस.ए. के चेयरमैन बॉब अवाकिएन विचारधारा में इज़ाफ़ा करते हुए माओ से भी काफ़ी आगे निकल गये हैं, उनकी पार्टी इक्कीसवीं शताब्दी की विश्व सर्वहारा क्रान्ति के लिए अवाकिएन के 'नये संश्लेषण' के सिद्धान्त को मार्गदर्शक मानती है, जिसने माओवाद की तमाम कमियों का "समाहार" करके विचारधारा को एक "नयी ऊँचाई" प्रदान कर दी है। 'नया संश्लेषण' (न्यू सिन्थेसिस) राजनीति और दर्शन का भोंड़ा प्रहसन है, पर उसमें इतनी लफ़्फ़ाज़ी है कि उसकी चर्चा अलग से विस्तार की माँग करती है। उसमें कुछ बातें तो माओ की हैं, जिन्हें चुराकर नयी भाषा में रख दिया गया है। दूसरे 'निरपेक्ष सत्य' की नयी घोर अमार्क्सवादी अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। तीसरे, मार्क्सवाद और माओवाद को जोड़ने वाली कड़ी लेनिनवाद को बताते हुए मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की अब तक की अवधारणा को विचित्र सारसंग्रहवादी खिचड़ी बना दिया गया है। मूल बात है कि यह सारी सोच वर्ग संघर्ष के किसी अनुभव का नतीजा नहीं, बॉब अवाकिएन के दिमाग़ की उपज है। यह पार्टी घोर हरावलपन्थी (वैंगार्डिस्ट) पार्टी है, जिसका कोई अपना जनसंगठन या मज़दूर संगठन नहीं है। इसके लोग अश्वेत लोगों के और अन्य जनउभारों एवं आन्दोलनों में हिस्सा लेते रहते हैं। पार्टी बस विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार-प्रसार, लेखन-चिन्तन-विमर्श का काम करती रही है। इतिहास ने एक जोकर के इर्दगिर्द 'कल्ट-बिल्डिंग' का इतना फूहड़ प्रहसन शायद कभी नहीं देखा होगा।

अब "बॉब अवॉकिएनवाद" के आलोचक 'रिम' के कई घटक और अन्य मार्क्सवादी-लेनिनवादी ग्रुप कोई अन्तरराष्ट्रीय संगठन नये सिरे से बनाने की कोशिश कर रहे हैं। समस्या यह है कि (i) ये ग्रुप, संगठन या पार्टी, स्वयं अपने देश के ही कई संगठनों में से एक (या दो) हैं, (ii) अपने देश में ही मा-ले शिविर के दीर्घकालिक बिखराव और ठहराव को हल करने की दिशा में ये दो क़दम भी आगे नहीं बढ़ सके हैं, (iii) इनमें से अधिकांश का कोई संघर्ष-निर्मित जनाधार नहीं है और कुछ "वाम" तथा कुछ दक्षिणपन्थी विचलन के शिकार हैं, (iv) माओवाद/माओ विचारधारा की हिफ़ाजत ये स्वयं ही बेहद कठमुल्लावादी अवस्थिति से करते हैं, माओ के प्राधिकार को स्वीकारने का मतलब यह मानते हैं कि माओकालीन समाजवादी संक्रमण के किसी प्रयोग की भी (लाख तर्क होने के बावजूद) आलोचना वर्जनीय है, (v) ये संगठन प्रायः माओवाद/माओ विचारधारा की हिफ़ाजत कठमुल्लावादी अवस्थिति से करते हैं, विचारधारा और कार्यक्रम के अन्तर को ही नहीं समझते और तीसरी दुनिया के हर देश में (कुछ तो आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और तुर्की

तक में) नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानना माओ के प्राधिकार को मानने की शर्त मानते हैं, नवउदारवाद के दौर को उपनिवेशवाद/नवउपनिवेशवाद की वापसी मानते हैं, तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में पूँजीवादी विकास और "प्रशियाई मार्ग" से हुए क्रमिक पूँजीवादी विकास को मानना तो दूर, उस पर सोचने और बहस करने तक करने को तैयार नहीं होते। यदि ऐसा एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन बनेगा, तो इसके घटक संगठनों के देशों के ही अन्य मा-ले संगठन मिलकर अन्य (सम्भवत: एकाधिक) अन्तरराष्ट्रीय संगठन बनायेंगे जो परस्पर प्रतिस्पर्द्धी होंगे। हम समझते हैं कि माओवादी संगठनों का जो भी अन्तरराष्ट्रीय संगठन आज की स्थिति में बनेगा, वह अपना उद्देश्य पूरा करने की जगह ग़ैर मुद्दों पर कठहुज्जती वाली बहसों को जन्म देगा और कालान्तर में बिखर जायेगा। लेकिन भावुकतावादी क्रान्तिवादियों का क्या, वे तो फिर उम्मीद पाल लेंगे, बहुत ही जल्दी फिर मायूस हो जाने के लिए। थोड़ी चिन्ता तो हमें उनकी है ही, क्योंकि थोड़ी-बहुत दुनियादारी में लिथड़ी होने के बावजूद प्राय: वे निर्मल आत्माएँ होती हैं।

हमारी तो यह स्पष्ट और दृढ़ सोच है कि आज की परिस्थिति में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों को विचारधारा और कार्यक्रम (रणनीति एवं आम रणकौशल) के अन्तर को तो समझना होगा! बात बहुत सीधी-सपाट है। जो भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन वर्ग संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व को मानता है, शान्तिपूर्ण संक्रमण का विरोधी है, समाजवादी समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष की मौजूदगी तथा सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति एवं अधिरचना में क्रान्ति के सिद्धान्त को मानता है, जो भी चुनाव को रणनीति नहीं बल्कि राण्कौशल मानता है, जो भी पार्टी की लेनिनवादी ढाँचे और कार्यप्रणाली को लागू करता है और जो भी अपनी ताक़त और योजना के हिसाब से जनता के बीच काम कर रहा है, उसे विचारधारात्मक रूप से हमसफ़र तो मानना ही होगा। पर कार्यक्रम का सवाल तो किसी भी काल विशेष की दुनिया में देश विशेष में मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के हिसाब से उत्पादन-सम्बन्धों के अध्ययन से, तदनुरूप वर्ग-सम्बन्धों के (क्रान्ति के मित्र व शत्रु वर्गों के निर्धारण) निर्धारण से तय होता है। कार्यक्रम निर्धारण के उपकरण हमें विचारधारा से मिलते हैं, लेकिन कार्यक्रम विचारधारा का संघटक अवयव कदापि नहीं हो सकता। आज की दुनिया न तो 1949 की दुनिया है, न ही 1963 की दुनिया है। कार्यक्रम चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के दस्तावेज़ से नहीं तय होगा, बल्कि देश विशेष के उत्पादन-सम्बन्धों और फिर अधिरचना के ठोस अध्ययन से तय होगा। पहली पद्धति निगमनात्मक (डिडक्टिव) होगी, जबकि दूसरी आगमनात्मक (इण्डक्टिव) होगी। मार्क्सवादी दर्शन तर्क की मूल गतिकी को आगमनात्मक मानता है और निगमनात्मक को उसका सहायक मानता है। बहरहाल, यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है। हमारा कहना यह है कि आज ज़्यादा से ज़्यादा, दुनिया के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन विचारधारात्मक साझा उद्देश्य से मंच बना सकते हैं, बशर्ते कि वे विचारधारा और कार्यक्रम के बीच का अन्तर समझते हों, वे सच्चे बोल्शेविक संगठन के समान जनता के बीच काम करते हों, उनके पास विचारधारात्मक परिपक्वता के साथ ही एक हद तक वर्ग संघर्ष का व्यावहारिक अनुभव भी हो और वे अपने देश में भी पार्टी निर्माण एवं पार्टी गठन के लिए मज़दूर वर्ग की सच्ची जुझारू एकजुटता बनाते जाने के आधार पर प्रयत्नशील हों। (i) सर्वहारा वर्ग एक अन्तरराष्ट्रीयतावादी वर्ग होता है, मात्र इसी आधार पर मनोगत ढंग से कोई नया इण्टरनेशनल या अन्तरराष्ट्रीय संगठन वस्तुगत स्थितियों और घटक संगठनों/पार्टियों की

मनोगत स्थिति को दरकिनार करके नहीं बन सकता। (ii) पहले, दूसरे और तीसरे इण्टरनेशनल के विश्व रंगमंच अलग-अलग थे। तीसरा इण्टरनेशनल जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित एक विश्व पार्टी की सोच पर आधारित था। शुरू में उसकी भूमिका पूरी दुनिया में कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रसारक, पथ-प्रदर्शक और शिक्षक के रूप में सकारात्मक थी, पर जब पिछड़े देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ वर्ग संघर्ष की भट्ठी में तप-मँजकर तैयार हो गयीं तो विश्व क्रान्ति के केन्द्र का पूर्ववर्ती ढाँचा पार्टियों के स्वतंत्र अध्ययन और सोच को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करने लगा। (चीन का उदाहरण सर्वाधिक प्रातिनिधिक है और अन्तरराष्ट्रीय लाइन से राष्ट्रीय लाइन निगमित कर लेने की अन्धानुकरणवादी प्रवृत्ति ने तो भारत सहित कई देशों में काफ़ी नुक़सान पहुँचाया)। होना यह चाहिए था कि कोमिण्टर्न के सांगठनिक ढाँचे को बदल दिया जाता, उसे विश्व-पार्टी के बजाय मुख्यत: संघात्मक आधार पर पुनर्गठित किया जाता, यानी, विचारधारा की बुनियादी एकता के आधार पर वह एक संगठन होता जिसमें अलग-अलग देशों की पार्टियों की यह ज़िम्मेदारी स्वतंत्र और सुपरिभाषित होती कि वे अपने देशों में क्रान्ति का कार्यक्रम और रास्ता तय करें। पर ढाँचे के पुनर्गठन के बजाय कोमिण्टर्न को ही भंग कर दिया गया। इससे भविष्य में अन्तरराष्ट्रीय विचारधारात्मक संघर्ष में संशोधनवाद को लाभ मिला। अब आज की परिस्थितियों में यदि कुछ लोग सभी उत्तर-औपनिवेशिक देशों में नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को मानने की शर्त रखते हुए मंच के बजाय कोई विश्व संगठन बनाना चाहते हैं तो वे दो-चार अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन करके ज़रूर बना लेंगे, पर वह किसी काम का नहीं होगा और कालान्तर में विसर्जित हो जायेगा। दूसरी ओर, विज्ञान के बजाय "ठोस उपलब्धियों" से उम्मीद पाल बैठने वाले भावुकतावादी क्रान्तिकारी बौद्धिक और पिछड़ी चेतना वाले कम्युनिस्ट कार्यकर्ता फिर कुछ दिनों के लिए झूठी उम्मीद पाल बैठेंगे ताकि जल्दी ही फिर और अधिक निराशा में डूब सकें।

हमारे देश में भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बौद्धिक हमदर्दों और युवा रंगरूटों में यह विज्ञान-विरोधी संकीर्ण अनुभववादी प्रवृत्ति आम है कि 'अरे छोड़ो ये सैद्धान्तिक बातें, देखो, फलाँ संगठन कितना लड़ रहा है, कितनी कुर्बानी दे रहा है, क्या गज़ब चुनौती उपस्थित किया है सत्ता के सामने, वही सही होगा!' यही संकीर्ण अनुभववाद है। यह मार्क्सवादी पद्धति की ऐसी-तैसी करना है! अपने समय के मज़दूर आन्दोलन में कई बार अलग-थलग पड़कर भी मार्क्स-एंगेल्स और उनके पक्षधर अपने विश्लेषण के आधार पर धारा के विरुद्ध खड़े रहे और इतिहास ने उन्हें सही साबित किया। रूस के तत्कालीन क्रान्तिकारी सामाजिक जनवादी आन्दोलन में लेनिन हमेशा विज्ञान के सहारे खड़े रहे और धारा के विरुद्ध तैरते रहे। माओ और चीन की पार्टी ने भी यदि पहले वाली लीक नहीं छोड़ी होती और केवल द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति की पतवार से धारा के विरुद्ध नाव नहीं खेयी होती तो न 1949 की नवजनवादी क्रान्ति हो पाती, न ही 1966-76 की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति।

पिछले एक लम्बे समय से भाकपा (माओवादी) के नेतृत्व में जारी सशस्त्र संघर्ष को क्रान्तिकारी वाम बौद्धिक हलकों में आशा के एक नये स्रोत के रूप में प्रक्षेपित किया जाता रहा है और इस हद तक महिमामण्डित किया जाता रहा है विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन पर कोई बहस ही सम्भव न हो सके। किसी समर्थक बुद्धिजीवी या निचले स्तर कैडर से सवाल कीजिए तो वे बस यही कहेंगे कि 'हमारे साथी इतने वर्षों से लड़ रहे हैं, टिके हैं, अपार कुर्बानियाँ दी हैं और दण्डकारण्य में जनताना सरकार का एक मॉडल खड़ा किया है, लाइन पर और क्या बात करनी है? गौतम नवलखा, अरुंधति राय और जॉन मिर्डल भी हमारे

मुक्त क्षेत्रों को देख आये और अभिभूत होकर आये? – यही है वह भावुकतावादी क्रान्तिवाद, जो अन्ततोगत्वा गहरी निराशा के दलदल में घसीट ले जाता है। हमारे स्पष्ट सवाल मार्क्सवादी-लेनिनवादी मानकों पर आधारित हैं। जिस नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध के फ्रेमवर्क में यह सशस्त्र संघर्ष चल रहा है, क्या वह पूरे भारत के उत्पादन सम्बन्धों (और क्रान्ति की मंज़िल) के ठोस अध्ययन पर आधारित है, क्या यह दण्डकारण्य के बाहर पूरे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में लागू हो सकता है, देश के शहरों और गाँवों के 75 करोड़ सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी के बीच काम की पार्टी की क्या योजना है, नवजनवादी क्रान्ति के 'लैण्ड टु द टिलर' के रणनीतिक नारे को पार्टी ग्रामीण क्षेत्रों में कैसे लागू करेगी, 'चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय' में खुशहाल मालिक किसानों के साथ ग्रामीण सर्वहारा को कैसे लायेगी, शहरों के मुख्यत: असंगठित 25-27 करोड़ (मुख्यत: असंगठित) सर्वहारा वर्ग को छोड़कर पिछड़ी उत्पादन प्रणाली से जुड़े पिछड़ी चेतना की उत्पीड़ित आबादी के "मुक्त द्वीप" बना लेने से भी क्या सर्वहारा क्रान्ति हो जायेगी? – भावुकतावादी क्रान्तिवादी कहता है, 'छोड़िये इन बातों को, वे लड़ रहे हैं, उन्होंने दिखा दिया।' अनुभववाद वैज्ञानिक तर्कणा को हमेशा से ही यही उत्तर देता आया है! हमारी यह स्पष्ट सोच है कि क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल का निर्धारण सर्वोपरित: उत्पादन सम्बन्धों के मूलाधार और फिर अधिरचना के अध्ययन के आधार पर होता है, किसी एक इलाका-विशेष में खड़े सफल संघर्ष के मॉडल के आधार पर नहीं। पूरे देश की भू-राजनीतिक परिस्थितियों से वाक़िफ़ लोग जानते हैं कि जो अधिकतम लगभग 7-8 प्रतिशत दुर्गम पर्वतीय वन्य और दुर्गम क्षेत्र हैं, उनमें भी दण्डकारण्य जैसे इलाके विरले ही मिलेंगे। छत्तीसगढ़, छत्तीसगढ़-महाराष्ट्र सीमान्त क्षेत्र और झारखण्ड के एक हिस्से में छापामार कार्रवाइयाँ सम्भव हो सकती हैं, दण्डकारण्य के एक दुर्गम क्षेत्र में आधार इलाका लम्बे समय तक चलाया जा सकता है, पर विशाल भारत की विस्तीर्ण ग्रामीण क्षेत्रों के पूँजीवादी विकास और पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति सम्भव ही नहीं है, स्वयं भाकपा (माओवादी) का अनुभव भी यही बताता है, लेकिन वह उससे सीख लेने को तैयार नहीं है। वह अपने पुराने दुर्गम क्षेत्रों में टिके रहने और प्रतिरोध के पहलू को देखती है, लेकिन मैदानी क्षेत्रों की घोर विफलता और शहरी सर्वहारा के बीच लगभग पूर्ण विफलता या अनुपस्थिति के पहलू की अनदेखी करती है। भावुकतावादी क्रान्तिवादियों को हम समझाना चाहते हैं कि असमान विकास वाले पिछड़े पूँजीवादी देशों में आबादी के बहुलांश को पूँजीवादी देशों में आबादी के बहुलांश को पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय की प्रणाली में समेट लेने के बावजूद कुछ पूँजीवाद-सहयोजित प्राक् पूँजीवादी अवस्थाओं के ऐसे दूरवर्ती द्वीप बचे रह जाते हैं, जहाँ की उत्पीड़ित जनता लम्बे समय तक सशस्त्र संघर्ष चलाती रहती है, लेकिन राज्यसत्ता के सामने अस्तित्व का संकट नहीं उपस्थित कर पाती। लातिन अमेरिका के कई देशों में छापामार संघर्ष चालीस और पचास वर्षों से जारी हैं। फिलिप्पींस की कम्युनिस्ट पार्टी पूँजीवादी विकास के केन्द्रों से दूर, सुदूरवर्ती दुर्गम ग्रामीण क्षेत्रों को आधार बनाकर लगभग आधी सदी से लड़ रही है, पर फिलिप्पींस की राज्यसत्ता के लिए वह कोई चुनौती नहीं है, क़ानून-व्यवस्था की एक गम्भीर समस्या है। सीमित अति उत्पीड़ित आबादी को लेकर हथियारबंद संघर्ष लम्बे समय तक जारी रखना और मुक्त क्षेत्र तक बना लेना एक बात है और पूरे देश की राज्यसत्ता को ध्वस्त करके नयी राज्यसत्ता स्थापित करने का मामला इससे सर्वथा अलग मामला है। सर्वहारा क्रान्ति हमेशा वैज्ञानिक दृष्टि और प्रणाली विज्ञान आधारित होगी, भावुकतावादी क्रान्तिवादी इसी बात को

कभी नहीं समझ पाते।

भावुकतावादी क्रान्तिवादी, विशेषकर इस नस्ल के बुद्धिजीवी, पवित्रात्मा होते हैं पर वे इस बात को समझ ही नहीं पाते हैं कि संघर्ष के किसी कथित मॉडल की फिलहाली क़ामयाबी-नाक़ामयाबी से किसी क्रान्तिकारी संगठन के सही-ग़लत होने का फैसला नहीं किया जाना चाहिए। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट का पैमाना हर हाल में मार्क्सवादी विज्ञान का प्रणाली-विज्ञान होना चाहिए। भावुकतावादी क्रान्तिवादियों को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक दसवीं कांग्रेस (1973) की रिपोर्ट का यह अंश बार-बार पढ़ना चाहिए, "यदि किसी की लाइन ग़लत है तो उसका पतन अवश्यम्भावी है, भले ही केन्द्रीय, स्थानीय स्तर पर और सेना के नेतृत्व पर उसका नियंत्रण हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। यदि किसी की लाइन सही है तो भले ही शुरू में उसके पास एक भी सैनिक न हो, बाद में सैनिक जुट जायेंगे, और भले ही (उसके पास) राजनीतिक सत्ता न हो, (बाद में) राजनीतिक सत्ता भी आ जायेगी। यह हमारी पार्टी के अनुभवों का और मार्क्स के समय से लेकर अब तक के अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट अनुभवों का नतीजा है।"

हमें माओ त्से-तुङ की यह शिक्षा कभी नहीं भूलनी चाहिए कि, "विचारधारात्मक और राजनीतिक लाइन का सही या ग़लत होना ही सब कुछ तय करता है।"

लेनिन की इस उक्ति के मर्म को समझा जाना ज़रूरी है, "ठोस परिस्थिति का ठोस विश्लेषण मार्क्सवाद की आत्मा है।"

एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तर्कणा के सतत् विकास और ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर निर्णय लेने और ज़िम्मेदारी तय करने की चुनौतीपूर्ण ज़िम्मेदारी से बने-बनाये फार्मूलों और अतीत के गौरवशाली इतिहास की आड़ लेकर बच नहीं सकता, उसे यह काम तो ख़ुद करना ही होगा। पूर्वजों के अनुभव आपको आम दिशा दिखाते हैं, पर पूर्वज आकर आपका काम नहीं कर जाते, न ही पूर्वजों की चली राह पर हूबहू चला जा सकता है। मार्क्सवाद विज्ञान है, धर्मशास्त्र नहीं। लेनिन के इस उद्धरण को रट लेना आसान है, पर व्यवहार में उतारना बेहद मुश्किल, "मार्क्सवाद एक निष्प्राण जड़सूत्र नहीं है, न ही यह सम्पूर्ण बना दिया गया, बना-बनाया, अपरिवर्तनीय मत है, बल्कि कार्रवाई का जीवन्त मार्गदर्शक है।"

सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी आशावाद विज्ञान पर आशावाद विज्ञान पर आधारित व्यावहारिक चीज़ होता है। वह मिथ्या आशाओं और सदिच्छाओं पर आधारित नहीं होता। क्रान्ति के विज्ञान की समझ, उस पर आधारित अपने देश के वर्ग-सम्बन्धों की समझ और उस पर आधारित सही कार्यक्रम एवं मार्ग की समझ के बिना कोई भी पार्टी क्रान्ति को अंजाम तक नहीं पहुँचा सकती। इनके अभाव में क्रान्तिकारी संघर्ष आगे बढ़कर भी ठहरावग्रस्त हो जाते हैं और टूट-बिखर जाते हैं। क्रान्ति अधैर्य और मात्र क्रान्तिकारी स्पिरिट से सम्भव नहीं। क्रान्ति मॉडलों का अनुकरण करके आगे नहीं बढ़ती, मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आलोक में वह अपना पथसंधान स्वयं करती है। वैज्ञानिक समझ से रिक्त भावुकतावादी क्रान्तिवाद एक निम्न पूँजीवादी प्रवृत्ति है जो किसी भी देश में ठोस परिस्थितियों के ठोस अध्ययन, पूर्वाग्रह मुक्त सोच-विचार एवं बहस तथा क्रान्तिकारी सामाजिक प्रयोगों को बाधित करती है, उन्हें नुक़सान पहुँचाती है।

मोदी सरकार के कार्यकाल का एक साल : विकास का विद्रूप प्रहसन

● मीनाक्षी

भारतीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की बहुप्रचारित कर्मठता के आलोक में उनकी सरकार के कामकाज का सालभर का आकलन-मूल्यांकन यह स्पष्ट करता है कि दिन के अठारह घण्टे की अतिचर्चित कार्यावधि के बावजूद अपेक्षित परिणाम के लिहाज़ से वह और उनकी सरकार नितान्त विफल रही है। इस सन्दर्भ में यह लोकोक्ति 'नौ दिन चले अढाई कोस' चरितार्थ होती लगती है यानी नौ दिन चलते रहने के बाद भी महज़ ढाई कोस की दूरी तय की जा सकी। केवल लम्बी समयावधि ही किसी कार्य के अपेक्षित परिणाम के लिए ज़रूरी नहीं होती, इसके लिए जनता की ज़रूरतों और आकांक्षाओं के अनुरूप नीतियों का अमल आवश्यक है। यह एक हद तक उदार पूँजीवाद के दौर में ही सम्भव था। यह बीत चुका है और अपनी सहज गति से इसने अनुत्पादक सट्टेबाज़ पूँजीवाद का रूप अख़्तियार कर लिया है। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अब अतीत में दफन हो चुकी है। इस एकाधिकारी वित्तीय पूँजी को अब किसी मोदी जैसे प्रबन्धक की ज़रूरत थी जो अदम्य निर्णायकता के साथ उसका हितपोषण कर सके और विरोध यदि सहयोजित न किये जा सके तो उन्हें दबा डाले। इसके लिए मोदी ने एक तरफ लोकरंजक मसीहावाद का बाना पहना और दूसरी तरफ जनता की आकांक्षाओं को नवउदारवाद का चौखटा दिया–चमकते हिन्दुस्तान के स्मार्ट शहर और उनके बीच दौड़ती बुलेट ट्रेन, ई गवर्नेन्स से मोबाइल गवर्नेन्स की सम्भाव्यता, डिजिटल इण्डिया, रोजगार के अवसर सृजित करने के लिए 'मेक इन

इण्डिया', अमीर-ग़रीब के बीच खाई पाटने के लिए 'जन धन योजना', सामाजिक सुरक्षा को सुगम बनाने के लिए 'जीवन-ज्योति बीमा योजना और सुरक्षा बीमा योजना, लड़कियों के सुरक्षित जन्म और शिक्षा के लिए 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' और ऐसी ही कई योजनाएँ। ये आम लोगों के सामान्य बोध का हिस्सा बन सके इसके लिए सार्वजनिक घोषणाएँ की गईं, वक्तव्य दिये गये, नारे गढ़े गये और नारों को ही समाधान के तौर पर प्रस्तुत कर दिया गया। इसमें मीडिया का इस्तेमाल एक प्रभावी उपकरण के रूप में हुआ। परन्तु असलियत जल्दी ही सामने आ गई, मोदी के भाषणों का मिजाज़ पहला बजट पेश करने के पहले ही बदलने लगा था अब हमें यह बताया जाने लगा था कि जनता की भलाई के लिए कुछ सख़्त फैसले लेने पड़ेंगे क्योंकि मर्ज़ को ख़त्म करने के लिए कड़वी दवा से बचा नहीं जा सकता। यह हर बुजुर्आ सरकार का प्रिय जुमला रहा है। मतलब स्पष्ट था संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था की सघनतम अभिव्यक्तियाँ मोदी के तथाकथित करिश्माई आवरण के पीछे छिपायी नहीं जा सकती थी। भाजपा के अरुण शौरी और लालकृष्ण आडवानी जैसे नेताओं ने प्रकारान्तर से मोदी की योजनाओं और कार्यप्रणाली की आलोचना रखनी शुरू कर दी थी।

आर्थिक मोर्चे पर मोदी सरकार अपनी असफलताओं को नेपथ्य में धकेल सके, कदाचित इसीलिए विश्व में भारत का गौरव और समृद्धि बढ़ाने के नाम पर मोदी की विदेश यात्राओं का सिलसिला बगैर किसी ठोस सकारात्मक नतीजों के लगातार जारी है। पूर्ववर्ती प्रबन्धकीय संचालक टीम (आप चाहें तो इसे सरकार भी कह सकते हैं) की आर्थिक राजनीतिक निष्क्रियता, घोटाले दर घोटाले और जनता की विकल्पहीनता की स्थिति में नवउदारवाद के एक प्रचण्ड पैरोकार और लफ्फाज़ बहुरुपिया के रूप में जब मोदी अच्छे दिनों के वादे के साथ प्रकट हुए तो पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्य वर्ग की बाँछे खिल उठीं। भूलना नहीं होगा कि रतन टाटा ने दूसरे पूँजीपतियों से पूँजीपरस्त योजनाओं के क्रियान्वयन को लेकर मोदी को कुछ और दिन मोहलत देने की अपील की थी। ऐसे लफ्फाज़ों के बारे में लेनिन ने कहा है कि वे जनता के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। परन्तु जीवनयापन की रोज़ की कठिनाइयों से जूझती आम मेहनतकश जनता को आडम्बरपूर्ण शब्दों की चटाई बुनकर दिग्भ्रमित नहीं किया जा सकता था। इसलिए सबका साथ सबका विकास के खोखलेपन को वह जल्दी ही समझ गई। अकलमंदों ने तो इसे सालभर बाद जाकर आँकड़ों से समझा है। इन योजनाओं का क्रियान्वयन यदि किसी हद तक संभव हुआ भी तो पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रभावी रहते उसका लाभ सम्पत्तिशालियों के हिस्से में ही आया। सम्पत्तिहीन हमेशा की तरह वंचित ही रह गये थे। इसलिए मोदी के सारे वादे और नारे खोखले ही साबित होने थे। सरकार का हर मोर्चे पर विशेषकर पहले से ही जर्जर आर्थिक मोर्चे पर औंधे मुँह गिरना लाज़िमी था। मोदी सरकार ने सत्ता में आते ही आर्थिक संकट से उबरने के लिए जिन उपायों को लागू किया उससे उसकी वर्गीय पक्षधरता स्पष्ट होती है। सबसे पहले उन्होंने लाभ में चल रहे सार्वजनिक उपक्रमों को विनिवेश के जरिये निजी हाथों में सौंपने की मुहिम चलायी, उससे प्राप्त धन का इस्तेमाल कैसे और कहाँ हुआ इसका कोई आँकड़ा सार्वजनिक नहीं किया गया। वित्तीय घाटे को पूरा करने की ज़रूरत बता कर सार्वजनिक मदों में भारी कटौती की गई। सकल घरेलू उत्पाद से इनका प्रतिशत 2.1 से घटाकर 1.7 कर दिया गया। स्वास्थ्य और परिवार कल्याण से लेकर आवास, ग़रीबी उन्मूलन और समेकित बाल विकास सेवा जैसी समाज कल्याण की योजनाओं के मद में आबंटित राशि इतनी कम कर दी गई कि विभागीय कर्मचारियों और कार्यकर्ताओं के वेतन भुगतान के लाले पड़ गये। अन्ततः भारतीय जनता पार्टी ही की महिला और बाल विकास मंत्री

मेनका गांधी को 'कुपोषण मुक्त भारत' की याद दिलाते हुए वित्त मंत्रालय को शिकायती पत्र लिखने को बाध्य होना पड़ा। निश्चय ही मोदी सरकार के सामने भी वे आँकड़े मौजूद रहे होंगे जो बताते हैं कि आज भी 60 प्रतिशत बच्चे ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं और 9 हज़ार बच्चे प्रतिदिन भूख और कुपोषण से मरते हैं। लेकिन मोदी की चिन्ता के केन्द्र में जनता के जीने के अधिकार मुहैया कराना है ही नहीं। उनकी सरकार अपने पूर्ववर्ती सरकार की उन्हीं नीतियों और योजनाओं को लेकर चल रही थी, बल्कि उन्हें लागू करने की गति को उसने और तेज़ कर दिया था जिसका विरोध कर वह सत्ता में आई थी। उद्योगपतियों को मुनाफे की गिरती दर को बचाने के लिए करोड़ों की छूट दी गई। पिछली सरकार द्वारा दी गयी छूट के मुकाबले मोदी सरकार ने छूट की इस राशि को बढ़ा कर यह संकेत दे दिया कि वह वास्तव में किसके हित में काम कर रही है। देखा जाये तो पूँजीपतियों के मुनाफे में नगण्य सी कमी को लेकर भी वह अत्यन्त संवेदनशील हो जाती है। बहुसंख्यक जनता उसकी संवेदनशीलता के दायरे में आ भी नहीं सकती। उल्टे उसने बड़ी चालाकी से आधार वर्ष को बदल कर ग़रीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करनेवालों की तादाद ही नहीं घटा दी बल्कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) के अन्तर्गत प्रतिव्यक्ति मिलने वाले अनाज की मात्रा भी कम कर दी है। इसके लिये उसने कई स्तरों पर काम किया है। पहले उसने ग़रीबी रेखा के नीचेवाली आबादी (बीपीएल) का दायरा छोटा कर उसे ग़रीबी रेखा के ठीक ऊपर वाली आबादी (एपीएल) को अलग कर दिया, दूसरे उसने यह सुनिश्चित किया कि पीडीएस के अन्तर्गत केवल बीपीएल आबादी को लाभ मिले और ग़रीबी रेखा को छूती हुई ऊपरी आबादी जो किसी भी स्थिति में बीपीएल के मुकाबले बेहतर नहीं कही जा सकती उस लाभ से पूरी तरह वंचित हो जाये। तीसरा इस्तेमाल में लाया गया सर्वाधिक शातिराना तरीका था उन राज्यों को आबंटित अनाज के कोटे को प्रतिबन्धित कर देना जहाँ बीपीएल के साथ एपीएल आबादी भी पीडीएस लाभ के दायरे में आती है। इसका नतीजा हुआ अच्छी फसल और अच्छे समर्थन मूल्य के बावजूद पीडीएस के तहत खाद्यान्न की बिक्री में कमी, लिहाज़ा भण्डारण में वृद्धि। ज़ाहिरा तौर पर प्रत्यक्ष ही नहीं इन प्रच्छन्न कटौतियों से भी अब अनाज के भण्डार में और अधिक बढ़ोत्तरी होगी और आम जन अधिकाधिक तादाद में भूख और कुपोषण से मरते रहेंगे। यह नवउदारवादी नीतियों का तर्क है जो बताता है कि कटौतियों का यह सिलसिला आगे भी जारी रहेगा। तो दूसरी तरफ कारपोरेट घरानों के कर-छूट में आज 5 प्रतिशत की वृद्धि कल और भी ज्यादा होगी, और 'गार' (पूँजी निवेश में टैक्स चोरी रोकने का कानून) के अमल को और कुछ वर्ष तक स्थगित रखने की योजना आज की ही भाँति भविष्य में भी ऐसे ही ली जाती रहेगी। लेखा महानियंत्रक द्वारा जारी जीडीपी और केन्द्रीय व्यय अनुपात के आँकड़े भी मोदी सरकार की आर्थिक नपुंसकता की ही पुष्टि करते हैं। इसके अनुसार सकल घरेलू उत्पाद में कुल केन्द्रीय व्यय का प्रतिशत 2012-13 के 14.1 से गिरकर 2013-14 में 13.8 और 2014-15 में 13 फीसदी तक जा पहुँचा है। औद्योगिक उत्पादन के माहवार आँकड़े भी बताते हैं कि उत्पादन की दर घटकर ऋणात्मक स्तर पर आ गयी। अनुमान है कि अगले छः महीनों में कृषि उत्पादन में 5.3 प्रतिशत की गिरावट दर्ज़ की जायेगी। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन और राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी (मनरेगा) जैसी स्कीमों में मोदी सरकार ने भीषण कटौती की है। इन योजनाओं के भ्रष्ट अमल के बाद भी जनता को इस पूँजीवादी उत्पादन और वितरण प्रणाली के अन्तर्गत जितना और जैसा सम्भव है उतना और वैसा लाभ उसे प्राप्त था। लेकिन स्वास्थ्य, सफाई और पोषण के सामाजिक मद में की गई कटौती के बरक्स 'स्वच्छ भारत' के

प्रचार में ही लाखों की रकम फूँक डालने का औचित्य भला कैसे सिद्ध किया जा सकता है? तिस पर भी इस योजना के तहत शौचालयों के निर्माण का काम कारपोरेट घरानों के 'सामाजिक उत्तरदायित्व' के भरोसे छोड़ दिया गया है। भारतीय जनता के स्वास्थ्य के प्रति मोदी सरकार का रुख़ क्या है यह उस कार्रवाई से ज़ाहिर हो जाता है जिसके तहत कुछ जीवन रक्षक दवाओं के मूल्य नियंत्रण से सम्बंधित 2014 मई में जारी आदेश को दवा उद्योग के मगरमच्छों के दबाव में सरकार द्वारा वापस ले लिया जाता है। नतीजतन कैंसर की 5900 और 8500 रुपये मूल्य पर उपलब्ध दवाएँ अब क्रमशः 11,500 और 1,08,000 की क़ीमत पर मिलेंगी। अन्य जीवन रक्षक दवाओं की स्थिति इससे बेहतर नहीं।

कौशलपूर्ण भारत के निर्माण का हश्र भी शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाली भारी कटौती और उसके भगवाकरण के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। देश के प्रौद्योगिकी संस्थानों में शिक्षकों के लगभग 39 प्रतिशत और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में लगभग 38 प्रतिशत जगहें रिक्त हैं, जिन प्राथमिक पाठशालाओं में शिक्षा की बुनियाद रखी जाती है उसकी दुर्गति तो सर्वविदित है। ये वह ज़मीनी हालात हैं जहाँ मोदी सरकार कौशल विकास करना चाहती है। यह कोरी जुमलेबाज़ियाँ ही हैं जिसकी पुष्टि काला धन लाने समेत ऐसे ही कई वायदों के बारे में स्वयं भाजपा अध्यक्ष अमित शाह पहले ही कर चुके हैं। उन्होंने सार्वजनिक तौर पर स्पष्टतः यह जता दिया है कि ये महज़ चुनावी नारे उर्फ वादे थे। मोदी की भाजपा सरकार के चाल चेहरा चरित्र की ये ज्वलन्त बानगियाँ हैं। इसी एक वर्ष ने मोदी के 'श्रमेव जयते' का पाखण्ड भी देखा। श्रमिकों के जीवन और काम की प्रतिकूल परिस्थितियों की किसी बेहतरी से आँखें मूँद कर कारपोरेट घरानों के 'व्यावसायिक सहूलियत और सकून' के लिए पर्यावरण और श्रम कानूनों को लचीला बनाया गया। मज़दूरों की खुली लूट के मकसद से पूँजीपतियों पर से तमाम तरह की कानूनी बंदिशें हटा ली गईं और कानूनी सुरक्षा के नाम पर मज़दूरों को नई प्रॉविडेंट फण्ड स्कीम जैसे निष्प्रभावी कानून थमा दिये गये। इस स्कीम के मुताबिक प्रॉविडेण्ट फण्ड में मज़दूरों के अंशदान बढ़ने के साथ ही उनकी कहीं ज़्यादा बड़ी आबादी इसके दायरे में समेट ली जायेगी। फलस्वरूप पी.एफ. में संचित राशि की पाँच से लेकर पन्द्रह फीसदी तक का शेयर बाजार में आसानी से निवेश किया जा सकता है। वास्तव में सरकार की योजना की यही असलियत है। सुरक्षा के नाम पर असुरक्षित भविष्य। श्रम कानूनों को लचर बनाने का प्रयास जारी है। बाल श्रम पर रोक लगाने के नाम पर संशोधित कानून द्वारा 14 साल से कम आयु वाले बच्चों के श्रम को अनौपचारिक और असंगठित क्षेत्र में निचोड़ने का प्रावधान कर दिया गया है। श्रम पर यह प्रतिबन्ध महज संगठित क्षेत्र में है। क्योंकि प्रावधान के अनुसार वे अपने परिवार का हाथ बँटा सकते हैं जहाँ घर में ही ठेके पर पीसरेट पर काम होते हैं। इस तरह उत्पादन प्रक्रिया को विखण्डित कर उन्हें अलग-अलग स्तरों पर चलाने का जो काम घरों के भीतर संचालित हो रहा था और जिसमें बच्चों की भागीदारी पहले से ही होती रही है अब वह कानून के किसी दखल से घोषित तौर पर मुक्त हो गया है। मज़दूरों के हित में दिखते हुए भी ये सभी कानूनी संशोधन मज़दूरों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव डालने के तरीके खोजने में पूँजीपतियों की मदद करते हैं। बाज़ार की शक्तियों को निर्बन्ध करने के लिहाज़ से मोदी के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था। यह अनायास नहीं कि नीति आयोग के उपाध्यक्ष और प्रधानमंत्री के मुख्य आर्थिक सलाहकार के पद क्रमशः अरविन्द पनगढ़िया और अरविन्द सुब्रमण्यम को सौंपा गया है। ये दोनों ही मुक्त बाज़ार की नीतियों के कट्टर अमल के पक्षधर हैं। पनगढ़िया जी तो राजस्थान सरकार के श्रम सुधारों के मुख्य सूत्रधार रहे हैं। समग्रता में देखा

जाये तो आर्थिक स्वास्थ्य के मामले में मोदी की निष्क्रियता प्रत्यक्ष है। सक्रियता केवल श्रम सुधारों के साथ भूमि अधिग्रहण को गति देकर पूँजी के लिए अनुकूल परिवेश बनाने में है। विशाल कम्पनियों को भूमि के बड़े-बड़े भूभागों पर कब्ज़ा दिलाने के मामले में पहले की सरकारों के बनिस्बत मोदी सरकार ने अधिक बेशर्मी का परिचय दिया है। उद्योगों को बढ़ावा देने के नाम पर सरकार द्वारा सौंपी ज़मीन का इस्तेमाल करने में इन पूँजीपतियों ने अभी तक कोई जल्दी नहीं दिखाई है, हालाँकि उन्हें ज़मीन उपलब्ध कराने के मामले में सरकार बहुत मुस्तैदी से काम करती है। पिछले साल मित्तल ने कर्नाटक में हज़ारों एकड़ की ज़मीन इस्पात संयत्र स्थापित करने के नाम पर प्राप्त की थी पर इस प्रोजेक्ट पर अभी तक उन्होंने इसमें हाथ भी नहीं लगाया है। भूमि अधिग्रहण अध्यादेश की हड़बड़ी को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। यदि यह अध्यादेश पारित हो जाता है तो 39 प्रतिशत कृषियोग्य भूमि इसकी भेंट चढ़ जायेगी। मोदी ने किसानों की हित की सुरक्षा का दायित्व लिया था और स्वामिनाथन कमीशन के कृषि सम्बन्धी सुझावों को लागू करने का भरोसा दिलाया था, इसमें किसानों को 4 प्रतिशत की दर से ऋण देने और सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था थी। लेकिन सत्ता हासिल होते ही मोदी सरकार इस वादे से निहायत बेशर्मी से मुकर गई। सिर्फ यही नहीं, उसने इस आशय का उच्चतम न्यायालय में तुरन्त एक हलफनामा दाखिल कर दिया कि वह स्वामीनाथन आयोग के सुझावों को अमल में लाने में असमर्थ है। बाज़ारोन्मुख नीतियों के अन्धाधुन्ध अमल से जब उद्योगों में पूँजी संतृप्त हो जाती है और इसका रुख़ कृषि और कृषि योग्य ज़मीन की ओर हो जाता है तो इसमें ग़रीब और निम्न मध्यम किसान उजड़ते ही हैं, अधिशेष का लाभांश तो बड़ी पूँजी हड़प जाती हैं। बड़े फार्मर या कुलक लाभांश हड़पने के मामले में फिर भी औद्योगिक पूँजी से पीछे रहते हैं। पूँजीवाद में कृषि के मुकाबले उद्योग की वरीयता बनी रहती है। इसका समाधान समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। ज़ाहिर है इस परजीवी परभक्षी पूँजीवादी व्यवस्था में 'सबका साथ सबका विकास' पाखण्ड के सिवा कुछ नहीं। एक अलग सन्दर्भ में लेनिन बुर्जुआ वर्ग के बारे में जो कहते हैं वह उसके प्रबंधक मोदी के बारे में उतना ही सही साबित होता है- 'उनकी 'समूची नीति में शाब्दिक उलझावों, झूठों, मक्कारियों और कायरतापूर्ण हौलेबाज़ियों का एक अनन्त सिलसिला रहता है'।

विगत एक वर्ष पूर्व मोदी के चुनाव प्रचार के दौरान भाजपा के शीर्ष नेताओं ने कांग्रेस को भ्रष्टाचार का पर्याय कहते हुए कांग्रेस और भ्रष्टाचार मुक्त भारत का नारा दिया और उसे लागू करने की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। भ्रष्टाचार नियंत्रण सम्बन्धी संस्थाओं को मज़बूत बनाने और रिक्त पदों की भर्ती का आश्वासन दिया। परन्तु भ्रष्टाचारमुक्त परिवेश के प्रति मोदी सरकार की प्रतिबद्धता कितनी और कैसी है इसका आकलन सिर्फ इस तथ्य से किया जा सकता है कि इन भ्रष्टाचार नियंत्रणकारी संस्थाओं के महत्वपूर्ण रिक्त पद अभी भी भरे नहीं गये हैं। मज़बूत लोकपाल की नियुक्ति में सरकार की स्पष्टत: कोई दिलचस्पी नहीं दिखती। लोक लेखा समिति, सरकार के स्तर पर वित्तीय अनियमितताओं पर नियंत्रण के लिए गठित केन्द्रीय सतर्कता आयोग, वित्तीय मामलों और काले धन की जाँचकर्ता संस्था प्रवर्तन निदेशालय, केन्द्रीय सूचना आयोग जैसी संस्थाओं के पास 2014 से ही नियमित निदेशक नहीं हैं। अत: सरकार के ख़िलाफ़ किसी शिकायत या अपील सुनावाई की कोई सम्भावना शेष नहीं रहती। मुख्य सूचना आयोग का अध्यक्ष पद रिक्त होने का लाभ मोदी सरकार को मिल रहा है। ज़ाहिर है कैबिनेट सचिव, प्रधानमंत्री कार्यालय, रक्षा मंत्रालय, उच्च न्यायालय व उच्चतम

न्यायालय आदि को सूचना अधिकार के दायरे से बाहर रखने के निर्णय पर आयुक्त की अनुपस्थिति में कोई अपील असम्भव है। पूर्व सूचना आयोग अध्यक्ष शैलेष गांधी का यह स्पष्ट कहना है कि इन पदों को रिक्त इस कारण से रखा गया है कि विचारधारात्मक अनुकूलता के हिसाब से भर्ती की जा सके या ऐसी किसी व्यक्ति की अनुपलब्धता की स्थिति में इसे अक्रियाशील और निष्प्रभावी रखा जा सके। भ्रष्टाचार निवारण के प्रति सरकारी रुख़ का अनुमान लगाने के लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि मंत्रियों की सम्पत्ति सम्बन्धी जानकारी हासिल करने पर मोदी सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया है, उसे अब पासवर्ड सुरक्षा के साथ जोड़ दिया गया है। अत: हर किसी को यह सूचना उपलब्ध नहीं हो सकेगी। सूचना प्राप्त करने का अधिकार विशेष व्यक्तियों को हासिल होगा। इसके साथ, यह जानना भी दिलचस्प होगा कि बतौर प्रधान सेवक और प्रधान ट्रस्टी मोदी ने जिस दिन लुटेरों की लूट से जनता की रक्षा और लुटेरों के बुरे दिनों की शुरुआत की घोषणा की, ठीक उसके पन्द्रह दिनों बाद, घटनाएँ इतनी प्रबल वेग से घटित हुईं कि 'अच्छे भ्रष्टाचार मुक्त दिन आने' का नारा उसके आगे टिक न सका।

इण्डियन प्रीमियर लीग के चेयरमैन और आयुक्त रहे जिन ललित मोदी की धनशोधन और अन्य वित्तीय अनियमितताओं के मामले में प्रवर्तन निदेशालय को तलाश थी उन्हें गैरकानूनी तौर पर मदद पहुँचाने में भाजपा की विदेश मंत्री सुषमा स्वराज और राजस्थान की भाजपाई मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे की संलिप्तता की घटना सामने आई। दस्तावेजी प्रमाणों से इसकी पुष्टि हो चुकी है। सुषमा जी ने अपने स्पष्टीकरण में मानवीय पहलू को मदद की वजह बताई। परन्तु ललित मोदी के अपनी पत्नी के आपरेशन के लिए जिस हस्ताक्षर की अनिवार्यता को उन्होंने मदद का आधार बताया था ऐसे किसी हस्ताक्षर की कोई अनिवार्यता थी ही नहीं जैसाकि अस्पताल के कागज़ात से ही स्पष्ट हो गया था। बाद में सुषमा स्वराज के अधिवक्ता पति स्वराज कौशल और बेटी बाँसुरी स्वराज जिन्होंने ललित मोदी के भ्रष्टाचार सम्बन्धी मुकदमे में उनकी ओर से पैरवी भी की थी, उनसे सम्बन्धित कुछ और तथ्यों के सामने आने पर मानवीय तकाज़े पर मदद की उनकी दलील का कोई आधार ही नहीं बचा। साथ ही, सुषमा स्वराज द्वारा ब्रिटिश दूतावास को भेजे गये पत्र के बारे में विदेश सचिव सुजाता सिंह की अनभिज्ञता इस पूरे प्रकरण में पारदर्शिता की कमी को दर्शाती है। वसुन्धरा राजे के मामले में घोटाले का स्वरूप निस्संदेह बहुआयामी और व्यापक है। यह कोई छिपा तथ्य नहीं है कि 2008 में जयपुर आईपीएल मैच के समय भी ललित मोदी ने तत्कालीन मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे के रिलीफ फण्ड के नाम पर उन्हें 6 करोड़ का चेक दिया था। मोदी की सहायता के लिए राजे ने अदालत में उनकी अर्ज़ी के समर्थन में दाखिल हालिया हलफनामे को गुप्त रखने का उनसे अनुरोध किया था। मदद की गुप्तता का यह आग्रह वर्तमान मामले में उनके किसी तरह के स्पष्टीकरण को स्वत: ही संदिग्ध बना देता है। यह भी पता चला है कि वसुन्धरा के सांसद पुत्र दुष्यन्त सिंह के धौलपुर नियंत हैरिटेज होटल के दस रुपये के शेयर ललित मोदी द्वारा 96180 रुपये के दर से खरीदे हैं, उन्होंने 11 करोड़ का ब्याज़ रहित कर्ज़ भी दुष्यन्त सिंह को मुहैया कराया है। इस तरह के निराधार सहायता का भला क्या औचित्य हो सकता है सिवाय राजे परिवार को अनुचित लाभ पहुँचाने के? यह पूरा मामला अपारदर्शी और भ्रष्ट क्रिया व्यापार की आशंका को ही पुष्ट करता है। 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' के बेहतरीन नमूने उजागर हो रहे हैं। तीसरी घटना मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी से जुड़ी है। उनके द्वारा अलग-अलग अवधियों में शैक्षिक योग्यता सम्बन्धी अलग-अलग

जानकारी उपलब्ध कराना किसी भी तरह भाजपाई शुचिता या पारदर्शिता की कोटि में नहीं आता। प्रश्न यहाँ शैक्षिक योग्यता का उतना नहीं है जितना हलफनामों में सचेतन तौर पर विसंगतिपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत करने का। इसके साथ ही महाराष्ट्र की महिला व बाल विकास मंत्री पंकजा मुण्डे के बारे में घनघोर वित्तीय अनियमितताओं में सलंग्नता के प्रत्यक्ष प्रमाण भी आ चुके हैं। थोथी बयानबाजी के अलावा नियम विरुद्ध विभागीय ख़रीदारी और निविदा में गैरज़रूरी हस्तक्षेप के बारे में उनकी तरफ से अभी तक कोई स्पष्टीकरण सामने नहीं आया है। स्कूलों के लिए ख़रीदे गये खाद्य सामग्री के पैकटों की गुणवत्ता मानक के अनुरूप नहीं हैं, यह बात इसके इस्तेमाल के बाद अब सामने आ चुकी है। इन घोटालों की सूची यहीं आकर खत्म नहीं हो जाती। मध्यप्रदेश का बहुचर्चित व्यावसायिक परीक्षा मण्डल घोटाला (व्यापमं) जिसमें अब तक 49 अस्वाभाविक मौतें हो चुकी हैं और 500 लोग ग़ायब हैं इतना व्यापक और गहरा है कि यदि निष्पक्ष जाँच की सुविधा हो तो कई दिग्गजों के मुखौटे गिर सकते हैं। परन्तु इस पूरे मामले में शुचिता और नैतिकता की प्रतिमूर्ति माने जानेवाले मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान की निष्क्रियता और घोटाले की सीबीआई जाँच के प्रति उदासीनता और बाद में सीबीआई जाँच स्वीकार करने के बाद उसमें हर प्रकार की बाधा डालना निश्चय ही संदिग्ध है। भाजपाई मुख्यमंत्री रमनसिंह भी घोटाले के आरोप से बरी नहीं हैं। भ्रष्टाचार विरोध की दुंदुभि बजाने वाली भाजपा के पास पहले भी जुदेव और यदियुरप्पा जैसे भ्रष्टाचार पगे मंत्रिगण रहे हैं। अतीत का कालिख इनके माथे पर पहले ही से मौजूद है। 'न खाऊंगा न खाने दूंगा' जैसे नारेनुमा बड़बोलापन आम लोगों के मन में अब विदूपताही पैदा करता है। ज़ाहिर है मसीहाई लोकरंजकतावाद से भ्रष्टाचार खत्म नहीं किया जा सकता। यह पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की नैसर्गिक उपज है, जिस पूँजीवादी तंत्र के रेशे-रेशे में स्वाभविक रूप से लोभ-लाभ की संस्कृति बसी हो उससे सन्तई की अपेक्षा ही एक टटपुँजिया मनोवृत्ति का द्योतक है। पूँजीवाद के पूर्ण ख़ात्मे में ही भ्रष्टाचार का समाधान निहित है।

मोदी के प्रधानमंत्रित्व काल का एक वर्ष विकास के विभ्रमकारी आग्रहों के सार्वजनिक प्रदर्शन का समय रहा है। इस दौरान किसी बड़ी साम्प्रदायिक घटना की अनुपस्थिति से लोगों में एक मिथ्या आश्वस्ति का भाव पैदा हुआ था, जो अब ख़त्म हो रहा है। यह सतह की सच्चाई थी और असली तस्वीर कहीं अधिक भयावह है, जो अब सामने आ रही है। मोदी की सरकार बनते ही विभिन्न माध्यमों से जनता के बीच मद्धिम अन्दाज़ में यह सन्देश प्रसारित हुआ कि अच्छे दिनों की लहर किस प्रकार आम लोगों को वैदिक ज्ञान और सभ्यतामूलक पवित्रता के साथ हिन्दू राष्ट्र के तट तक ले जायेगी। मोदी की सचेतन चुप्पी के बीच उनके मंत्रियों, नौकरशाहों और अनुषांगिक संगठनों की तरफ से उन्मादी प्रचार के जरिये परिवेश को तनावपूर्ण बनाने की कोशिशें लगातार होती रही हैं। धर्मान्तरण, लव जेहाद, घर वापसी, रामज़ादे-हरामज़ादे, गोवंश हत्या और मन्द स्वर में रामजन्म भूमि पर मन्दिर निर्माण जैसे मुद्दों के जरिये आम लोगों की चेतना में अल्पसंख्यकों के खिलाफ घृणा को स्थायित्व देने काम हिन्दुत्ववादी ताकतें नितान्त सुनियोजित तरीके से कर रही हैं। इस प्रसंग में योगी आदित्यनाथ, गिरिराज सिंह, साध्वी प्राची और साध्वी निरंजन ज्योति जैसे लोगों की सक्रियता भाषाई अभिव्यक्ति और व्यवहार में देखी जा सकती है। जबकि असलियत यह है कि लव जेहाद जैसे मामलों में अभी तक एक भी प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिला है। हिन्दुत्व के ये प्रचारक ऐसी घटनाओं के बारे में योजनाबद्ध ढंग से झूठी अफवाह फैलाते हैं और साम्प्रदायिक तनाव और दंगे भड़काने में सफल हो जाते हैं। उत्तर प्रदेश में मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, दादरी से लेकर

दिल्ली के त्रिलोकपुरी, समयपुर बादली, मजनूँ का टीला में जगह-जगह छोटे-छोटे स्तरों पर इसी प्रकार दंगे भड़काये गये हैं। मिशनरी स्कूलों में सरस्वती प्रतिमा की स्थापना, गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ घोषित करने की माँग, हिन्दू स्त्रियों द्वारा अधिक बच्चे पैदा करने की ज़रूरत पर बल आदि को हिन्दुत्ववादी ताकतें वैमन्यस फैलाने का माध्यम बना रही हैं। निस्सन्देह ऐसे ही मुद्दे धार्मिक बहुसंख्यावादी राजनीति को आगे भी प्रभावी बनाये रखेंगें। एक तनावपूर्ण माहौल की उपस्थिति निरन्तर बनी रहेगी। छोटे स्तर के और स्थानीय रूपवाले दंगे छोटी-छोटी कालावधियों में उभरते रहेंगे। आज घनघोर प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग को भी, जिसका मोदी संसद में प्रतिनिधित्व करते हैं, गुजरात जैसे दंगों की ज़रूरत नहीं। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि पूँजीपति वर्ग के लिए अब ज़ंजीर से बंधे साम्प्रदायिक फासीवाद के शिकारी कुत्ते का कोई उपयोग नहीं। वास्तव में इसके आवश्यकतानुसार इस्तेमाल की ज़रूरत संकटग्रस्त पूँजीवाद को पहले से कहीं ज़्यादा है। आम मेहनतकश आबादी की एकजुटता को रोकने और उन्हें बाँटकर उनकी श्रम शक्ति को अधिकतम सीमा तक निचोड़ने और उससे उपजे जनप्रतिरोध को कुचलने में यह एक प्रभावी उपकरण के रूप में काम करता रहेगा। सत्ता में रहते हुए मोदी की भाजपा सरकार नवउदारवादी नीतियों के अमल से जन्मे हर असन्तोष, हर विरोधी आवाज़ का दमन करने से परहेज़ नहीं करेगी। सत्ता से बाहर रहकर भी भाजपा अपने अनुषंगी कार्यकर्ता आधारित संगठन के बूते सामाजिक संरचना का फासीवादीकरण करती रहेगी। सट्टेबाज पूँजी नियंत्रित फासीवाद की मौजूदगी की पक्षधर है। भविष्य इसे सही साबित करेगा।

जिस नग्न निरंकुश और परभक्षी वित्तीय पूँजी ने अपने प्रबंधन समिति के रूप में राजकाज चलाने के लिए मोदी सरकार पर दाँव लगाया है उसके अनुरूप परिस्थितियाँ तैयार करने में मोदी की तत्परता पिछले एक वर्ष में देखी जा सकती है। आर्थिक जर्जरता इतनी प्रत्यक्ष है कि उसके बारे में आम लोगों को भ्रम में नहीं रखा जा सकता है। इसलिए फासीवादी चरित्रवाली भाजपा सरकार बौद्धिक सांस्कृतिक शैक्षिक प्रणाली के ज़रिये चीज़ों को सत्ता पक्ष के नज़रिये से समझने के लिए जनता को एक व्याख्यात्मक चौखटा देने की कोशिशों में लगी है। मोदी ने जब भारत में वैदिक और महाभारत काल से ही चिकित्सा विज्ञान के अति विकसित अवस्था में मौजूदगी का प्रमाण गणेश के कटे सिर को प्लास्टिक सर्जरी द्वारा जोड़ने और माँ के गर्भ के बिना कर्ण का जेनेटिक साइंस की मदद से जन्म लेने के उदाहरणों से दिया तो यह उनकी मूर्खता नहीं थी जैसा कि समझा जाता है। या भारतीय विज्ञान कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में जब एक तथाकथित वैज्ञानिक द्वारा भारत में सात हज़ार वर्ष पहले विमान की तकनीक के अत्यन्त विकसित होने का दावा करता पर्चा बिना किसी बाधा के पढ़ा गया था तो यह केवल कूपमण्डूकता और रूढ़िवादिता ही नहीं थी। बल्कि इन जानकारियों को पिछड़ी चेतना वाली जनता के दिमागों में एक सामान्य बोध के रूप में स्थापित करने का सचेतन प्रयास था। बार-बार और अनेक प्रकार से दोहराये जाने से झूठ भी सच बनने लगता है। अन्धराष्ट्रवाद और उग्र हिन्दुत्ववाद के लगातार पनपते रहने के लिए यह जरूरी है। वर्चस्व स्थापित करने की लम्बी योजना ली गयी है। इतिहास, कला, साहित्य, शिक्षा और संस्कृति के संस्थानों में या तो ऐसे लोग बैठाये गये जो हिन्दुत्वादी विचारधारा के पोषक और रूढ़ियों के कट्टर समर्थक थे। या फिर इन संस्थानों के महत्वपूर्ण पदों को रिक्त छोड़ दिया गया ताकि उन्हें उपलब्धता के आधार पर भाजपा समर्थक धार्मिक रूढ़िवादियों से भरा जा सके। असहमति जतानेवाले इतिहासकारों और शिक्षाविद्ों को सरकार के हाथों अपमान झेलना पड़ा।

इस प्रसंग में एनसीईआरटी की निदेशक परवीन सिक्लेयर का, जिनपर वित्तीय अनियमितता का झूठा आरोप लगा कर संस्थान छोड़ने पर मजबूर कर दिया गया और दिल्ली आइआइटी के निदेशक शिवगांवर का, जिनपर गलत निर्णयों के लिए मानव संसाधन विकास मंत्री की तरफ से अनुचित दबाव बनाया गया था, उदाहरण लिया जा सकता है। जिन चर्चित वाइ सुदर्शन राव की योग्यता, इतिहास का उनका ज्ञान संदिग्ध रहा है उन्हें भारतीय इतिहास अनुसंधान का अध्यक्ष बना दिया गया, उनकी नियुक्ति का आधार भाजपा के प्रति अन्धभक्ति और मुस्लिम विरोधी भावना है। राव ने आते ही आईसीएचआर की परामर्श समिति का पुनर्गठन कर रोमिला थापर, सतीश चन्द्रा, मुजफ्फर अली और इरफान हबीब जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रगतिशील इतिहासवेत्ताओं को बाहर का रास्ता दिखा दिया। इसी प्रकार राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट के निदेशक को अपने कार्यकाल के सात माह पूर्व इस्तीफा देने को बाध्य होना पड़ा और उनकी जगह आर आर एस के प्रचारक रहे बलदेव भाई शर्मा को अध्यक्ष बनाया गया। अब एनसीईआरटी हिन्दू संस्कृति और परम्पराओं का सरलीकृत पाठ प्रस्तुत करेगी, एनबीटी ने योग और संघ से जुड़े व्यक्तियों पर पुस्तके प्रकाशित करना शुरू भी कर दिया है। राष्ट्रीय संग्रहालय और भारतीय समाज विज्ञान परिषद में इसी तरह की नियुक्तियाँ हो चुकी हैं। स्पष्ट है, अब विषयों को वृहत्तर आयामों से काट कर रूढ़िवादी कट्टरपन्थ के खाँचे में बैठाने का काम होगा। मिथकों को इतिहास और इतिहास को मिथक बनाने का काम आसान हो गया।

कला, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, इतिहास से जुड़े संस्थानों में अधिकांश पदों पर नियुक्तियाँ संघ परिवार का निष्ठावान समर्थक विवेकानंद इण्टरनेशनल फाउण्डेशन से की गई हैं। यह वही इण्टरनेशनल फाउण्डेशन है जो आरएसएस के भूतपूर्व महासचिव एकनाथ रानाडे द्वारा स्थापित विवेकानन्द केन्द्र से सम्बद्ध है। इसके साथ ही स्वायत्त संस्थाओं को सरकारी नियंत्रण में लाने की मुहिम शुरू हो चुकी है। ललित कला अकादेमी, साहित्य अकादेमी की स्वायत्तता सुनियोजित ढंग से समाप्त की जा रही है। इनमें निर्णयकारी पदों पर कट्टर हिन्दुत्वाद के समर्थकों को योजनाबद्ध ढंग से बिठाया जा रहा है। अभी हाल में ही नेहरू स्मृति संग्रहालय और पुस्तकालय सोसायटी में जिन सदस्यों की नियुक्ति की गई है उनमें अर्थशास्त्री बिबेक देबरॉय, पत्रकार स्वप्न दास गुप्ता व एम जे अकबर और इंफोसिस के संस्थापक एन आर नारायणमूर्ति जैसे भाजपा समर्थकों की मौजूदगी मोदी सरकार की मंशा को उजागर करता है। यही विज्ञान, चिकित्सा, अभियांत्रिकी थियेटर, और फिल्म-टेलीविजन के उच्च शिक्षण-प्रशिक्षण के संस्थानों में भी हो रहा है। पुणे के फिल्म और टेलीविजन इंस्टीट्यूट के निदेशक पद पर फिल्म विधा से जुड़ी किसी ऊँची शख़्सियत की जगह गजेन्द्र चौहान की नियुक्ति की गई। यह वही शख्स हैं जो 'महाभारत' में भूमिका निभाने के पहले सी ग्रेड की फिल्मों में काम करते थे। 2014 के चुनाव में मथुरा की भाजपा प्रत्याशी हेमामालिनी के प्रचार में इनकी सक्रिय भूमिका निश्चय ही एक अतिरिक्त व विशेष योग्यता थी। इन महाशय को गुलज़ार, श्याम बेनेगल और अदूर गोपालकृष्णन की क़ीमत पर चुना गया और छात्रों के लगातार जारी विरोध के बावजूद जो अभी भी अपने पद पर बने हुए हैं। चिल्ड्रेन्स फिल्म सोसायटी के प्रमुख के पद पर मुकेश खन्ना की नियुक्ति को इसी रूप में देखा जा सकता है।

इतिहास, साहित्य संस्कृति कला जैसी विधाएँ जनता के अवचेतन के कई संस्तरों तक जाकर प्रभावित करती हैं। सत्ताधारी इनका उपयोग लोगों के अवचेतन को अपने उन नीतियों, विचारों व कार्रवाइयों के पक्ष में अनुकूलित करने के लिए करता है जो उसके हितों

का पोषण करते हैं। इस प्रक्रिया में वह उनमें इन नीतियों और विचारों के प्रति स्वेच्छा या सहमति की मिथ्या चेतना पैदा करता है, जिसे ग्राम्शी ने शासन के लिए सहमति का निर्माण कहा है। दूसरी तरफ ढाँचागत आर्थिक संकट के असाध्य होते जाने के साथ सत्ताधारियों के लिए यह नितान्त ज़रूरी हो जाता है कि लोगों की पिछड़ी धार्मिक चेतना का इस्तेमाल वे साम्प्रदायिक कट्टरपन्थ की ज़मीन तैयार करने और उसे सामाजिक औचित्य प्रदान करने में करें। इस आलोक में यदि मोदी सरकार के शासनकाल के एक वर्ष का आकलन किया जाय तो निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक दोनों ही मोर्चों पर उसकी सतत् कार्रवाइयों का सिलसिला मद्धिम गति से जारी है। ये जनोन्मुखी तो निश्चय ही नहीं हैं और जनचेतना को सदियों पीछे ले जाने के लिए प्रयासरत हैं। इसकी तात्कालिक प्रभाविता आज भले ही न हो (यह स्पष्ट तौर पर देखा भी जा सकता है कि साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की कोशिश केवल अल्पकाल के लिए एक हद तक ही प्रभावी हुई है।) लेकिन क्रान्तिकारी ताकतें यदि एकजुट नहीं होतीं तो भविष्य में इसका असर निश्चय ही घातक होगा। जहाँ तक आर्थिक मोर्चे का प्रश्न है, मोदी सरकार की विफलता बिल्कुल प्रत्यक्ष है। नित नयी योजनाएँ उछालकर भी मोदी लोगों का ध्यान असली मुद्दों से भटकाने में सफल नहीं हो सके हैं। उनकी लोकप्रियता का ढलान पहले उपचुनावों के नतीजे से ही पुष्ट हो गये थे। राजनीतिक और कूटनीतिक मामलों में तमाम विदेशी यात्राओं और द्विपक्षीय समझौतों के बावजूद कोई ठोस सफलता मोदी के हाथ नहीं आयी है। उल्टे, इन समझौतों से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिसम्पन्न देशों ने ही लाभ उठाया है। इसका इस्तेमाल उनकी मीडिया निर्मित नायकत्व की छवि को और अधिक महिमामण्डित करने में भले ही हुआ हो। परन्तु चौंक-चमत्कार से भरे उनके भाषणों और विदेशों की धावाधूपी से देश को कुछ भी अब तक सकारात्मक हासिल नहीं हो सका। यह है मोदी सरकार के विकास की असली तस्वीर। यह विकास अपनी विकलांगता से मुक्त नहीं हो सकता। संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद के दौर में यह सम्भव भी नहीं है। विकास सच्चे अर्थों में आगे डग भरने के मंसूबे बाँध सके इसके लिए ज़रूरी है कि आर्थिक व्यवस्था का समाजवादी नियोजन हो, जो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कायम किये बिना सम्भव नहीं है।

"आज का संकट ठीक इस बात में निहित है कि जो पुराना है वह मर रहा है और नया पैदा नहीं हो सकता है; इस अन्तराल में रुग्ण लक्षणों का ज़बर्दस्त वैविध्य प्रकट होता है।"

-अन्तोनियो ग्राम्शी (प्रिज़न नोटबुक्स)

इस्लामिक स्टेट का उभार और मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का नया दौर

● आनन्द

11 सितम्बर के आतंकवादी हमले की 13 वीं बरसी पर नोबेल शान्ति पुरस्कार विजेता अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इस्लामिक स्टेट (आईएस) नामक आतंकी संगठन को कमज़ोर करने और उसको नष्ट करने के घोषित उद्देश्य के तहत सीरिया और इराक़ में उसके ठिकानों पर हवाई बमबारी एवं इराक़ में 500 अतिरिक्त सैन्य सलाहकारों को भेजने का ऐलान किया। साथ ही सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद की सरकार के ख़िलाफ़ लड़ रहे विद्रोहियों के 'नरमपन्थी' हिस्सों को हथियारों की सप्लाई एवं सैन्य प्रशिक्षण की योजना का भी खुलासा किया गया। 23 सितम्बर से अमेरिका ने सीरिया की सीमा के भीतर क्रूज़ मिसाइलों और प्रिसीज़न-गाइडेड बमों की बौछार शुरू कर दी। इसके पहले अमेरिका ने इराक़ में हवाई हमले 8 अगस्त से ही शुरू कर दिये थे। यह मध्य-पूर्व में प्रत्यक्ष अमेरिकी हस्तक्षेप का नया दौर है। ग़ौरतलब है कि अभी तीन वर्ष पहले ही अमेरिका ने अपनी सेना इराक़ से वापस बुलायी थी जो 2003 में इराक़ पर अमेरिकी क़ब्ज़े के समय से ही वहाँ तैनात थी। उसके बाद पिछले वर्ष अमेरिका ने सीरिया में इस आरोप की आड़ में प्रत्यक्ष सैन्य हस्तक्षेप की तैयारी कर ली थी कि सीरिया में जारी गृहयुद्ध में असद सरकार ने रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया था। परन्तु जल्द ही यह सच्चाई सामने आने लगी कि दरअसल सीरियाई गृहयुद्ध में रासायनिक हथियारों का प्रयोग सीरिया के विद्रोहियों ने किया था जिनको अमेरिका और मध्य-पूर्व में उसके सहयोगी सैन्य और

वित्तीय मदद दे रहे थे। उस वक़्त अमेरिका सीरिया में प्रत्यक्ष सैन्य हस्तक्षेप करने के अपने मक़सद में क़ामयाब नहीं हो पाया था क्योंकि वह नाटो के अन्य सहयोगियों को इस हमले के लिए तैयार नहीं कर सका था। परन्तु एक साल बाद अब मध्य-पूर्व का परिदृश्य काफ़ी बदल चुका है। अब इस्लामिक स्टेट के रूप में अमेरिका और नाटो के अन्य साम्राज्यवादियों को एक ऐसा पुख़्ता कारण मिल चुका है जिसके नाम पर वे अपने-अपने देशों की जनता को सैन्य हस्तक्षेप करने के लिए तैयार कर सकते हैं।

इस्लामिक स्टेट (आईएस) का उभार

इस साल जून के महीने में यकायक इस्लामिक स्टेट ऑफ इराक़ एण्ड सीरिया (आईएसआईएस जिसे अब आईएस के नाम से जाना जाता है) नामक एक इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठन के द्वारा इराक़ में की जाने वाली मध्ययुगीन बर्बर करतूतों की ख़बरें पूरी दुनिया में सुर्ख़ियाँ बटोरने लगीं। आईएस के जिहादी लड़ाके तेज़ी से एक के बाद एक इराक़ के कई मुख्य शहरों पर क़ब्ज़ा करने लगे और यहाँ तक कि वे इराक़ की राजधानी बग़दाद के प्रवेशद्वार तक आ पहुँचे। यही नहीं, इस संगठन के सरगना अबू बक्र अल-बग़दादी ने अपने आपको समूचे इस्लामिक जगत का ख़लीफ़ा तक घोषित कर दिया। मध्य-पूर्व की राजनीति से अनजान लोगों के लिए भले ही आईएसआईएस एक नया नाम हो, परन्तु उस पूरे क्षेत्र की राजनीति एवं वहाँ अमेरिका-नीत साम्राज्यवादी हस्तक्षेप से वाकिफ़ लोग इस संगठन से परिचित थे, हालाँकि मध्य-पूर्व के प्रकाण्ड रणनीतिक विश्लेषकों के लिए भी इसका इराक़ में इतनी तेज़ी से उभार और फैलाव विस्मयकारी था। अभी कुछ महीनों पहले तक आईएसआईएस के जिहादी लड़ाके अमेरिकी, ब्रिटिश, फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों एवं उनके अरब के टट्टुओं मसलन सउदी अरब, कतर और कुवैत की शह पर सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद का तख़्तापलट करने के उद्देश्य से वहाँ जारी गृहयुद्ध में भाग ले रहे थे। उस समय अमेरिका की नज़र में वे "अच्छे" जिहादी थे क्योंकि वे अमेरिकी हितों के अनुकूल काम कर रहे थे। लेकिन अब जब वे अमेरिका के हाथों से निकलते दिख रहे हैं तो वे बुरे जिहादी हो गये हैं और उन पर नकेल कसने की कवायदें शुरू हो गयी हैं। दरअसल, इस्लामिक स्टेट अल-क़ायदा और तालिबान की तर्ज़ पर अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा पैदा किया गया और पाला-पोसा गया नया भस्मासुर है जो अब अपने आका को ही शिकार बनाने लगा है।

आईएस की पृष्ठभूमि

इस्लामिक स्टेट (आईएस), जिसको आईएसआईएस के नाम से भी जाना जाता है, अल-कायदा से ही निकला एक आतंकवादी संगठन है जिसने हाल ही में दज़ला और फ़रात नदियों के किनारे स्थित उत्तरी सीरिया एवं उत्तरी और मध्य इराक़ के अनेक महत्वपूर्ण शहरों, तेलशोधक कारखानों और बाँधों पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया है। इस लेख के लिखे जाने तक इराक़ के लगभग एक तिहाई क्षेत्र पर इसका क़ब्ज़ा हो चुका है और सीरिया के कई इलाकों में भी इसने अपनी पैठ बना ली है। इस आतंकवादी संगठन ने इराक़ में 2003 के अमेरिकी हमले (ऑपरेशन शॉक एण्ड ऑ) के बाद वहाँ अपनी जड़ें जमानी शुरू की। ग़ौरतलब है कि इस हमले के पहले तक इराक़ में अल-क़ायदा का नामोनिशान तक नहीं था। सद्दाम हुसैन बेशक एक तानाशाह था जिसने अपने देश की जनता पर अकथनीय जुल्म ढाये, परन्तु उसके शासन में शिया-सुन्नी के अन्तरविरोध दुश्मनाना नहीं थे। उस दौर में इराक़ में शिया-सुन्नी में

आपस में विवाह आम बात थी। अमेरिकी हमले में सद्दाम हुसैन के सत्ताच्युत होने के बाद इराक़ में घोर अराजकता, पन्थीय और नृजातीय संकीर्णता और इस्लामिक कट्टरपंथियों के पनपने की ज़मीन तैयार हुई। साथ ही इराक़ में अमेरिकी क़ब्ज़े और सेना की उपस्थिति के ख़िलाफ़ व्यापक जनउभार भी शुरू हो गया। इस जनउभार को काबू में करने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने योजनाबद्ध तरीके से इराकी समाज में शिया-सुन्नी की पन्थीय संकीर्णता एवं उत्तरी इराक़ में रहने वाली कुर्द नृजातीय आबादी में अलगाववादी भावनाओं को हवा देना शुरू किया। "बाँटो और राज करो" की इस साम्राज्यवादी नीति का नतीजा यह हुआ कि इराक़ में एक गृहयुद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी। शियाओं एवं सुन्नियों की अलग-अलग मिलीशिया और फ़िदायीं दस्ते बनने लगे जो एक दूसरे के ख़ून के प्यासे हो गये।अमेरिकी साम्राज्यवादियों की शह पर बनने वाली राजनीतिक संरचना में शिया-सुन्नी विवाद को हवा देने के लिए ऐसे प्रावधान डाले गये जिससे वहाँ की राजनीति में बहुसंख्यक शियाओं का दबदबा क़ायम हो सके।

ग़ौरतलब है कि इराक़ में शियाओं की बहुसंख्या होने के बावजूद अमेरिकी हमले से पहले तक वहाँ की राजनीति में शियाओं के वर्चस्व जैसी कोई बात नहीं थी। सद्दाम हुसैन स्वयं अल्पसंख्यक सुन्नी समाज से आता था और उसकी बाथ पार्टी में शिया और सुन्नी दोनों ही सदस्य थे। अमेरिकी हमले के बाद इराक़ में जो राजनीतिक संरचना अस्तित्व में आयी उसमें संवैधानिक रूप से यह प्रावधान किया गया कि वहाँ के सबसे रसूख़दार प्रधानमंत्री के ओहदे पर शिया ही क़ाबिज़ हो सकता है एवं राष्ट्रपति तथा संसद के स्पीकर जैसे कम महत्वपूर्ण ओहदे क्रमशः सुन्नियों तथा कुर्दों के लिए सुरक्षित रखे गये। लेबनान मॉडल पर किये गये इस विचित्र संवैधानिक-राजनीतिक प्रबन्ध का नतीजा यह हुआ कि समय बीतने के साथ ही साथ वहाँ की राजनीति एवं अर्थव्यवस्था में शियाओं का दबदबा बढ़ता गया और सुन्नी एवं कुर्द हाशिये पर जाते गये। इसकी वजह से सुन्नियों एवं कुर्दों में अलगाववादी भावना पनपने लगी। अमेरिकी हमले के बाद इराक़ की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गयी, बेरोज़गारी और महँगाई आसमान छूने लगी। हालाँकि इस अराजकता का दंश इराक़ की जनता के हर हिस्से ने झेला, लेकिन सुन्नी जो सद्दाम हुसैन के शासनकाल में बेहतर स्थिति में थे, उनकी तो मानो पूरी दुनिया ही तबाह हो गयी।

ये वो हालात थे जिनमें सुन्नी इस्लामिक कट्टरपन्थी अल-कायदा ने इराक़ में पैर जमाना शुरू किया। इसका शुरुआती नाम 'अल-कायदा इन मेसोपोटामिया' था जिसकी स्थापना इराक़ के ताल अफ़ार नामक शहर में हुई थी। शुरुआत में इसका नेतृत्व जार्डनी आतंकवादी अबू मुसब अल-ज़रकावी के हाथों में था जिसे ओसामा बिन लादेन तक ने अत्यधिक हिंसक और संकीर्ण माना था। यही संगठन 2006 में इस्लामिक स्टेट आफ इराक़ (आईएसआई) के नाम से जाना जाने लगा जो बाद में आईएसआईएस या सिर्फ़ आईएस के नाम से प्रचलित हुआ। इसका मौजूदा मुखिया अबूबक्र अल-बग़दादी है जो 2003 तक एक छुटभैया चोर-उचक्का था। इराक़ में अमेरिकी हमले के बाद अमेरिकी डिटेंशन सेंटर में प्रताड़ना झेलने के बाद वह आतंकवाद की दिशा में बढ़ा और आईएस जैसे आतंकवादी संगठन का मुखिया बन बैठा। इस संगठन ने मुक़्तदा अल-सद्र की महदी शिया सेना और बद्र एवं सलाम ब्रिगेड जैसी शिया मिलीशिया से भी लोहा लिया था। लेकिन यह अभी भी महज़ एक छोटा सा जिहादी समूह भर था जिसके पास इतनी ताक़त हरगिज़ नहीं थी कि वह इराक़ के किसी शहर पर क़ब्ज़ा करने की सोच भी सकता। आईएसआईएस की ताकत में इज़ाफ़ा होना तब शुरू हुआ जब

2011 के बाद से सीरिया में जारी गृहयुद्ध में इसने विद्रोहियों की तरफ़ से शिरकत करनी शुरू की।

आईएस की बढ़ती ताक़त की वजह

2011 में ट्यूनिशिया एवं मिस्र में जनविद्रोहों के बाद अरब के तमाम देशों की तरह सीरिया में भी निरंकुश शासन एवं आर्थिक संकट के विरोध में व्यापक जनउभार देखने को आया। अमेरिकी एवं पश्चिमी यूरोपीय साम्राज्यवादियों को इस जनउभार में सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद (जिसकी क़रीबी रूस और ईरान से है) का तख़्तापलट करने की सम्भावना दिखी। साम्राज्यवादियों की मंशा यह थी कि जिस प्रकार वे लीबिया में इस्लामिक कट्टरपन्थी विद्रोहियों को सैन्य एवं वित्तीय मदद देकर क़द्दाफ़ी का तख़्तापलट करने में क़ामयाब रहे (यह बात दीग़र है कि लीबिया में इस्लामिक कट्टरपंथियों की बढ़ती ताक़त की वजह से अभी भी राजनीतिक अस्थिरता एवं अराजकता का माहौल व्याप्त है), उसी प्रकार सीरिया में भी बशर अल-सद्र का भी तख़्तापलट किया जा सकता है और वहाँ एक कठपुतली सरकार बनवाई जा सकती है। इसके लिए उन्होंने सीरिया में सुन्नी कट्टरपंन्थी विद्रोहियों को बढ़ावा दिया जाये। असद सरकार के ख़िलाफ़ जिहाद का एलान करने वाले लड़ाकों को मुद्रा, हथियार एवं सैन्य प्रशिक्षण देने के काम में उनकी मदद सउदी अरब, कतर एवं कुवैत के शेखों और शाहों के साथ ही साथ तुर्की की सरकार ने की। आईएस के अतिरिक्त सीरिया में जिहाद का एलान करने वाले लड़ाकों में एक अन्य इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठन जबत अल-नूसरा भी है जिसको अल-कायदा की सीरिया शाखा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सीरिया में असद सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह का ऐलान करने वाले में फ्री सीरियन आर्मी के लड़ाके शामिल हैं, परन्तु आईएस के मुकाबले उनकी ताक़त बहुत कम है।

लेकिन बशर अल-असद की सरकार क़द्दाफ़ी की सरकार जितनी कमज़ोर न थी, उसकी सैन्य क्षमता एवं सामाजिक आधार कहीं ज़्यादा व्यापक थे। नतीजतन, साम्राज्यवादियों को सीरिया में बशर अल-असद का तख़्तापलट करने में अभी तक कोई ख़ास क़ामयाबी नहीं हासिल हुई है। सीरिया में विद्रोही जिहादियों ने महज़ कुछ ही शहरों को अपने कब्ज़े में लेने में क़ामयाबी हासिल की है। लेकिन इस प्रक्रिया में आईएस जैसे खूँख़ार जिहादी लड़ाकों को अकूत धनसामग्री एवं अत्याधुनिक हथियार (ख़ासकर टोयोटा ट्रक और हॉविटज़र बन्दूकें) ज़रूर मिल गये जिससे उनकी ताक़त में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ।

पिछले साल के अन्त में आईएसआईएस ने सीरिया-इराक़ की सीमा को पार कर इराक़ में एक बार फिर से नयी ताकत के साथ प्रवेश किया। इस साल जनवरी में उसने इराक़ के अनबार प्रदेश के रमादी एवं फलूजा शहरों पर क़ब्ज़ा कर लिया। जून में उसने समारा, मोसुल, निनेवेह एवं सद्दाम हुसैन के गृह शहर तिकरित पर क़ब्ज़ा कर लिया। जून के अन्त तक इराक़ की सीरिया एवं जार्डन की सीमा पर आईएस का क़ब्ज़ा हो चुका था और उसके जिहादी लड़ाके बग़दाद के प्रवेशद्वार तक पहुँच चुके थे।

सीरिया में प्राप्त मुद्रा, हथियारों एवं सैन्य प्रशिक्षण के अतिरिक्त आईएस की बढ़ती ताकत का एक अन्य प्रमुख कारण सद्दाम हुसैन की बाथ पार्टी से जुड़े सेना के जनरलों एवं नौकरशाहों के साथ उसका गठबन्धन रहा। ग़ौरतलब है कि 2003 के अमेरिकी हमले के बाद से अमेरिका के निर्देश पर सुनियोजित रूप से वहाँ विबाथीकरण (डीबाथीफिकेशन) की मुहिम चलायी गयी जिसकी वजह से बाथ पार्टी से जुड़े सेना के अधिकारी और नौकरशाह

बेरोज़गार होकर वस्तुतः सड़क पर आ गये। सैन्य अधिकारियों ने 'मिलिटरी काउंसिल' नाम से एक संगठन बनाया जो इस वक़्त आईएस के लड़ाकों को रणनीतिक मार्गदर्शन कर रहा है। आईएस के दूसरे सहयोगी नक़्शबन्दी आन्दोलन से जुड़े लड़ाके हैं जिनका नेतृत्व सद्दाम हुसैन की सरकार में उपराष्ट्रपति एवं पूर्व बाथ पार्टी का सदस्य इज़्ज़त अल-दौरी कर रहा है। हालाँकि नक़्शबन्दी आन्दोलन इस्लाम की सूफ़ी परम्परा से प्रेरित है, लेकिन उसने आईएस जैसे कट्टरपन्थी संगठन से एक अवसरवादी गठजोड़ बना लिया है जिससे आईएस की ताक़त में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ है।

आईएस की गुरिल्ला फौज में इराक और अरब जगत के इस्लामिक कट्टरपंथियों के अतिरिक्त चेचेन्या, पाकिस्तान एवं यूरोपीय देशों के इस्लामिक कट्टरपन्थी लड़ाके हैं। भारत से भी कुछ मुस्लिम युवाओं के आईएस में शामिल होने की ख़बरें आयी हैं। इराक़ की राजनीति में शियाओं के वर्चस्व होने के बाद से सुन्नी समुदाय की आम आबादी का बड़ा हिस्सा भी आईएस को अपने हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले लड़ाकू संगठन के रूप में देखता है। इराक़ में इतनी तेज़ी से आईएस के प्रभुत्व के बढ़ने के पीछे एक अन्य कारण अमेरिकी हमले के बाद से इराक़ी सेना के मनोबल में भारी गिरावट भी रहा जिसकी वजह से संख्या में आईएस के मुकाबले कई गुना होने के बावजूद वे उसके सामने टिक न सके। आईएस ने जिन शहरों पर क़ब्ज़ा किया वहाँ भारी मात्रा में इराकी सेना के हथियारों और लूटपाट से अर्जित अकूत धनदौलत से भी आईएस की ताक़त में इज़ाफ़ा हुआ। इसके अतिरिक्त मोसुल और किरकुक जैसे स्थानों में स्थित तेलों के कुँओं पर कब्ज़े से भी उनकी आर्थिक ताक़त बढ़ी। लेकिन जितनी तेज़ी से इसकी ताक़त बढ़ी उतनी ही तेज़ी से समूचे अरब जगत की आम जनता के बीच इसके प्रतिक्रियावादी चरित्र का खुलासा भी हुआ। जब यह इराक़ में एक के बाद एक शहरों पर क़ब्ज़ा करने में व्यस्त था था उसी दौरान जॉयनवादी इज़रायल गाज़ा की जनता पर अकथनीय क़हर बरपा रहा था। लेकिन पूरी दुनिया में इस्लामिक राज्य का स्थापित करने का दावा करने वाले इस आतंकवादी संगठन के पास फ़िलिस्तीन की जनता के शानदार और बहादुराना संघर्ष में भाग लेना तो दूर उनके समर्थन में एक शब्द तक नहीं बोले।

इराक़ एवं सीरिया में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के पीछे का राजनीतिक अर्थशास्त्र

इराक़ एवं सीरिया सहित समूचे मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप शुरू से ही इस क्षेत्र की अकूत तेल और गैस संसाधनों की मौजूदगी से सीधे तौर पर जुड़ा रहा है। दुनिया के कुल तेल रिज़र्व का 65 फ़ीसदी मध्य-पूर्व में और लगभग 10 फ़ीसदी अकेले इराक़ में है। 1991 के प्रथम खाड़ी युद्ध, उसके बाद इराक़ पर अमानवीय प्रतिबन्ध और 2003 में द्वितीय खाड़ी युद्ध के बाद सद्दाम हुसैन की सत्ता का पतन और उसके बाद से इराक़ में जारी भयंकर अराजकता, इन सभी का मूल कारण इराक़ के तेल के संसाधन ही थे। हालाँकि सद्दाम हुसैन को इराक़ का तानाशाह बनाने में अमेरिका की भी भूमिका थी और 1980 के दशक में चले ईरान-इराक़ युद्ध में अमेरिका ने सद्दाम हुसैन का साथ दिया था, लेकिन सद्दाम हुसैन चूँकि अमेरिका का कठपुतली बनने की बजाय स्वतंत्र आकांक्षाएँ पालने लगा था, इसलिए वह अमेरिकी साम्राज्यवाद की आँखों की किरकिरी बन गया था। प्रथम खाड़ी युद्ध की से ठीक पहले सद्दाम हुसैन कुवैत पर क़ब्ज़ा करके उसके तेल के कुँओं को पर नियंत्रण करने के ख़्वाब देख रहा था जो अमेरिका को हरगिज़ मंजूर न था। सितम्बर 2000 में सद्दाम हुसैन ने

यूरोपीय यूनियन की मुद्रा यूरो में तेल व्यापार करने की की घोषणा कर दी थी जिससे विश्व तेल व्यापार में डालर के वर्चस्व को ख़तरा उत्पन्न हो गया था। इसके बाद 2001 में विश्व व्यापार केन्द्र पर आतंकी हमले की आड़ में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की जिसके तहत अमेरिका ने पहले अफगानिस्तान पर साम्राज्यवादी हमला किया गया और फिर 2003 में इराक़ पर हमला किया और सद्दाम हुसैन को सत्ताच्युत करके इराक़ पर क़ब्ज़ा कर लिया और वहाँ अपनी कठपुतली सरकार की स्थापना कर दी। लेकिन इराक़ में अमेरिकी क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ वहाँ जनप्रतिरोध भी शुरू हो गया। इस जनप्रतिरोध को तोड़ने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने इराक़ी समाज में शिया-सुन्नी की पन्थीय संकीर्णता और कुर्द की नृजातीय अलगाववादी भावनाओं को हवा देना शुरू किया। इराक़ के उत्तरी भाग में स्थित कुर्दिस्तान स्वायत्तशासी क्षेत्र वहाँ के तेल संसाधन सम्पन्न क्षेत्रों में से एक है जहाँ एक्सान मोबिल और शेवरान जैसी अमेरिकी तेल कम्पनियाँ तेल के कुओं से तेल निकालकर अकूत मुनाफ़ा कमाती हैं। कुर्दिस्तान स्वायत्त क्षेत्र की राजधानी इरबिल में इन तमाम तेल कम्पनियों के क्षेत्रीय कार्यालय हैं। अमेरिका का दूतावास भी इरबिल में स्थित है और इसके अलावा यह अमेरिका के सैन्य और खुफ़िया अधिकारियों का गढ़ भी है। अगस्त के महीने में जब आईएस के जिहादी लड़ाके इरबिल की ओर बढ़ने लगे तो इरबिल में आईएस के क़ब्ज़े की सम्भावना से अमेरिका सकते में आ गया। आनन-फानन में अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा, जो अब तक आईएस को एक छोटा-मोटा संगठन बताते थे, ने कुर्दिस्तान में आईएस के क़ब्ज़े वाले क्षेत्रों में अमेरिकी वायुसेना को हवाई हमले का आदेश दे दिया। दुनिया भर की पूँजीवादी मीडिया में यह प्रचारित किया गया कि अमेरिका ने आईएस के डर से सिंजर पहाड़ों में छिपे यज़ीदी समुदाय के लोगों को बचाने के लिए यह हमला किया था। लेकिन सच्चाई यह थी कि यह हमला आईएस को इरबिल से दूर हटाने के लिए किया गया था। इस हमले की दूसरा मक़सद मोसुल बाँध पर से आईएस के कब्ज़े से छुड़ाना था जिससे इराक़ के बड़े हिस्से में बिजली और पानी भेजी जाती है। यज़ीदी समुदाय के लोगों को बचाने का काम दरअसल सीरिया स्थित वाईपीजी (पीपुल्स प्रोटेक्शन ग्रुप) और तुर्की की पीकेके (कुर्दिश वर्कर्स पार्टी) के ज़मीनी कुर्द लड़ाकों ने किया था।

इराक़ पर क़ब्ज़ा करने के बाद अमेरिकी साम्राज्यवादियों का अगला प्रमुख निशाना ईरान था। ईरान कच्चे तेल के रिज़र्व के मामले में दुनिया में चौथे स्थान पर और प्राकृतिक गैस में दुनिया मे दूसरे स्थान पर है। 1979 की इस्लामिक क्रान्ति के बाद से ही अमेरिका और ईरान के सत्ताधारियों के बीच दुश्मनाना सम्बन्ध रहे हैं। सामरिक रूप से ईरान की नज़दीकी रूसी साम्राज्यवादियों से रही है। अपनी अकूत तेल और गैस सम्पदा के बूते ईरान ने अपना स्वतंत्र तेल बाज़ार बना लिया है जिसमें वह डालर के अलावा अन्य मुद्राओं में भी व्यापार करता है। इस प्रकार ईरान ने विश्व तेल बाज़ार में अमेरिकी डालर के एकाधिकार को ज़बरदस्त चुनौती दी है। आर्थिक मन्दी से गुजर रही अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए यह एक ज़बरदस्त धक्का था। इसीलिए अमेरिका पिछले कई वर्षों से ईरान पर हमला करने की फ़िराक में है। राष्ट्रपति बराक ओबामा अपने पूरे कार्यकाल के दौरान ईरान पर हमले के लिए जनमत तैयार करते रहे हैं। और ईरान पर प्रतिबन्ध भी इसी मक़सद से लगाये गये।

मध्य-पूर्व में सामरिक, सैन्य एवं आर्थिक रूप से ईरान का सबसे घनिष्ठ सहयोगी सीरिया रहा है। इसके अतिरिक्त लेबनान स्थित हिज़बुल्ला भी मध्य-पूर्व में ईरान का घनिष्ठ सहयोगी है जिसने इज़रायली जॉयनवादियों की नाक में दम कर रखा है। इस प्रकार मध्य-पूर्व में

ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला की एक धुरी है जो उस क्षेत्र में शिया-सुन्नी की पन्थीय संकीर्णता के बढ़ने के साथ ही साथ ही सुदृढ़ हुई है। हालाँकि बशर अल-असद स्वयं शिया नहीं है, बल्कि अलावी पन्थ से आता है, लेकिन उसका सीरिया के शिया और ईसाई अल्पसंख्यकों में अच्छा-ख़ासा आधार है। सीरिया की बाथ पार्टी की सरकार लम्बे समय से पश्चिमी साम्राज्यवादियों की योजनाओं में एक बड़ी बाधा रही है और हिज़बुल्ला तथा हमास जैसे प्रतिरोध आन्दोलनों के समर्थन की वजह से इज़रायल से भी उसके सम्बन्ध दुश्मनाना रहे हैं। भू-राजनीतिक दृष्टि से मध्य-पूर्व में सीरिया बेहद अहम स्थान रखता है क्योंकि यह क्षेत्रीय शक्ति-सन्तुलन एवं जल तथा प्राकृतिक गैस जैसे संसाधनों के ट्रांज़िट के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। हाल में मध्य-पूर्व के क्षेत्र से यूरोप को पाइपलाइन के ज़रिये प्राकृतिक गैस पहुँचाने के लिए दो योजनाएँ प्रस्तावित हैं और ये दोनों प्रस्तावित पाइपलाइनें सीरिया से होकर जाने की योजना है। पहली योजना, जिसको इस्लामिक पाइपलाइन भी कहा जा रहा है, में गैस पाइपलाइन ईरान की असालुयेह गैस क्षेत्र से ईराक़ और सीरिया होते हुए मेडिटेरेनियन समुद्री तट और फिर वहाँ से यूरोप को ले जायी जायेगी। दूसरी योजना में कतर से गैस पाइपलाइन शुरू होकर हुए सउदी अरब, जॉर्डन और सीरिया होकर तुर्की और फिर वहाँ से यूरोप की ओर जायेगी। इस्लामिक गैस पाइपलाइन के लिए 2011 में समझौते पर दस्तख़त भी हो चुके हैं। यदि यह पाइपलाइन अस्तित्व में आती है तो इससे कतर, इज़रायल और अमेरिकी साम्राज्यवादियों को काफ़ी नुक़सान पहुँचेगा एवं ईरान लाभ की स्थिति में होगा। इसीलिए साम्राज्यवादियों की योजना में सीरिया काफ़ी अहमियत रखता है।

मध्य-पूर्व में हालिया हस्तक्षेप के पीछे अमेरिकी साम्राज्यवाद की रणनीति

अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इराक़ और सीरिया में हालिया हस्तक्षेप का मक़सद इस्लामिक स्टेट (आईएस) को कमज़ोर करके उसको नष्ट करना बताया है। परन्तु जिस तरीके से अमेरिका आईएस का हौव्वा खड़ा करके समूचे मध्य-पूर्व के क्षेत्र में अमेरिकी सैन्य उपस्थिति बढ़ा रहा है उससे साफ़ ज़ाहिर है कि उसका असली मक़सद अभी भी असद सरकार का तख़्तापलट करवाना और फिर ईरान का घेरना है। हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि पिछले वर्ष भी अमेरिका सीरिया पर हमला करने की फ़िराक में था, लेकिन साम्राज्यवादियों के आपसी मतभेद की वजह से वह अपने मक़सद में क़ामयाब न हो सका था। आईएस और जबत अल-नूसरा जैसे जिहादी लड़ाकों को उसने अपने सहयोगियों की मदद से इसलिए बढ़ावा दिया था ताकि वे असद सरकार का तख़्तापलट करवाने के उसके मक़सद को पूरा करें। लेकिन अब जबकि आईएस अमेरिका के काबू से बाहर होकर एक स्वतंत्र ताकत बन चुका है तो साम्राज्यवादियों की अपनी रणनीति में फेरबदल करना पड़ा है। अब वह आईएस द्वारा ढायी जा रही मध्ययुगीन बर्बरता जैसे गला रेतकर हत्या करना, सामूहिक कत्लेआम करना, महिलाओं को यौन दास बनाकर रखना, गैर-मुस्लिमों को ज़बरन इस्लाम कबूल करवाने की वीडियो इलेक्ट्रानिक और सोशल मीडिया के ज़रिये फैलाकर मध्य-पूर्व में सैन्य हस्तक्षेप के लिए औचित्य प्रतिपादन और जनमत तैयार करने की रणनीति अपना रहा है। अभी हाल ही में अमेरिकी मीडिया में अचानक खोरासान ग्रुप नामक एक नये जिहादी संगठन का हौव्वा खड़ा किया गया जिसके बारे में यह प्रचारित किया गया कि वह आईएस से भी ज़्यादा ख़तरनाक और बर्बर संगठन है और वह अमेरिका पर एक बड़ा हमला करने की योजना बना रहा है।

अमेरिकी मीडिया में एक बार फिर से मध्य-पूर्व में सेना भेजने की चर्चाएँ आम हो गयी हैं।

लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवादियों की रणनीति के अपने अन्तरविरोध भी है। जहाँ एक ओर वह आईएस को कमज़ोर करने के लिए अन्य नरमपन्थी जिहादियों एवं कुर्दों को हथियारों की सप्लाई एवं सैन्य प्रशिक्षण देकर मज़बूत करना चाहता है, वही दूसरी ओर उसके क्षेत्रीय सहयोगी इसमें उतनी दिलचस्पी नहीं ले रहे हैं। मिसाल के तौर पर तुर्की का यह डर है कि यदि कुर्दों की ताक़त बढ़ती है तो वे तुर्की में अपने आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग तेज़ कर देंगे। ग़ौरतलब है कि तुर्की में 1.5-2 करोड़ कुर्द रहते हैं और लम्बे अरसे से वे अपने आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर संघर्षरत हैं। तुर्की की सरकार इस संघर्ष का बर्बर दमन करती आयी है। इस संघर्ष का नेतृत्व पीकेके (कुर्दिश वर्कर्स पार्टी) के हाथों में है जिसको तुर्की ने आतंकवादी संगठन घोषित कर रखा है। अभी हाल ही में जब आईएस की जिहादी तुर्की-सीरिया सीमा से लगे सीरियाई शहर कोबानी को कब्ज़ा करने के क़रीब आ पहुँचे तो कुर्दों की माँग के बावजूद तुर्की ने न तो स्वयं हस्तक्षेप किया और न ही पीकेके के लड़ाकों को वहाँ जाने की अनुमति देने में कोई आतुरता दिखायी। मध्य-पूर्व क्षेत्र के विशेषज्ञों का मानना है कि तुर्की ने कोबानी को आईएस के कब्ज़े से बचाने में कोई आतुरता इसलिए नहीं दिखायी क्योंकि वह चाहता था कि कोबानी कुर्दों के हाथ से निकल जाये। कोबानी सीरिया के कुर्दों के स्वायत्तशासी क्षेत्र के बीचोंबीच स्थित है और यदि वह कुर्दों के हाथ से निकल जाता तो कुर्दों की ताक़त कमज़ोर होती जिससे तुर्की में आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए चल रहा उनका संघर्ष भी कमज़ोर पड़ता। इसी प्रकार से अमेरिका का घनिष्ठतम सहयोगी सउदी अरब भी हालाँकि आईएस की स्वतंत्र आकांक्षाओं से खौफ़ज़दा है, लेकिन उसे यह भी डर है कि आईएस के कमज़ोर पड़ने से सीरिया और ईरान की ताक़त बढ़ेगी। इराक़ में शियाओं के वर्चस्व के बाद ईरान की ताक़त बढ़ने से वह पहले से ही चिन्तित रहता है।

इन तमाम अन्तरविरोधों के बावजूद अमेरिकी साम्राज्यवादी आईएस और अन्य इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठनों का हौव्वा खड़ा करके समूचे मध्यपूर्व में सैन्य हस्तक्षेप बढ़ाकर सीरिया में तख़्तापलट और फिर ईरान को घेरने की योजना को बदले हुए परिदृश्य में भी लागू करने की ओर बढ़ रहे हैं। साथ ही वह इराक़ में शिया-सुन्नी-कुर्द की दरार को और बढ़ाकर इराक़ को तीन स्वतंत्र क्षेत्रों में विभाजित करने की अपनी योजना को अमल में लाने की दिशा में ही आगे बढ़ रहे हैं। दरअसल अमेरिकी साम्राज्यवादियों की योजना समूचे मध्य-पूर्व का नक्शा बदलकर वर्तमान राष्ट्र-राज्यों को छोटे-छोटे कई हिस्सों में बदलने की है जिससे कि उनको बेहतर तरीके से साम्राज्यवादियों के हितों के अनुकूल संचालित किया जा सके। इस जटिल परिस्थिति में इतना तो तय है कि आने वाले दिनों में यह पूरा क्षेत्र भयंकर पन्थीय हिंसा और गृहयुद्धों की चपेट में रहेगा। लेकिन इतिहास ने यह बार-बार सिद्ध किया है कि किसी समाज का विकास सदैव साम्राज्यवादियों की रणनीतियों के अनुसार ही नहीं होता बल्कि उनकी इच्छा से स्वतंत्र और अक्सर उनकी इच्छा के विपरीत उसकी स्वतंत्र गति भी होती है। मध्य-पूर्व के समूचे क्षेत्र में वहाँ के शासकों और साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ जनता में ज़बरदस्त असंतोष व्याप्त है। इस क्षेत्र में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के नये दौर में यह जन असंतोष और उग्र रूप धारण करेगा और भविष्य में जन विद्रोहों की दिशा में अग्रसर होगा।

यूनानी त्रासदी के भरतवाक्य के लेखन की तैयारी

● शिशिर

29 जून को सिरिज़ा की सरकार ने यूरोपीय संघ, यूरोपीय केन्द्रीय बैंक और आई.एम.एफ़ की त्रयी से असहनीय शर्तों पर बेलआउट पैकेज स्वीकार करने के प्रश्न पर जनमत संग्रह की घोषणा की। यह जनमत संग्रह 5 जुलाई को होने वाला है। सिरिज़ा सरकार के मुखिया एलेक्सिस सिप्रास के लिए 5 महीनों तक साम्राज्यवादी त्रयी के इशारों पर नाचने के बाद यह अनिवार्य हो गया था कि वह आगे बेलआउट लेने और तथाकथित किफ़ायतसारी की नीतियों को लागू करने के लिए जनमत संग्रह का एलान करें। ग़ौरतलब है कि सिरिज़ा सरकार की स्वीकार्यता दर हालिया दिनों में ही 36 प्रतिशत से गिरकर 34 प्रतिशत हो गयी है। यूनान की जनता का 35 प्रतिशत से भी ज़्यादा हिस्सा अब यूरो व यूरोपीय संघ से बाहर जाने का अनुमोदन कर रहा है। जनता के विभिन्न हिस्सों, विशेष तौर पर, मज़दूरों और छात्रों के प्रदर्शनों की बारम्बारता बढ़ गयी है। हाल ही में एथेंस में राष्ट्रीय तकनीकी विश्वविद्यालय पर छात्रों ने कब्ज़ा कर लिया था जिसे एलेक्सिस सिप्रास की सरकार ने पुलिस के बल-प्रयोग द्वारा ज़बरन ख़ाली करवाया। 5 जुलाई को जो जनमत संग्रह होने वाला है उसमें भी जो विकल्प जनता के सामने रखे जायेंगे वह साम्राज्यवादी त्रयी की शर्तों पर बेलआउट या फिर सिरिज़ा सरकार की शर्तों पर यूरोपीय संघ व यूरो के भीतर रहने के विकल्प हैं और जनता के सामने यूरो व यूरोपीय संघ से बाहर जाने का कोई विकल्प नहीं रखा गया है। वास्तव में सिप्रास ने जनमत संग्रह से पहले ही घुटने टेकने के संकेत देने शुरू कर दिये हैं और साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सिरिज़ा सरकार के तहत यूनान यूरोपीय संघ में ही रहेगा।

इसलिए वास्तव में इस जनमत संग्रह में चुनने के लिए जनता के पास ज़्यादा कुछ नहीं होगा। यह जनमत संग्रह कराया ही इसलिए जा रहा है कि यूनान पूँजीवाद के दायरे से बाहर न जाये और उसके भीतर ही रहे, चाहे यूरोपीय संघ के साथ या फिर यूरोपीय संघ से बाहर। इसमें भी सिरिज़ा यूरोपीय संघ के भीतर बने रहने को लेकर विशेष तौर पर उत्सुक है। ग़ौरतलब है कि 30 जून को आई.एम.एफ़. को 1.6 अरब यूरो की किश्त अदा करने की आख़िरी तिथि के पहले जहाँ एक ओर सिप्रास ने 5 जुलाई के जनमत संग्रह का एलान किया तो वहीं लगातार यूरोपीय संघ से बेलआउट पैकेज दिये जाने की आख़िरी क्षण की अपीलें भी करते रहे! लेकिन इससे पहले कि हम इस जनमत संग्रह के पीछे की पूरी राजनीति पर चर्चा करें, सबसे पहले सिरिज़ा के सरकार बनाने के बाद हुए परिवर्तनों पर एक निगाह डालना बेहतर होगा।

सुधारवादी-लोकरंजकतावादी वामपन्थ का वास्तविक चरित्र: सिरिज़ा सरकार का आधा साल

जेम्स पेत्रास ने सिरिज़ा को यूरोप में एक विशिष्ट परिघटना का अंग बताया है जिसे कि वह 'गैर-वामपन्थी वाम का उभार' कहते हैं। कुछ मायनों में यह विश्लेषण दुरुस्त बैठता है। सिरिज़ा की सरकार के आधे वर्ष ने स्पष्ट कर दिया है कि सिरिज़ा किसी भी रूप में पूँजीवादी व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं करने वाली है; पूँजीवादी व्यवस्था के अतिक्रमण की बात तो छोड़ दें, सिरिज़ा पूँजीवादी दायरे के भीतर भी उपलब्ध बेहतर रणनीति या रणकौशल को चुनने की बजाय साम्राज्यवादी त्रयी (यूरोपीय संघ-अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष-यूरोपीय आयोग बैंक) के समक्ष घुटने टेक रही है। सिरिज़ा 5 वर्ष की किफ़ायतसारी के विरुद्ध जनता के आक्रोश के बल पर सत्ता में आयी थी। पहले पासोक की सामाजिक-जनवादी सरकार और उसके बाद न्यू डेमोक्रेसी की समारास सरकार के दौर में साम्राज्यवादी त्रयी द्वारा थोपी गयी किफ़ायतसारी की नीतियों के फलस्वरूप यूनान में बेरोज़गारी, ग़रीबी, बेघरी और मज़दूरी में गिरावट की दरों में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी हुई थी। जनता के व्यापक हिस्सों में इन नीतियों के ख़िलाफ़ भयंकर असन्तोष था। सिरिज़ा के 2012 के बाद तेज़ी से उभरने के पीछे जो कारण था वह था इसका किफ़ायतसारी की नीतियों का विरोध। सिरिज़ा का कहना था कि अगर वह सरकार बनाती है तो वह यूरोपीय संघ में रहते हुए किफ़ायतसारी की नीतियों का अन्त करेगी, जिसके कारण यूनानी जनता को भयंकर तबाही का सामना करना पड़ा है। उसने यूरोपीय संघ के साम्राज्यवादी मंसूबों की भी मुख़ालफ़त की थी और उसके साम्राज्यवादी युद्धों से यूनान को अलग करने की घोषणा की थी। जनता के लिए कल्याणकारी नीतियों का वायदा किया गया था। और भयंकर तबाही से तंग यूनानी जनता के व्यापक जनसमुदायों ने सिरिज़ा को इन्हीं वायदों के कारण वोट दिया था क्योंकि पासोक और न्यू डेमोक्रेसी जैसी पार्टियाँ अपनी विश्वस्नीयता खो चुकी थीं। लेकिन सरकार बनते ही जनता की आशाओं पर कुठाराघात का एक सिलसिला शुरू हुआ। फिलहाल, जनमत संग्रह के एलान से जनता के एक हिस्से को एक बार फिर लग रहा है कि सिरिज़ा अपने पुराने एजेण्डे पर लौट सकती है। लेकिन मज़दूरों के व्यापक हिस्सों में यह उम्मीद कम ही है। क्योंकि पिछले छह माह के धोखे ने मज़दूरों के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को सिरिज़ा के प्रति नाउम्मीद भी बनाया है। फिर भी, कोई और विकल्प नहीं होने के कारण अभी सिरिज़ा को ही देश में सबसे ज़्यादा जनसमर्थन है लेकिन यह मानने की

भूल नहीं करनी चाहिए कि सारे लागे बिना शंकाओं और आपत्तियों के यह समर्थन दे रहे हैं। इन शंकाओं और आपत्तियों के कई कारण पिछले छह माह में सिरिज़ा ने विशेष तौर पर मेहनतकश जनसमुदायों को दिये हैं। यह भी समझा जाना चाहिए कि यह समर्थन अचानक बेहद उग्र विरोध में भी तब्दील हो सकता है। सिप्रास व सिरिज़ा इस बात को समझ रहे हैं। बहरहाल, हम चुनाव के बाद के घटनाक्रम पर वापस लौटते हैं।

पहले तो सिरिज़ा ने इस दलील के आधार पर धुर दक्षिणपन्थी और अंधराष्ट्रवादी एनेल पार्टी के साथ साझा सरकार बनायी कि वह किफ़ायतसारी की नीतियों का दृढ़ता से विरोध करती है, हालाँकि इस दलील के आधार पर यूनानी कम्युनिस्ट पार्टी के.के.ई. के साथ भी गठबन्धन बनाया जा सकता था। लेकिन किफ़ायतसारी की नीतियों को तो सिरिज़ा सरकार ने ख़त्म ही नहीं किया; उल्टे आगे बढ़ाया! तो फिर एनेल जैसी पार्टी के साथ गठबन्धन का क्या तुक था?इसका एक कारण यह था कि भविष्य में सिरिज़ा को यूरोपीय संघ में बने रहने के लिए जो मज़दूर-विरोधी नीतियाँ लागू करनी पड़तीं, उसके लिए एनेल ज़्यादा बेहतर साझीदार सिद्ध होता। ख़ैर, इसके बाद 20 फरवरी को सिरिज़ा ने साम्राज्यवादी त्रयी के साथ नया समझौता किया जिसमें उसने पूरे कर्ज़ को वापस करने की प्रतिबद्धता जतायी और माना कि साम्राज्यवादी त्रयी द्वारा कर्ज़ के सही और न्यायपूर्ण होने का दावा सही है! ज़ाहिर है कि इसके बाद सिरिज़ा ने किफ़ायतसारी की नीतियों को न सिर्फ़ जारी रखने को सहमति दी बल्कि उसे और बढ़ाने पर भी रज़ामन्दी जतायी। नतीजतन, पिछले 5 माह में यूनान पर कर्ज़ के दबाव, बेरोज़गारी, मज़दूरी और पेंशन में कटौती, ग़रीबी और बेघरी में और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई है। सिरिज़ा की सरकार साम्राज्यवादी त्रयी से नये समझौते की शर्तों पर कुछ समय तक कुछ प्रार्थनाएँ और निवेदन करती रही, लेकिन इन सभी को साम्राज्यवादी त्रयी ने नकार दिया।

इन प्रार्थनाओं और विनतियों के अलावा सिरिज़ा से सरकार ने जिन्होंने ज़्यादा उम्मीद रखी थी, वह बेज़ा ही रखी थी। सिरिज़ा ने कभी इस बात को नहीं छिपाया था कि वह यूरोपीय संघ और यूरो के लिए प्रतिबद्ध है। ज़ाहिर है कि सिरिज़ा सरकार किसी भी क़ीमत पर यूरोपीय संघ और यूरो के भीतर रहकर ही यूनान के लिए एक अच्छे सौदे की उम्मीद कर रही थी। इसके पीछे सिरिज़ा का यह बुनियादी विचारधारात्मक पूर्वाग्रह भी है कि समाजवाद की ऐतिहासिक पराजय हो चुकी है और पूँजीवाद में ही सुधार के रास्ते को आज़माया जाना चाहिए। कहने की ज़रूरत नहीं है कि सरकार चलाने और यूरोपीय संघ के साथ वार्ताओं के पाँच महीनों ने सिरिज़ा के इस बुनियादी विचारधारात्मक पूर्वाग्रह को डगमगा दिया है। यह अनायास नहीं है कि सिरिज़ा के भीतर भी इस समय उथल-पुथल मची हुई है। जनता के बीच स्वीकार्यता खो बैठने के डर के साथ सिरिज़ा में फूट की सम्भावना ने भी एलेक्सिस सिप्रास को जनमत संग्रह करवाने के लिए मजबूर किया है, हालाँकि इस जनमत संग्रह में एक शातिर दाँव भी खेला गया है, जिस पर हम आगे आयेंगे। लेकिन जनमत संग्रह के पहले आख़िरी कुछ दिनों में भी सिप्रास लगातार एंजेला मर्केल और आई.एम.एफ़. प्रमुख लगार्ड के पास अपनी प्रार्थनाएँ और विनतियाँ भेज रहे हैं कि नया बेलआउट पैकेज दे दिया जाय, अन्यथा मामला हाथ से निकल जायेगा और यूनान यूरोपीय संघ व यूरो से बाहर भी जा सकता है। ज़ाहिर है कि सिप्रास न सिर्फ़ पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के अतिक्रमण को अव्यावहारिक मानते हैं बल्कि वह इस दायरे के भीतर भी वह यूरोपीय संघ-आई.एम.एफ़.-ई.सी.बी. के वर्चस्व के मातहत ही रहना चाहते हैं और

अन्य उपलब्ध विकल्प नहीं आजमाना चाहते।

यूनानी वित्त मन्त्री यानिस वारूफ़ाकिस ने, जो कि अपने आपको "सनकी मार्क्सवादी" कहते हैं (!), सिरिज़ा सरकार के गठन के बाद ही कह दिया था कि यूनान अपना पूरा कर्ज़ चुकायेगा और अपने ऋणदाताओं को निराश नहीं करेगा। यूनान ने मई में इस प्रतिबद्धता पर अमल भी किया और आख़िरी तिथि आने के एक दिन पहले ही किश्त का भुगतान करते हुए 7500 लाख यूरो का भुगतान किया। देश का सरकारी ख़ज़ाना तो पहले ही बुरी हालत में था, तो ऐसे में सिरिज़ा सरकार ने यह भुगतान किया कैसे? 1951 के एक दमनकारी कानून का इस्तेमाल करके! इस कानून के मुताबिक सरकार तमाम सार्वजनिक मदों को ख़ाली कर सकती है। इस दमनकारी कानून का इस्तेमाल कर सिरिज़ा सरकार ने राजकीय स्वास्थ्य बीमा, जल व विद्युत आपूर्ति के मद की राशि को हड़प लिया और इसके ज़रिये 3 अरब यूरो इकट्ठा किये। लेकिन कुल कर्ज़ उस समय तक 300 अरब यूरो हो चुका था! ज़ाहिर है, इस अन्यायपूर्ण और अनुचित तरीके से राशि एकत्र करके भी सिरिज़ा के पास कर्ज़ चुकता करने की रकम नहीं थी। मई के बाद के तीन महीनों में ही इस कर्ज़ के भुगतान की किश्तों में यूनान को 17 अरब यूरो का भुगतान करना था। लेकिन सिरिज़ा सरकार द्वारा जनता के पैसों को निचोड़कर साम्राज्यवादियों को इस तरह से सौंपा जाना सिरिज़ा सरकार के बारे में भी काफ़ी-कुछ बताता है क्योंकि उसके इस कदम से यूनान साम्राज्यवादी त्रयी पर और ज़्यादा निर्भर हो गया। सिरिज़ा को उम्मीद थी कि अगर वह शुरुआती महीनों में ही इस प्रकार की आज्ञाकारिता दिखलायेगी तो यूरोपीय संघ यूनान के प्रति कुछ नरमी बरतेगा, बेलआउट की शर्तों में कुछ छूट देगा और शायद कर्ज़ में भी कुछ कटौती करे। लेकिन हुआ बिल्कुल उल्टा! यूरोपीय संघ ने जून में नये बेलआउट के लिए और भी ज़्यादा मुश्किल शर्तें रखी हैं जिसमें मज़दूरी की दर को नीचे करने, श्रम बाज़ार के और ज़्यादा विनियमन, पेंशनों में कटौती भी शामिल है। ज्ञात हो कि सिरिज़ा सरकार ने पहले ही श्रम बाज़ारों को साम्राज्यवादी त्रयी के निर्देश पर लचीला बना दिया था और तमाम ट्रेड यूनियनों को "कुशलता" बढ़ाने वाले उपकरणों में तब्दील कर दिया था। लेकिन असाध्य संकट से बौखलाये साम्राज्यवादियों की हवस महज़ इतने से पूरी नहीं होने वाली थी। इसलिए जून में साम्राज्यवादी त्रयी ने शर्त रखी कि आगे के बेलआउट पैकेज के लिए यूनान को अपनी सेवानिवृत्ति आयु को बढ़ाकर 67 वर्ष करना होगा, सेवानिवृत्ति लाभ में भारी कटौती करनी होगी और इसे 487 यूरो से घटाकर 320 यूरो करना होगा, कार्यदिवस की लम्बाई को बढ़ाना होगा! सिरिज़ा सरकार जानती है कि वह जिस प्रकार की सुधारवादी-लोकरंजकतावादी राजनीति कर रही है उसके दायरे में ये कदम उठा पाना अब सम्भव नहीं रह गया था। इन कदमों को उठाने का अर्थ था सिरिज़ा के भीतर अपेक्षाकृत ज़्यादा वाम पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले हिस्सों की बग़ावत और साथ ही जनता के बीच भी विस्फोट, जिसके कुछ शुरुआती संकेत छात्रों और मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त प्रदर्शनों में मिलने लगे थे। साम्राज्यवादी त्रयी की बात को न मानकर यूरोपीय संघ से बाहर जाने और यूरो से बाहर जाने का अर्थ यूनान में नये प्रकार से क्रान्तिकारी स्थिति के पैदा होने की सम्भावना है, जबकि यूरोपीय संघ और यूरो में बने रहने का अर्थ होगा एक दूसरे रूप में क्रान्तिकारी स्थिति का पैदा होना, सिरिज़ा की राजनीति का पूरी तरह बेनक़ाब हो जाना और विश्वस्नीयता खो देना। ऐसे में, सिप्रास ने जनमत संग्रह का एलान करके एक जुआ खेला है क्योंकि वह भी जानता है कि अगर जनता यूरोपीय संघ की शर्तों पर बेलआउट को 'हाँ'

कहती है, तो आने वाली तक़लीफ़ों के लिए वह किसी और को ज़िम्मेदार नहीं ठहरा सकती और अगर वह 'नहीं' कहती है तो फिर सिप्रास यूरोपीय संघ के सामने मोलभाव करने की बेहतर स्थिति में होंगे क्योंकि याद रहे, इस जनमत संग्रह में यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर जाने का प्रश्न उठाया ही नहीं गया है।

इससे पहले सिरिज़ा ने जर्मनी से द्वितीय विश्वयुद्ध के एवज़ में युद्ध क्षतिपूर्ति की माँग की थी, ताकि कर्ज़ के दबाव को कुछ समय के लिए टाला जा सके। यह रणनीति पूरी तरह से असफल साबित हुई। यह जुमलों की राजनीति थी जिसका कोई परिणाम नहीं निकलना था। लेकिन इस जुमले के पीछे की राजनीति को भी समझने की आवश्यकता है जो कि मज़दूर वर्ग के नज़रिये से बिल्कुल ग़लत है। यह एक राष्ट्रवादी नारा था जिससे कि सिरिज़ा एक दिखावटी आमूलगामिता के साथ यूनानी जनता के व्यापक हिस्से में अपनी स्वीकार्यता को बनाये रख सके। वास्तव में, सिरिज़ा के अन्य नारों का चरित्र भी अलग-अलग हदों तक राष्ट्रवादी है और उसकी तात्कालिक अपील का एक कारण यह भी है। लेकिन यूरोप में आज प्रश्न वर्ग का है, राष्ट्र का नहीं। सवाल साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध पूरे यूरोप के मज़दूर वर्ग को एकजुट करने का है, न कि जर्मनी से युद्ध क्षति पूर्ति की माँग का। यह सिरिज़ा की संशोधनवादी लोकरंजक राजनीति का ही एक मुज़ाहिरा था।

यह भी ग़ौरतलब है कि सिरिज़ा सरकार के आने के बाद यूनान अभी भी नाटो में बना हुआ है। हालाँकि सिरिज़ा सरकार बीच-बीच में यूनान की रणनीतिक भू-राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाने का प्रयास करते हुए दिखती है, लेकिन कुल मिलाकर यह अमेरिकी व यूरोपीय साम्राज्यवाद के पक्ष में खड़ी है। सिरिज़ा सरकार का नाटो का अंग बने रहना इसी की निशानी है। नाटो का अंग बने रहने का अर्थ यह भी है कि यूनान को अपने बजट का एक तय हिस्सा सैन्य तैयारियों पर ख़र्च करना होता है। यही कारण है कि सिप्रास ने हाल ही में टोही विमानों की मरम्मत के लिए 5000 लाख यूरो का ठेका दिया है। सिरिज़ा ने 'आतंकवाद के ख़िलाफ़ युद्ध' का हिस्सा बने रहने की इच्छा जतायी है। पूर्वी भूमध्य सागर के क्षेत्र पर केन्द्रित एक शिखर वार्ता में हाल ही में सिप्रास मिस्र के सैन्य तानाशाह अल सीसी के साथ गलबहियाँ करते हुए नज़र आये। यूनान के जल्दी ही एक ऐसी शिखर वार्ता में शामिल होने की भी चर्चाएँ चल रही हैं जिसमें इज़रायल व साइप्रस हिस्सा लेंगे। यह शिखर वार्ता भूमध्य सागर के समुद्री संसाधनों के उपयोग पर केन्द्रित होगी। ज़ाहिर है, सिप्रास विश्व पूँजीवाद के मुखियों को यह दिखला देना चाहते हैं कि वह उनमें से ही एक हैं और उन्हें उनके प्रति सशंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस जनमत संग्रह की घोषणा के पहले तक सिप्रास की सरकार यूनानी राज्यसत्ता के दमनकारी उपकरण को चाक-चौबन्द करने पर काफ़ी ध्यान दे रही थी और काफ़ी ख़र्च भी कर रही थी, वह भी एक ऐसे देश में जो कि दिवालिया होने की कगार पर है। दमनकारी तन्त्र को मज़बूत करने पर वित्त मन्त्री वारूफ़ाकिस ने कहा कि देश को वृद्धि की राजनीतिक क़ीमत तो चुकानी ही पड़ती है! सिप्रास ने कहा कि उनकी सरकार कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कोई भी कदम उठाने के लिए तैयार है! जन व्यवस्था मन्त्री यिआनिस पानूसिस पुलिस को एक ऐसे तन्त्र के रूप में रूपान्तरित करने की बात कर रहे हैं जो "महज़ देखरेख" न करे बल्कि ज़रूरत पड़ने पर "कार्रवाई भी कर सके"! यह मज़ाकिया बात है। यूनान के इतिहास में पुलिस कभी भी "महज़ देखरेख" करने वाला निकाय नहीं थी और यह हमेशा से ही, 1974 में तानाशाही ख़त्म होने के बाद भी, बेहद दमनकारी रही है। सिरिज़ा के

आने बाद भी पुलिस ने तमाम प्रदर्शनों में मज़दूरों और छात्रों से जैसा बर्ताव किया है, वही इसी तथ्य की गवाही देता है। ये सारे बयान दिखलाते हैं कि सिरिज़ा की सरकार राज्यसत्ता के दमनकारी तन्त्र को मज़दूर वर्ग के साथ भावी टकराव के लिए तैयार कर रही है। यही सिरिज़ा सरकार बनाने के पहले पुलिस राज्य को समाप्त करने और राज्यसत्ता को ही "समाप्त" करने की बात करती थी! लेकिन अब सरकार योजना बना रही है कि वह एक विशेष पुलिस बल तैयार करे जो कि प्रदर्शनों से निपटने में माहिर होगा और इस पुलिस बल को क्लब्स और पिस्तौलों से लैस करने की तैयारी की जा रही है! सिरिज़ा सरकार ने इस दमनकारी तन्त्र का थोड़ा-बहुत इस्तेमाल भी शुरू कर दिया था। सिरिज़ा सरकार के पाँच माह के समझौतों के ख़िलाफ़ जनता के रोष का जगह-जगह फूटना स्वाभाविक था। सिरिज़ा सरकार इनसे कठोरता से निपट रही थी। एथेंस के राष्ट्रीय तकनीकी विश्वविद्यालय को छात्रों के कब्ज़े से ज़बरन ख़ाली करवाया जाना इसका प्रातिनिधिक उदाहरण था।

जैसा कि हमने लिखा है, सिरिज़ा का शुरू से ही यह मानना रहा है कि पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ समाजवादी व्यवस्था और क्रान्ति का रास्ता ऐतिहासिक तौर पर असफल हो चुका है। सिरिज़ा के इस भरोसे का कारण उसके जन्म में भी देखा जा सकता है, जिसके बारे में विस्तार से आप 'दिशा सन्धान' के पिछले अंक में आये लेख में पढ़ सकते हैं। लेकिन अभी इतना बता देना काफ़ी होगा कि सिरिज़ा दो धाराओं के साथ आने से बनी थी: पहला, यूरोकम्युनिस्ट समूह और संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टी। इन दोनों के साथ आने के बाद बीच में इनमें फूट पड़ी, लेकिन अन्ततः ये दोनों दुबारा साथ आ गयीं। सिरिज़ा ('आमूलगामी वाम का गठबन्धन') के बनने के साथ और भी विभिन्न रंगों और प्रकारों के ग्रुप इसमें शामिल हुए, जैसे कि पर्यावरणवादी, नारीवादी, सहकारवादी, विभिन्न प्रकार के 'रैडिकल' वामपन्थी इत्यादि। लेकिन इन सभी समूहों में मुख्य तौर पर यूरोकम्युनिस्ट धड़ा और संशोधनवादी धड़ा विशेष तौर पर प्रभावी है। इन दोनों धड़ों के नेतृत्व में इन सारे समूहों के मिलने से संशोधनवादी वाम सुधारवाद का एक नया संस्करण तैयार हुआ है जिसमें तथाकथित नये सामाजिक आन्दोलन, सहकार आन्दोलन, सॉलिडैरिटी नेटवर्क आन्दोलन, उत्तरवामपन्थ, नारीवाद आदि का एक विचित्र मिश्रण है। ऐसे में, सिरिज़ा का यूनान में पूँजीवाद के अन्तिम रक्षक के तौर पर उभरना स्वाभाविक था। यह साम्राज्यवाद के साथ एक बेहतर समझौते से ज़्यादा किसी चीज़ की बात नहीं करता है। लेकिन यहीं पर इसकी सीमा भी सामने आती है जो कि सिरिज़ा के मौजूदा संकट का कारण है। दरअसल, किफ़ायतसारी की नीतियों को थोपना और यूनानी मज़दूर वर्ग को लूटना यूरोपीय साम्राज्यवाद के लिए विचारधारात्मक विकल्प या चयन के मुद्दे नहीं हैं; आज के संकट के दौर में ये उसके लिए अपरिहार्य और अनिवार्य है! इसलिए सिरिज़ा की कल्पना का 'तार्किक समझौता' असम्भव है, इसका कोई अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। समझौता केवल साम्राज्यवाद की शर्तों पर ही हो सकता है। दूसरा विकल्प है समाजवाद और मज़दूर क्रान्ति, जो कि सिरिज़ा को स्वीकार नहीं है। इसलिए सिरिज़ा सरकार इस समय यूनान में पूँजीवाद के आख़िरी चौकीदार के समान अपना आख़िरी संघर्ष कर रही है।

सिरिज़ा के भीतर मौजूद अन्तरविरोध

सिरिज़ा के भीतर इस समय मौजूदा संकट को लेकर दो धड़े मौजूद हैं। एक अलेक्सिस सिप्रास के नेतृत्व वाला धड़ा जो कि समझौतापरस्ती और व्यवहारवादी रास्ते को अख़्तियार करने के पक्ष में है और दूसरा सिरिज़ा के भीतर के रैडिकल वाम का धड़ा जो कि यूरोपीय संघ और

यूरो से बाहर जाने की वकालत कर रहा है। यूनान में बुर्जुआ वर्ग, विशेष तौर पर सबसे बड़े पूँजीपति घरानों, बैंकों और वित्तीय संस्थानों का एक बड़ा हिस्सा यूरोपीय संघ में रहना चाहता है और यूरो से भी बाहर नहीं जाना चाहता है। इसका एक कारण यह है कि यह यूनानी पूँजीवाद का वह अंग है जो कि वैश्विक वित्तीय तन्त्र के साथ ज़्यादा मज़बूती से और जैविक तौर पर समेकित है और उसे यूरोपीय संघ से बाहर जाना और भविष्य में किसी और साम्राज्यवादी धुरी के साथ नत्थी होने का विकल्प बहुत जोखिम भरा लग रहा है। इसके अतिरिक्त भी ऐतिहासिक तौर पर इस पूँजीपति वर्ग के आर्थिक तार करीबी से यूरोपीय संघ के अग्रणी देशों से जुड़े हुए हैं। लेकिन यूनानी बुर्जुआ वर्ग का एक दूसरा अच्छे-ख़ासे आकार वाला हिस्सा भी है जो कि यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर होना चाहता है, जिसे हम "राष्ट्रवादी" हिस्सा कह सकते हैं। यह हिस्सा यूनान की मूल मुद्रा द्राख़्मा को वापस लाना चाहता है और साथ ही यूनान के ऋण की समस्या को मौद्रिक लचीलेपन या दूसरे शब्दों में कहें तो नोट छापकर हल करना चाहता है। इस दूसरे विकल्प का नतीजा यह होगा कि ऋण तो चुकता हो जायेगा और साथ ही पर्यटन के सस्ते हो जाने के कारण यूनान की पर्यटन से आय भी बढ़ेगी, लेकिन साथ ही क़ीमतें आसमान छूने लगेंगी, श्रम और सस्ता होगा क्योंकि वास्तविक आय में गिरावट आयेगी। इससे यूनान के पूँजीपति वर्ग के इस हिस्से को लाभ पहुँचेगा क्योंकि यूनानी पूँजीवाद वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा में ज़्यादा प्रतिस्पर्द्धी बनेगा। कुल मिलाकर, इस कदम से भी यूनान के पूँजीपति वर्ग के एक हिस्से को ही फ़ायदा पहुँचेगा। इस रास्ते से अगर बैंकों का राष्ट्रीकरण भी होगा तो उसका लाभ इस पूँजीपति वर्ग को ही मिलेगा क्योंकि राज्य उसके लिए सहज उपलब्ध वित्त मुहैया करायेगा। इससे केवल तात्कालिक और प्रतीतिगत समस्या का एक क्षणिक हल होगा और यूनान एक अलग किस्म के संकट के भँवर में फँसेगा। हालाँकि, यह वामपन्थी धड़ा कई कीन्सीय नुस्खों, यानी कि कल्याणकारी नीतियों को लागू करने का प्रस्ताव भी रख रहा है। लेकिन यूरोज़ोन से बाहर आने के बाद यूनान के पूँजीपति वर्ग के सामने जो संचय का संकट होगा वह ऐसी कल्याणकारी नीतियों का ख़र्च उठाने की कितनी इजाज़त देगा यह कहना मुश्किल है। कुल मिलाकर, अगर सिरिज़ा के रैडिकल वाम धड़े (जो कि वस्तुतः संशोधनवादी ही है) का रास्ता अपनाया जाता है तो भी कुछ समय बाद दूसरे रास्ते से संकट एक नये रूप में उपस्थित होगा ही। कारण यह है कि इस समय यूनान की समस्याओं का समाधान सिर्फ़ और सिर्फ़ मज़दूर क्रान्ति के ज़रिये समाजवादी व्यवस्था की स्थापना, सभी उद्योगों, खानों-खदानों, बैंकों, वित्तीय संस्थाओं का राष्ट्रीकरण ही है और सिरिज़ा में व्यवहारवादी सिप्रास धड़ा हावी हो या फिर रैडिकल वाम धड़ा, समस्या का समाधान नहीं हो सकता है।

सिरिज़ा के भीतर का वामपन्थी धड़ा अच्छी-ख़ासी ताक़त रखता है। 2013 में हुए सम्मेलन में इस धड़े को 60 सीटों पर जीत मिली थी और 30 सांसद इसी धड़े से सम्बन्ध रखते हैं। यूरो ज़ोन से अलग होने, किफ़ायतसारी की थोपी गयी नीतियों को रद्द करने के प्रश्न पर 23-24 मई को सिरिज़ा की केन्द्रीय कमेटी की बैठक में हुई वोटिंग में यह हिस्सा हारा ज़रूर लेकिन केवल 95-75 के अन्तर से, जो दिखलाता है कि सिप्रास इस धड़े को नज़रन्दाज़ करके कोई नीति निर्माण नहीं कर सकते हैं। सिप्रास अगर यूरोपीय संघ के सामने घुटने टेकने की नीति को और जारी रखते, तो जनता के हिंस्र विस्फोट तो होते ही, लेकिन साथ ही सिरिज़ा में भी फूट पड़ जाती। इसलिए जनमत संग्रह का एलान सिप्रास के लिए बाध्यता का मसला था, चयन का नहीं। हालाँकि सिप्रास ने इसमें भी चालाकी करते हुए बेलआउट की

साम्राज्यवादी त्रयी की शर्तों और सिरिज़ा द्वारा प्रस्तावित शर्तों में से एक को चुनने के लिए कहा है। यह दीगर बात है कि वास्तव में यह जनमत संग्रह बेलआउट को स्वीकार करने और नकार देने का जनमत संग्रह ही बन जायेगा क्योंकि सिरिज़ा की शर्तों पर बेलआउट को यूरोपीय संघ और आई.एम.एफ़. कभी स्वीकार नहीं करेंगे और उस सूरत में मामले की सुई फिर से उसी जगह आकर अटक जायेगी।

इस तरह से सिरिज़ा के इन दोनों धड़ों के बीच का अन्तरविरोध किसी भी रूप में पूँजीवाद के अतिक्रमण और समाजवादी क्रान्ति की बात नहीं कर रहा है।इन दोनों ही धड़ों के रास्ते दो अलग किस्म के पूँजीवादी रास्तों की बात कर रहे हैं जो आज यूनानी मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश समुदायों की समस्या का कोई हल नहीं पेश कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति यही चाहेगा कि 5 जुलाई के जनमत सर्वेक्षण में यूनानी जनता यूरोपीय संघ, आई.एम.एफ़. और ई.सी.बी. की शर्तों वाले बेलआउट के प्रस्ताव को नकार दे क्योंकि इससे यूनान में अन्तरविरोधों की तीव्रता बढ़ेगी और उनका क्रान्तिकारी दिशा में विकास होगा। लेकिन यह क्रान्तिकारी स्थिति स्वयं क्रान्ति में तब्दील नहीं हो सकती है। इसे क्रान्ति में तब्दील करने के लिए एक हिरावल पार्टी की आवश्यकता है। यूनान में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी और कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ग्रुप मौजूद हैं। लेकिन उनकी समेकित शक्ति भी अभी काफ़ी कमज़ोर है। ऐसे में यूनान में आने वाले कुछ हफ़्तों में क्या होगा यह वाकई दिलचस्प होगा और एक रूप में यह ऐतिहासिक महत्व रखता है।

एक तीसरी सम्भावना भी है। मध्यमार्गी दक्षिणपन्थी पार्टी न्यू डेमोक्रेसी ने सिप्रास के सामने 'राष्ट्रीय आम सहमति की संक्रमणकालीन सरकार' बनाने का प्रस्ताव रखा है। अगर सिरिज़ा में फूट पड़ती है और सिप्रास का धड़ा अलग होता है तो वह न्यू डेमोक्रेसी के साथ मिलकर ऐसी सरकार बना सकता है। ज़ाहिर है, यह सरकार एक संसदीय तानाशाही का प्रतिनिधित्व करेगी। सिप्रास ऐसा नहीं कर सकते, इसके प्रमाण मौजूद नहीं हैं। उल्टे सिप्रास की सरकार ने कई ऐसे नौकरशाहों को अहम पद अपनी सरकार में सौंपे हैं जो कि समारास की न्यू डेमोक्रेसी सरकार के सबसे कुख्यात चेहरे थे। सिप्रास का तर्क यह था कि उन्हें सिर्फ़ इसलिए ये पद दिये गये हैं क्योंकि वे कुशल प्रशासक हैं! ऐसे में, अगर सिप्रास को कल न्यू डेमोक्रेसी के रूप में एक कुशल सहयोगी नज़र आने लगे जो कि यूनान में पूँजीवाद की रक्षा में उनकी मदद करे, तो कोई ताज्जुब की बात नहीं होनी चाहिए। वैसे भी सिप्रास चुनाव के पहले के अपने तमाम वायदों से मुकर चुके हैं। ग़ौरतलब है कि चुनाव से पहले सिप्रास ने जो कार्यक्रम जनता के सामने पेश किया था उसमें बैंकों और बड़े उद्योगों का राष्ट्रीकरण, सामाजिक कल्याण की नीतियों को लागू करना आदि भी शामिल था। पिछले पाँच माह में सिप्रास की सरकार ने इस दिशा में कोई कदम उठाने की बजाय समारास सरकार की नीतियों को ही बदले हुए जुमले और छोटे-मोटे बदलावों के साथ जारी रखा है।

यूनान पर साम्राज्यवादी ऋण किस प्रकार अन्यायपूर्ण है?

यूनान का तथाकथित सम्प्रभु ऋण संकट वास्तव में वैश्विक साम्राज्यवादी संकट की ही अभिव्यक्ति है। यह सम्प्रभु ऋण संकट है ही नहीं, बल्कि निजी बैंकों का ऋण संकट है। 2008-9 में अमेरिकी सबप्राइम संकट के चरम पर पहुँचने के साथ यूरोप के तमाम देशों के बैंक और वित्तीय संस्थाएँ धराशायी होने लगीं। यूनान में भी तमाम बैंकों ने पाया कि उन्होंने जो 'कोलैटरल डेट ऑब्लिगेशन' पैकेज ख़रीदे थे उनमें तमाम बुरे ऋण शामिल थे। अमेरिका में

आवास बुलबुले के फूटने के साथ जब डिफॉल्ट शुरू हुए तो उसका 'चेन रिएक्शन' यूनान समेत सभी यूरोपीय देशों में भी हुआ और विशेष तौर पर उन देशों में हुआ जिन पर पहले से काफ़ी ऋण लदा हुआ था। यानी कि दक्षिणी यूरोप के तमाम देश। यह ऋण संकट पूँजीवादी अतिउत्पादन के संकट की ही एक अभिव्यक्ति है, जिससे कि पूँजीवाद ऋण-वित्त पोषित उपभोग द्वारा निपटने का प्रयास कर रहा था। क्रेडिट कार्ड ऋण और अन्य ऋणों के ज़रिये तात्कालिक तौर पर किसी एक सेक्टर में बुलबुले को फुलाया जाता है और कृत्रिम माँग पैदा करके उपभोग को बढ़ावा दिया जाता है। लेकिन ऋण को अन्त में चुकता करना ही होता है! ऋण लेने वालों की जमात में पहले अच्छी माली हालत वाले लोग ही थे और डिफॉल्ट का जोखिम आज के मुकाबले कम होता था। लेकिन यह ऋण बाज़ार कालान्तर में सन्तृप्त हो गया और इसे विस्तारित करने की आवश्यकता पैदा हुई। इसी के लिए सबप्राइम ऋण के उपकरण को ईजाद किया गया और इसे वित्तीय बाज़ारों के 'लोकतान्त्रीकरण' का नाम दिया गया! यह वह ऋण था जो शून्य बैंक बैलेंस वाले व्यक्ति को भी दिया जा सकता था और इसमें कई बार पहले छह माह तक किश्तें चुकाने से छूट भी दी जाती थी। लेकिन साथ ही इसमें ब्याज़ दरें कई बार 30 प्रतिशत तक होती थीं ताकि डिफॉल्ट होने से पहले ही कुछ ही किश्तों में मूल धन से कुछ अधिक की प्राप्ति कर ली जाय। लेकिन ज़ाहिरा तौर पर जब ये ऋण बेहद व्यापक पैमाने पर दिये गये तो एक अच्छी-ख़ासी आबादी पहली-दूसरी किश्त देने में भी अक्षम साबित हुई। और इसी के साथ शुरू हुआ डिफॉल्ट और नीलामी का सिलसिला। लेकिन अब बाज़ार में इन घरों के पर्याप्त ख़रीदार ही नहीं थे। नतीजा था तरलता का संकट। बैंकों के पास अपने खाताधारकों को पैसा देने के लिए भी धन नहीं बचा क्योंकि उनकी पूँजी घरों और कारों में फँस चुकी थी। यहीं से बैंकों का धड़ाधड़ धराशायी होना शुरू हुआ। जो पूँजीपति वर्ग पहले सरकार के हस्तक्षेप को कुफ्र मानता था, जो इस नवउदारवादी सिद्धान्त (जो कि वास्तव में दो सौ साल से भी ज़्यादा पुराना सिद्धान्त है जिसे जे.बी. से नामक अर्थशास्त्री ने दिया था और इसे 'सेज़ लॉ' के नाम से भी जाना जाता है) को मानता था कि बाज़ार को अगर बिना किसी हस्तक्षेप के छोड़ दिया जाय तो उसमें माँग और आपूर्ति स्वत: एक-दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं, वह अब दौड़ा-दौड़ा सरकार के पास पहुँचा और उससे बचाव पैकेज देने और जनता के धन, यानी कि कराधान से एकत्र सरकारी ख़ज़ाने से बैंकों और वित्तीय जुआघरों को बचाने के लिए दबाव डालने लगा। इन्हीं पूँजीपतियों की नुमाइन्दगी करने वाली सरकारों को यही करना भी था। इसी के साथ दुनिया भर के तमाम देशों में स्टिम्युलस पैकेज, बेलआउट पैकेज आदि दिये गये और सार्वजनिक ख़र्चों में कटौती करके (किफ़ायतसारी!) और सार्वजनिक ख़जानों को ख़ाली करके कैसीनो अर्थव्यवस्था को बचाने का प्रयास किया गया।

यूनान में भी बैंकों को बचाने के लिए यही कदम उठाया गया लेकिन एक दूसरे रास्ते से। 2010 में पापैण्डरू की सामाजिक-जनवादी पासोक सरकार ने साज़िशाना तरीके से बैंकों की ऋण संकट को सरकार का ऋण संकट बना दिया। यह सच है कि यूनानी सरकार पर 1980 के दशक से ही ऋण बढ़ता रहा है। लेकिन यह प्रक्रिया यूरोप के अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों में भी चली है। दूसरी बात यह कि यूनान में सार्वजनिक ऋण या सरकारी ऋण में बढ़ोत्तरी वास्तव में जनता द्वारा हुए ख़र्च या उपभोग के कारण नहीं हुई है, जो कि यूरोपीय संघ के कई देशों से काफ़ी कम था। यह बढ़ोत्तरी हुई है अतार्किक रूप से ऊँची ब्याज़ दरों के कारण। इसके अलावा, नाटो का अंग होने के कारण अत्यधिक सैन्य ख़र्च, काले धन की

समानान्तर अर्थव्यवस्था के द्वारा समृद्धि का देश के बाहर जाना, और निजी बैंकों को सरकार सहायता भी इस बढ़ते सरकारी ऋण का कारण थी। यूरो को अपनाने के बाद निजी ऋणों में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी हुई और इसके कारण तमाम निजी बैंक (यूनानी भी और अन्य यूरोपीय बैंक भी) आने वाले वित्तीय जोखिम के सामने अत्यधिक अरक्षित होते गये। 2010 में पापैण्डरू सरकार ने बैंकों के ऋण संकट को सरकारी ऋण संकट में तब्दील करने के लिए बयान दिया कि यूनानी सरकार लम्बे अरसे से अपने ऋण के आकार का ग़लत आकलन पेश करती रही है और ऋण अब इतना बढ़ गया है कि सरकार को उसकी किश्तें चुकाने के लिए भी अपने कर्मचारियों का वेतन तक रोकना पड़ सकता है। इसके साथ ही 2010 यूनान के लिए यूरोपीय संघ, आई.एम.एफ़. और ई.सी.बी. की त्रयी ने बेलआउट पैकेज की शुरुआत की, लेकिन इस शर्त पर कि यूनान किफ़ायतसारी की नीतियों को लागू करेगा। यानी कि यूनानी सरकार सामाजिक मदों में होने वाले ख़र्चों में कटौती करेगी, पेंशन कम करेगी, मज़दूरी दरें कम करेगी, श्रम बाज़ार को लचीला बनायेगा, शिक्षा, चिकित्सा व सामाजिक सुरक्षा के मदों में भारी कटौती करेगी। 2010 से लेकर अब तक यूनान में जारी इन नीतियों ने पूरे यूनानी समाज को भयंकर तबाही, बरबादी, ग़रीब और बेरोज़गारी की ओर धकेला है और अब जनता का धैर्य जवाब दे रहा है। आर्थिक संकट अपने आपको सामाजिक और राजनीतिक संकट के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है।

अगर हम 2010 से अब तक यूनान को मिले साम्राज्यवादी ऋण के आकार और उसके ख़र्च के मदों पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि इसका बेहद छोटा हिस्सा जनता पर ख़र्च हुआ और अधिकांश पुराने ऋणों की किश्तें चुकाने पर ही ख़र्च हुआ है। दूसरे शब्दों में इस बेलआउट पैकेज से भी तमाम निजी बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और यूरोपीय संघ, ई.सी.बी. व आई.एम.एफ़. ने जमकर कमाई की है! मार्च 2010 से लेकर जून 2013 तक साम्राज्यवादी त्रयी ने यूनान को 206.9 अरब यूरो का कर्ज़ दिया। इसमें से 28 प्रतिशत का इस्तेमाल यूनानी बैंकों को तरलता के संकट से उबारने के लिए हुआ, यानी, दीवालिया हो चुके बैंकों यह पैसा दिया गया। करीब 49 प्रतिशत हिस्सा सीधे यूनान के ऋणदाताओं के पास किश्तों के भुगतान के रूप में चला गया, जिनमें मुख्य तौर पर जर्मन और फ्रांसीसी बैंक शामिल थे। कहने के लिए 22 प्रतिशत राष्ट्रीय बजट में गया, लेकिन अगर इसे भी अलग-अलग करके देखें तो पाते हैं कि इसमें से 16 प्रतिशत कर्ज़ पर ब्याज़ के रूप में साम्राज्यवादी वित्तीय एजेंसियों को चुका दिया गया। बाकी बचा 6 प्रतिशत यानी लगभग 12.1 अरब यूरो। इस 12.1 अरब यूरो में से 10 प्रतिशत सैन्य ख़र्च में चला गया। यानी कि जनता के ऊपर जो ख़र्च हुआ वह नगण्य था! 2008 में यूनान का ऋण उसके सकल घरेलू उत्पाद का 113.9 प्रतिशत था जो 2013 में बढ़कर 161 प्रतिशत हो चुका था! सामाजिक ख़र्चों में कटौती के कारण जनता के उपभोग और माँग में बेहद भारी गिरावट आयी है। इसके कारण पूरे देश की अर्थव्यवस्था का आकार ही सिंकुड़ गया है। 2008 से लेकर 2013 के बीच यूनान के सकल घरेलू उत्पाद में 31 प्रतिशत की गिरावट आयी है, जिस उदार से उदार अर्थशास्त्री महामन्दी क़रार देगा। आज नौजवानों के बीच बेरोज़गारी 60 प्रतिशत के करीब है।

यूनान के समक्ष क्या विकल्प है?

29 जून को एलेक्सिस सिप्रास ने जनमत संग्रह की घोषणा की है। 5 जुलाई को यह जनमत संग्रह होगा। लेकिन इसमें जनता मुक्त रूप से अपनी राय व्यक्त कर पायेगी इसकी

उम्मीद कम है। कारण यह है कि यह जनमत संग्रह बैंकों के राष्ट्रीकरण के बिना करना ही व्यर्थ है। बैंकों के राष्ट्रीकरण के बिना जनता के आर्थिक हालात पर साम्राज्यवादी नियन्त्रण बरकरार है। पेंशन, वेतन आदि के लिए लोग 30 जून की रात तक एटीएम मशीनों के सामने लाइन लगाये खड़े थे। ऐसे में, कालान्तर में उनमें यह राय भी बन सकती है कि साम्राज्यवादी त्रयी की शर्तों पर बेलआउट पैकेज को 'हाँ' कह दिया जाय।इस प्रकार यूरोपीय संघ, आई.एम.एफ़. और ई.सी.बी. लगातार लोगों की बाँह मरोड़ रहे हैं और दूसरी ओर यूनानी जनता में एक प्रचार अभियान चला रहे हैं कि यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर जाने का अर्थ होगा पूर्ण तबाही। ऐसे में, जनता मुक्त रूप से अपनी राय कैसे व्यक्त कर सकती है? जनता खुलकर और स्वतन्त्रता के साथ अपना वोट तब दे सकती है जब उसे ब्लैकमेल करने का कोई 'लीवर' यूरोपीय संघ और आई.एम.एफ़. के हाथ में न हो। लेकिन इस बात से वाकिफ़ होते हुए भी सिरिज़ा ने बिना बैंकों के राष्ट्रीकरण के (जो कि उसका चुनावी वायदा भी था) जनमत संग्रह का एलान कर दिया। इसके बावजूद अभी भी जनता का बड़ा हिस्सा अभी तक इस जनमत संग्रह में साम्राज्यवादी त्रयी के बेलआउट पैकेज और शर्तों को नकारने के पक्ष में ही है, लेकिन 5 जुलाई तक यह स्थिति बदल नहीं जायेगी इसकी कोई गारण्टी नहीं है क्योंकि एक अच्छी-ख़ासी आबादी के पास अपनी ज़रूरत के सामान ख़रीदने के लिए भी नकदी की कमी है। सिरिज़ा सरकार ने एक और चालाकी भी की है। उसने जनमत संग्रह में जो दो विकल्प पेश किये हैं उनमें यूरोज़ोन व यूरोपीय संघ से बाहर जाने का कोई विकल्प नहीं है! यानी कि सिरिज़ा के लिए अभी भी यह प्रश्न एजेण्डे पर ही नहीं है। दूसरा विकल्प यह है कि जनता सिरिज़ा सरकार द्वारा बनाये गये प्रस्ताव को चुने, लेकिन इससे क्या फर्क पड़ेगा जब यूरोपीय संघ उसे स्वीकार ही नहीं करेगा?दूसरी बात यह है कि सिरिज़ा के प्रस्ताव में भी तमाम मज़दूर-विरोधी नीतियाँ प्रस्तावित हैं और उसमें तथा साम्राज्यवादी त्रयी के प्रस्ताव में महज़ परिमाणात्मक फर्क ही है। ऐसे में, जनमत संग्रह स्वयं एक प्रहसन ही साबित होगा और ज़्यादा से ज़्यादा से साम्राज्यवादी त्रयी के बरक्स सिप्रास की मोलभाव की ताक़त बढ़ाने का एक उपकरण साबित हो सकता है, लेकिन उस सूरत में भी जनता को कुछ नहीं हासिल होगा। लेकिन चूँकि तमाम दबाव के कारण जनता ने इसमें 'नहीं' कहने का मन बनाया हुआ है, इसलिए सिप्रास की मुश्किलें यहाँ ख़त्म नहीं होतीं। इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि सिप्रास आख़िरी मौके पर जनमत संग्रह के पहले ही यूरोपीय संघ के सामने घुटने टेक दें और उनकी माँगों को स्वीकार कर लें। लेकिन उसके बाद सिरिज़ा पार्टी और उसकी सरकार का भविष्य अधर में पड़ेगा। क्योंकि बेहद जल्द ही जनता के बीच से सिरिज़ा की इस ग़द्दारी के ख़िलाफ़ हिंस्र प्रतिक्रिया सामने आयेगी। यानी कि सिरिज़ा के सामने इस संकट के समाधान का कोई रास्ता नहीं है, चाहे वह जनमत संग्रह करवाये या न करवाये।

सिरिज़ा के रैडिकल वाम धड़े का विकल्प भी कोई विकल्प नहीं है, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। यह धड़ा बैंकों के राष्ट्रीकरण की बात तो कर रहा है मगर यह समूची अर्थव्यवस्था के मज़दूर नियन्त्रण और समाजवादी नियोजन की बात नहीं कर रहा है। यह राष्ट्रवादी बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं की नुमाइन्दगी करते हुए यूरोपीय संघ व यूरो से बाहर आने, द्राख़्मा की पुनर्स्थापना करने, बैंकों के राष्ट्रीकरण करने की बात कर रहा है। यह धड़ा ऋण को रद्द करने की बात भी नहीं कर रहा है, जो कि एक न्यायपूर्ण नारा होता। यह केवल यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर यूनानी पूँजीवाद का एक अलग रास्ता पेश कर रहा है। अगर

यूनान इस रास्ते पर चलता और और आगे चलकर रूस-चीन धुरी की तरफ़ झुकता है तो निश्चित तौर पर साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध तीखे होंगे लेकिन यूनान के पैमाने पर समस्याओं का हल इस रास्ते से नहीं निकलने वाला है। यह भी हो सकता है कि अगर यह धड़ा देश में सत्ता में काबिज़ होता है और अपने रास्ते पर अमल करता है तो यूरोपीय संघ की साम्राज्यवादी ताक़तें अमेरिकी सहयोग के साथ यूनान में कोई सैन्य तख़्तापलट करवाने का प्रयास करें। जो भी हो सिरिज़ा के रैडिकल वाम धड़े के पास भी यूनान के व्यवस्थागत संकट का कोई समाधान नहीं है क्योंकि वह भी पूँजीवाद के सीमान्त का अतिक्रमण नहीं करना चाहता है।

आज यूनान के संकट का केवल एक समाधान है और वह है मज़दूर क्रान्ति और समाजवादी व्यवस्था। तात्कालिक तौर पर यूरोज़ोन व यूरोपीय संघ से बाहर आने से अपने आप में कोई समस्या हल नहीं होती बशर्ते कि उसमें निम्न चीज़ें शामिल न हों: पहला, सभी साम्राज्यवादी कर्जों को रद्द करना; दूसरा, सभी बैंकों व वित्तीय संस्थानों के साथ-साथ सभी उद्योगों का राष्ट्रीकरण और उन्हें मज़दूर नियन्त्रण के मातहत रखा जाना; तीसरा, राज्यसत्ता में पर मज़दूर वर्ग का नियन्त्रण क्योंकि इसके बिना उपरोक्त दो कार्य भी असम्भव हैं। इन तीन चीज़ों के बिना महज़ यूरोज़ोन व यूरोपीय संघ से बाहर आने से कुछ भी नहीं होगा, केवल साम्राज्यवाद के आन्तरिक समीकरणों में कुछ फर्क आ जायेगा। यह कार्यभार केवल एक ही सूरत में पूरा हो सकता है: एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के ज़रिये जो कि मज़दूर वर्ग की बिखरी शक्तियों को संगठित कर सके और पूँजीवाद पर निर्णायक प्रहार कर सके। यूनान में मज़दूर आन्दोलन में भी एक ठहराव की स्थिति है। मज़दूर वर्ग के स्वत:स्फूर्त आन्दोलन तो होते रहे हैं और आगे भी होंगे। लेकिन संशोधनवादी नेतृत्व वाली ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग को धोखा देने का काम कर रही हैं। संकट की शुरुआत के बाद से इन ट्रेड यूनियनों ने कई बार प्रतीकात्मक आम हड़तालें की हैं। लेकिन एक-दो दिनों की ये प्रतीकात्मक आम हड़तालें वास्तव में मज़दूर वर्ग के गुस्से और असन्तोष को क्रमिक प्रक्रिया में निकालने का ही काम करती रही हैं। आज की ज़रूरत है यूनान में एक अनिश्चितकालीन आम हड़ताल। यानी आर्थिक हड़तालों से राजनीतिक हड़ताल की ओर। लेकिन ऐसी राजनीतिक आम हड़ताल को संगठित करने के लिए मज़दूर वर्ग की जिस हिरावल अगुवा ताक़त की ज़रूरत है और अभी फिलहाल ऐसी कोई ताक़त यूनान में नज़र नहीं आ रही है। लेकिन यह भी सही है कि यूनान में ऐसी ताक़त के जल्दी संगठित होने की सम्भावना मध्य-पूर्व के देशों, विशेषकर मिस्र के मुकाबले कुछ ज़्यादा है। साथ ही, अगर ऐसी कोई ताक़त संगठित होकर यूनान को राजनीतिक आम हड़ताल और आम बग़ावत के रास्ते मज़दूर क्रान्ति और मज़दूर सत्ता तक ले जा सकी, तो उसके टिक पाने की क्षमता भी कुछ अर्थों में यूनान में अपेक्षाकृत ज़्यादा है। लेकिन अगर क्रान्तिकारी स्थिति यूनान में बेहद करीब है और अगर तब तक कोई ऐसी ताक़त संगठित नहीं हो सकी तो यूनानी त्रासदी का अन्तिम अध्याय, उसका भरतवाक्य फिर से एक ऐतिहासिक खेद के रूप में ख़त्म होगा। दुनिया के मज़दूर आन्दोलन और इतिहास की निगाहें आज यूनान में इस सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील होने पर टिकी हुई हैं।

(1 जुलाई, 2015)

भूमण्डलीकरण के दौर में तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा

● आनन्द सिंह

पिछली सदी के अन्तिम दशक की शुरुआत में सोवियत संघ के नामधारी समाजवाद के पतन के बाद से न सिर्फ़ बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने बल्कि बहुतेरे मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने अमेरिका के एकछत्र साम्राज्य और विश्व-पूँजीवाद की एकध्रुवीयता को एक स्थायी परिघटना मानते हुए भाँति-भाँति के सिद्धान्त गढ़े और भूमण्डलीकरण के दौर में बदली हुई परिस्थितियों का हवाला देते हुए साम्राज्यवाद विषयक लेनिन के सूत्रीकरण को मौजूदा विश्व में अप्रासंगिक बताने की मानो होड़ सी लग गयी। कई सिद्धान्तकारों ने काउत्स्की के अति-साम्राज्यवाद (अल्ट्रा-इम्पीरियलिज़्म) की थीसिस का आधुनिक संस्करण प्रस्तुत करते हुए यह भी कहना शुरू कर दिया कि भूमण्डीकरण के युग में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पधर्ा स्थायी एवं अनुत्क्रमणीय तौर से ख़त्म हो गई है और विश्व पूँजीवाद अन्तरविरोधों से रहित एक शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के दौर में प्रविष्ट हो चुका है। लेकिन विश्व पटल पर पिछले कुछ वर्षों के घटनाक्रम इस ओर साफ़ इशारा कर रहे हैं कि सतह पर दिखने वाली अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व की एकध्रुवीयता एवं विश्व-पूँजीवाद का एकाश्मी स्वरूप के पीछे अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने की ज़मीन भी तैयार हो रही है। अमेरिका के नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे को कड़ी चुनौती देता हुआ और उससे तगड़ी प्रतिस्पर्धा करता हुआ चीन और रूस के नेतृत्व में नये साम्राज्यवादी खेमे का उभार समय बीतने के साथ ही साथ दिन के उजाले की तरह दिखायी पड़ता जा रहा है। यूक्रेन व

मध्य-पूर्व में जारी अस्थिरता व विनाशकारी युद्धोन्मादभी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने एवं विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में पैदा होने वाली दरारों एवं दरकनों की ही निशानी है।

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व में ह्रास

अमेरिका की सैन्य शक्तिमत्ता की सर्वोच्चता अक्सर यह भ्रम पैदा करती है कि विश्व-स्तर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद का वर्चस्व बढ़ रहा है। सोवियत संघ के विघटन के बाद से इस भ्रम के फैलने का आधार और भी ज़्यादा मजबूत हुआ है। परन्तु जब हम सतह पर दिखने वाले आभासी यथार्थ को भेदकर वास्तविक यथार्थ तक पहुँचकर किसी परिघटना का विश्लेषण करने वाले मार्क्सवादी विज्ञान की रोशनी में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्व में आया अमेरिकी साम्राज्यवादी वर्चस्व 1970 के दशक की शुरुआत में डॉलर-गोल्ड मानक के ढहने के साथ ही ढलान पर बढ़ चुका था और समय बीतने के साथ ही साथ ही विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में उसका वर्चस्व कम होता आया है।

विश्व पूँजीवाद में अमेरिकी वर्चस्व के ह्रास को चन्द आँकड़ों के ज़रिये आसानी से समझा जा सकता है। विश्व बैंक द्वारा जारी आँकड़ों के अनुसार जहाँ 1960 में दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में अमेरिका का हिस्सा 38.4 था वहीं 2012 में यह घटकर 22.5 प्रतिशत रह गया। ग़ौरतलब है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद अमेरिका की हिस्सेदारी 56.4 प्रतिशत थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से दुनिया के जीडीपी में जर्मनी, फ्रांस एवं इटली की हिस्सेदारी बढ़ी, हालाँकि पिछले डेढ़ दशकों में इन साम्राज्यवादी देशों की हिस्सेदारी कम हुई है। हाल के वर्षों में चीन ने विश्व पूँजीवादी उत्पादन में अपनी हिस्सेदारी अभूतपूर्व रूप से बढ़ायी है। यही नहीं अमेरिकी अर्थव्यवस्था में अधिकांश निवेश वित्तीय सेवा क्षेत्र में ही हुआ है जो उसके परजीवी चरित्र की निशानी है। यदि संयुक्त राष्ट्र के आँकड़े के अनुसार मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र में पिछले 40 वर्षों में अमेरिकी अर्थव्यवस्था की हिस्सेदारी 26 प्रतिशत से घटकर 20 प्रतिशत रह गई। 2007 से जारी महामन्दी ने अमेरिकी अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी है और इस महामन्दी से निकट भविष्य में निजात मिलने के कोई आसार भी नहीं नज़र आ रहे हैं।

इराक़ एवं अफ़गानिस्तान में सैन्य हस्तक्षेपों में भी अमेरिकी साम्राज्यवादियों के मंसूबे पर पानी फिरने से उसकी सैन्य शक्तिमत्ता पर भी सवालिया निशान खड़े हो गये हैं। एक दशक से भी लम्बे समय से जारी तथाकथित आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध ने आतंकवाद को ख़त्म करने की बजाय और अधिक भयावह रूप दिया है। अल क़ायदा को ख़त्म करना तो दूर अमेरिकी साम्राज्यवादी नीतियों ने इस्लामिक स्टेट, बोको हरम जैसे कई भस्मासुरों को पैदा किया है जो अब अपने आका को ही काट खाने को अमादा हैं।

एक साम्राज्यवादी देश के रूप में चीन का उभार

माओ की मृत्यु के पश्चात देंग के नेतृत्व में चीन ने समाजवाद से रिवर्स गियर लगाते हुए पूँजीवाद की ओर रुख़ किया। इतिहास की इस पश्चगति से जहाँ एक ओर आम मेहनतकश आबादी का जीवन दुरूह हो गया वहीं चीन दुनिया के सबसे तेज़ गति से विकसित होने वाले पूँजीवादी देश के रूप में उभरा। यही नहीं, नयी सदी में वह एक साम्राज्यवादी देश के रूप में

तेज़ी से उभरा है और अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व को तगड़ी चुनौती दे रहा है। आज चीन की अर्थव्यवस्था दुनिया में दूसरे नम्बर की अर्थव्यवस्था है और अमेरिका के थिंक टैंकों के ही आकलन बता रहे हैं कि कुछ ही वर्षों में यह अमेरिका को पछाड़कर दुनिया की सबसे बड़ी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बन जायेगी। पिछले 40 वर्षों में दुनिया के कुल मैन्युफैक्चरिंग मूल्य में चीन की हिस्सेदारी 1 प्रतिशत से बढ़कर 18 प्रतिशत के आसपास पहुँच चुकी है। हालाँकि चीन के राज्य पूँजीवाद में अभी भी सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का ही दबदबा है, लेकिन 1990 के दशक से वहाँ भी निजीकरण की प्रक्रिया ने गति पकड़ी है और सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों में भी निजी कम्पनियों जैसा ही तानाशाहाना प्रबन्धन काम करता है।

दुनिया के दस सबसे बड़े बैंकों में चार बैंक चीन के हैं। यह तथ्य विश्व वित्तीय बाज़ार में चीन का बढ़ते दबदबे की ओर इशारा करता है। औद्योगिक पूँजी और बैंकिंग पूँजी के विलय से चीन में भी वित्तीय पूँजी का एक विराट साम्राज्य खड़ा हुआ है जिसकी अहमियत चीन की अर्थव्यवस्था में समय बीतने के साथ बढ़ती ही जा रही है। वित्तीय पूँजी के अस्तित्व के अलावा साम्राज्यवाद की अभिलाक्षणिकता के रूप में लेनिन ने पूँजी निर्यात को भी प्रमुखता दी थी। इस पैमाने की कसौटी पर जब हम चीन की अर्थव्यवस्था को परखते हैं तो पाते हैं कि पूँजी के निर्यात के मामले में भी चीन की अर्थव्यवस्था ने पिछले कुछ वर्षों में ज़बरदस्त विकास किया है जो उसके साम्राज्यवादी चरित्र को स्पष्ट करता है। 2007 में शुरू हुई मौजूदा विश्वव्यापी महामन्दी के पहले से ही चीन ने 'गो ग्लोबल' ('दुनिया की ओर जाओ') नीति के तहत अपनी अर्थव्यवस्था को सस्ते मालों के निर्यात वाली अर्थव्यवस्था से पूँजी निर्यात वाली अर्थव्यवस्था की ओर मोड़ना शुरू कर दिया था। महामन्दी के बाद से तो इस दिशा में वह अभूतपूर्व तेज़ी के साथ आगे बढ़ा है। वर्ष 2011 में चीन ने कुल 4.6 खरब डॉलर की पूँजी निर्यात की थी। यह बात भी सच है कि चीन की अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी का आयात भी बड़े पैमाने पर होता है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से चीन का पूँजी निर्यात पूँजी आयात के मुकाबले कहीं तेज़ी से बढ़ा है और आज चीन नेट पूँजी निर्यातक देश बन चुका है। चीन के पूँजी निर्यात में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एवं पोर्टफोलियो निवेश दोनों ही शामिल हैं। चीन से निर्यात किये जाने वाले पोर्टफोलियो निवेश का बहुत बड़ा हिस्सा अमेरिका के ट्रेज़री बॉण्ड के रूप में होता है। इस प्रकार के बॉण्ड में चीन के निवेश के ज़रिये अमेरिकी सरकार चीन की कर्ज़दार बन गई है जो चीन के बढ़ते प्रभुत्व को ही दर्शाता है।

आज चीन पश्चिमी विकसित मुल्कों से लेकर एशिया, अफ्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों सहित दुनिया के कोने-कोने में अपनी पूँजी लगा रहा है। चीन की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अमेरिका की कई कम्पनियों में निवेश कर रही हैं और तमाम कम्पनियों को ख़रीद भी रही हैं जिससे अमेरिकी पूँजीपति सकते में आ गए हैं। ऑस्ट्रेलिया में चीन ने खनन, तेल, गैस व अन्य प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में बड़े पैमाने पर निवेश किया है और हाल के वर्षों में उसने खाद्य, एग्रीबिज़नेस, रियल स्टेट, नवीकरणीय ऊर्जा, हाई टेक एवं वित्तीय सेवाओं में भी निवेश करना शुरू किया है। इसी तरह से कनाडा में भी चीन तेल, गैस व खनन में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। ब्राजील में चीन का निवेश मुख्य रूप से ऊर्जा एवं धातु उद्योग में हो रहा है। इसी तरह से लातिन अमेरिका के अन्य मुल्कों जैसे पेरू, अर्जेंटीना, इक्वाडोर आदि में चीन ऊर्जा एवं अवरचनागत क्षेत्र में पूँजी लगा रहा है। अपने पड़ोसी मुल्क वियतनाम में चीन लकड़ी, रबर, खाद्य फसलों एवं खनिज सम्पदा के दोहन में बेतहाशा निवेश कर रहा है और वहाँ से मालों की ढोकर चीन लाने के लिए बड़े पैमाने पर सड़कों एवं रेलमार्ग के विकास में

निवेश कर रहा है। इसी तरह चीन हिन्द चीन एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के मुल्कों में भी बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। दक्षिण एशिया में नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका में भी चीन पूँजी निवेश कर रहा है। नेपाल में चीन पूँजी निवेश के मामले में भारत को भी पीछे छोड़ चुका है। मोदी की हालिया चीन यात्रा में चीन ने 'मेक-इन-इण्डिया' को भारत में पूँजी निर्यात के अवसर के रूप में हाथोंहाथ लिया है।

अफ्रीका में चीन पूँजी निवेश करने पर विशेष ज़ोर दे रहा है। ग़ौरतलब है कि माओकालीन चीन अफ्रीकी मुल्कों में बुनियादी ढाँचे के निर्माण से लेकर खनन आदि में निवेश करके मित्रतापूर्ण मदद करता था। लेकिन आज का चीन इस पुरानी दोस्ती का इस्तेमाल अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश करके अपनी अर्थव्यवस्था को सरपट रफ़्तार से दौड़ाने के लिए ज़रूरी तेल और खनिज सम्पदा की लूट के लिए कर रहा है। चीन का पूँजी निवेश नाइजीरिया, ज़ाम्बिया, घाना, लिबेरिया, रवाण्डा, सूडान जैसे अफ्रीकी मुल्कों में सबसे ज़्यादा है। इस वक़्त समूचे अफ्रीका में चीन की 800 से भी अधिक कम्पनियाँ काम कर रही हैं और वहाँ रहने वाले चीनी नागरिकों की संख्या 10 लाख से भी अधिक है। ये तथ्य अपने आप में अफ्रीका में चीन की साम्राज्यवादी दख़ल को दिखाने के लिए पर्याप्त हैं।

सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन के बाद रूस का नये सिरे से एक साम्राज्यवादी देश के रूप में उभार

स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में पूँजीवादी पुर्नस्थापना होने के बाद से रूस सोवियत संघ के अन्य देशों के उत्पीड़क के रूप में उभरा। इसके अलावा दुनिया के अन्य देशों में भी उसने साम्राज्यवादी विस्तार की नीतियाँ अमल में लायीं एवं अमेरिका के नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे के बरक्स एक सामाजिक साम्राज्यवादी खेमे का नेतृत्व किया। परन्तु 1990 के दशक की शुरुआत में सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस की अर्थव्यवस्था औंधे मुँह गिर पड़ी। लेकिन नयी सदी आते-आते रूस की अर्थव्यवस्था एक बार फिर उठ खड़ी हुई और अब हालात यह है कि रूस एक बार फिर से पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे के बरक्स एक नये साम्राज्यवादी खेमे की नेतृत्वकारी ताकत के रूप में उभर रहा है। आज रूस सिर्फ़ कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स (पूर्व सोवियत संघ में शामिल देशों का समूह) में ही नहीं बल्कि बल्कि यूरोप, एशिया, अमेरिका एवं अफ्रीका के देशों में भी अपनी पूँजी का निर्यात कर रहा है। यूरोप के कई देशों में रूस गैस पाइपलाइन के ज़रिये गैस की सप्लाई करता है। आज उसके पास लगभग 60 अरब डॉलर का विदेशी मुद्रा भण्डार है दुनिया के तमाम मुल्कों में उसका कुल पूँजी निवेश 200 अरब डॉलर से भी अधिक है। ये सभी तथ्य ये साफ़ इशारा कर रहे हैं कि रूस एक बार फिर से अमेरिकी साम्राज्यवाद से होड़ करने की स्थिति में पहुँच चुका है।

तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की कुछ अभिव्यक्तियाँ

बढ़ती हुई और लगातार तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का प्रमुख लक्षण ब्राजील, रूस, भारत, चीन व दक्षिण अफ्रीका जैसे मुल्कों के समूह ब्रिक्स के रूप में दिखाई पड़ रहा है। ग़ौरतलब है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दौर में अस्तित्व में आयी विश्वबैंक

एवं आईएमएफ जैसी संस्थाओं में अमेरिका का अत्यधिक दबदबा है और उनमें उसके वोटिंग अधिकार विश्व अर्थव्यवस्था में उसकी हिस्सेदारी से कहीं ज़्यादा हैं। इसको लेकर चीन व अन्य देश आपत्ति जताते रहे हैं। हाल ही में ब्रिक्स द्वारा विश्वबैंक (एवं आईएमएफ) के विकल्प के रूप में एक अन्तरराष्ट्रीय विकास बैंक की स्थापना की कवायदें की जा रही हैं। 2013 में डर्बन में हुए ब्रिक्स के शिखर सम्मेलन में ब्रिक्स के सदस्य देशों ने ऐसे बैंक की स्थापना पर सहमति जतायी। हालाँकि ब्रिक्स के देशों में आपस में भी तमाम मतभेद हैं लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स एक नयी साम्राज्यवादी धुरी तैयार करने को लेकर उनमें आम सहमति है। यहाँ तक बात चल रही है कि ब्रिक्स के देश विदेशी व्यापार में डॉलर की बजाय एक दूसरे की मुद्रा में व्यापार कर सकते हैं। भविष्य में इंडोनेशिया, थाइलैंड, मैक्सिको जैसे देशों को भी ब्रिक्स समूह में शामिल करने की क़वायदें चल रही हैं। तुर्की भी यूरोपीय संघ में शामिल न होने के परिदृश्य में ब्रिक्स की ओर क़रीबी बढ़ा सकता है। यहाँ तक कि दक्षिण कोरिया जैसा देश भी इस नये समूह से क़रीबी बढ़ाने की सोच रहा है। स्पष्ट है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स एक नया साम्राज्यवादी खेमा न सिर्फ़ अस्तित्व में आ चुका है बल्कि इस नये खेमे का विस्तार भी हो रहा है।

यूरेशिया इन दिनों अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का मुख्य क्षेत्र बना हुआ है जहाँ साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध युद्ध जैसी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं। यूक्रेन में रूस एवं नाटो के बीच हाल के वर्षों में जो तनाव की स्थिति बनी हुई है वह साम्राज्यवाद में आयी दरारों एवं दरकनों की ओर ही इशारा कर रही हैं। ग़ौरतलब है कि नाटो के देशों में आपस में भी अन्तरविरोध काम कर रहे हैं। यूरोपीय देश अमेरिका द्वारा रूस पर लगाये गये प्रतिबन्धों को जारी रखने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखा रहे हैं क्योंकि रूस यूरोपीय देशों में तेल और गैस की सप्लाई का प्रमुख स्रोत एवं यूरोपीय मालों के लिए एक बड़ा बाज़ार भी है। ग़ौरतलब है कि अमेरिका से शुरू हुई मौजूदा महामन्दी ने यूरोप के मुल्कों में ज़बरदस्त कहर ढाया है और यूरोपीय संघ जो कभी अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व को चुनौती देने के लिए यूरोपीय साम्राज्यवादी खेमे के उभार का सूचक था आज काफ़ी कमज़ोर हो चुका है। विशेषकर दक्षिण यूरोप के देशों जैसे यूनान, इटली, स्पेन और पुर्तगाल की अर्थव्यवस्थायें खस्ताहाल हो चुकी हैं। यूरोपीय मुल्क इस महामन्दी के लिए कहीं न कहीं अमेरिका को ज़िम्मेदार मानते हैं और इसलिए भी नाटो के देशों में आपस में तमाम अन्तरविरोध उभर रहे हैं। अमेरिका यूरोप को अपनी ओर खींचने के लिए ट्रांस अटलांटिक ट्रेड एंड इनवेस्टमेंट पार्टनरशिप डील पर काम कर रह है, लेकिन यूरोपीय देश इस डील को लेकर भी बहुत उत्साहित नहीं दिख रहे हैं।

रूस ने अपने ऊपर लगे प्रतिबन्ध का सामना करने के लिए चीन के साथ व्यापार सम्बन्ध एवं ज्वाइंट वेंचर बनाने की दिशा में क़दम बढ़ाया है। हाल ही में रूस और चीन के बीच एक बड़ा गैस समझौता हुआ है जिसके तहत रूस डॉलर की बजाय चीन की मुद्रा युआन में गैस की क़ीमतें लेने के लिए तैयार हो गया है। चीन से यूरोप तक एक आधुनिक 'सिल्करोड' बनाने की क़वायदें भी चल रही हैं जो चीन के साम्राज्यवादी उभार की ओर ही इंगित कर रही हैं।

यूरेशिया के पूर्वी हिस्से यानी प्रशान्त महासागर से लगे हिस्से की बात करें तो वहाँ पूर्वी एवं दक्षिणी चीन सागर में चीन द्वारा तेल और गैस के संसाधनों पर क़ब्ज़ा करने की वजह से अमेरिका सकते में आ गया है। यही वजह है कि वह इस क्षेत्र में स्थित देशों के साथ जल्द

से जल्द ट्रांस पैसिफिक पार्टनरशिप एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर करवाना चाहता है ताकि वह चीन की बढ़ती आर्थिक ताक़त को काबू में कर सके। लेकिन चीन ट्रांस पैसिफिक के देशों के साथ व्यापारिक संधियों पर काम कर रहा है और अमेरिका की मुसीबतें बढ़ा रहा है। चीन को सैन्य रूप में घेरने के लिए अमेरिका प्रशान्त महासागर से लगे देशों के साथ रिमपैक नामक एक सैन्य समझौते पर भी काम कर रहा है। चीन और रूस का खेमा भी शंघाई कोऑपरेशन ऑर्गनाइज़ेशन नाम से एक बहुदेशीय सैन्य संगठन पहले ही बना चुके हैं जिसमें मध्य एशिया के कई देशों को शामिल किया गया है। ये सैन्य गुट भी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने की ओर ही इंगित कर रहे हैं।

मध्य-पूर्व भी हाल के वर्षों में दुनिया का सबसे अधिक हिंसाग्रस्त हिस्सा बना हुआ है। गाज़ा में इज़राइली बर्बर हमला, लीबिया व सीरिया में जारी गृहयुद्ध, इस्लामिक स्टेट का उभार, अरब देशों द्वारा यमन पर हमला ये सभी साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों के तीखे होने की निशानी हैं। दरअसल मध्य-पूर्व के देशों के शासकों एवं वहाँ की जनता के बीच अन्तरविरोध, विभिन्न देशों के शासकों के बीच के अन्तरविरोध एवं साम्राज्यवादी खेमों के बीच के अन्तरविरोध, ये तीनों एक साथ काम कर रहे हैं। अरब के मुल्कों में आम बग़ावतों पर काबू पाने की कोशिश में लगा अमेरिकी साम्राज्यवाद अपने ही बुने जाल में फँसता जा रहा है। सीरिया में रूस की सरपरस्ती वाली असद सरकार का तख़्तापलट करने के मक़सद से अमेरिका ने इस्लामिक स्टेट के आतंकियों का सहारा लिया था, लेकिन अब ये जिहादी आतंकवादी खुद अपने आका को काट खाने पर अमादा हैं। अरब के देशों में ईरान, चीन व रूस की पैठ बढ़ने से अमेरिका ख़ौफ़ज़दा है। चीन ने अरब के देशों में तेल व गैस की खोज के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगायी है जो अमेरिका के लिए चिन्ता का सबब है। इसी तरीके से चीन ने अफ़्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों में तेल, गैस, लकड़ी, धातु एवं अन्य खनिज संसाधनों का दोहन करने के लिए एवं अपने मालों के लिए बाज़ार का विस्तार करने के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगायी है जो अमेरिकी साम्राज्यवादी वर्चस्व की कड़ी चुनौती दे रहा है।

लेनिन ने कहा था कि तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा युद्धों को जन्म देती है। भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्रपारीय निगमों के अस्तित्व में आने की वजह से दुनिया के साम्राज्यवादी देशों की पूँजी चूँकि दुनिया भर में लगी हुई है और दुनिया के कई मुल्क इस समय परमाणु अस्त्र से लैस हैं इसलिए विश्वयुद्ध होने की सम्भावना तो बहुत क्षीण हो चुकी है, परन्तु हाल के वर्षों के घटनाक्रम इस बात की ओर साफ़ इशारा कर रहे हैं कि तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा क्षेत्रीय स्तर पर पहले से कहीं विनाशकारी युद्धों को जन्म देगी। इसके कुछ नमूने हमें गाज़ा, सीरिया, यमन आदि में दिख रहे हैं। साम्राज्यवाद के इस दौर में आज पूँजीवाद ने मानवता को जिस क़दर तबाही के कगार पर ला खड़ा किया है उससे निजात सिर्फ़ सर्वहारा क्रान्ति ही दिला सकती है। इसलिए साम्राज्यवाद के बढ़ते अन्तरविरोधों के मद्देनज़र दुनिया भर में सर्वहारा क्रान्ति की पक्षधर ताक़तों को अपना पूरा ज़ोर अपनी मनोगत कमज़ोरियों को दूर करके युद्धों के सिलसिले को क्रान्ति के बैरियर से तोड़ देने के लिए जीजान से जुट जाना चाहिए।

कश्मीर में बाढ़, भारत में अन्धराष्ट्रवाद की आँधी और कश्मीरी जनता का बढ़ता अलगाव

● पुरुषोत्तम

यह लेख 2014 में कश्मीर में आयी बाढ़ के समय ही 'दिशा सन्धान' के लिए लिखा गया था। प्रकाशन में देर होने के कारण यह पुराना ज़रूर हो गया है लेकिन इसमें उठाये गये मूल मुद्दों की प्रासंगिकता अब भी बनी हुई है।
– सम्पादक

सितम्बर के पहले सप्ताह में जम्मू एवं कश्मीर में आये सैलाब के बाद विशेषकर कश्मीर घाटी में आयी बाढ़ की वजह से जितनी जान-माल की तबाही हुई उसको देखते हुए इसे हाल के दशकों में कश्मीर में आयी सबसे भयंकर आपदा बताया जा रहा है। इस आपदा में लगभग 300 लोग जान से हाथ धो बैठे, लाखों लोग बेघर हो गये और ग्रामीण क्षेत्रों मे फसलें तबाह हो गयीं। इस आपदा की भीषणता का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि इसमें गाँव के गाँव डूब गये और भूस्खलन से कई गाँवों का तो नामोनिशान भी नहीं बचा। श्रीनगर के गली-मुहल्लों में हफ़्तों तक पानी का जमावड़ा लगा रहा। कई दिनों तक लोग अपने घरों की ऊपरी मंजिलों और छतों पर भोजन-पानी के अभाव में फँसे रहे। संचार व्यवस्था के पूरी तरह से ठप्प हो जाने की वजह से लाखों लोग कई दिन तक पूरी दुनिया से कटे रहे। जम्मू एवं कश्मीर सरकार के अनुसार इस आपदा में कुल 1 लाख करोड़ रुपये का नुक़सान हुआ। सितम्बर के अन्त तक हालाँकि श्रीनगर के अधिकांश इलाकों से पानी का जमावड़ा हट चुका था, परन्तु भोजन तथा पीने के पानी की किल्लत और बीमारी-महामारी का ख़तरा लगातार बना हुआ है। स्थिति सामान्य होने में महीनों लग सकते हैं।

पिछले साल केदारनाथ में आयी तबाही की तरह इस भीषण आपदा की शुरुआत भी बादल फटने की घटना से हुई जिसमें बेहद कम समयान्तराल में अत्यधिक वर्षा (सितम्बर के पहले सप्ताह में ही श्रीनगर में 500 मिमी वर्षा हुई जबकि वहाँ की औसत मासिक वर्षा 56. 4 मिमी है) होने से नदियों एवं जलाशयों में पानी भर आया और तटबन्धों और डूब क्षेत्र को पार करता हुआ रिहायशी इलाकों में फैल गया। हिमालय के समूचे क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में भीषण वर्षा को पर्यावरणविद् जलवायु परिवर्तन की परिघटना से जोड़कर देख रहे हैं जो अन्धाधुन्ध पूँजीवादी विकास की तार्किक परिणति है। इसके अतिरिक्त हिमालय के क्षेत्र में बेतहाशा तरीके से जंगलों की कटाई की वजह से वर्षा का पानी पहाड़ के ढलान पर तेज़ी से नीचे की घाटियों की ओर आता है और बड़े पैमाने पर तबाही मचाता है। साथ ही जंगलों की बेतहाशा कटाई से पिछले कुछ वर्षों में भूस्खलन की घटनाओं में भी ज़बरदस्त बढ़ोतरी देखने में आयी है जिसकी वजह से निचले इलाकों में बाढ़ की विभीषिका कई गुना बढ़ जाती है। इसके अलावा कश्मीर में आयी इस आपदा की भीषणता की एक प्रमुख कारण तमाम पर्यावरण नियमों को ताक पर रखकर पिछले कुछ दशकों में झेलम नदी के डूब क्षेत्रों एवं डल, अंचल और वूलर जैसी झीलों के किनारे अन्धाधुन्ध रिहायशी एवं वाणिज्यिक निर्माण कार्य भी रहा। श्रीनगर की प्रसिद्ध डल झील अपने मूल आकार का एक बटा छठाँ हिस्सा ही रह गयी है। श्रीनगर जैसे शहर के अनियोजित विकास की वजह से जहाँ एक ओर एक दूसरे से जुड़े हुए जलाशयों द्वारा जलनिकासी का प्राकृतिक संरचना तबाह हुई वहीं दूसरी ओर जलनिकासी का वैकल्पिक तरीका नहीं विकसित किया गया जिसकी वजह से श्रीनगर में बाढ़ का पानी लम्बे समय तक जमा रहा।

किसी देश के एक हिस्से में इतनी भीषण त्रासदी आने पर होना तो यह चाहिए कि पूरे देश की आबादी प्रभावित क्षेत्र की जनता के साथ तदनुभूति दिखाते हुए उसे हरसम्भव मदद करे और साथ ही साथ ऐसी त्रासदियों की वजह पर विमर्श करे और भविष्य में ऐसी आपदाओं को टालने के तरीकों पर गहन विचार-विमर्श हो। परन्तु कश्मीर को अपना अभिन्न अंग मानने का दावा करने वाले भारत में कश्मीर की इस भीषण आपदा के बाद जिस तरीके से अन्धराष्ट्रवाद की आँधी चलायी गयी वह कश्मीर की जनता के जले पर नमक छिड़कने के समान था। भारतीय सेना ने इस मौके का फ़ायदा उठाते हुए भारतीय बुर्जुआ मीडिया की मदद से अपने पक्ष में एक क़िस्म का प्रचार अभियान सा चलाया जिसमें कश्मीर की बाढ़ के बाद वहाँ भारतीय सेना द्वारा चलाये जा रहे राहत एवं बचाव कार्यों का महिमामण्डन करते हुए कश्मीर में भारतीय सेना की मौजूदगी को न्यायोचित ठहराने की कोशिश की गयी। मीडिया ने इस बचाव एवं राहत कार्यों को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया मानो भारतीय सेना राहत और बचाव कार्य करके कश्मीरियों पर एहसान कर रही है। यही नहीं कश्मीरियों को "पत्थर बरसाने वाले" एहसानफ़रामोश क़ौम के रूप में भी चित्रित किया गया। कुछ टेलीविज़न चैनलों पर भारतीय सेना के इस "नायकत्वपूर्ण" अभियान को एक "ऐतिहासिक मोड़बिन्दु" तक करार दिया गया और यह बताया गया कि इस अभियान से कश्मीरी जनता में सेना की छवि सुधरेगी और उनका भारत से अलगाव कम होगा।

परन्तु कश्मीर की स्थानीय मीडिया में स्थानीय लोगों के हवाले से तथा सोशल मीडिया पर कश्मीरियों की जो राय आयी, उनसे एकदम अलग तस्वीर उभर कर आती है। इस तस्वीर में यह साफ़ दिखता है कि इस आपदा के प्रबन्धन, सेना की भूमिका एवं विशेष रूप से भारतीय मीडिया की अतिरंजनापूर्ण कवरेज ने कश्मीरियों के भारत से अलगाव को कम करने

की बजाय बढ़ाया ही है। कश्मीर घाटी में अनियंत्रित और और अनियोजित विकास के मद्देनज़र एक लम्बे अरसे से पर्यावरणविद कश्मीर घाटी में इस किस्म की आपदा आने की बात करते रहे थे। नियोजित शहरी विकास एवं जलाशयों तथा नहरों की हिफ़ाजत करके श्रीनगर जैसे शहर में इस विभीषिका की भयावहता को कम किया जा सकता था। परन्तु जलाशयों एवं नहरों के किनारे एवं नदियों के डूब क्षेत्र में अन्धाधुन्ध रिहायशी, वाणिज्यिक एवं सरकारी निर्माण कार्य को बेरोकटोक जारी रहने दिया गया। कई नहरों को पाट कर उनपर सड़कें बनायी गयीं जिससे झेलम नदी के बाढ़ झेलने की श्रीनगर शहर की क्षमता काफ़ी कम हुई। वर्ष 2010 में बाढ़ के ख़तरे को कम करने के लिए उत्तरी कश्मीर की वूलर झील की काई साफ़ करने की एक योजना भी बनायी गयी थी। परन्तु जैसा कि अन्य क्षेत्रों में होता है, यह योजना भी सिर्फ़ सरकारी फाइलों की धूल फाँकती रही। झेलम नदी पर बाढ़ की चेतावनी देने की कोई व्यवस्था उपलब्ध न होने की वजह से भी इस आपदा की आकस्मिकता बढ़ी। पर्यावरणविदों द्वारा ऐसी आपदा की चेतावनी दिये जाने के बावजूद जम्मू एवं कश्मीर सरकार व केन्द्र सरकार ऐसी आपदा से निपटने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थी। पिछले कुछ दशकों से भारत सरकार ने जम्मू एवं कश्मीर को महज़ सुरक्षा के दृष्टिकोण से देखते हुए अपना पूरा ध्यान आतंकवादियों से निपटने में लगाया और यही वजह थी कि उसके पास ऐसी आपदा से निपटने की कोई योजना नहीं थी। जम्मू एवं कश्मीर के मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्ला ने भी माना कि घाटी में बाढ़ आने के शुरुआती कुछ दिनों में तो मानो वहाँ का सिविल प्रशासन बाढ़ के पानी में बह-सा गया था।

सिविल प्रशासन के विलुप्त हो जाने की स्थिति में बचाव और राहत का काम पूरी तरह से कश्मीर घाटी में तैनात सैन्य बलों के हाथों में आ गया। सैन्य बलों ने जिस तरीके से राहत एवं बचाव कार्यों में आम कश्मीरियों की बजाय पर्यटकों, बाहरी लोगों एवं धनिकों तथा वीआईपी लोगों को बचाने को प्राथमिकता दी, उससे भी आम कश्मीरियों में असन्तोष की भावना पनपी। जहाँ एक ओर भारतीय मीडिया में राहत एवं बचाव कार्यों में सेना की बहादुरी का गौरवगान चल रहा था, वहीं दूसरी ओर कश्मीरियों का कहना था कि आम कश्मीरियों के लिए अधिकांश राहत, बचाव एवं पुनर्वास का काम स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं ने किया। यंग कश्मीर वालिंटियर एलायंस (वाईकेवीएल) नामक कश्मीरी स्वयंसेवी संस्थाओं के एक समूह ने अपने अध्ययन में बताया है कि इस बाढ़ में 96 फ़ीसदी लोगों को स्थानीय स्वयंसेवकों ने बचाया और बाकी 4 फीसदी लोगों को सेना और राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया बल (एनडीआरएफ) ने बचाया। इस संस्था ने अपने अध्ययन में यह भी पाया कि 92.3 फीसदी पुनर्वास केन्द्रों को भोजन सामग्री स्थानीय स्वयंसेवक समुदायों ने पहुँचायी। राहत एवं बचाव कार्यों में नौका, टेंट, खाद्य एवं पेय सामग्री की किल्लत के मद्देनज़र कश्मीरियों का मानना था कि भारत को अन्तरराष्ट्रीय मदद स्वीकार करनी चाहिए। परन्तु भारत सरकार ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानते हुए किसी भी प्रकार की अन्तरराष्ट्रीय मदद से साफ़ इन्कार कर दिया जिसकी वजह से भी कश्मीरियों में रोष देखा गया। नौका की किल्लत को देखते हुए स्थानीय स्वयंसेवक दस्तों ने लकड़ी, प्लास्टिक, पानी के खाली टैंक, ट्यूब आदि जो कुछ भी तैर सकता था उसको नौका के रूप में इस्तेमाल करते हुए ज़्यादा से ज़्यादा जान-माल की रक्षा करने का भरसक प्रयास किया। नौकाओं एवं अन्य सामग्रियों की किल्लत के बावजूद भारतीय मीडिया के तमाम पत्रकार सेना की नौकाओं एवं हेलीकाप्टर में बैठकर रिपोर्टिंग करते हुए पाये गये जिससे कश्मीरियों के इस आरोप को बल मिलता है कि भारतीय सेना ने इस मौके का

इस्तेमाल अपनी छवि बनाने में किया और भारतीय शासक वर्ग ने इसका इस्तेमाल पूरे देश में अन्धराष्ट्रवाद की आँधी चलाने में किया। कश्मीर में बाढ़ और भारतीय सेना एवं मीडिया द्वारा चलायी गयी इस अन्धराष्ट्रवादी मुहिम का कुल नतीजा यह हुआ कि कश्मीरी जनता का भारतीय राज्यसत्ता से अलगाव कम हाने की बजाय बढ़ता ही गया। कश्मीरी जनता के इस अलगाव का एक लम्बा इतिहास रहा है, आइये इस लम्बे इतिहास पर एक नज़र दौड़ा लेते हैं ताकि हम यह समझ सकें कि इसकी प्रकृति क्या है और क्यों यह समय बीतने के साथ बढ़ता ही गया है।

कश्मीरी जनता का भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता से अलगाव का इतिहास

भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के जन्मकाल से ही कश्मीरी राष्ट्रीयता का उससे अलगाव होना शुरू हो गया था। बर्तानवी गुलामी से भारत के आज़ाद होने के वक़्त जम्मू एवं कश्मीर राज्य उन 562 रियासतों में से एक था जो अंग्रेजी राज्य के अधीन थे। आज़ादी मिलने के तुरन्त बाद हैदराबाद, जूनागढ़ तथा जम्मू एवं कश्मीर को छोड़कर अन्य सभी राजों-रजवाड़ों ने भारत या पाकिस्तान में से किसी एक डोमिनियन में शामिल होने का फैसला कर लिया। हैदराबाद का निज़ाम एक स्वतंत्र राष्ट्र के ख़्वाब देख रहा था जबकि जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान में मिलने का पक्षधर था। इन दो रियासतों में भारत का तर्क था कि उनके भविष्य का फैसला वहाँ के शासक नहीं बल्कि जनता करेगी। उन दो रियासतों की बहुसंख्यक आबादी भारत में विलय की पक्षधर थी और इसलिए वे भारत में शामिल हुए। जूनागढ़ में तो फरवरी 1948 में बाकायदे रिफरेंडम भी करवाया गया जिसमें वहाँ की जनता ने भारी बहुमत से भारत में शामिल होने के पक्ष में मत दिया। परन्तु जम्मू एवं कश्मीर में स्थिति इसके ठीक उलट थी। वहाँ की अधिकांश जनसंख्या मुस्लिम थी, परन्तु वहाँ का शासक महाराजा हरी सिंह हिन्दू था। हरी सिंह भारत या पाकिस्तान में मिलने की बजाय जम्मू एवं कश्मीर को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहता था ताकि उसके वंश का शासन बरकरार रहे। ग़ौरतलब है कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य को हरी सिंह के पूर्वज गुलाब सिंह ने कुख़्यात अमृतसर की संधि में अंग्रेज़ों से 75 लाख रुपये में खरीदा था। अंग्रेज़ों को डोगरा राजा गुलाब सिंह की वफ़ादारी पर पूरा भरोसा था क्योंकि वह पहले सिख शासन से दग़ाबाजी करते हुए अंग्रेजों के पाले में आ खड़ा हुआ था। भारत की आज़ादी के वक़्त जम्मू एवं कश्मीर में लगभग 77 फ़ीसदी आबादी मुस्लिम थी। यदि सिर्फ़ कश्मीर घाटी की बात की जाये तो वहाँ 94 फ़ीसदी से भी ज़्यादा आबादी मुस्लिम थी। जम्मू एवं कश्मीर में डोगरा राजाओं के शासन में अधिकांश जागीरदार और भूस्वामी हिन्दू थे जबकि आम ग़रीब किसान आबादी में मुस्लिमों की बहुतायत थी। इस प्रकार वहाँ वर्गीय ध्रुवीकरण और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण में संगति होने से बाद में वर्षों में हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों की कट्टरपन्थी ताक़तों को अपना आधार जमाने में मदद मिली। हालाँकि ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि वैष्णव, शैव, सूफ़ी परम्पराओं के मिलेजुले प्रभाव की वजह से कश्मीर में इस्लाम की प्रकृति भारतीय महाद्वीप के अन्य हिस्सों से बिल्कुल अलग है। इसी वजह से कश्मीरी अवाम की लड़ाई को पाकिस्तानपरस्ती की दिशा में ले जाने की पाकिस्तान की तमाम कोशिशों के बावजूद अभी तक कश्मीरियों की आज़ादी की लड़ाई ने एक स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा है।

बर्तानवी गुलामी से भारत की आज़ादी के वक़्त कश्मीर के सबसे लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला थे। शेख अब्दुल्ला 1931 में मुस्लिम कान्फ्रेंस नामक दल से जुड़े हुए थे जो शुरू में कश्मीर में सरकारी नौकरियों में कश्मीरी मुस्लिमों के प्रतिनिधित्व को बढ़ाने के लिए संघर्ष करता था। परन्तु बाद में यह आन्दोलन जनवाद के लिए संघर्ष की शक़्ल अख़्तियार करने लगा और डोगरा सामन्ती शासन के विरोध में कश्मीरी किसानों का आन्दोलन बनता गया। शीघ्र ही सामन्तवाद विरोधी इस जनवादी आन्दोलन को कश्मीर के गैर-मुस्लिम नेतृत्व मसलन पंडित प्रेमनाथ बजाज एवं सरदार बुद्ध सिंह के साथ ही साथ गाँधी, नेहरू, आज़ाद, खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खान जैसे भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के नेताओं का भी समर्थन मिलने लगा। शेख अब्दुल्ला भी भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष और उसके नेताओं से प्रभावित होते गये और उन्हें इस सच्चाई का एहसास होने लगा कि आन्दोलन को व्यापक रूप देने के लिए उन्हें उसे धर्म निरपेक्ष बनाना होगा। इसीलिए शेख अब्दुल्ला ने अपनी पार्टी का नाम मुस्लिम कान्फ्रेंस से बदलकर नेशनल कान्फ्रेंस रखने का प्रस्ताव रखा जो 11 जून 1939 को पारित हुआ। उसी समय शेख अब्दुल्ला ने पंडित प्रेमनाथ बजाज, सरदार बुध सिंह, पंडित सुदमा सिधा, जिया लाल कीलम, कश्यप बन्धु जैसे ग़ैर-मुस्लिम प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर 'राष्ट्रीय माँगें' नामक मांगपत्रक का मसौदा तैयार किया जो भविष्य के 'नया कश्मीर' घोषणापत्र की पूर्वपीठिका थी जिसमें कश्मीर के जनता के कल्याण के लिए एक जनवादी संविधान की माँग की गयी थी। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कान्फ्रेंस मुस्लिम लीग और जिन्ना द्वारा प्रचारित 'टू नेशन थियरी' का विरोध करती थी और मज़हब के आधार पर बने मुल्क पाकिस्तान में विलय की हरगिज़ पक्षधर नहीं थी। साथ ही शेख अब्दुल्ला भारत में पूर्ण विलय को लेकर भी संशंकित थे।

5 मई 1946 के एक बयान में शेख अब्दुल्ला ने सांस्कृतिक और भाषायी समरसता को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक आधार पर भारत के राज्यों का पुनर्विभाजन करने के बाद भारत की सभी राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार की बात की। ग़ौरतलब है कि शेख अब्दुल्ला की यह सोच तत्कालीन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) की लाइन से प्रभावित थी। मई 1946 में ही शेख ने महाराजा हरी सिंह के ख़िलाफ़ 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन का आग़ाज़ किया जिसके बाद उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और तीन साल की सजा हुई। परन्तु वे 16 महीने बाद 29 सितम्बर 1947 को रिहा कर दिये गये। रिहाई के फौरन बाद शेख ने बयान दिया कि 'यदि जम्मू एवं कश्मीर में रहने वाले 40 लाख लोगों को दरकिनार कर राज्य भारत अथवा पाकिस्तान में विलय की घोषणा करता है तो मैं विद्रोह का परचम थाम लूँगा और हमें संघर्ष करना होगा'। (स्रोत: ए जी नूरानी की पुस्तक 'दि कश्मीर डिस्प्यूट', अनुवाद हमारा)। अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान द्वारा समर्थित कबायलियों ने कश्मीर पर हमला कर दिया जिसका सामना करने में हरीसिंह की सेना सर्वथा असमर्थ थी। यही नहीं जम्मू एवं कश्मीर के पुँछ इलाके में महाराजा की सेना में ही बग़ावत हो गयी। इसके अतिरिक्त भारत और पाकिस्तान के विभाजन के बाद राज्य में शरणार्थियों की आवाजाही की वजह से भी वहाँ साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति पैदा हो गयी। पाकिस्तान द्वारा समर्थित कबायली हमले और पुँछ में हरी सिंह की सेना में बग़ावत ने एक स्वतंत्र राज्य का शासक बने रहने की उसकी सारी महत्वकांक्षाओं पर पानी फेर दिया और उस हमले का मुक़ाबला करने के लिए उसे मजबूरन भारतीय सेना से मदद की गुहार करनी पड़ी। भारत ने इस सैन्य मदद की एवज़ में हरी सिंह से जम्मू एवं कश्मीर के भारत में विलय के दस्तावेज़ पर दस्तख़त करवा लिये।

परन्तु यह विलय आरज़ी और सशर्त था, जैसा कि विलय के दस्तावेज़ के साथ संलग्न दस्तावेज़ो और जम्मू एवं कश्मीर पर भारत सरकार के श्वेत पत्र में स्पष्ट तौर पर उल्लिखित था। 1948 में जारी इस श्वेत पत्र में भारत सरकार ने स्पष्ट तौर पर लिखा था: 'जैसे ही कश्मीर में कानून और व्यवस्था क़ायम हो जायेगी और उसकी ज़मीन से आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया जायेगा, राज्य के विलय के फैसले के बारे में वहाँ की जनता से निर्देश लिया जायेगा।' (स्रोत: ए जी नूरानी की पुस्तक 'दि कश्मीर डिस्प्यूट', अनुवाद हमारा)

1947 से ही भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने अनेक अवसरों पर इस बात को ज़ोर देते हुए कहा कि जम्मू एवं कश्मीर के भारत में विलय के बारे में अन्तिम फैसला वहाँ की जनता करेगी और वहाँ की जनता की मर्ज़ी के बग़ैर उसको भारत में मिलाने की उनकी कोई मंशा नहीं है। कश्मीर मसले को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले जाने के पहले ही नेहरू वहाँ जनमतसंग्रह कराने की बात सार्वजनिक रूप से कह चुके थे। कश्मीर में पाकिस्तान द्वारा समर्थित कबायली हमले के बाद भारत सरकार ने यह मसला संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा। 20 जनवरी 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद ने प्रस्ताव संख्या 39 पारित किया जिसमें इस मसले की तथ्यों के आधार पर जाँच करने के मक़सद से एक आयोग बनाने की बात की गयी। इसके बाद 21 अप्रैल 1948 को सुरक्षा परिषद ने एक अन्य प्रस्ताव (प्रस्ताव संख्या 47) पारित किया जिसमें जम्मू एवं कश्मीर के भारत अथवा पाकिस्तान में विलय को वहाँ एक मुक्त और निष्पक्ष जनमतसंग्रह के द्वारा कराने की बात कही गयी थी। 1953 तक भारत कश्मीर में जनमतसंग्रह की बात करता रहा, लेकिन उसके बाद वह इस वायदे से मुकर गया।

अक्टूबर 1947 में कश्मीर में पाकिस्तान समर्थित कबायली हमले के बाद महराजा हरीसिंह ने जम्मू एवं कश्मीर राज्य के भारत में विलय के दस्तावेज़ पर दस्तख़त करने के साथ ही साथ एक आपातकालीन प्रशासन की नियुक्ति की और इस सरकार के नेतृत्व की जिम्मेदारी शेख अब्दुल्ला को सौंपी गयी। मार्च 1948 में जम्मू एवं कश्मीर में अन्तरिम सरकार का गठन किया गया और शेख अब्दुल्ला ने औपचारिक रूप से जम्मू एवं कश्मीर के प्रधानमंत्री पद की शपथ ली। इस अन्तरिम सरकार की एक ज़िम्मेदारी यह थी कि वह राज्य का संविधान बनायेगी। इसके अलावा शेख अब्दुल्ला व कुछ अन्य कश्मीरियों को भारत की संविधान सभा में भी शामिल किया गया। भारत की संविधान सभा ने जो संविधान बनाया उसमें धारा 370 में जम्मू एवं कश्मीर को विशेष राज्य का दर्ज़ा गया जिसके अनुसार जम्मू एवं कश्मीर को भारतीय संघ के तहत अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार था; जम्मू एवं कश्मीर के सन्दर्भ में भारत की संसद का अधिकार महज़ रक्षा, विदेशी मसलों एवं संचार तक सीमित था।

1948 से 1953 तक जम्मू एवं कश्मीर के प्रधानमंत्री के कार्यकाल के दौरान शेख अब्दुल्ला कश्मीर के पाकिस्तान में विलय अथवा जनमतसंग्रह की बजाय उसकी स्वायत्तता के पक्षधर थे। परन्तु जम्मू में श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ द्वारा समर्थित प्रजा परिषद् आन्दोलन के बाद कश्मीर मसले का ज़बरदस्त साम्प्रदायिकीकरण हुआ जिसके बाद कश्मीरी अवाम का भारत से अलगाव बढ़ा और शेख अब्दुल्ला भी अपने रुख़ पर पुनर्विचार करने लगे। प्रजा परिषद आन्दोलन जम्मू के डोगरा भूस्वामियों के हितों की नुमाइन्दगी करता था जिनकी आर्थिक शक्ति में शेख अब्दुल्ला सरकार द्वारा लागू किये गये रैडिकल भूमि सुधारों के बाद ज़बरदस्त कमी आयी थी। परन्तु प्रजा परिषद् ने अपने इन वर्गीय हितों को छिपाने के लिए समूचे कश्मीर मसले को साम्प्रदायिक रंग दे दिया। इस आन्दोलन की मुख्य माँग यह थी कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य को जम्मू, लद्दाख और कश्मीर इन तीन हिस्सों में बाँटकर जम्मू

एवं लद्दाख से धारा 370 हटाकर उनका पूरी तरह भारत में विलय कर दिया जाये। जम्मू में इस आन्दोलन के बढ़ते आधार को देखकर शेख अब्दुल्ला और नेहरू दोनों सकते में आ गये। शेख अब्दुल्ला जो पहले ही कश्मीर मसले पर पटेल के साम्प्रदायिक बयानों से कश्मीर से भारत में विलय के मसले पर सशंकित हो उठे थे, प्रजा परिषद् आन्दोलन के बाद से और भी ज़्यादा सशंकित हो गये। नेहरू इस साम्प्रदायिक आन्दोलन की बढ़ती ताक़त से इसलिए भयभीत थे क्योंकि धर्म के आधार पर जम्मू को भारत में पूरी तरह मिलाने का निहितार्थ यह था कि कश्मीर घाटी पर भारत के दावे का आधार कमज़ोर हो जाता।

जम्मू में प्रजा परिषद् आन्दोलन के ज़ोर पकड़ने की वजह से कश्मीर मसले के साम्प्रदायिकीकरण के बाद शेख अब्दुल्ला भारतीय राज्य के भीतर स्वायत्तता की बजाय कश्मीर की आज़ादी के बारे में भी सोचने लगे थे। यही वह दौर था जब नेहरू और शेख अब्दुल्ला के बीच रिश्तों में भी कड़वाहट पैदा होनी शुरू हुई। इसकी इन्तेहाँ तब हो गयी जब 8 अगस्त 1953 को अचानक शेख अब्दुल्ला को बर्ख़ास्त कर उनको गिरफ़्तार कर लिया गया। तब से 11 वर्षों तक का अधिकांश समय उन्हें जेल में ही बिताना पड़ा। शेख अब्दुल्ला की जगह भारत ने अपने पिट्ठू बख़्शी गुलाम मोहम्मद को जम्मू एवं कश्मीर के प्रधानमंत्री पद पर बिठा दिया। उसके बाद नेहरू कश्मीर में जनमतसंग्रह के अपने वायदे से साफ़ मुकरने लगे। 6 फरवरी 1954 को कश्मीर की संविधान सभा ने कश्मीर के भारत में विलय को अविच्छिन्न क़रार दिया।

1953 में शेख अब्दुल्ला सरकार की बर्ख़ास्तगी और उनकी गिरफ़्तारी ने कश्मीरी अवाम और भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के बीच के अलगाव को नयी ऊचाइयों पर पहुँचाया। जम्मू एवं कश्मीर में नई दिल्ली की शह पर 1951 से ही की गयी चुनावी धाँधली ने भी कश्मीरी अवाम के अलगाव को बढ़ाने में एक अहम भूमिका निभायी। 1951 के संविधान सभा के चुनावों में 75 में से 73 सीटों पर नेशनल कान्फ्रेंस के उम्मीदवार निर्विरोध चुने गये क्योंकि विपक्षी उम्मीदवारों के नामांकन मामूली आधार पर रद्द कर दिये गये। संविधान सभा के इन्हीं चुनावों के आधार पर राज्य की विधान सभा का गठन हुआ था जिसने भारतीय संविधान की धारा 370 में जम्मू एवं कश्मीर को दिये गये विशेष दर्ज़े को तनु करने पर मोहर लगायी। उसके बाद 1957 और 1962 के चुनावों में भी धाँधली हुई जिसके आधार पर बख़्शी गुलाम मोहम्मद ने कमोबेश भारत के एजेंट के रूप में जम्मू एवं कश्मीर में सरकार चलायी। 1967 के विधान सभा चुनावों एवं 1971 के लोकसभा चुनावों में धाँधली का काम नेशनल कान्फ्रेंस के ही एक अन्य नेता जी एम सादिक़ के नेतृत्व में किया गया। 1967 के चुनावों में बड़े पैमाने पर हुई धाँधली का कश्मीर घाटी में ज़बरदस्त विरोध हुआ।

उधर शेख अब्दुल्ला अप्रैल 1964 में जेल से रिहा कर दिये गये थे। परन्तु अगले ही वर्ष उन्हें कोडईकनाल में नज़रबन्द कर दिया गया क्योंकि उन्होंने चीन के प्रधानमंत्री चाउ एनलाई से अल्जीयर्स में मुलाकात की थी। अन्ततः जनवरी 1968 को ही जाकर वे मुक्त हो सके। डेढ़ दशक की इस गिरफ़्तारी और नज़रबन्दी के बाद शेख अब्दुल्ला कमज़ोर पड़ चुके थे और रिहा होने के बाद वे भारत सरकार से समझौते के बारे में सोचने लगे थे। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के बाद उन्होंने भारत सरकार के सामने पूरी तरह से घुटने टेक दिये। 1975 के इंदिरा गाँधी-शेख अब्दुल्ला समझौते के तहत उन्होंने कश्मीर की स्वायत्तता की माँग भी छोड़ दी और भारत सरकार द्वारा धारा 370 के तनुकरण को भी मंजूरी दे दी।

इंदिरा गान्धी और शेख अब्दुल्ला के बीच 1975 में हुए समझौते के पहले ही कश्मीर

घाटी में कुछ ऐसे ग्रुप बन चुके थे जो सशस्त्र संघर्ष के ज़रिये कश्मीर की आज़ादी की बात करते थे। इस समझौते में शेख अब्दुल्ला द्वारा घुटने टेकने के बाद ऐसे ग्रुपों की ताक़त बढ़ी और कश्मीरी राष्ट्रीयता के संघर्ष के एक नये दौर की शुरुआत हुई। इस समझौते का सबसे मुखर रूप में विरोध करने वाले संगठनों में 'जम्मू एवं कश्मीर पीपुल्स लीग' प्रमुख था जो कश्मीर की आज़ादी की बात करता था। इसके संस्थापकों में शेख अब्दुल अजीज़, मुसादिक आदिल, बशीर अहमद टोटा, आज़म इंक़लाबी, अब्दुल हमीद वानी थे। शब्बीर शाह इस संगठन के महासचिव थे। बाद में यह संगठन भी कई फूटों का शिकार हुआ।

बहरहाल शेख अब्दुल्ला 1982 तक जम्मू एवं कश्मीर के मुख्यमंत्री बने रहे। 1982 में उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र फारूख़ अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री पद की कमान संभाली। जुलाई 1984 में इंदिरा गान्धी ने फारूख अब्दुल्ला की सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया जिससे घाटी में एक बार फिर असन्तोष बढ़ने लगा। श्रीनगर में 72 दिनों तक कर्फ्यू लगा रहा। लेकिन 1986 में फारूख अब्दुल्ला ने भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के साथ समझौता किया और वे एक बार फिर मुख्यमंत्री बने। मार्च 1987 में जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा का चुनाव सम्पन्न हुआ जिसमें नेशनल कान्फ्रेंस और कांग्रेस ने गठबन्धन बनाया। इन चुनावों में बड़े पैमाने पर धाँधली हुई। विपक्षी मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट (एमयूएफ) की कश्मीर घाटी में ज़बरदस्त लोकप्रियता होने के बावजूद चुनावी धाँधली की वजह से उसे विधानसभा में सीटें नहीं जीत पायी। इन चुनावों में धाँधली के बाद कश्मीरी युवाओं की बड़ी आबादी को चुनावी प्रक्रिया से भरोसा उठ गया और बड़ी संख्या में युवाओं ने बन्दूकें थामी। इसके बाद से ही कश्मीर में सशस्त्र संघर्ष प्रभावी होकर सामने आया। ग़ौरतलब है कि जिन नेताओं ने बाद में आतंकवाद की राह पर जाने का फैसला किया उनमें से अधिकांशं ने 1987 के चुनावों में हिस्सा लिया था और चुनावी धाँधली की वजह से उनका मोहभंग हुआ। 1986 में गठित इस्लामिक स्टूडेंट्स लीग के चार प्रमुख सदस्यों – अब्दुल हमीद शेख, अश्फ़ाक माज़िद वानी, जावेद अहमद मीर और यासीन मलिक – जिन्हें हाजी ग्रुप कहा जाता था, ने एमयूएफ के समर्थन में चुनाव प्रचार किया था। यहाँ तक कि हिजबुल मुजाहिद्दीन का मुखिया सैयद सलाहुद्दीन जिसका असली नाम मोहम्मद यूसुफ शाह है, ने भी एमयूएफ के उम्मीदवार के रूप में 1987 के चुनाव में भागीदारी की थी।

शुरुआती दौर में कश्मीर की आज़ादी के लिए सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व जम्मू एंड कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट (जेकेएलएफ) के हाथों में था। जेकेएलएफ की स्थापना 1978 में इंग्लैण्ड में अमानुल्ला खान ने की थी जो मक़बूल बट की कश्मीर लिबरेशन आर्मी का एक सदस्य था। मक़बूल बट भारतीय कब्ज़े में सक्रिय था और अमानुल्लाह खान पाक अधिकृत कश्मीर में। शुरुआती दौर में जेकेएलएफ एक धर्मनिरपेक्ष संगठन था और वह भारत और पाक दोनों द्वारा कब्ज़ा किये गये कश्मीर की आज़ादी की बात करता था। परन्तु भारतीय राज्य द्वारा बर्बर दमन के बाद जेकेएलएफ में इस्लामिक कट्टरपंथियों का दबदबा बढ़ने लगा। 11 फरवरी 1984 को मकबूल बट को तिहाड़ जेल में फाँसी दे दी गयी थी जिसके बाद से कश्मीरी युवाओं में असंतोष बढ़ रहा था। 1987 के चुनावों में भारी धाँधली के बाद कश्मीर में जो जनउभार देखने को आया उसके पीछे पिछले 40 सालों का कुशासन, आर्थिक बदहाली, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार भी प्रमुख कारण थे। 1988 में बिजली की दरों में वृद्धि के ख़िलाफ़ प्रदर्शन के दमन से कश्मीर घाटी की जनता में ज़बरदस्त आक्रोश देखने को आया। उसी साल मकबूल बट की बरसी पर पुलिस ने कश्मीरी आज़ादी के समर्थकों पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलायीं। दिसम्बर

1989 में कश्मीर समूची कश्मीर घाटी में बग़ावत की ज्वाला भड़क उठी। इस बग़ावत को बर्बरता से कुचलने के लिए कश्मीर में सैन्य बल विशेष अधिकार कानून (आफ्सपा) लगाकर सेना को असीमित अधिकार दे दिये गये। लेकिन 1990 तक आते-आते कश्मीर घाटी में लाखों लोग आज़ादी के नारे लगाते हुए उतर पड़े थे। यही वह दौर था जब पाकिस्तान ने अफगानिस्तान में सोवियत संघ के ख़िलाफ़ लड़ाई में प्रशिक्षित मुजाहिद्दीनों को कश्मीर में जेहाद के लिए भेजना शुरू किया और कश्मीर की आज़ादी के संघर्ष को इस्लामिक कट्टरपन्थी रंग देने की कुटिल चाल चली। इसी दौर में कश्मीर की छोटी सी अल्पसंख्यक कश्मीरी पण्डित आबादी के ऊपर भयंकर जुल्म ढाये गये। सैकड़ों कश्मीरी पण्डितों का नरसंहार किया गया और लाखों पण्डितों को परिवार समेत घाटी छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसके बाद ही संघ परिवार के फ़ासिस्टों ने कश्मीरी पण्डितों के बीच अपना आधार मज़बूत किया और कश्मीर मसले के साम्प्रदायिकीकरण करने की घृणित योजना को अमली जामा पहनाया। यही वह दौर था जब कश्मीर में हरकत-उल-मुजाहिद्दीन और लश्कर-ए-तोयबा जैसे पाकिस्तानपरस्त संगठनों का दबदबा भी बढ़ा।

कश्मीर घाटी में सशस्त्र जनउभार और आतंकवाद का भारतीय सेना के बर्बरतापूर्वक दमन किया। 1990 के दशक के अन्त तक कश्मीर में सशस्त्र संघर्ष और आतंकवादियों पर काफ़ी हद तक काबू पा लिया गया था। 1995 तक जेकेएलएफ के यासीन मलिक ने भारत के सामने घुटने टेक दिये और सशस्त्र संघर्ष का रास्ता छोड़ दिया। परन्तु इस प्रक्रिया में भारतीय सेना ने जिस क़दर कश्मीरी अवाम के मानवाधिकारों का धड़ल्ले से हनन किया उससे कश्मीरी अवाम के दिलों में भारत के प्रति नफ़रत की भावना अभूतपूर्व रूप से बढ़ी। कश्मीरियों के ज़ेहन में 1991 में भारतीय सेना द्वारा किये गये कुनान-पोशपोरा जैसे सामूहिक बलात्कार और यातना की घटनाओं की यादें अभी भी ताज़ा है। इसके अलावा अन्य बलात्कार काण्डों, फर्ज़ी मुठभेड़ों, गुमशुदगी की घटनाओं आदि की एक लम्बी दास्तान है। पिछले डेढ़ दशकों में कश्मीर में 60,000 से भी ज़्यादा लोग मारे जा चुके हैं और 700 लोग लापता हैं। हाल ही में कश्मीर में पायी गयी हज़ारों गुमनाम कश्मीरियों की सामूहिक कब्रें पायी गयी हैं। इसके अलावा पाकिस्तान समर्थित आतंकवादियों और भारतीय सेना के ख़ूनी खेल की वजह से कश्मीरियों में भारत से अलगाव की भावना गहराई तक जड़ जमा चुकी है।

21वीं सदी आते-आते भारत ने कश्मीर में आतंकवाद को काफ़ी हद तक काबू में कर लिया गया था। 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका के विश्व व्यापार केन्द्र पर आतंकी हमले के बाद अमेरिका द्वारा पाकिस्तान पर नकेल कसने की वजह से पाकिस्तान से कश्मीर में जेहाद के लिए आने वाले आतंकियों पर रोक लगी। सरकारी आँकड़ों के भी इस बात की गवाही देते हैं कि आतंकवाद की घटनाओं में ज़बरदस्त कमी आयी है। एक सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक पूरी घाटी में अब 1,000 आतंकवादी भी नहीं है। लेकिन अभी भी घाटी में 7 लाख से भी ज़्यादा भारतीय सैनिक और अर्द्ध सैन्य बलों के जवान डेरा डाले हुए हैं। कुख़्यात काला कानून आफ्सपा अभी तक वहाँ लागू है। वहाँ खुफिया एजेंसियाँ ऐसे काम करती हैं मानो वो किसी दुश्मन देश में काम करती हों। सेना द्वारा की गयी नृशंस हत्याओं, बलात्कारों और यातनाओं के अलावा घाटी में इतने लम्बे अरसे से इतनी बड़ी तादाद में सेना की उपस्थिति मात्र अपने आप में कश्मीरी अवाम में आतंक पैदा करती है। कश्मीरी इस सेना की उपस्थिति को भारतीय कब्ज़े की निशानी के रूप में देखते हैं।

हालिया वर्षों में भारतीय मीडिया ने कश्मीर मसले की ऐसी रिपोर्टिंग की है मानो

आतंकवादियों पर नकेल कसने के बाद अब वहाँ अमन-चैन कायम हो गया है क्योंकि वहाँ जाने वाले पर्यटकों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है और चुनावों में भागीदारी बढ़ी है। खाते-पीते भारतीय मध्यवर्ग को यह लगने लगा था कि आख़िरकार कश्मीर समस्या का समाधान हो चुका है। लेकिन 2009 में अमरनाथ यात्रा के लिए भूमि अधिग्रहण के ख़िलाफ़ हुए आन्दोलन के बाद से कश्मीरियों का संघर्ष एक नयी शक्ल अख़्तियार करता नज़रा आया। उस आन्दोलन में काफ़ी समय बाद 'भारत वापस जाओ' के नारों से समूची कश्मीर घाटी गूँज उठी। चूँकि यह एक शान्तिपूर्ण नागरिक प्रतिरोध था, इसलिए भारतीय सेना के लिए इसका बर्बर दमन करना आसान न था। अब जो कश्मीरी नौजवान सड़कों पर उतर रहे थे उनके हाथों में एके 47 या हैंड ग्रेनेड नहीं होते बल्कि पत्थर होते हैं। वे हिजबुल मुजाहिद्दीन या लश्करे तोयबा के दुर्दान्त आतंकवादी नहीं बल्कि इनमें स्कूल जाने वाले किशोर, बेरोज़गार नौजवान, प्रौढ़ और अधेड़ महिलायें और आम जनता शामिल थी जो भारतीय सेना के दमन और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरे थे। अमरनाथ यात्रा विवाद के बाद शोपियाँ में दो महिलाओं के साथ सशस्त्र बलों द्वारा बलात्कार और हत्या, माछिल फर्जी मुठभेड़ में हत्या और जुलाई 2010 में तुफैल मुट्टू नामक 17 वर्षीय किशोर की सेना की गोलीबारी में मौत के बाद हुआ पूरी कश्मीर घाटी में व्यापक जनउभार देखने को आया जिसे इन्तिफ़ादा या जनविद्रोह की भी संज्ञा दी गयी जिसमें सैन्य बल की गोलियों से सौ से ज़्यादा युवाओं, किशोरों और बच्चों की जानें गयीं।

कश्मीरी अवाम की आकांक्षाएँ और उनका भविष्य

जम्मू एवं कश्मीर में हाल में आयी बाढ़ के बाद भारतीय बुर्जुआ मीडिया और बुद्धिजीवियों के एक हिस्से ने यह उम्मीद बाँधनी शुरू कर दी की भारतीय सेना के राहत और बचाव कार्यों से कश्मीरी जनता भारत पर फिदा हो जायेगी और इस प्रकार यह राहत और बचाव कार्य कश्मीर में भारत के लिए 'टर्निंग प्वाइण्ट' साबित होगा। लेकिन इस किस्म के बचकाने विश्लेषण से भारत के टीवी दर्शक मध्यवर्ग को आत्ममुग्ध करने से ज़्यादा और कुछ नहीं करते। भारतीय मध्यवर्ग सेना के इस मानवीय चेहरे की तारीफ़ करता नहीं अघाता। परन्तु यदि कश्मीरियों की बात की जाये तो उनमें सेना के बचाव कार्यों में कुलीनों और पर्यटकों का तवज्जो देने और अन्तर्राष्ट्रीय मदद न स्वीकार करने से असन्तोष ही देखने में आया। बाढ़ से पीड़ितों के पुनर्वास का कोई इन्तज़ाम न होता देख कश्मीरियों की ग़रीब आबादी में ख़ास तौर पर गुस्सा देखने में आया। जिन लोगों के पास बहुमंज़िला घर थे वे तो अपने घरों की ऊपरी मंज़िलों और छतों पर चले गये, लेकिन झोपड़पट्टी में रहने वाले ग़रीबों की तो मानो इस बाढ़ ने पूरी दुनिया ही उजाड़ दी। सेना के ख़िलाफ़ असन्तोष इस हद तक था कि बचाव और राहत कार्य के दौरान भी कश्मीर में कुछ स्थानों पर स्थानीय लोगों द्वारा सेना का पत्थरों से स्वागत किया गया। ज़ाहिर है कि पिछले 67 सालों लगातार बढ़ रहे कश्मीरियों के भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता से अलगाव को एक प्राकृतिक आपदा में राहत एवं बचाव कार्य करके उसका ढिंढोरा पीटने से ख़त्म नहीं किया जा सकता।

पिछले 67 सालों के भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के दमन, उत्पीड़न और वायदाख़िलाफ़ी की वजह से कश्मीरी अवाम का भारत से अलगाव बढ़ा है और उसमें आज़ादी की आकांक्षा कम होने की बजाय बढ़ी ही है। लेकिन यह भी सच है कि निकट भविष्य में इस आकांक्षा के पूरा होने के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे। इस समय कश्मीरी अवाम की आज़ादी की आकांक्षा की सबसे मुखर रूप से पैरोकारी ऑल पार्टी हुर्रियत कान्फ्रेंस कर रही है। लेकिन

हुर्रियत के सबसे रैडिकल धड़े का नेतृत्व कर रहे सैयद अली शाह गिलानी कश्मीर की आज़ादी के नाम पर उसको मज़हब के नाम पर बने राष्ट्र पाकिस्तान में मिलाना चाहते हैं। गिलानी बड़ी ही चालाकी से कश्मीर को इस्लामिक राज्य बनाने की अपनी योजना को जानबूझकर अस्पष्ट बनाये रखते हैं ताकि कश्मीरी अवाम, जो ऐतिहासिक रूप से इस्लाम की सूफ़ी धारा से प्रभावित है, उनको पाकिस्तानपरस्त नेता की बजाय कश्मीर की आज़ादी का रहनुमा ही समझती रहे। लेकिन उनके सिपाहसलार मसर्रत आलम और आसिया अन्द्राबी की खुले रूप से इस्लामिक कट्टरपन्थी हरकतों से गिलानी की मंशा साफ़ हो जाती है। यदि आज कश्मीरी अवाम का विचारणीय हिस्सा गिलानी को अपने प्रतिरोध का नेता मानता है तो उसकी वजह यह है कि गिलानी ने भारतीय राज्यसत्ता के दमन के ख़िलाफ़ सबसे मुखर तरीके से विरोध किया है और अभी तक भारतीय राज्यसत्ता के सामने घुटने नहीं टेके हैं। लेकिन वे भारतीय राज्यसत्ता के सामने जितने कठोर दिखायी देते हैं, पाकिस्तानी शासकों के प्रति उनका रुख़ उतना ही नरम दिखायी देता है। पाकिस्तान के कब्ज़े वाले कश्मीर में पाकिस्तान के दमन और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ वे चूँ तक नहीं करते। साथ ही वे इस बात पर गोलमटोल जवाब देते हैं कि जम्मू एवं कश्मीर में इस्लामिक राज्य स्थापित होने पर जम्मू के हिन्दुओं, लद्दाख के बौद्धों एवं गुज्जर व बकरवाल जैसे नृजातीय समूहों का भविष्य क्या होगा। कश्मीरी पण्डितों के घाटी में पुनर्वास पर भी उनकी कोई ठोस नीति नहीं है। ज़ाहिरा तौर पर इस प्रकार का संकीर्ण नेतृत्व कश्मीरियों के न्यायपूर्ण संघर्ष को अन्तिम विश्लेषण में कमज़ोर ही करता है। परन्तु धर्मनिरपेक्ष बुर्जुआ नेतृत्व की समझौतापरस्ती के चलते आज कश्मीर में जो विकल्पहीनता की स्थिति बनी है उसी का लाभ गिलानी जैसे इस्लामिक कट्टरपंथियों को मिल रहा है। लेकिन कश्मीर की जनता से गिलानी जैसे इस्लामिक कट्टरपंथियों की आज़ादी के नाम पर पाकिस्तानपरस्ती बहुत ज़्यादा दिन तक नहीं छिप सकती। कश्मीर में बाढ़ की त्रासदी के बाद वहाँ की आम ग़रीब जनता ने भारतीय राज्य के भेदभावपूर्ण आचरण के साथ ही साथ तथाकथित अलगाववादी नेताओं की उनसे दूरी भी देखी है। कश्मीरियों की जो ग़रीब आबादी भारी पैमाने पर बाढ़ के बाद बेघर हुई है उनको अब अस्थायी पुनर्वास केन्द्रों से निकाल बाहर किया जा रहा है और ये कश्मीरियों के रहनुमा होने का दावा करने वाले ये नेता भी उनको पूछने नहीं आ रहे हैं। ये नेता भी भारतीय सेना की ही तरह राहत कार्यों के नाम पर मीडिया में फोटो खिंचवाने से अलग हटकर जनता के दुखों-तकलीफों से जुड़ने में असमर्थ रहे।

आज के दौर में दुनिया भर में राष्ट्रीयताओं की लड़ाई कमज़ोर हुई है। दुनिया के किसी भी हिस्से में आज बुर्जुआ वर्ग इतना रैडिकल नहीं रह गया है कि राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय की लड़ाई में जीत हासिल कर सके। कश्मीर में भी भारत जैसे ताक़तवर बुर्जुआ राज्यसत्ता से कश्मीरी बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में आत्मनिर्णय की लड़ाई में जीत हासिल करना संभव नहीं जान पड़ता। कश्मीरी बुर्जुआ वर्ग का एक बड़ा हिस्सा इस लड़ाई के दौरान ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा सहयोजित कर लिया गया। निम्न बुर्जुआ वर्ग का जो हिस्सा आज कश्मीर की जनता के संघर्ष का नेतृत्व कर रहा है वह भी इस्लामिक कट्टरपन्थ के पंककुण्ड में कूद पड़ने की अपनी इच्छा के चलते इस लड़ाई को कमज़ोर ही कर रहा है। लेकिन भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के दमन और उत्पीड़न की वजह से कश्मीर की जनता में अलगाव आगे भी बढ़ेगा। नरेन्द्र मोदी सरकार की साम्प्रदायिक फ़ासिस्ट सरकार की नीतियाँ आने वाले दिनों में कश्मीरियों के भारत से अलगाव को और

ज़्यादा बढ़ायेगी। भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों की बुर्जुआ राजनीति में जिस तरीके से कश्मीर का प्रश्न राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है और जिस तरीके से दोनों देशों का तेज़ी से सैन्यकरण हो रहा है, ऐसे में बुर्जुआ व्यवस्था के दायरे में कश्मीर समस्या का कोई समाधान नज़र नहीं आता। इस जटिल समस्या का समाधान तो भारत में सर्वहारा क्रान्ति के बाद समाजवादी सरकार ही कर सकती है जो कश्मीर सहित सभी दमित और उत्पीड़न राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ एक समाजवादी संघ में शामिल होने के लिए उनके जनमानस को तैयार करेगी। परन्तु इसके लिए हमें सर्वहारा क्रान्ति आने तक इन्तज़ार नहीं करना चाहिए। सर्वहारा क्रान्ति के लिए संघर्षरत सभी लोगों को आज से ही कश्मीरी जनता के संघर्षों से एकता क़ायम करने की कोशिश करनी होगी और उनके बीच इस बात की पैठ बनानी होगी कि उनको आत्मनिर्णय का अधिकार एक सच्चे अर्थों में समाजवादी सत्ता ही दे सकती है। यानी कश्मीर सहित सभी राष्ट्रीयताओं के संघर्ष को भारत में सर्वहारा के संघर्ष से जोड़कर ही इस समस्या के वास्तविक समाधान की ओर बढ़ा जा सकता है।

"इसलिए, पुस्तक की चुप्पी कोई कमी नहीं है जिसे दुरुस्त किया जाना है, या कोई अनुपयुक्तता जिसका मुआवज़ा भरा जाना हो। यह कोई अस्थायी चुप्पी नहीं है जिसका अन्त में उन्मूलन हो सकता है। हमें इस चुप्पी की ज़रूरत को अलग करके देखना चाहिए। मिसाल के तौर पर, यह दिखलाया जा सकता है कि कई अर्थों को एक-दूसरे के बरक्स खड़ा किया जाना और उनके बीच का टकराव वह चीज़ है जो एक आमूलगामी अन्यता पैदा करती है, जो कि रचना को एक रूप-आकार प्रदान करती है: यह इस टकराव को हल नहीं करती है और न ही सोख लेती है, यह बस उसे प्रदर्शित कर देती है।"

– पियेर माशेरी ('ए थियरी ऑफ़ लिटररी प्रोडक्शन')

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

एक वैचारिक मुहिम, एक सांस्कृतिक अभियान

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फ़ुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। जनचेतना अब देश के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कलात्मक सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप भी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फ़ोन : 0522-2786782 / 8853093555

अन्य केन्द्र

- 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001, फ़ोन: 8738863640
- दिल्ली : 9971158783 • लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807
- ग़ाज़ियाबाद : 9654077902 • इलाहाबाद : 8115491369
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)

राहुल फाउण्डेशन, परिकल्पना प्रकाशन, अनुराग ट्रस्ट, शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन, दस्तक प्रकाशन और अरविन्द स्मृति न्यास की पुस्तकों के मुख्य वितरक। विस्तृत पुस्तक-सूची के लिए सम्पर्क करें या हमारी वेबसाइट देखें।

ईमेल : info@janchetnabooks.org

वेबसाइट : http://janchetnabooks.org

अरविन्द स्मृति न्यास के तीन महत्वपूर्ण प्रकाशन

अरविन्द स्मृति संगोष्ठियों में प्रस्तुत आलेखों के संकलन

(हिन्दी व अंग्रेज़ी में उपलब्ध)

इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलन : निरन्तरता और परिवर्तन, दिशा और सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Working Class Movement in India in the Twenty-first Century: Continuity and Change, Orientation and Possibilities, Problems and Challenges

मूल्यः 40 रुपये

भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलनः दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Democratic Rights Movement in India: Orientation, Problems and Challenges

मूल्यः रु. 80

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद

Caste Question and Marxism

मूल्यः रु. 150

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोनः (0522) 2786782, 8853093555, ईमेलः **info@janchetnabooks.org**

An Important Book from Rahul Foundation

Historical Writings

Karl Marx & Frederick Engels, ***2 Volumes***

These historical writings by Karl Marx and Frederick Engels were written immediately after the events of which they treat. On the basis of concrete material, Marx and Engels give striking examples of the materialist explanation of history. But the theoretical analysis of the events does not by any means exhaust the significance of these historical works. Marx's work as historical investigator is intimately bound up with the practical struggle of the proletariat. The writings and documents collected in this edition also give the reader sufficient material for studying the foundations of the theory and policy of scientific communism as created and developed by Marx and Engels.

Price: Rs. 700 (Set), Pages: 1248, ISBN 978-93-80303-58-1, 978-93-80303-59-8

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782, 8853093555 Email: info@janchetnabooks.org

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

पत्रिका के तीसरे अंक की सामग्री इस प्रकार है:

- कला-संस्कृति, शिक्षा एवं अकादमिक जगत पर भगवा फासिस्टों का बर्बर हमला
- साहित्य में अवसरवादी घटाटोप के सामाजिक-आर्थिक कारण
- विज्ञापन की राजनीति • बुर्जुआ समाज में खेल
- स्त्री आखेटकों के उत्सव, आचार और विचार
- पूँजीवाद का संकट और 'सुपर हीरो' व 'एंग्री यंग मैन' की वापसी (दूसरी किस्त)
- हान्स आइस्लर का लेख 'मज़दूर आन्दोलन और संगीत'
- नवसाम्राज्यवाद की रणनीति और नोबल पुरस्कारों के निहितार्थ
- गाब्रियल गार्सिया मार्खेज़ और एदुआर्दो गालियानो की याद
- फिल्म समीक्षा

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम** मूल्य: 40 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक
सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
ईमेल: naandipath@gmail.com, फोन: 9936650658 / 8853093555
वेबसाइट: http://naandipath.in फेसबुक: www.facebook.com/naandipath

Disha Sandhan October-December 2015
RNI Title Code: UPHIN43949

"चीखते-चिल्लाते महत्वोन्मादियों, गुण्डों, शैतानों और स्वेच्छाचारियों की यह फ़ौज जो फासीवाद के ऊपरी आवरण का निर्माण करती है, उसके पीछे वित्तीय पूँजीवाद के अगुवा बैठे हैं, जो बहुत ही शान्त भाव, साफ़ सोच और बुद्धिमानी के साथ इस फ़ौज का संचालन करते हैं और इनका ख़र्चा उठाते हैं। फासीवाद के शोर-शराबे और काल्पनिक विचारधारा की जगह उसके पीछे काम करने वाली यही प्रणाली हमारी चिन्ता का विषय है। और इसकी विचारधारा को लेकर जो भारी-भरकम बातें कही जा रही हैं उनका महत्व पहली बात, यानी घनघोर संकट की स्थितियों में कमज़ोर होते पूँजीवाद को टिकाये रहने की असली कार्यप्रणाली के सन्दर्भ में ही है।"

– रजनी पाम दत्त